

मुनीश्वरों नी श्रेण-1

(आर्द्रकुमार मुनि : बंधन कच्चे धागों का)

आत्म-बंधुओं !

सत्य-तथ्य के सृजक और माया-मोह के विनाशक जिनेश्वर प्रभु राग-द्वेष का शमन कर वीतरागी कहलाये। उन वीतराग प्रभु की निर्दोष वाणी अनादिकाल से संसार-समुद्र में भटक रहे, डूब रहे, डोल रहे जीवों को पार उतारने में समर्थ है। आप सुन रहे हैं श्रुतवाणी, जिनवाणी, वीतराग वाणी। समर्थ है जो पार उतारने में उसे सुनकर भी पार उतरते नहीं तो इसमें किसका दोष ?

□ जिनवाणी आचरण में उतारिए !

बंधुओं ! वाणी को श्रवण तो किया पर धारण नहीं किया, आचरण में नहीं उतारा, जीवन-व्यवहार में नहीं ढाला तो समर्थ-वाणी का सामर्थ्य प्रकट नहीं होगा। एक रुग्ण व्यक्ति जो जानता है कि अमुक इंजेक्शन, अमुक टेबलेट अथवा अमुक सीरप लेने से मेरी बीमारी ठीक हो जाएगी, मैं स्वस्थ बन जाऊँगा और यही सोचकर वह उस दवा को खरीद लाता है, पर लेता नहीं तो वह कैसे ठीक हो सकता है? यही दशा आपकी भी है—जानते हैं, मानते हैं, सारे साधन भी हैं, पर उनका उपयोग, उनका प्रयोग, उनका क्रियात्मक अनुभव नहीं करते जीवन-व्यवहार में, अतः वह निष्फल बनी रहती है।

□ यथा शक्ति, तथा भक्ति !

आप सभी यहाँ धर्मोपदेश श्रवण कर रहे हैं। आपके धर्मोपदेश श्रवण का चरम और परम लक्ष्य है 'मुक्ति'। लक्ष्य प्राप्त करना है तो धर्म को आचरण में ढालना होगा, मन और मन के विचारों को धर्मयुक्त बनाना होगा। अन्तर् की अशुद्धि को मिटाकर उसे शुद्ध बनाना होगा। पंचम गति, मोक्ष, आत्मस्वरूप प्राप्ति के लिए तीन करण-तीन योगों से सावद्य योगों का त्याग करना होगा। एकदम उस श्रेणी तक नहीं पहुँच सकते तो भी कोई बात नहीं। प्रभु महावीर का धर्म तो "यथा शक्ति, तथा भक्ति" वाला है। आप दो करण, तीन योग से अथवा एक करण, तीन

योग से त्याग करिए। प्रभु के धर्म-क्षेत्र में व्रत ग्रहण करने के एक, दो, तीन नहीं अपितु इस प्रकार के उनपचास भांगे (प्रकार) हैं।

□ पाप-त्यागी होगा व्रतों से !

चौदह गुणस्थान में पाँचवाँ गुणस्थान 'देशविरति' का है और छठ व सातवाँ प्रमत्त व अप्रमत्त संयत का। दूसरे शब्दों में देशविरत या सर्वविरत बनकर पाप का द्वार बंद करने पर धर्म में प्रवेश मिलता है। पाप को रोकने का उचित माध्यम है व्रत। जिस प्रकार किसी तालाब में वर्षा आदि से आने वाले जल के नालों को रोक देने पर तालाब में पानी की आवक रुक जाती है, ठीक उसी प्रकार हिंसा, असत्य आदि के त्याग देने से पाप की आवक रुक जाती है। हिंसा आदि का त्याग ही व्रत है। देशव्रतों में आंशिक रूप से पापकर्मों की रुकावट होती है।

□ अणुव्रती और महाव्रती !

जीवन में व्रतों के समाचरण के दो रूप हैं, जो मैंने आपको बताए थे। जहाँ हिंसा आदि का सर्वथा त्याग किया जाता है, अर्थात् आजीवन तीन करण, तीन योग (करे नहीं, करावे नहीं, करते हुए की अनुमोदना करे नहीं—मन, वचन व काया) से त्याग किया जाता है, वे संयमी-चारित्री साधु कहलाते हैं, वे सर्वविरत अर्थात् महाव्रती होते हैं। हम श्रमण-श्रमणी इसी श्रेणी में गिने जाते हैं।

आपकी श्रेणी है—देशविरति। देशविरति इसलिए कि आप लोग आवश्यकतानुसार छूट रखकर, आंशिक रूप से हिंसा आदि का त्याग करते हैं। आपके व्रत अणुव्रत हैं और आप अणुव्रती श्रावक या देशविरति श्रावक कहलाते हैं। आप लोगों की साधना में पाँच अणुव्रतों के साथ-साथ तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का भी समावेश कर दिया गया है, अतः आप श्रावक-श्राविकाएँ शक्ति अनुसार व्रत ग्रहण कर एक व्रतधारी यावत् बारह व्रतधारी होते हैं।

□ अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार (व्रत-दोष) !

व्रतों का पालन करते हुए साधक, चाहे वे श्रावकधर्मी हों या श्रमणधर्मी, प्रमादवश कई बार दोष लगा बैठते हैं। शास्त्रों में ऐसे दोषों के निवारणार्थ पश्चात्ताप, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त का विधान है, जिनके द्वारा साधक लगे हुए व्रत-दोषों से छुटकारा पा सकता है। शास्त्रीय भाषा में ये दोष क्रमशः अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार कहलाते हैं।

(१) व्रत-प्रत्याख्यान में जिस सावद्य योग का त्याग किया गया है, उस सावद्य क्रिया को करने का विचार यदि साधक के मन में आता है, व्रत में दोष लगाने का मानस यदि वह बनाता है तो वह दोष 'अतिक्रमण' है।

(२) दोष लगाने का मानस बन गया तब उस सावद्य योग को क्रियान्वित करने के लिए तैयारी प्रारम्भ करे, सामग्री एकत्रित करे, प्रयत्न प्रारम्भ करे तो वह व्रत का 'व्यतिक्रम' दोष है।

(३) सावद्य योग के लिए साधक पूरी तैयारी कर ले, उद्यत हो जाये और उन वस्तुओं आदि को इकट्ठी कर ले जिनसे सावद्य योग किया जाना है तो वह 'अतिचार' दोष है।

(४) प्रत्याख्यान लेकर भी व्रत भंग कर दे, सावद्य योग में उतर जाय, हिंसादि कर्म करने लगे तो 'अनाचार' दोष अर्थात् व्रत भंग है।

□ दोष-मुक्ति !

बंधुओं! अतिक्रमण से लगा दोष पश्चात्ताप से, व्यतिक्रम के कारण लगा दोष आलोचना से, अतिचार द्वारा लगा दोष प्रतिक्रमण से दूर किया जा सकता है, पर यदि अंशतः व्रत भंग हुआ हो तो न्यूनाधिकता के अनुसार प्रायश्चित्त, तप, छेद द्वारा उसकी विशुद्धि की जाती है और व्रत यदि पूर्णतः भंग हुआ हो तो पूर्व पापों की आलोचना, निंदा, गर्हा करके गुरु भगवंतों द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त ग्रहण करके पुनः नये सिरे से व्रत-महाव्रत ग्रहण किए जाते हैं। नहीं किया जाता ऐसा तो दुर्गति में जाना ही है।

□ आर्द्रकुमार !

महान् युगान्तरकारी चर्चा-चक्रवर्ती भीष्म प्रतिज्ञाधारी आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी पावन कल्याणी 'बड़ी साधु वन्दना' नामक रचना में "व्रत भंग कर उसका महान् कष्टदायक फल भोग रहे आर्द्रकुमार" का प्रसंग अगली कड़ी में लिया है। अभयकुमार द्वारा भेजे गये धार्मिक उपकरणों से प्रतिबोधित हो आर्द्र मुनि बने। सम्यक् पराक्रम फोड़ने में असावधानी रखी तो पुनः गृहस्थ बने। जागृत बने तो गृहस्थी त्याग फिर साधु बने और उत्कृष्ट शासन-सेवा कर मोक्ष में पधारे। उन्हीं की भाव-स्तुति करते हुए पूज्य आचार्यश्री ने कहा है—

वलि आर्द्रकुंवर मुनि, स्थूलभद्र नदिषेण।

अरणक अइमुत्तो, मुनीश्वरों नी श्रेण ॥१८॥

बंधुओं! आपने भगवान महावीर के अनन्य भक्त मगधेश राजा श्रेणिक का नाम कई बार सुना है। इस राजा श्रेणिक का एक मित्र-राजा था 'आर्द्रक'।

आर्द्रक राजा था एक टापू का। आर्द्रक ने उस टापू का नाम भी अपने नाम पर रख दिया—'आर्द्रक'। संयोग से उसकी पत्नी का नाम भी 'आर्द्रका' था। रानी आर्द्रका की कुक्षि

से एक पुत्र उत्पन्न हुआ तो राजा ने उसका नाम भी रखा—‘आर्द्रकुमार’। आर्द्रक राज्य अनार्य क्षेत्र में आता था।

□ उपहार परम्परा !

एक बार राजा आर्द्रक के लिए राजा श्रेणिक ने बहुमूल्य भेंट सामग्री भेजी। उस काल में अपने मित्र-राजा को भेंट का आदान-प्रदान एक परम्परा थी। पूर्वजों से चली आ रही परम्पराओं का निर्वाह करने की एक प्रथा है। संसार में प्राणी जब तक है, वह परम्पराओं का निर्वाह करता है। जो नहीं करता, वह परिवार, समाज, जाति में तुच्छ नजरों से देखा जाता है। आप भी तो घर-संसार में रहते हुए अपने मित्रों, रिश्तेदारों, बहन-बेटियों आदि के प्रति बाप-दादाओं से चली आती हुई परम्परा को निभाते हैं। वस्तुतः दो मित्रों में भेंट का आदान-प्रदान मित्रता को विस्मृत नहीं होने देती, मजबूत बनती है इससे मित्रता।

□ आर्य भूमि से अनार्य क्षेत्र में !

राजा श्रेणिक के दूत सुदूरवर्ती उस अनार्य देश में आर्द्रक टापू पर पहुँचे। उन्होंने राजा आर्द्रक को राजा श्रेणिक द्वारा भेजी गई बहुमूल्य सामग्री को उपहार रूप में उसके समक्ष प्रस्तुत किया। इस समय राजसभा में आर्द्रकुमार भी उपस्थित था। राजा श्रेणिक के भेजे हुए उपहारों को वह देख रहा था। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—‘कितने मूल्यवान उपहार हैं? आर्य देश का इतना बड़ा, इतना प्रसिद्ध राजा मेरे पिता का मित्र है। अवश्य उनके कोई मेरे जितनी आयु का पुत्र होगा। क्या ही अच्छा हो यदि मेरा भी आर्य देश में एक मित्र हो जाये!’

□ अभय को मित्र बनाना !

उसने अपने पिताश्री से कहा—“पितृवर! क्या महाराज श्रेणिक के भी कोई पुत्र है? यदि है तो क्या वह मेरे ही जितना है? मैं चाहता हूँ कि आर्य देश में कोई उत्तम राजकुमार मेरा भी मित्र बने।”

राजा आर्द्रक ने कहा—“पुत्र! महाराज श्रेणिक के अनेक पुत्र हैं। उन सबमें अभयकुमार नामक पुत्र श्रेष्ठ, उत्तम लक्षणों वाला, अनेक गुणों से सम्पन्न, बुद्धि-चातुर्य में साक्षात् बृहस्पति के समान है।”

सुनकर आर्द्रकुमार के हृदय में विशेष प्रसन्नता का अनुभव हुआ। कुमार के पूर्वभव के संस्कारों ने जोर मारा, उत्साहित किया उसे और उसने पिताश्री द्वारा मगध भेजी जाने वाली भेंट

के साथ अभयकुमार के लिए अपनी तरफ से भी बहुमूल्य भेंट एवं एक पत्र भेजा। मगध-दूतों से कहा—“आप मेरी यह तुच्छ भेंट व पत्र अवश्य मगध-राजकुमार अभयकुमार तक पहुँचा दें।”

दूत जब वापस मगध आये तो राजा श्रेणिक से मिल राजा आर्द्रक द्वारा भेजे गये उपहार उन्हें देकर अभयकुमार से मिलने गये। वहाँ उनको आर्द्रकुमार द्वारा प्रेषित उपहार व पत्र दिया।

□ अभय की दूरदर्शिता !

अभयकुमार ने उपहार एक ओर रख दिया। पत्र हाथ में लेकर उसे खोला और पढ़ना प्रारम्भ किया। पत्र पढ़कर अभयकुमार ने मन ही मन अनुभव किया कि निश्चय ही यह पत्र लिखने वाला कुमार हलुकर्मी जीव है। यदि कोई बहुलकर्मी होता तो मेरे साथ मैत्री का विचार उसके मन में उत्पन्न नहीं होता। निश्चय ही यह पूर्वभव के संस्कारों का फल है। कुमार अनार्य देश में उत्पन्न हुआ। यदि कर्मबंध की दृष्टि से विचार करें तो अवश्य पूर्वभव में उससे व्रत-भंग हुआ है और लगे हुए दोषों का शुद्धिकरण, आलोचना, प्रायश्चित्त न करने के कारण ऐसा हुआ है। मेरा कर्तव्य है कि ऐसे हलुकर्मी व्यक्ति से मित्रता कर उसकी भावनाओं में ‘धर्म’ की जागृति के लिए प्रयत्न करूँ। उसे उपहार के आदान-प्रदान की परम्परानुरूप कोई ऐसी भेंट भेजूँ जिससे ‘एक पंथ, दो काज’ वाली कहावत सफल हो सके। मित्रता भी बढ़े और मित्र धर्म के प्रति जागृत भी बने।

□ उपहार में धार्मिक उपकरण !

अपने विचार के अनुरूप अभय ने कुछ धार्मिक उपकरण मँगाये। एक रत्न-मंजूषा में सजाकर अभय ने मुखवस्त्रिका, दुपट्टा, चोल पट्टा, पूंजणी, माला, आसन आदि रख दिये। अनार्य देश के राजकुमार को कितनी सुन्दर भेंट? कितनी उत्तम भावना? कैसे उत्कृष्ट विचार?

बंधुओं! चिन्तन करिये अपनी स्थिति पर। दान, शील, तप, जप, जाप, प्रभावना आदि के अनेक अवसर आते हैं, पर कभी धार्मिक उपकरण भेंट में देने की बात आती है मन में? आती भी होगी तो किसी अन्य से कहते ही वह खिल्ली उड़ा देगा, कहेगा कि यह भी कोई देने की चीज है? प्रतिष्ठा को धक्का लगाना है क्या?

क्या आप उस अभयकुमार जैसे श्रेष्ठ गुण अपने जीवन में प्रकट कर सकते हैं? नहीं! आप डरते हैं स्वयं अपने से, समाज से, लोगों से। आपको देव, गुरु, धर्म के प्रति उत्कृष्ट श्रद्धा नहीं है। समर्पित श्रद्धा जहाँ होती है, वहाँ मान-अपमान का, यश-अपयश का भाव मिट जाता है। धार्मिक उपकरण मान-सम्मान या प्रभावना में देने की बात तो दूर, अनेक व्यक्तियों को तो धार्मिक उपकरण धारण करते हुए भी शर्म महसूस होती है। यहाँ धर्म-स्थानक में आयेंगे, गुरु-दर्शन, वन्दन, चरण-स्पर्श भी करेंगे, समय होगा तो व्याख्यान-वाणी भी श्रवण करेंगे, पर उत्तरासंग नहीं, मुखवस्त्रिका नहीं, रूमाल नहीं। बात करेंगे गुरुदेव से, मुनिजन से तो खुले मुँह। कई बार तो स्थिति इतनी हास्यास्पद हो जाती है कि व्यक्ति मुँह में पान दबाए हुए ही वन्दन करता है, बातें प्रारम्भ करता है। यह अविवेक नहीं तो और क्या है ?

□ धर्म-उपकरणों से परहेज क्यों ? शर्म कैसी ?

व्याख्यान में कितने व्यक्ति हैं जो सामायिक-व्रत में या संवर में उचित वेश धारण करके बैठते हैं। घर से चलते हैं, लक्ष्य है व्याख्यान सुनना, पर सामायिक उपकरण हाथ में लेकर कैसे चलें ? शर्म आती है उन्हें! हाँ ! यहाँ सामायिक के उपकरण रखे हों, कोई प्रेरित करे तो शायद सामायिक कर लेंगे। अब बोलिए प्रेरक को जो लाभ, उपकरण वहाँ रखने वाले को जो लाभ, वह सारा लाभ किस खाते से निकलेगा ? स्पष्ट है सामायिक करने वाले के खाते से। फिर यह शर्म क्यों ? अपना धर्म, अपने गुरु, अपना धर्म-स्थान, अपने स्वधर्मी बंधु फिर क्यों रखते हैं ऐसा परहेज ? क्यों देते हैं अपने खाते का लाभ अन्यान्य को ?

□ धर्म-जागृति आवश्यक !

अभय ने धार्मिक उपकरण अनार्य देश में भेजे। अन्तर् में भाव क्या ? धर्म-जागृति का जीवन्त सन्देश। आपकी भावना में कभी इस तरह की हिलोरें उठती हैं। यही समय है—स्वयं जगें और दूसरों को जगाएँ। धर्म की ओर स्वयं उन्मुख बनें और अन्यान्य को भी प्रेरित करें। मैं जानता हूँ, ऐसा होने का नहीं। आप यहाँ जो भी सुनेंगे उसे साथ लेकर जाने वाले नहीं हैं। व्यर्थ का बोझ समझते हैं इसे। 'तेरा तुझको अर्पण'—की भावना यहीं साकार करेंगे। जो कुछ हमने कहा, आपने सुना, उसे आसन झाड़ने की तरह यहीं झाड़कर चले जायेंगे, पर इससे क्या ? हमारी वाचना व्यर्थ नहीं, हमारा स्वाध्याय व्यर्थ नहीं ? हमारी तो कर्मनिर्जरा हो ही रही है। आपमें कोई परिवर्तन आ जाये यदि तो निश्चय ही उसमें आपका आत्म-हित, आपका आत्म-कल्याण निहित है।

□ उपहार और एकान्त !

रत्न-मंजूषा के साथ एक पत्र भी भेजा अभय ने जिसमें अन्य बातों के साथ लिखा था—
“मेरी भेंट को एकान्त में खोलना।”

दूत भेंट-मंजूषा व पत्र लेकर वहाँ से चल दिये, आर्द्रक देश के लिए। वहाँ पहुँचकर वह भेंट-मंजूषा दे दी आर्द्रकुमार को, साथ में पत्र भी दे दिया। आर्द्रकुमार अत्यधिक प्रमुदित हुआ। उसने पत्र पढ़ा। पत्र पढ़कर उसका अन्तर् गद्गद हो गया। उसने अनेक तरह के वस्त्राभूषण उन दूतों को पुरस्कार में दिए और विदा किया।

उस दिन, दिनभर तो आर्द्रकुमार राजकार्य में व्यस्त रहा। संध्या हो गई, रात्रि घिरने लगी। बहुत रात गये जब पूरा वातावरण एकदम शांत, नीरव, सुनसान बन गया तो कुमार ने अपने कक्ष के द्वार, झरोखों आदि के पट्टे बंद कर दिये। कक्ष के दीवार-संधि-स्थल में रखे गये स्वर्ण-दीप को प्रज्वलित कर दिया। आसन को उसके निकट लाकर अभय द्वारा प्राप्त मंजूषा को उस पर रखकर उसने खोला।

□ स्मृति में जागृति से जातिस्मरण ज्ञान !

अन्दर जो वस्तुएँ उसे दिखाई दीं, उन्हें देखकर वह चकित रह गया। ये क्या हैं? किस प्रयोग की हैं? मैं तो इन्हें जानता-पहचानता तक नहीं फिर आर्य देश से राजकुमार अभय द्वारा इन्हें भेजने का अर्थ क्या है? मैं तो मैत्री चाहता था उससे! क्या ये वस्तुएँ मैत्री की परिचायक हैं? यदि नहीं तो क्या हैं ये? इन्हीं सब प्रश्नों की ऊहापोह में पड़ गया वह। चिन्तन करते-करते उसे लगा कि ये सारी चीजें कभी देखी हैं, कुछ-कुछ पहचान में आ रही हैं, पर कहाँ देखा, यह याद नहीं आ रहा था।

चिन्तन ही चिन्तन में आर्द्रकुमार को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अब उसे स्पष्ट दिखाई देने लगा अपना पूर्वभव। जाति-स्मृति की आलोक रश्मियों में वह उस पूर्वभव को किसी चलचित्र की भाँति देखने लगा। उसके स्मृति-पटल पर एक-एक चित्र आता गया। पूर्वभव, उससे पूर्व का भव, उससे भी एक भव पूर्व।

□ आर्द्रकुमार ने देखा अपना पूर्वभव !

उसे वसन्तपुर नगर नजर आया। वह वहाँ का एक विख्यात श्रेष्ठी था। बंधुमती नाम की उसकी भार्या थी। सुस्थित आचार्य से उपदेश सुन उसने दीक्षा ग्रहण की। बंधुमती भी आचार्य

सुस्थित की श्रमणी के पास दीक्षित बनीं। दोनों श्रमणचर्या का पालन करने लगे। आर्द्रकुमार के जीव, उस दीक्षित श्रेष्ठी ने आचार्य सुस्थित के साथ विहार किया। बंधुमती श्रमणी-वर्ग के साथ विहार करने लगीं।

□ साधना से पतन : काम-याचना !

बहुत समय बाद दोनों का संयोगवश एक ही नगर में आना हुआ। भोगावली कर्म का वेग और यौवन की अवस्था। अपनी बंधुमती को देख उसे पूर्व जीवन की काम-भोग सम्बन्धी बातें याद आने लगीं। वह मन ही मन बेचैनी अनुभव करने लगा। अशुभ भावों का उदय हुआ। अपने पर नियंत्रण खो बैठा वह। गया बंधुमती के पास और काम-भोग की याचना करने लगा।

□ धिक्कार है मेरे इस रूप को !

बंधुमती अत्यंत लज्जित हुई। उसने सोचा—‘मुझे देखकर ही ये संयम-भ्रष्ट बन ऐसी याचना कर रहे हैं। धिक्कार है मुझे, मेरे रूप को, मेरे शरीर-सौष्टव को। ऐसा यह शरीर किस काम का जो मेरे पति को मुनिचर्या से भ्रष्ट कर दे।’

□ संथारा समाधिमरण !

वह गुरुणी जी के पास गई। सारी बातें बताकर उनसे कहा—“मुझे संथारे के प्रत्याख्यान करा दें।” इस तरह उसने अपने पूर्व में पाले महाव्रतों की आलोचना कर चारों आहारों का त्याग कर दिया। अपना आयुष्य पूर्ण कर वह देवगति की अधिकारिणी बनी।

□ दुष्कृत्य की आलोचना नहीं की, अतः अनार्य क्षेत्र में जन्म लिया !

यह सारा प्रसंग ज्ञात कर पश्चात्ताप में डूबा श्रेष्ठी मुनि अत्यंत खेदित हुआ था। स्वयं उसने भी अनशनपूर्वक शरीर त्याग दिया। वहाँ से काल कर वह निम्न जाति का देव बना। अशुभ विचारों और अपने दुष्कृत्य की आलोचना नहीं की थी, अतः सदोष मृत्यु के कारण उसे इस अनार्य देश में जन्म मिला।

□ आर्य क्षेत्र में जाने, अभय से मिलने की अभिलाषा !

इस तरह अपने पूर्वभव को जान आर्द्रकुमार पुनः अभय के भेजे उन उपकरणों को देखने लगा। एक-एक उपकरण को उठा-उठाकर हृदय से लगाने लगा। पुनः-पुनः पश्चात्ताप करने लगा कि व्रत-भंग विचार के कारण वह ऐसे क्षेत्र में उत्पन्न हुआ है, जहाँ धर्मध्यान के लिए

कोई संभावना नहीं है। अभय का बार-बार उपकार मानने लगा, जिसने ऐसे उपहार द्वारा उसकी पूर्व स्मृतियों को जगा दिया और साथ ही आत्मा को भी जागृत बना दिया।

राजकुमार आर्द्र के मन में अभय से मिलने की अभिलाषा भी जगी, आर्य क्षेत्र में जाकर धर्मध्यान करने, मुनि बनकर पुनः श्रमणचर्या-पालन करने की कामना अन्तर् में बलवती हो उठी। उसने पिता से अपने मन की बात कह दी। पिता घबराया। एक ही पुत्र, वह भी मुझे छोड़कर चला गया तो मेरा क्या होगा? मेरे बाद इस राज्य का, राज्य-सिंहासन का क्या होगा? कौन सँभालेगा ये सब?

□ आर्य क्षेत्र के लिए यात्रा प्रारम्भ !

पिता ने स्पष्ट इनकार ही नहीं किया अपितु कुमार की रक्षार्थ दुर्धष सैनिकों की पूरी एक टोली उसकी सुरक्षा के लिए नियुक्त कर दी। नाम सुरक्षा का, पर काम था उनका उस पर नजर रखने का। कहीं वह आर्य देशों के लिए, आर्य क्षेत्र के लिए, मगध के मंत्री से मिलने के लिए चुपचाप प्रस्थान न कर जाये।

□ प्रतिबंध में आकर्षण !

प्रतिबंध में आकर्षण अधिक होता है, यह नीति-वाक्य है। आप किसी से कह दीजिए— “देख, अमुक कमरे में नहीं जाना, अमुक अलमारी मत खोलना।” आपके द्वारा लगाया गया यह प्रतिबंध एक जिज्ञासा पैदा करेगा। उस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए व्यक्ति प्रतिबंधित वस्तु की तरफ अधिकाधिक आकृष्ट बनेगा। यही बात आर्द्रकुमार के साथ हुई। वह जान गया कि ये सिपाही मेरे पर नजर रखने के लिए हैं ताकि मैं कहीं भाग न जाऊँ।

□ तोड़ा सुरक्षा का घेरा !

बंधुओं! पिता ने प्रतिबंध लगाया तो उसकी अभिलाषा अधिक तीव्र बन गई। अब वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा और आखिर एक दिन अवसर पाकर निकल गया उनके घेरे से। कैसी लगन? जो कुमार उस अनार्य देश में अखूट सम्पदा और वैभव के मध्य सदैव राग-रंग में मस्त रहता था, आमोद-प्रमोद ही जिसका जीवन-पर्याय था, मद्य-माँस का सेवन ही जिसकी नियति थी, रमणी-रमण जिसके लिए साधारण क्रीड़ा थी—ऐसा वह आर्द्रकुमार कुछ ही क्षणों में, साधारण-सा निमित्त पाकर अपने जीवन को नया मोड़ दे बैठा।

□ आर्य क्षेत्र में आगमन ! मुनि-वेश धारण !

सुरक्षा के घेरे से निकलकर वह छुपते-छुपाते समुद्री किनारे पर पहुँचा। गुप्त रूप से समुद्री यात्राएँ की उसने। अनेक यात्राओं के पश्चात् वह लक्ष्मीपुर नगर में पहुँचा और जातिस्मरण के अनुभव के आधार से स्वयं लोच कर, मुनि-वेश धारण कर मुनि बन गया। उस समय शासनदेवी ने प्रकट होकर उससे कहा—“आर्द्रकुमार ! अभी भोग भोगने की उम्र है, अतः अभी महाव्रतों को स्वीकार कर श्रमण मत बनो।”

आर्द्रकुमार ने सोचा—‘पूर्वभ्रम में भोगावली कर्मों को तोड़ने का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया, अतः मैंने महाव्रतों में दोष लगाया। इस बार मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। इस बार तो पहले से ही सचेत हूँ, कदापि व्रत-भंग नहीं करूँगा।’ अपने संकल्प पर अडिग रहते हुए वह मुनिधर्म का निरतिचार पालन करते हुए विचरण करने लगा और विहार करते हुए मगध की राजधानी राजगृही की दूरी कम करने लगा।

□ शेष श्रे भोगावली कर्म ! पर.....!

कर्म जो किये, उनके फल तो भोगने ही पड़ते हैं या सम्यक् साधना से तोड़ने पड़ते हैं। निकाचित कर्म भोगने ही पड़ते हैं और निद्धित कर्म तपश्चर्यादि से तोड़े जा सकते हैं। भोगावली कर्म भी निद्धित हैं, तपश्चर्या द्वारा तोड़े जा सकते हैं। आर्द्रकुमार मुनि ने कठोर तप द्वारा उन कर्मों को क्षय नहीं किया अतः उन कर्मों को भोगने का समय निकट आ रहा था। आर्द्र मुनि विहार करते हुए वसन्तपुर पधारे। वे नगर के बाहर एक उद्यान में बनाए गये यक्षायतन में विराजे। ईर्यापथिकी की आलोचना के पश्चात् वे मुनि वहीं कायोत्सर्ग कर ध्यान-मुद्रा में खड़े हो गये।

□ निराला खेल !

उधर नगरश्रेष्ठी की पुत्री धनश्री अपनी सखी-सहेलियों के साथ वहाँ खेलने के उद्देश्य से आती हैं। वे वहाँ आँख-मिचौली की तरह का खेल खेलना प्रारम्भ करती हैं। संधि-वय और युवा-वय में कन्या के लिए ‘पति’ एक आकर्षण की वस्तु रहती है। ये सभी कन्याएँ भी आँख बंदकर पति-पति का खेल खेलती हैं, जिसमें आँख बंद करने के पश्चात् चलते हुए कोई खंभा पकड़ में आ जाता है तो उसी को पकड़कर कहना पड़ता है—“मेरा पति तो यह रहा।”

□ खेल-खेल में पति से मिलन !

धनश्री व उसकी सहेलियों ने भी आँखें बन्द कीं और इधर-उधर टटोलते हुए चलने लगीं। जिसके भी यक्षायतन का कोई खंभा पकड़ में आता, वह उसी को बाँहों में भरकर कह

उठती—“मुझे मेरा पति मिल गया।” या फिर “ये रहा मेरा पति।” ऐसे ही भिन्न-भिन्न शब्द, भिन्न वाक्य पर भाव एक ही। धनश्री ने भी आँखें बन्द कीं। टटोलते हुए आगे बढ़ी। संयोग से वह जिस तरफ बढ़ी उधर आर्द्रकुमार मुनि ध्यानस्थ थे। वे ही उसकी पकड़ में आये। वह उन्हें बाँहों में भरकर बोल उठी—“यह मेरा पति है।”

कह तो गई धनश्री पर उसे लगा अब कि वह खम्भा नहीं कुछ अन्य है, अलग है। उसने अनुभव किया कि जिसे उसने बाँहों में भरा वह निर्जीव नहीं सजीव है, शीतलता नहीं उष्णता है उसमें। उसने अपनी बंद आँखों को खोला और जो कुछ देखा तो चकित, भयभीत, लज्जित बन गई। सारे भावों का मिला-जुला भाव उसके चेहरे पर झलका तो चेहरा अजीब दिखने लगा। तभी देववाणी हुई—“धनश्री आज धन्य हुई। उसने अपना वास्तविक पति प्राप्त कर लिया।”

□ मिलने से पहले ही विरह-वियोग की स्थिति

इस देववाणी के साथ ही आकाश में देव-दुन्दुभि बजी। देवताओं ने वहाँ रत्नों की वर्षा की। धनश्री आर्द्रकुमार मुनि के चरणों में नतमस्तक हुई। अभी वह मुनि से कुछ कहती तभी मुनि ने धनश्री के हाथों से अपने चरण दूर कर वहाँ से अन्यत्र प्रस्थान कर दिया। धनश्री कुछ न कह सकी। वह तो मुनि को जाते हुए देखती रही। धूलि में बने उनके चरण-चिह्नों में ‘पद्म’ के चिह्न देखती रही।

इधर धन-लोभी धनश्री के पिता ने रत्नवर्षा की बात सुनी तो दौड़े उन रत्नों को एकत्रित करने। पहुँचे यक्षायतन और हाथ लगाया रत्नों को तो शासनदेवी ने उन्हें रोक दिया। निराश श्रेष्ठी घर लौटे तो धनश्री को विलाप करते देखा। वह कह रही थी—“बड़े निर्मोही निकले तुम तो। न फेरे लिए, न शादी की। परिणय-सूत्र में बँधने से पूर्व ही भाग चले। अब मेरा क्या होगा? मैं कैसे रहूँगी अपने प्राणनाथ के बिना? कैसे दूँँ, कहाँ पाऊँ मैं उन्हें?”

उस विलाप-भरी वाणी को सुन श्रेष्ठी ने उसे समझाया—“मुनि तो त्यागी होते हैं, तुम क्यों उनके पीछे मूर्ख बन रही हो। उनका विचार अपने भीतर से निकाल दो। मैं कल ही किसी कुलीन घराने के गुण-सम्पन्न श्रेष्ठी-पुत्र से तेरा विवाह करा देता हूँ।”

पिता के वचन धनश्री को दहकते अँगारों की तरह लगे। वह बोली—“पिताजी! क्या हमारा कुल हीन-कुल है? मैंने मन ही मन उनका वरण कर लिया है। क्या अब दुबारा किसी का वरण इस कुल के गौरव की बात होगी?”

□ मुनि हैं वे, विवाह सम्भव नहीं उनसे !

इस पर श्रेष्ठी ने कहा—“बेटी! एक तो उन्हें ढूँढ़ पाना अति मुश्किल कार्य है। यदि मिल भी गये तो एक मुनि होने के नाते वे इस विवाह को स्वीकार कर लेंगे, यह सम्भव नहीं लगता।”

तभी धनश्री को जाते हुए मुनि के चरण-द्वय स्मृति-पटल पर घूम गए। उसे याद आया कि उन मुनि के चरण-युगल में ‘पद्म-चिह्न’ थे।

पिता की बात सुन धनश्री ने तुरन्त कहा—“पिताश्री ! मैंने उनके रेती में पड़े चरण-चिह्नों में ‘पद्म-चिह्न’ देखा है। मुझे विश्वास है वे मुझे अवश्य मिलेंगे। यदि नहीं मिले तो मैं आजीवन उन्हीं को पति मानकर एकाकी जीवन व्यतीत कर दूँगी।”

विवश पिता ने तय किया कि उन्हें पाने के लिए धनश्री को नित्य ही साधु-संन्यासियों को भिक्षार्थ आहार आदि दान देना प्रारम्भ कर देना चाहिए।

□ पैरों में पद्म-रेखा के आधार पर खोज !

पिता के कहे अनुसार धनश्री ने अब नित्य ही अशन, पान, खादिम, स्वादिम का दान देना प्रारम्भ कर दिया। समय व्यतीत होता गया। बहुत काल पश्चात् एक दिन ग्राम-नगर-पुर विहार-विचरण करते आर्द्रकुमार मुनि पुनः वसन्तपुर पधारे। भिक्षाचर्या के लिए उच्च, नीच, मध्यम कुलों में भ्रमण करते हुए वे धनश्री के घर भी आये। धनश्री उन्हें अपने घर आते देख भक्तिभावपूर्वक खड़ी हुई। सात-आठ कदम आगे आकर वन्दना की। चरणों में झुकी, उन्हें भोजन-गृह की ओर पधारने की प्रार्थना की। मुनि भोजन-गृह की ओर बढ़े, धनश्री ने पीछे चलती हुई देखा चरण-चिह्नों में, तो ‘पद्म-चिह्न’ विद्यमान था। रोम-रोम नाचने लगा उसका, हर्षातिरेक से दिल की धड़कन अत्यन्त तीव्र हो गई। उसने वहाँ खड़ी अपनी सखी से कहा—“जा! पिताश्री को बुला ला। कहना मुनिराज पधारे हैं।”

□ दान, प्रतीक्षा, तप सभी का सुफल !

श्रेष्ठी ने सुना तो समझ गया कि पुत्री की तपस्या, प्रतीक्षा, उसका दान देना आज सफल हुआ है। उसका वांछित पुरुष, मुनिराज का संयोगवश पदार्पण हो गया है। श्रेष्ठी आये, मुनिवर को वन्दन किया और कहा—“मुनिवर! आज आपने अपने पावन चरण-स्पर्श से इस घर को मंगलमय बना दिया है। आज मेरी पुत्री धनश्री की लम्बी तपस्या सफल हुई है। कितना समय हो गया उसे आपके दर्शन की चाह में? उसका अब तक व्यतीत एक-एक श्वास आप ही के

लिए प्रतीक्षारत था। अब यदि आप उसकी अभिलाषा पूरी नहीं करते, देववाणी को साकार सत्य सिद्ध नहीं करते, उसके साथ विवाहित जीवन को स्वीकार नहीं करते तो निश्चय समझिए वह अपने प्राण त्याग देगी। आप सोचिए इसका जीवन-मरण आपकी हाँ-ना पर निर्भर है। आज इसे इनकार कर आपका यहाँ से प्रस्थान करने का अर्थ होगा एक पूर्ण पंचेन्द्रिय उत्तम कुलोत्पन्न पतिव्रता कन्या का मरण। क्या यह हत्या के तुल्य नहीं होगा?”

□ मुनि द्वारा विवाह की स्वीकृति ! भोगावली का भोग !

आर्द्र मुनि के अन्तर् में शासनदेवी के कहे हुए शब्द आज पुनः गूँज उठे। देवी ने कहा था—“अभी भोग भोगने की उम्र है।” सोचा मुनि ने—‘क्यों न मैं पहले भोग ही भोग लूँ फिर दीक्षा पुनः धारण कर लूँगा।’ इस विचार के आते ही मुनि का मन चंचल हो गया।

मुनिवर ने विवाह की स्वीकृति दे दी। मुनि-वेश उतारकर गृहस्थ-वेश पहन लिया। श्रेष्ठी ने बहुत ही ठाट-बाट से उन दोनों को परिणय-सूत्र में बाँध दिया। परिणय-महोत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् आर्द्रकुमार और धनश्री सुखपूर्वक अपना गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे।

□ पुत्र का जन्म !

गृहस्थी में एक और एक मिलकर दो होने का फल है—तीसरे प्राणी का आगमन। धनश्री ने भी एक सुन्दर पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र बड़ा होने लगा। बाल-चेष्टाओं में लुभायमान बनते हुए आर्द्रकुमार व धनश्री उस बाल का पालन-पोषण करने में ही जीवन का आनंद मानने लगे।

□ पुनः संयम के लिए पत्नी से अनुमति की चाह !

बालक बढ़ने लगा। जब वह पाँच वर्ष का हुआ तो आर्द्रकुमार ने धनश्री से कहा—“तुम्हारी दृढ़ता और मेरे पापकर्मों का उदय जिससे मैंने तुम्हारे साथ गृहस्थी के ये कुछ वर्ष बिताये। अब मैं पुनः आत्म-कल्याण के पथ पर जाना चाहता हूँ, मुनिधर्म का आचरण करना चाहता हूँ, संयममय जीवन बिताना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है तुम मेरे इस कार्य में एक अच्छी धर्मपत्नी की तरह सहयोग करोगी, कम-से-कम बाधक तो नहीं बनोगी।”

धनश्री जानती थी, ऐसा ही कभी-न-कभी होने वाला है, अतः उसने घर में पहले से ही एक चरखा मँगाकर रख दिया था। पति के कथन का उसने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह अपने स्थान से उठी, एक तरफ अलग से बने कमरे में गई। उसका द्वार खोला। अन्दर गई।

पुनः बाहर जब आई तो उसके हाथ में एक चरखा था। वह घर के आँगन में आर्द्रकुमार जिस खाट पर अलसाए से लेटे थे, उसके पास ही बैठकर चरखा चलाकर सूत कातने लगी।

□ घूँरे चरखा घूँ !

चरखा चला। चरखे की आवाज निकली—‘घूँरे चरखा घूँ !’ विचित्र आवाज थी, नई धुन थी, पहले कभी सुनी नहीं ऐसी स्वर-लहरी वातायन में बिखर रही थी। बच्चा वहीं घर-आँगन में खेल रहा था। उसने सुनी यह आवाज तो आकर्षित हुआ उधर। पहुँचा माँ के पास। पूछा—“माँ! यह क्या है?”

माँ बोली—“बेटे, यह चरखा है।”

पुत्र ने फिर पूछा—“तुम इसे घुमा क्यों रही हो?”

माँ ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—“बेटे! मैं इसे चलाकर सूत कात रही हूँ।”

बाल-जिज्ञासा अभी शान्त नहीं हुई, अतः फिर प्रश्न हुआ—“तुम सूत क्यों कात रही हो?”

अब माता ने बताया—“बेटे! तुम्हारे पिता घर छोड़कर जाने की बात कह रहे हैं। जब ये घर छोड़ देंगे तो तेरा और मेरा पेट कौन पालेगा? मैं सूत कातूँगी तभी तो पैसा मिलेगा। उसी पैसे से हम अपना पेट भरेंगे, घर चलायेंगे।”

□ बन्धन कच्चे धागों का !

बालक तो बालक ही होते हैं। वे अत्यन्त सरलमना होते हैं। उस बालक ने भी अत्यन्त सरल भाव से अपने पिता पर दृष्टिपात किया जो उसी को टुकुर-टुकुर निहार रहे थे। बाल-सुलभ कौतुक करते हुए उसने माता के चरखे के निकट जाकर तकली पर लिपटा रुई का सूत निकाला। उस कच्चे धागे को लेकर वह पहुँचा पिता के पलँग के निकट। सोते हुए पिता के पैरों में उसने उस धागे को लपेटना शुरू कर दिया। जब पूरा सूत लिपट गया तो माँ से बोला—“देखा माँ! मैंने पिताजी के पाँव बाँध दिये हैं। अब ये घर छोड़कर नहीं जायेंगे।”

कच्चे धागों का वह बंधन तोड़ डालना बहुत आसान था, पर उस बंधन के साथ बच्चे के स्नेह का जो मजबूत बंधन था, पिता आर्द्र उसे तोड़ नहीं सके। अनुराग का और मोहनीय कर्म का काम सर्वाधिक कठिन है, मजबूत है, आकर्षक है। आर्द्र भी उसी मोह-पाश में उलझ गये और बोले—“धनश्री! हमारे इस बच्चे ने अपने बाल-सुलभ चंचलता की धारा में बहकर कच्चे धागों से मुझे बाँध दिया है। इसका यह स्नेह-पाश मुझे विवश बना रहा है। बारह लपेटे दिए

हैं इसने मेरे पाँवों पर। लगता है आने वाले बारह वर्षों का बन्धन इसने बाँध दिया है। मैं आज से बारह वर्ष बाद गृहस्थ-धर्म त्यागकर श्रमणचर्या में पुनः प्रविष्ट होऊँगा।”

□ आसक्ति की शक्ति ! कमल न छेदे भौर !

बन्धुओं ! ऐसा होता है मोह का बन्धन, प्रेम का बन्धन, आसक्ति का बन्धन, राग का बन्धन!

एक कवि ने इस बन्धन के लिए कहा है—

जैसो बन्धन राग को, तैसो नहीं कोई और।

काठहु भेदन में समर्थ, कमल न छेदे भौर॥

इस आसक्ति के बन्धन के लिए भँवरे का दृष्टान्त दिया है कवि ने। दिखने में काला-कलूटा क्षुद्र-सा प्राणी भँवरा बड़ा रसिक होता है। खिले हुए फूलों पर, कमल-दलों पर, चम्पा-चमेली की पंखुड़ियों पर मँडराते रहना ही उसकी प्रकृति है। कभी किसी एक फूल, एक पंखुड़ी पर नहीं ठहरता। अधखिली कलियों और खिले हुए पुष्पों का मधुपान करता है, पर कौशल कैसा उस क्षुद्र प्राणी का! पराग लेगा, रस पान करेगा, मधु पिएगा पर क्या मजाल कि किसी भी कली, फूल, पंखुड़ी को जरा-सा भी दर्द हो। विवेकी कितना? कहीं भी बैठेगा, बस उतना ही मधु ग्रहण करेगा जिससे किसी फूल, किसी कली को जरा-सा भी क्षोभ उत्पन्न न हो। आसक्त कितना? रात होने तक भी उन्हीं पर मँडराता रहेगा। आना चाहती है रात्रि तब भी बेभान, निःशब्द उतर आती है रात्रि तब भी बेभान, आ जाती है रात्रि तो भी सोचता है—‘अभी तो रात गहराने में समय है, कुछ मधु और पी लूँ।’

वह भँवरा अपने विचारों में, रसपान में, मधु-ग्रहण में खोया ही रह जाता है और उसके चारों तरफ रात्रि का पूर्ण साम्राज्य बिखर जाता है। कमल तो कमल! वह भी तो पूर्ण आसक्त है रवि-रश्मियों का। दिनकर की किरणों का चहेता जब उनके स्पर्श-सुख से वंचित हो जाता है तो विरह-व्यथित बन मुरझाना प्रारम्भ कर देता है। उसकी खिली हुई पंखुड़ियाँ सिमटने लगती हैं। गंधासक्त, रसासक्त भँवरा तब भी मुग्ध-सा, भान-भूला-सा वहीं आसक्ति के पाश में उलझा रह जाता है। नहीं हटता वह वहाँ से और परिणामस्वरूप वह मधु-लोभी वहीं कैद हो जाता है, उन्हीं पंखुड़ियों में बन्द हो जाता है। उस मधु-लोभी के लिए, उस गंध-लम्पट के लिए फूलों का वही सुकोमल आँगन काल-कोठरी बन जाता है।

वह काट सकता है उन बन्धनों को, उसमें कौशल है उन पंखुड़ियों को छेदकर बाहर निकलने का, उसमें सामर्थ्य है उस काल-कोठरी से बाहर आकर स्वतन्त्र बनने का। जो भँवरा पेड़ के तने को, खड़े हुए बाँस को, कैसी भी लकड़ी को भेद सकता है, छेद सकता है, काट सकता है, भला वह उन कोमल पंखुड़ियों को क्यों नहीं काट सकता? काट सकता है, पर रागासक्ति के कारण नहीं काटता, मोहासक्ति के कारण नहीं छेदता उन पंखुड़ियों को, रसासक्ति के कारण बंद ही रह जाता है उस काल-कोठरी में। वह सोचता है—‘प्रातःकाल ये पंखुड़ियाँ पुनः खुलेंगी, मैं पुनः इन पर मँडराऊँगा, इनका रस पीऊँगा।’

□ हा हंत ! हंत !

बंधुओं! उस पद्म-पराग के आकर्षण में बँधा वह भँवरा अपनी स्वतन्त्रता और अपने जीवन के स्थान पर उस कमल की कोमलता, उसकी सुगंधि, उसके सौन्दर्य को अधिक पसन्द करता है। कैसी दुर्गति बनती है उसकी रसासक्ति के कारण? कितना भयंकर परिणाम भोगता है वह रागासक्ति का? एक संस्कृत कवि ने उसका वर्णन किया है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम् ।
 भाष्वानुदेश्यसि हसिष्यसि पंकज-श्री ॥
 इत्थं विचिन्त्यति कोषगते द्वि-रेफे ।
 हा हंत ! हंत ! नलिनी गज उज्जहार ॥

भँवरे की दुर्गति को संकेतित करते हुए बताया कवि ने—“रात बीतेगी, सुप्रभात होगी। सूर्योदय होने से कमल-दल उसकी प्रकाशमान रश्मियों का जीवंत स्पर्श पाकर पुनः खिल उठेंगे। पंखुड़ियाँ जो रातभर सिमटी हुई रहीं पुनः खुलेंगी।” यही सब सोचता हुआ भँवरा पंखुड़ियों में कैद बन जाता है। उसका विचार है कि तब मैं पुनः इन कलियों, फूलों का रसपान करूँगा, पर हाय रे भाग्य! तालाब में प्रविष्ट किसी हाथी ने सारे कमल-दलों को अपनी सूँड़ में लपेटा, तोड़ा और मुँह में डाल दिया। पंखुड़ियों में कैद स्वतन्त्र होने की आशा रखने वाले भ्रमर की वहीं समाधि बन गई।

बंधुओं! आसक्ति का अन्तिम फल यही है, पर जो सचेत हो जाता है, सजग बन जाता है, समय पर अपने को बन्धन-मुक्ति के पथ पर डाल देता है, वह अंततोगत्वा अपनी आत्मा का कल्याण कर ही लेता है।

□ बारह वर्ष बाद तोड़ा कच्चे धागों का बन्धन !

सचमुच आर्द्र बारह वर्ष तक और गृहस्थी में रहे। इस अवधि के व्यतीत होने पर धनश्री की अनुमति लेकर आर्द्र ने गृह-त्याग कर दिया और पुनः मुनि-वेश धारण कर श्रमणचर्या में रत हो गये।

बन्धुओं! उधर आर्द्रकुमार के पिता ने आर्द्रकुमार की सुरक्षा व देखरेख के लिए जिन सुभटों को नियुक्त किया था, वे सभी सुभट राजा आर्द्र के भय से जंगल में ही रहकर जीवन व्यतीत करने लगे। उन्हें भय था कि उनका नरेश उन्हें लापरवाही का दण्ड अवश्य देगा, शायद वह सभी को मौत की सजा दे दे। वे सभी सुभट जंगल-दस्यु बन इधर-उधर डाका डालकर जीवन-निर्वाह करने लगे। अपने धन्धे के लिए एक जंगल से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी क्रम से आगे बढ़ते हुए वे भी मगध राज्य की सीमा पर पहुँच गये।

□ पाँच सौ सुभटों से मिलन !

संयोग ऐसा बना कि गृहस्थ से पुनः श्रमण बनकर आर्द्र मुनि जब अभयकुमार से मिलने राजगृही की ओर विहार में थे तभी राह में उनकी भेंट इन दस्युओं से हो गई। मुनिवर ने इन्हें पहचान लिया। दस्यु-दल ने भी उन्हें पहचान लिया। तब मुनिवर ने अतीव अनुकम्पा कर उन पाँच सौ दस्युओं को अपने अमृतमय उपदेश से प्रतिबोध दिया।

सुभट से दस्यु बने थे वे। आर्द्र मुनि उनके स्वामी-पुत्र थे, अतः स्वामी ही मानते थे सभी उन्हें। उनका उपदेश सुन सभी प्रतिबोधित हुए और उन्होंने उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलने का निश्चय प्रकट किया। वे सभी विहार में आर्द्र मुनि के संग-संग ही चलने लगे।

□ महावीर-मत मण्डन !

विहार-पथ में ही उनकी भेंट भगवान महावीर के विराधक-शिष्य गौशालक से हुई, जो उस समय के 'आजीवक' मत के संस्थापक, प्रतिपादक थे। दोनों में शास्त्रार्थ हुआ। आर्द्र मुनि ने पूर्व संस्कारों से मिले ज्ञान व विवेक बुद्धि से यह सिद्ध किया कि प्रभु महावीर का जीवन विरोधाभासों से भरा नहीं है। मुनि ने गौशालक से कहा कि तत्त्वों के ज्ञान को जिसने यथातथ्य जान लिया है, समझ लिया है, वह जनसमूह के मध्य विचरण करता हुआ भी, हजारों लोगों के बीच रहकर धर्मोपदेश करता हुआ भी वस्तुतः एकान्तसेवी ही है।

बंधुओं! मुनि आर्द्र ने केवल आजीवक मत चलाने वाले गौशालक को ही उसके प्रश्नों का यथोचित जैन मतानुसार प्रत्युत्तर नहीं दिया अपितु राह में मिलने वाले बौद्ध और

वैदिक धर्मावलम्बियों को भी उनके धर्म में निहित सत्य-तथ्य विरुद्ध मिथ्या सिद्धान्तों, विचारों व आचारों का खण्डन कर जिनधर्म के सिद्धान्तों व आचारों को आत्म-कल्याणकारी सिद्ध किया।

आर्द्र मुनि ने इन सभी को बताया कि “जो प्रभु महावीर की तरह आचारवन्त, क्षमाशील, इन्द्रिय-निग्रही, जितेन्द्रिय, हित-मित-प्रिय भाषी, भाषा के समस्त गुणावगुण का ज्ञाता और गुणयुक्त भाषा का ही प्रयोगकर्त्ता हो—ऐसे साधक, धर्मोपदेशक, सन्त-मुनि-श्रमण को दोष नहीं छूता।”

“अप्रासुक शीतल जल का सेवन करने वाला, अपने निमित्त बनाया भोजन ग्रहण करने वाला और स्त्री-संसर्ग रखने वाला साधु भी गृहस्थ ही है।”

बौद्ध-भिक्षुओं को मुनि आर्द्र ने कहा कि “हिंसा तो हिंसा ही है। यदि किसी जीव को कुम्हड़ा (कहू) मानकर काटा जाए तो भी प्राणिवध की भावना के कारण हिंसा का पाप अवश्य लगेगा।”

बौद्ध और वेदान्त मतावलम्बियों के इस कथन पर कि कोई दो हजार बौद्ध-भिक्षुओं को या ब्राह्मणों को भोजन कराए तो वह देव बनता है, मुनि आर्द्र ने इसे मिथ्या कथन सिद्ध करते हुए इसका खण्डन किया और कहा—

“भोजन कराने में भोजन कराने वाले व्यक्ति का शुभ भाव, भोजन करने वाले की सुपात्रता और वस्तु शुद्धि के बिना कोई दाता कितना ही दे, उसका सुफल अनिश्चित है। यदि भोजन करने वाला हिंसक, अनीतिवान, अन्यायी है तो वहाँ मात्र ‘असईजण पोषणया’ ही होगा। वह न तो आत्म-कल्याणकारक होगा और न एकान्त पुण्य का कारण। वह तो मात्र पापानुबन्धी पुण्य का बंध ही कर सकेगा।”

बंधुओं! आर्द्र मुनि की यह कतई चाह नहीं थी कि वे किसी मत, किसी सम्प्रदाय, किसी पंथ का खण्डन करें या अपने मत का, जिन-मत का मण्डन करें। उनके मन में यह भाव भी नहीं था कि मैं जीत जाऊँ या सामने वाला हार जाये। अनेक तापस भी मिले उन्हें, उनके समक्ष भी उन्होंने धर्म के सम्यक् स्वरूप को, जैसा वे जानते-समझते थे और उनकी विवेक-बुद्धि के अनुसार जो धर्मोचित था—‘वैसा रूप-स्वरूप’ रखा। उनमें कहीं भी किसी के विरोध करने का भाव नहीं था।

□ राजगृही पदार्पण : अभय से मिलन !

राजगृही के निकट पहुँचने पर एक मदोन्मत्त खूँख्वार हाथी को मुनिवर ने अपने दिव्य-तेज के प्रभाव से शान्त बनाया। राजगृही पहुँचने पर राजा श्रेणिक व मंत्री अभयकुमार ने मुनिवर के दर्शन किये, उनको वन्दना की। अभय को देख आर्द्र मुनि विशेष हर्षित हुए। जिस उद्देश्य से वे अनार्य देश का राज-सुख त्यागकर चले थे, वह उद्देश्य और इतने लम्बे समय की यात्रा की सफलता देख अन्तर् में हर्ष की अनुभूति स्वाभाविक ही थी।

□ हाथी के बन्धन से मोह का बंधन अधिक मजबूत !

जब राजा श्रेणिक ने कहा कि “अत्यन्त मजबूत बन्धनों के होते हुए भी हाथी बन्धन तुड़ाकर उपद्रवी बन बैठा। आप धन्य हैं जो आपने उन्मत्त गज को शान्त कर इस राज्य को एक बड़ी जन-हानि से बचा लिया।”

इस पर आर्द्र मुनि सहज भाव से शान्त-धीर स्वर में कह उठे—

न दुक्करं बंधणपासमोयणं, गयस्स मत्तस्सवणम्मि रायं ।

जहा उ चत्तावलिण्ण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं ॥

राजा की जिज्ञासा को शान्त बनाते हुए मुनिश्री बोले—“राजन्! हाथी जब उन्मत्त बनता है तो उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है, तब उसका लौह शृंखलाओं के कठोर से कठोर बन्धनों को तोड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात तो है मेरा सूत के कच्चे धागों के स्नेह पाश को कठिनता से तोड़ पाना।”

इतना कहकर मुनिवर ने अपने पाँच वर्षीय पुत्र द्वारा सूत से पैर बाँधने, बारह बार लपेटा देने और उसी के कारण अपने बारह वर्ष गृहस्थाश्रम में और व्यतीत करने की घटना उपस्थित परीषदा को सुनाई। उनके इस प्रसंग को सुन अनेक लोग प्रतिबुद्ध हुए।

□ पाँच सौ सुभट भी दीक्षित !

वहाँ से मुनिवर ने विहार किया। वे प्रभु महावीर के चरणों में पहुँचे। प्रभु के दर्शन किये, उनको विधियुक्त वन्दना की। प्रभु ने मुनिवर से प्रतिबोध पाये हुए और मुनिवर के संग आये हुए पाँच सौ सुभटों को प्रव्रजित किया और उन्हें मुनिवर के साथ ही साधना करने, विहार विचरण करने की अनुज्ञा प्रदान की।

□ मुक्ति-प्राप्ति !

बहुत वर्षों तक निरतिचार संयम-साधना कर उत्कृष्ट ध्यान एवं उग्र निष्काम तप के प्रभाव से मुनि आर्द्र ने मुक्ति का वरण किया।

बंधुओं! एक अनार्य देश में जन्म लेकर भी पूर्वभव के संस्कारों के जागृत होने पर आर्द्र मुनि ने कितने कष्ट सहकर आर्य क्षेत्र को प्राप्त किया। आपको तो सहज सारी बातें सुलभ हैं। आर्य क्षेत्र भी, मानव भव भी, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी, उच्च कुल भी, श्रुतवाणी भी, सद्गुरु-संग भी। इतना सब प्राप्त करके भी आप यदि सचेत नहीं बनते हैं, आत्म-जागृति आपमें नहीं पनपती है, धर्म के पथ पर चलना आपको नहीं सुहाता है तो स्पष्ट है अभी आपको चार गति-चौरासी लक्ष जीवयोनि में भटकना है, दुःख पाना है, कष्टों का पर्वत उठाना है।

□ आत्म-जागृति लाइए !

चाहते हैं कष्टों से मुक्ति, जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा, अष्ट-कर्मों के दल का नाश तो सजग बनिए, धर्म को धारण कीजिए, व्रती-प्रत्याख्यानी बनिए, कषायों को घटाइए और अपने में सामर्थ्य पैदा करिए—संसार के बन्धनों को तोड़कर संयम के पथ पर अग्रसर होने की। आत्म-जागृत बन आत्मोन्नति में पुरुषार्थ करेंगे तो निश्चित ही समस्त दुःखों के बादल छँट जायेंगे, शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी, मोक्ष सुनिश्चित होगा।

आनन्द ही आनन्द !



मुनीश्वरों नी श्रेण-2

(स्थूलभद्र मुनि : काम पर विजय)

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतम प्रभुः।
मंगलं स्थूलिभद्राद्या, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं ॥

आत्म-बंधुओं !

अष्ट कर्मदल का नाश करने वाले, भव-भ्रमण को मिटाकर जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने वाले, राग-द्वेष-विषय-कषायादि पर पूर्णतः विजय प्राप्त कर अयोगी बन जाने वाले सिद्ध भगवंतों का अनंत-अनंत उपकार इस संसार के प्राणियों पर कि वे अपना लक्ष्य सिद्ध कर संसार से जिस स्थान को रिक्त करते हैं, उसकी पूर्ति के लिए एक जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आने का अधिकारी बनता है। आज तक अनंत-सिद्ध भगवंत हुए और उनके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनने पर अनंत अव्यवहार राशि के जीव व्यवहार राशि में आ सके हैं।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवंतों का इस विश्व के सभी प्राणियों पर अनंत-अनंत उपकार है, जिन्होंने आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से आत्म-शुद्धि की साधना कर जन्म-मरण के अनंत चक्र को भेदा और मोक्ष के पथ को जाना-पहचाना। स्वयं अनंत ज्ञानी बनकर लोक के अन्यान्य प्राणियों को वह पथ बतलाया, जिस पर चलकर अन्य प्राणी भी उन्हीं की तरह मुक्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर बन सकेंगे।

सर्वज्ञों की वाणी को सूत्र रूप में प्रकाशित करने वाले उन सभी गणधर भगवंतों का भी महान् उपकार है कि जिनके कारण आज जगत्कल्याणी, मोक्षदायिनी जिनवाणी आगम सूत्रों के रूप में भव्य जनों का पथ-दर्शन कर रही है।

उन सभी सुज्ञानी आचार्य भगवंतों का भी इस चराचर के प्राणियों पर महत् उपकार कि उन्होंने उस वाणी को मूल और अर्थ रूप में ग्रहण कर आगे से आगे श्रुतवाणी की धारा को अजस्र बनाया।

आज के मंगलाचरण में जैनधर्म को मंगल स्वरूप बताते हुए पद्य रचनाकार ने तीर्थंकर महावीर, गणधर गौतम स्वामी और आचार्य स्थूलभद्र को मंगल का प्रतीक बताया है। भगवान महावीर के शासनवर्ती और उनके अनुयायी प्रभु के जीवन-प्रसंग से सुपरिचित हैं। उनके प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम से भी आप परिचित हैं और जो परिचित नहीं हैं, वे उनके जीवन-प्रसंग को अवश्य जानें। तीसरे मंगल के रूप में नाम आया है—स्थूलभद्र का।

□ आर्य स्थूलभद्र !

कौन थे ये स्थूलभद्र ? ऐसा क्या अद्भुत किया उन्होंने कि तीसरे मंगल के रूप में उनका स्मरण किया गया ? क्या जैन-समाज आज भी उनकी महनीय कृपा का उपकृत बना हुआ है ? 'बड़ी साधु वन्दना' की ९८वीं कड़ी में युग-प्रधान एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने विशिष्ट मुनीश्वरों की श्रेणी में उनका उल्लेख किया है—

वलि आर्द्रकुमार मुनि, स्थूलभद्र नंदीषेण।

अरणक अइमुत्ते, मुनीश्वरों नी श्रेण॥९८॥

□ तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति !

बंधुओं! मगध की राजधानी पाटलिपुत्र के निवासी थे स्थूलभद्र। मगध तब नन्दवंशी राजाओं के अधिकार में षड्यंत्रों और अव्यवस्थाओं का जाल बना हुआ था। मगध सम्राट् महाराज उदायी की मृत्यु के पश्चात् स्थूलभद्र के परिवार के पूर्व-पुरुष कल्पक को प्रथम नन्द द्वारा मगध साम्राज्य का महामात्य नियुक्त किया गया था। प्रथम नन्द के समय से नवम नन्द के समय तक निरन्तर इसी परिवार का मुखिया महामात्य पद को सुशोभित करता रहा। नवम नन्द के महामात्य थे शकटार या शकडाल।

□ स्थूलभद्र-जन्म !

शकडाल का परिवार जाति से यद्यपि ब्राह्मण था, पर इस परिवार की जैनधर्म के प्रति दृढ़ आस्था थी। यह परिवार पूर्णतः संस्कार सम्पन्न था। आर्य स्थूलभद्र इन्हीं शकडाल के पुत्र थे, जिनका जन्म माता लक्ष्मीदेवी की कुक्षि से वीर निर्वाण संवत् ११६ में हुआ था।

□ असंभव को संभव बनाने वाले इतिहास पुरुष

जैन इतिहास में स्थूलभद्र की गणना एक ऐसे कामजयी साधक के रूप में की जाती है, जिसने कज्जल से भरी कोठरी में रहकर भी अपने शरीर पर कज्जल की लीक तक न लगने दी। कहना चाहिए वे इससे भी एक कदम आगे रहे। कहावत तो यह है कि—

काजल की कोठरी में, कैसो हू सयानो जाय।
एक लीक काजल की, लागी है पे लागी है॥

असंभव है कि काजल की कोठरी से बिना काला दाग लिए निकल जाये कोई, पर स्थूलभद्र ने इसे भी संभव कर दिखाया था। मुनि बनकर चातुर्मास किया था गणिका कोशा के रंग-भवन में, पर किंचित् मात्र भी संयम से, महाव्रतों से, ध्यान से विचलित नहीं हुए। एक कदम आगे इसलिए कि उस काजल की कोठरी-रूपी गणिका को भी उन्होंने व्रतधारी श्राविका बना दिया। श्राविका भी ऐसी-वैसी नहीं—अटूट और दृढ़ श्रद्धावान! नीति, शृंगार और वैराग्य में एक समान गति रखने वाले संस्कृत कवि भर्तृहरि ने कहा है—

मत्तेभकुंभदलने भुवि सन्ति शूराः,
के चित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्यः,
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

इस धरती पर अनेक ऐसे शूरवीर हो चुके हैं जिन्होंने मदमस्त बने उन्मत्त हाथियों के कुंभस्थल का मर्दन कर उनके मद को उतारकर उन्हें पराजित बनाया है। अनेक शूरमाओं ने भयंकर और हिंसक वनराज केशरी सिंह का अपने चातुर्य एवं बल से वध किया है। किन्तु ऐसे हजारों-हजार शूरों में कामदेव के मान को चूर-चूर करने वाला, उसे हराने वाला, विषय-भोगों को परास्त करने वाला कोई-सा ही अद्भुत, निराला, विरला पुरुष होता है।

□ परिवार-परिचय !

बंधुओं! स्थूलभद्र ऐसे ही विरले महामानव थे। महामंत्री शकडाल के स्थूलभद्र के अतिरिक्त एक और पुत्र था—श्रीयक। दोनों भाइयों में स्थूलभद्र ही बड़े थे। बहनें सात थीं—यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सैणा, मैणा, रैणा।

□ संसार की व्यवहार-शिक्षा के लिए गणिका कोशा के घर !

सभी भाई-बहनों की शिक्षा का उचित प्रबंध किया गया। सभी प्रकार की विद्याओं की सभी ने पूर्ण दक्षता से जानकारी प्राप्त की। अनेक विद्याओं में ज्यों-ज्यों धुरन्धर बनते गये स्थूलभद्र, त्यों-त्यों उनकी स्वाभाविक गंभीरता बढ़ती गई। ज्यों-ज्यों बड़े हुए, उनकी यह गम्भीरता संसार के प्रति उदासीनता में परिवर्तित होती गई।

मंत्रीश्वर शकडाल और मातेश्वरी लक्ष्मी उनके इस रंग-ढंग से चकित थे। दोनों ने आपस में विचार-विमर्श कर स्थूलभद्र की व्यावहारिक शिक्षा के लिए, संसार के प्रति उनमें

आकर्षण उत्पन्न करने के लिए उच्च वर्ग में चली आ रही परम्परा के अनुसार उन्हें नगर की परम चतुर, वाक्पटु एवं नृत्य कुशल राजमान्य नगर-गणिका के यहाँ भेजा।

□ उलझ गये नारी-जाल में !

नगर-गणिका की एक नवयौवना षोडशवयी-कोशा नाम की पुत्री थी। वह भी अपनी माता की तरह अवसरानुकूल अभिनय कला व मंत्र-मुग्ध कर देने वाले नृत्य, हावभाव आदि में परम दक्ष थी। उस परम सुन्दरी का कुछ दिनों का संसर्ग स्थूलभद्र को ऐसा भाया, इतना सुहाया कि वे वहीं भरमा गये। कोशा के वाक्चातुर्य और उसकी भाव-भंगिमाओं के जाल में स्थूलभद्र ऐसे उलझे कि अगले बारह वर्ष तक वे वहीं “दो जिस्म मगर इक प्राण” बनकर रह गये।

बंधुओं! काम-विद्या की शिक्षिका थी कोशा, शिक्षार्थी थे स्थूलभद्र। पर एक-दूसरे के प्रति उन दोनों का अनुराग जब हुआ तो वह बढ़ता ही गया। इतना बढ़ा कि एक-दूसरे के बिना क्षणभर रहना भी उन्हें मुश्किल लगने लगा। कहते हैं कि दोनों ने उस दीर्घावधि में एक-दूसरे में पूर्ण लीन रहते हुए उस भवन की दासियों के अतिरिक्त किसी अन्य की ओर निहारा तो क्या, दृष्टिपात तक नहीं किया।

स्थूलभद्र को इस तरह वहीं रचा-पचा देख शकडाल दुःखी हुए, पर करते भी क्या? वहाँ भेजा भी तो उन्होंने ही था। मारवाड़ी में एक कहावत है—

हाथे कीना कामणा तो किणने दीजे दोष।

शकडाल अपने छोटे पुत्र श्रीयक को अपने साथ राजदरबार में ले जाने लगे। पुत्र श्रीयक भी राज्यकार्य में पिता की सहायता करने लगा।

□ शकडाल से वररुचि की ईर्ष्या !

इधर शकडाल के मंत्रीत्व में फलते-फूलते राज्य को, बढ़ती राज्य-समृद्धि को और उत्तम शासन-व्यवस्था के कारण बढ़ते हुए शकडाल के वर्चस्व को देख उसी नगर का एक विद्वान् वररुचि ब्राह्मण ईर्ष्या से जलने लगा। उसने अपना वर्चस्व स्थापित करने और मंत्रीश्वर के प्रबल-प्रताप को मंद बनाने की दृष्टि से अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रदर्शन का निश्चय किया और राजा तथा प्रजा की दृष्टि में आने के लिए राजा की प्रशंसा में प्रतिदिन नवीन काव्य बनाकर राजसभा में सुनाने का दैनिक क्रम प्रारम्भ कर दिया। उसकी हार्दिक अभिलाषा थी कि अपनी प्रशंसा में रचे गये इन नवीन पदों से राजा प्रसन्न होकर मुझे पुरस्कार दे। ऐसा होने पर मेरा मान बढ़ेगा और धन-प्राप्ति भी होगी।

□ वररुचि राजा नन्द द्वारा पुरस्कृत !

राजा नन्द तो उस समय पूर्णतः शकडाल महामात्य के प्रभाव में था, अतः जब तक शकडाल वररुचि के काव्य की प्रशंसा नहीं करता, तब तक राजा नंद भी केवल सुनकर रह जाता, न सराहना करता और न पुरस्कार देता। वररुचि इस बात को भाँप गया। उसने गुपचुप शकडाल की पत्नी लक्ष्मीदेवी को उनकी काव्य-स्तुति बनाकर प्रसन्न किया तथा प्रार्थना की कि वे शकडाल से राजसभा में उसके काव्य की सराहना के लिए कहें। लक्ष्मीदेवी अपने काव्य-गुणगान से प्रसन्न थीं, अतः उसने पति से कह दिया। गृहिणी के आग्रह को रखने के लिए दूसरे दिन शकडाल महामात्य ने वररुचि के काव्य की सराहना की तो राजा नन्द ने भी प्रसन्नता प्रकट कर वररुचि को १०८ स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार में दीं।

□ महामात्य शकडाल द्वारा विरोध !

उस दिन के पश्चात् वररुचि की नवीन काव्य-रचनाओं पर नन्द उसे नित्य १०८ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान करने लगा। निरन्तर कई दिनों तक यह क्रम बना रहा तो महामात्य राजकोष के इस तरह से अपव्यय से चिन्तित हुए। उन्होंने एक दिन यह कहकर वररुचि को मुद्राएँ देना बन्द करवा दिया कि प्रस्तुत की गई काव्य-रचना सुनी-सुनायी है, किसी अन्य द्वारा रचित है, नवीन-सृजन नहीं है। जब वररुचि ने प्रतिवाद किया तो महामात्य ने कह दिया—“पंडित महाशय! मेरी सातों कन्याओं तक को यह काव्य कंठस्थ है।”

□ वररुचि शकडाल की योजना का शिकार !

प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए, अपना कथन सिद्ध करने के लिए, वररुचि के सृजन को नकारने के लिए महामात्य ने अपनी यक्षा आदि सातों कन्याओं को दूसरे दिन राजसभा में बुलवाया। वररुचि उस दिन फिर नवीन १०८ पद की काव्य-सृजना करके लाया था। उसने राजसभा में अपना काव्य-पाठ सुनाया।

काव्य-पाठ समाप्ति पर महामात्य का संकेत पाकर उनकी सबसे बड़ी पुत्री यक्षा ने वह पूरा १०८ पद का काव्य-पाठ शब्दशः वैसा का वैसा सुना दिया। यक्षा के बाद क्रमशः यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सैणा, मैणा, रैणा ने भी एक के बाद एक करके उस काव्य-पाठ को वैसा का वैसा प्रस्तुत कर दिया। सिद्ध हो गया कि काव्य-सृजन नया नहीं, पहले का रचा हुआ है। लोक-प्रसिद्ध है, अनेकों द्वारा सुना हुआ है।

□ शकडाल की सात पुत्रियों की विशिष्टता !

वस्तुतः महामात्य की कन्याएँ विशिष्ट स्मरण शक्ति-सम्पन्न थीं। पहली कन्या कितना भी लम्बा-चौड़ा कथन हो, एक बार सुनकर के, दूसरी कन्या दो बार सुनकर के, इसी क्रम से सातवीं कन्या सात बार सुनकर के कंठस्थ कर लेती थीं। बस यही कारण था कि उनके द्वारा वररुचि का काव्य-पाठ पुनः-पुनः पुनरावृत्त कर दिया गया।

□ हतप्रभ वररुचि महामात्य का शत्रु बना !

राजा के नेत्रों में वररुचि के प्रति अब घृणा के भाव थे। सभासदों के चेहरों पर भी तिरस्कार झलक रहा था। स्वयं वररुचि हतप्रथ थे कि ऐसा कैसे सम्भव हुआ? उनके नेत्र धरती में गढ़ गये। वे किसी से आँख मिलाने योग्य भी अपने को नहीं पा रहे थे। उस समय तो उनका जी करता था कि धरती फट जाये और मैं उसमें समा जाऊँ। यह भाव क्षणिक था। तुरन्त हृदय में शकडाल के प्रति द्वेष-भाव का तीव्र उदय हुआ। “मुझे इसका अवश्य प्रतिशोध लेना है।”—वररुचि मन ही मन बुदबुदा उठा। प्रतिशोध लेने से पहले वह चाहता था अपनी खोई प्रतिष्ठा का पुनः अर्जन।

□ वररुचि को गंगा द्वारा १०८ स्वर्ण-मुद्राएँ !

प्रतिष्ठा को पुनः जुटाने के लिए उसके कुटिल दिमाग में एक योजना कुलबुलाने लगी। उसने अपने कुछ विश्वस्त मित्रों द्वारा नगर में प्रचारित करवाया कि पंडित वररुचि पर गंगा प्रसन्न हुई हैं। स्वप्न में दर्शन देकर उन्होंने कहा है पंडित जी नित्य माता (गंगा) की स्तुति के १०८ पद बनाकर, नदी में स्नान कर वह काव्य पाठ उच्चारण करें तो गंगा माता नित्य उन्हें अपने हाथों से १०८ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान करेगी।

दूसरे दिन गंगा किनारे कौतूहल प्रेमी नर-नारियों की, बालक-बालिकाओं की, युवक-युवतियों की भीड़ लग गई। वररुचि ने गंगा में स्नान कर उच्च स्वर में गंगा-स्तुति के १०८ पद पढ़े। सहसा गंगा के प्रवाह में एक नारी का हाथ बाहर निकला, हाथ में एक थैली थी। घुटनों तक पानी में घुसकर वररुचि ने उस हाथ के समक्ष प्रणति की और थैली उसके हाथ से ले ली। वह हाथ पुनः गंगा के पानी में चला गया। थैली को सभी के समक्ष खोला, उसमें स्वर्ण-मुद्राएँ थीं। गिनी गई वे मुद्राएँ पूरी १०८ थीं। जनता ने वररुचि की जय-जयकार की। नगर में चर्चा होने लगी—राजा नहीं देता है स्वर्ण-मुद्राएँ तो क्या हुआ, पण्डित जी को गंगा मैया देती है।

□ राजा नन्द भी देखने को उत्सुक !

प्रतिदिन यह मेला होने लगा। राजा नन्द ने सुनी यह बात। महामात्य शकडाल ने भी सुनी यह बात। दूर-दूर तक यह बात फैलती गई। चमत्कार-प्रदर्शन जैसी बातें इस देश में दिन में सौ कोस और रात में दो सौ कोस तक चली जाती हैं।

एक दिन आपस में सलाह कर राजा नन्द व महामात्य शकडाल ने भी उस चमत्कार को देखने का मानस बनाया। यह बात पाटलिपुत्र के प्रत्येक नागरिक तक पहुँच गई।

□ शकडाल द्वारा गुप्तचर की नियुक्ति

उधर राजा नन्द से वार्त्ता कर शकडाल गुप्तचर अधिकारी से मिले। एक बहुत ही दक्ष गुप्तचर को वररुचि के इस चमत्कार की वास्तविकता का पता लगाने का आदेश दिया। वह गुप्तचर गंगा के किनारे एक ऐसे स्थान की खोज करने लगा जो अपेक्षाकृत ऊँचा हो, जहाँ सघन वृक्ष-पौधे आदि हों और जहाँ से वह स्थल स्पष्ट नजर आये, जहाँ कि वररुचि पंडित अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है, अर्थात् गंगा के प्रवहमान जल से एक नारी हाथ बाहर आकर उसे स्वर्ण-मुद्राओं की थैली प्रदान कर पुनः जल में विलीन हो जाता है। बहुत जल्द ढूँढ़ लिया उसने ऐसा ही एक स्थल। बैठ गया छुपकर वहाँ।

□ गुप्तचर की सतर्क नजर !

धीरे-धीरे अंधकार की वृष्टि होने लगी। सृष्टि तिमिराछन्न बनने लगी। तभी गुप्तचर ने एक आहट-सी सुनी। देखा नजरें गढ़ाकर। आहट की दिशा में एक व्यक्ति। ध्यान केन्द्रित बनाया उस पर। वह निःशब्द, दबे पाँव गंगा-तट की ओर बढ़ रहा था। उसने सतर्क बनकर दृष्टि उस पर स्थिर कर दी। व्यक्ति गंगा के जल में उतरा, आगे बढ़ा, ठहर गया। गुप्तचर को लगा जैसे वहाँ अपने पैरों से वह कुछ ढूँढ़ रहा है। उत्सुकता बढ़ गई, अतः वह बिना कोई आहट किए खड़ा हो गया। तभी उसने गंगा के पानी से एक हाथ बाहर निकलते देखा। पानी में खड़े व्यक्ति ने उस हाथ में कुछ रख दिया। पुनः पानी में पाँव से कुछ किया तो हाथ अन्दर चला गया। यह सब करके वह व्यक्ति चुपचाप गंगा से बाहर आकर त्वरित गति से वहाँ से चला गया।

□ तो यह थी वररुचि की चाल !

उस व्यक्ति के जाने के बहुत समय बीत जाने पर वह गुप्तचर उसी स्थल पर आया, गंगा में ठीक उसी स्थान पर उतरकर आगे बढ़ा। निश्चित दूरी पर अन्दाज से पहुँचकर पानी के

भीतर पैरों से टटोलने लगा। कुछ ही समय के प्रयास के बाद उसके पैर ने पानी में किसी कठोर धातु को स्पर्श किया। पैर से उस वस्तु को भली प्रकार से टटोलकर उस चतुर गुप्तचर ने समझ लिया कि यहाँ कुछ होना चाहिए। उसने अपने पैर से उस वस्तु पर दबाव डालना प्रारम्भ किया। कुछ ही देर में पानी से बाहर कुछ आया। हाथ से टटोला उसे। धातु का हाथ और उसमें थैली। गुप्तचर ने वह थैली निकाल ली। अब तक जिस पैर को दबाए रखा था, उसे धीरे-धीरे दबाव कम करते हुए वहाँ से हटाया। सफलता की प्रसन्नता उसके चेहरे पर नाच उठी। गंगा से बाहर आकर वह महामात्य के घर की ओर चल पड़ा।

शकडाल से मिलकर गुप्तचर ने स्वर्ण-मुद्राओं वाली थैली उनके हाथ में रखी और कहा—“महामंत्रीश्वर! वहाँ एक यंत्र पानी के भीतर रखा हुआ है। उस यंत्र को पाँव से दबाने पर एक धातु निर्मित हाथ जल से बाहर आता है। यंत्र-हाथ में थैली मानव आकर रात में रख जाता है।”

“मेरा यही अनुमान था।”—मंत्रीश्वर ने कहा और उसे विश्राम करने का कहकर रवाना किया।

□ वररुचि पुनः अति लज्जित : रहस्य खुला !

सूर्योदय के समय सारा नगर गंगा-तट पर एकत्रित हो गया। स्वयं महाराजा नन्द आज चमत्कार देखने के लिए वहाँ आने वाले थे। निश्चित समय पर महाराज नन्द, महामात्य शकडाल, अन्य राज्याधिकारी, दास-सैन्यादि गंगा-तट पर पहुँच गये। वररुचि गंगा में उतरा, स्नान किया उसने और गंगा-स्तुति का पाठ उच्च स्वर में करने लगा। पाठ समाप्त होने पर प्रतिदिन की भाँति यंत्र पर पाँव दबाया। गंगा के पानी को चीरकर एक नारी हाथ बाहर आया, पर सबने साश्चर्य देखा कि वह हाथ रिक्त था। उसमें स्वर्ण-मुद्राओं वाली थैली नहीं थी। भौँचक्क हुए वररुचि ने पानी में डुबकी लगाकर हाथों से टटोलते हुए उस थैली को बहुत ढूँढ़ा पर थैली तो वहाँ थी ही नहीं, मिलती कैसे? प्रयास में असफल बनने पर मुँह लटकाए, नीचे नयन किये, धीरे-धीरे पानी से बाहर आने लगा।

शकडाल भी पहुँच गये तट के पास। वररुचि को इंगित कर बोले—“अजी पंडित जी! लगता है आपने जो कुछ वहाँ रखा था, वह खो गया है। उदास क्यों होते हो? धन आपका है तो कहीं जाने का नहीं?” स्वर्ण-मुद्राओं की थैली बताते हुए वे बोले—“यही थैली छुपाई थी न यहाँ आपने? लीजिए! आपका धन! महाराज नन्द के राज्य में आपका धन कोई अन्य कैसे ले जा सकता है?”

महामात्य थैली वररुचि को दे देते हैं और कहते हैं—“इस तरह के यन्त्र बनाकर क्यों जनता को धोखे में रखते हैं?”

शकडाल पूरी बात महाराज नन्द को व जनता को बता देते हैं।

वररुचि इस घटना से इतना अधिक लज्जित होता है कि कई दिनों तक वह घर से बाहर तक नहीं निकलता। वह समझ जाता है कि उसे इस तरह अपमानित करने, उसके रहस्य का पर्दाफाश करने में महामात्य शकडाल का ही हाथ है। वह अब और भी अधिक प्रतिशोध की ज्वाला में सुलगने लगता है। मंत्रीश्वर की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाने के वह अनेक कुटिल प्रयत्न, षड्यंत्र करता है, पर मंत्रीश्वर की पैनी नजर, सुदृढ़ गुप्तचर व्यवस्था और बुद्धि-चातुर्य के कारण वह हर प्रयत्न में विफल रहता है। इस पर भी वररुचि अपने प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने देता। “करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।” यहाँ जड़मति तो सुजानी नहीं हुआ, पर निरन्तर प्रयत्नों के कारण उसकी कुटिल योजना ने उसके षड्यंत्र को सफलता अवश्य प्रदान कर दी।

□ षड्यंत्र : भ्रामक प्रचार !

वररुचि ने अपनी कुटिल योजना के अन्तर्गत नगर के बच्चे-बच्चे की जिह्वा से एक श्लोक निरन्तर उच्चारित करवाया—

न वेत्ति राजा यदसौ, शकडालः करिष्यति।

व्यापाद्य नन्दं तद्राज्ये, श्रीयकं स्थापयिष्यति॥

बच्चों द्वारा हर गली, बाजार, चौराहे आदि स्थलों पर यह श्लोक बार-बार उच्चारित किया जाने लगा। बच्चों को इसके लिए नित्य मिष्ठान्नादि मिला करते थे। धीरे-धीरे अन्य लोग भी यह श्लोक उच्चारण करने लगे। गुप्तचरों के माध्यम से यह श्लोक नन्द के कानों में भी पहुँचा। नन्द चौंक पड़ा। उसने श्लोक के अर्थ पर विचार किया—‘महामंत्री शकडाल जो कुछ करना चाहता है, उसे महाराज नन्द नहीं जानते। नन्द को मारकर शकडाल एक दिन अपने पुत्र श्रीयक को मगध के राजसिंहासन पर बैठा देगा।’

□ सन्देह का बीज !

बंधुओं! नन्द के चिन्तन में शीघ्र ही यह बात आ गई कि राज्य में स्वयं उसकी स्थिति से मंत्री की स्थिति कहीं ज्यादा दृढ़ है फिर भी शकडाल की राज्य के प्रति जो बेदाग और अद्वितीय स्वामी-भक्ति है, उसको देखते हुए उस पर किसी प्रकार का सन्देह करना कैसे

संभव हो सकता है? इस पर भी सन्देह का एक नन्हा-सा बीज मन के किसी कोने में चुपके से वपित हो गया।

□ व्यर्थ नहीं था सन्देह !

नन्द ने कुछ चतुर गुप्तचरों को महामात्य के घर के आसपास छद्मवेश में नियुक्त कर उन्हें आदेश दिया कि उस घर की प्रत्येक हलचल की जानकारी उस तक पहुँचनी चाहिए।

शकडाल के अशुभ कर्मों के उदय होने का संयोग भी इस आदेश के साथ-साथ हुआ। शकडाल राजा नन्द को श्रीयक के विवाह-उपलक्ष में आमंत्रित करके शासन उपयोगी उपहार अचानक देना चाहता था। उपहार में उसने छत्र, चँवर, खड्ग और कुछ नवीन अस्त्रों का निर्माण करवाया था। जिस समय गुप्तचर पहरा दे रहे थे, उस समय उपहार की ये वस्तुएँ घर के तहखाने में रखवाई जा रही थीं। विश्वासपात्र गुप्तचरों ने जैसा देखा, वैसा राजा नन्द को कह दिया।

अब नन्द को विश्वास हो गया कि श्लोक में चर्चित संकेत व्यर्थ नहीं था। इस पर भी उसने तुरन्त कोई कठोर निर्णय लेना राज्यहित में उचित नहीं माना।

□ महामंत्री शकडाल सतर्क

इधर शकडाल नन्द राजा की तनी मुद्रा, उपेक्षित-सा व्यवहार, आँखों के लाल डोरे देख समझ गया कि उसके विरुद्ध रचे गये किसी भीषण षड्यंत्र ने राजा को भरमा दिया है। परिवर्तन स्पष्ट लक्षित था। महामंत्री तो राजनीति का चतुर खिलाड़ी था। तुरन्त घर लौटकर श्रीयक को वस्तुस्थिति से अवगत कराया और कहा—“षड्यंत्रकारी इस सीमा तक सफल हो चुका है कि नन्द को मेरी स्वामी-भक्ति पर सन्देह हो गया है। इस स्थिति में वह किसी भी समय हमारे परिवार के लिए सर्वनाश का कारण बन सकता है। इस स्थिति से बचने, परिवार की रक्षा करने और राजा की दृष्टि में पुनः विश्वास अर्जित करने के लिए हमें शीघ्र ही कुछ करना पड़ेगा।”

□ पिता शकडाल के सिर पर पुत्र श्रीयक का खड्ग !

इस पर श्रीयक ने पिता को विश्वास दिलाया कि वे जो कहेंगे, पुत्र होने के नाते वह उनकी आज्ञा का अवश्य पालन करेगा। उसकी बात सुनकर शकडाल बोले—“आज्ञा पालन सहज नहीं है, दिल दहल सकता है, पर कलेजे पर पत्थर रखना होगा तुम्हें। कल राजदरबार में जिस समय मैं राजा नन्द के समक्ष नतमस्तक बनूँ, तुम ठीक उसी समय बिना किसी झिझक के अपने खड्ग से मेरा सिर काटकर धड़ से अलग कर देना।”

श्रीयक इसके लिए तैयार नहीं हुआ। बहुत मना किया उसने पर जब शकडाल ने कहा कि पूरे परिवार को बचाने का यही एक मात्र रास्ता है और यह मत भूलो कि यह मेरा आदेश भी है। श्रीयक को विवश होकर पिता की बात माननी पड़ी।

दूसरे दिन योजनानुसार श्रीयक ने वही किया जो पिताश्री ने करने के लिए कहा था। यह घटना वीर निर्वाण संवत् १४६ में घटित हुई।

नन्द अचानक ही हुए इस घटना-चक्र से स्तंभित रह गया। उसने कहा—“अरे श्रीयक! यह क्या किया तुमने? अपने पिता को क्यों मार डाला?”

□ पिता यदि स्वामी-द्रोही तो वध उचित !

शकडाल के सिखाए पाठ के अनुसार श्रीयक ने बहुत ही गम्भीर स्वर में तब कहा—“राजन्! स्वामी-द्रोही चाहे पिता ही क्यों न हो? उसका तो वध ही उचित है।”

□ तीर एक, शिकार दो !

पिता की मृत्यु के बाद राजा नन्द ने श्रीयक को मगध राज्य के महामात्य पद को स्वीकार करने की बात कही। श्रीयक विचार में पड़ गया। जिस पद ने इतने प्रिय, राज्य-हितैषी और कर्तव्यनिष्ठ पिता की जान ली, वह भी इस तरह कि पिता को पुत्र के हाथों मरना पड़ा, भला वह पद मेरे लिए कैसे कल्याणकारी बन सकता है। महाराज नन्द ने स्वयं मुझे पद-ग्रहण की बात कही है, अतः स्पष्ट इन्कार भी कैसे किया जाए? क्या करना चाहिए कि यह राजेश्वरी रूपी नरकेश्वरी मेरे पल्ले न बँधे और महाराज भी प्रत्यक्षतः रुष्ट न हों।

अचानक उनके चिन्तन में एक विचार कौंधा, एक नाम चमका। सोचा—‘यही ठीक रहेगा। कोशा नर्तकी के मोह-बंधन से भ्राताश्री को मुक्त करवाने का भी यह बहुत अच्छा उपाय है। एक तीर से दो शिकार जैसी बात बन जाएगी। भ्राता स्थूलभद्र नर्तकी के जाल से छूटेंगे तो मैं इस विनाशकारी महामंत्री पद से बच जाऊँगा।’

तुरन्त मन ने कहा—“जिस नरकेश्वरी से स्वयं बचना चाहते हो, क्या उसमें अग्रज सहोदर को उलझाना अच्छा रहेगा?” समाधान भी मन ने ही दिया—“वे जिस जगह हैं, जिस तरह से धँसे-फँसे हैं उस माया-मोह-भोग-विलास के सर्वनाशी कीचड़ में, उससे तो यह नरकेश्वरी तुलनात्मक रूप से ठीक ही है। एक बार वहाँ से निकलने पर क्या करते हैं वे? यह बाद की बात है।”

□ स्थूलभद्र का अन्तःजागरण !

श्रीयक ने महाराज नन्द के सम्मुख तब अपने अग्रज स्थूलभद्र के नाम का प्रस्ताव रखते हुए यह तर्क दिया कि मंत्री-परिवार में ज्येष्ठ सदस्य के रहते कनिष्ठ यह पद कैसे सुशोभित कर सकेगा ?

राजा नन्द को श्रीयक का कथन उपयुक्त लगा। परम्परा-निर्वहन के लिए बड़े भ्राता को ही पहले आमंत्रित करना चाहिए, अतः उसने स्थूलभद्र को बुलाने का आदेश दिया।

राजाज्ञा से स्थूलभद्र आए वहाँ, पर उन्होंने महामात्य पद-भार सँभालने से इन्कार कर दिया। उनका चिन्तन था कि जिस पद ने मेरे देवतुल्य पिता को ऐसा घृणित फल दिया, वह पद निश्चय ही मात्र दुःखदायी और दुर्गति में डालने वाला ही हो सकता है।

बंधुओं! महान् ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य के संसार में वासना से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले उन स्थूलभद्र का अन्तर्मन कितना जागृत, कैसा विवेकपूर्ण और कैसा यथार्थ निर्णायक था। उनके इस निर्णय के पीछे जो जागरूक चिन्तन था, वह वहीं रुक नहीं गया। चिन्तन की धारा गतिशील बनी रही। चिन्तन की दिशा बाहर से भीतर की ओर मुड़ती गई। चिन्तन की गति अशुभ से शुभ में प्रविष्ट हो गई।

□ राजसत्ता आत्महित की बाधक !

राज्य के महामात्य जैसे सम्मानित पद को स्वीकार नहीं करने में उनके चिन्तन को एक संस्कृत कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में काव्य रूप में प्रकट किया है—

मुद्रेयं खलु पारवश्य जननी, सौख्यच्छिदे देहिनां।

नित्यं कर्कशकर्मबंधनकरी, धर्मान्तरायावहा ॥

राजार्थैकपरैव संप्रति पुनः, स्वार्थं प्रजार्थापहत।

तद्ब्रूम किमतः परं मतिमतां, लोकद्वयापायकृत ॥

कवि कहता है कि यह राजमुद्रा (महामात्य पद) पराधीनता की सूचक है, परवश बनाने वाली है, व्यक्ति के सुख और उसकी शांति का हरण करने वाली है। इस पद पर कार्य करने वाले को ऐसे अनेक अनिच्छित कार्य करने पड़ते हैं जिनके कारण तीव्र कर्मों का बंध अवश्यंभावी है। इस पद पर बने रहकर धर्मारोधन में भी निरन्तर अन्तराय, बाधा, विघ्न बने रहते हैं। यह पद ऐसा है कि इस पर बने रहकर एक मात्र राजा के हित को ही दृष्टि में रखा जा सकता है। इसके समक्ष आत्महित और कई बार जनकल्याण के भाव भी गौण बन

जाते हैं। यह राजपद, राजमद, राजसत्ता व्यक्ति के इस लोक का तो बिगाड़ करती ही है, परलोक भी बिगाड़ देती है।

□ स्थूलभद्र बन गये 'श्रमण' !

इन्हीं चिन्तनधाराओं में आगे बढ़ते स्थूलभद्र विरक्ति के भव्य द्वार में प्रवेश कर गये। मन में विरक्ति भाव उत्पन्न होने की देरी थी फिर तो समय मात्र का प्रमाद न करते हुए और धर्मकार्य में विलम्ब का त्याग करते हुए स्थूलभद्र तत्क्षण ही सुर-सुन्दरी-सी कोशा, नव्य-भव्य भोगों का अम्बार, राज्यसत्ता का प्रस्ताव, अपार वैभव आदि से मुख मोड़कर, जिस प्रकार सर्प कंचुकी को छोड़ता है, उसी प्रकार सर्वस्व त्यागकर संयम के पथ पर अग्रसर हो गये। आचार्य संभूतिविजय के पास वीर निर्वाण संवत् १४६ में उस महात्यागी ने श्रमण-धर्म को स्वीकार किया।

□ आगमज्ञान-अगाध !

विशुद्ध एवं निर्दोष संयम का पालन करते हुए, निरतिचार पंच महाव्रतों की साधना करते हुए, अत्यंत विवेक के साथ अष्ट प्रवचन माताओं को समादृत करते हुए मुनि स्थूलभद्र विनयपूर्वक गुरु परिचर्या व स्थविर-श्रमणवृंद की वैयावृत्य करते हुए उनसे आगमज्ञान का अध्ययन करने लगे। वर्षाकाल के आने तक स्थूलभद्र मुनि एकादशांगी सूत्रों के अर्थ-विवेचन में निष्णात बन गये।

□ चार शिष्य—चार अभिग्रह !

वर्षाकाल आने पर आचार्य संभूतिविजय के एक शिष्य-साधु ने चार मास सिंह की गुफा के द्वार पर उपवासपूर्वक ध्यान में रहने की अनुमति माँगी।

दूसरे शिष्य ने दृष्टिविष सर्प की बाँबी पर वर्षावास-काल में निराहार रहकर ध्यान धरने की अभिलाषा प्रकट की।

तीसरे शिष्य-संत ने कुँ की मुंडेर (मांड) पर आसन लगाकर निर्जल-निराहार चार माह व्यतीत करने के लिए अनुमत्यर्थ गुरुदेव से निवेदन किया।

आर्य स्थूलभद्र मुनि ने तभी गुरुदेव के सम्मुख समुपस्थित होकर चरणों में मस्तक रखते हुए कहा—“हे करुणासिंधु! आपके चरणों का यह तुच्छ सेवक कोशा गणिका के भवन में जहाँ हर कक्ष की भित्तियों पर अनेक आकर्षक कामोद्दीपक चित्र सज्जित हैं, षड्रस व्यञ्जनों के सरस आहार का जहाँ आमन्त्रण है, विषय-भोगों के समस्त साधन जहाँ बिखरे हैं, उन

सभी के मध्य रहकर समस्त विकारों से दूर रहने की, आत्म-साधना में वर्षावास के चार माह व्यतीत करने की अनुमति चाहता है।”

आचार्य संभूतिविजय जी ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर देखा और उन सभी को योग्य पाकर उन्हें उनके इच्छित स्थान पर चातुर्मास करने की अनुमति प्रदान कर दी।

□ आज आवश्यकता एक और जयमल की !

बंधुओं! कैसा अद्भुत तेज था उन संयमी आत्माओं का, जिन्होंने ऐसे-ऐसे भीषण अभिग्रहों को धारण किया। उस समय के साधक अपनी सम्पूर्ण शारीरिक सामर्थ्य का उपयोग धर्म-साधना में कर आत्मबल में निरन्तर वृद्धि की अभिलाषा रखते थे। वर्तमान की अपेक्षा से चिन्तन करें तो आज के साधक चाहे श्रावक हों या श्रमण हों, अपनी शारीरिक सामर्थ्य का ज्ञान-ध्यान-तपादि के आराधन में पूर्ण उपयोग नहीं करते, कहीं-कहीं तो स्थिति बड़ी दयनीय-सी महसूस होती है जब श्रमण-वर्ग को शरीर के पोषण में आसक्त देखा जाता है और श्रावक-वर्ग उसमें सहायक बनता है।

आज कहा तो यह जाता है कि आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के समय की परिस्थितियाँ विकट थीं। धर्म-समाज में, विशेषकर जैन-जगत् में शिथिलता का, आडम्बर का, तंत्र-मंत्र का बोलबाला था। जरा चिन्तन करके देखिए—आज का जैन-समाज किस ओर जा रहा है ? आवश्यकता है इस समय आचार्य श्री जयमल जी म. सा. जैसे किसी ऐसे व्यक्तित्व की, जो जैन-समाज की बढ़ती शिथिलता व आडम्बर के लिए क्रान्ति का सूत्रपात कर सके। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. की भाँति विशुद्ध जैनधर्म की पुनः स्थापना कर सके।

□ गणिका कोशा की रंगशाला में चार मास !

स्थूलभद्र मुनि और अन्य तीन संत अपने-अपने चातुर्मास-स्थल पर पहुँच गये। तीन संतों का चातुर्मास-स्थल विकट था और साधना भी निराहार-निर्जल रहकर ध्यानमग्न बनने की विकट थी। उधर स्थूलभद्र को तो भव्यातिभव्य भवन के अति मनोरम सुसज्जित कक्ष में रहना था। प्रासुक आहार और जल भी वे ग्रहण कर सकते थे। स्थान ऐसा जहाँ परम सुन्दरी गणिका का निवास, वही गणिका जिसके सम्मोहन में गृहस्थ और युवा स्थूलभद्र बारह वर्ष तक रहे। अनेक शास्त्रकार मानते हैं कि तब उन्हें वहीं आंतरिक शांति की अनुभूति हुई, अतः वे वहीं रम गये। उनका कथन सत्य भी हो सकता है। स्वयं तीर्थकर भगवंत ने फरमाया है—“व्यक्ति भीड़ के मध्य भी एकांत जीवन व्यतीत कर सकता है। धर्मानुष्ठान करते हुए भी

अविवेक के कारण तीव्र कर्मबंध कर सकता है और सांसारिक प्रवृत्तियों को करता हुआ भी कर्म हल्के बना सकता है।”

□ भोग और काम के अचूक प्रहार !

गणिका ने स्थूलभद्र की सोल्लास अभ्यर्थना की, अति हर्ष से उनका स्वागत किया। भावभक्तिपूर्वक निर्दोष एषणीय, कल्पनीय, अतीव स्वादिष्ट, पौष्टिक आहार बहराया। मुनिश्री के आहारादि कर लेने पर उस कमनीय कांता ने सोलह शृंगार से सज्जित हो उन्हें लुभाने की चेष्टा की, अनेक तरह के उद्दीपन योग्य हाव-भावों से अपनी तरफ उन्हें आकृष्ट करना चाहा, पैरों में नूपुर बाँधकर नृत्य-संगीत की स्वर लहरियों से उनके मन को विचलित करना चाहा।

□ विचलित बन जाते हैं—संत व महात्मा भी !

बंधुओं! एक संयमी पुरुष के लिए यह काजल की कोठरी से भी अधिक कालिमा का दाग लगाने वाला स्थल था। भुवन-मोहिनी रूप-सुन्दरियों के कटाक्षों, विविध हाव-भावों, सम्मोहक शब्द-बाणों के समक्ष अच्छे-अच्छे महात्मा, धर्मात्मा, ऋषि-मुनि भी अपने योग-पथ से, संयम-जीवन से विचलित और स्खलित बन जाते हैं। इतिहास साक्षी है— अरणक मुनि, नंदीषेण मुनि (द्वितीय), ऋषि जमदग्नि, ऋषि विश्वामित्र, ऋषि दुर्वासा, मुनि आर्द्रकुमार.....न जाने ऐसे कितने नाम हैं, जो मेनका, रति, उर्वशी आदि चंचल नारियों के रूप में उलझकर अपना योग-पथ भूल बैठे। राजीमति के अनावृत्त शरीर-यष्टि-सौन्दर्य के निमित्त ने संयम-पथ के उच्च कोटि के पथिक रथनेमि अणगार को मानसिक रूप से पथ-भ्रष्ट बना दिया। मणिरथ सुदर्शनपुर का राजा था। युवराज था उसका छोटा भाई युगबाहु। युगबाहु की पत्नी की सुन्दरता को देखकर मणिरथ का मन चलित हुआ तो उसने अपने लघु भ्राता को मौत के घाट उतार दिया। शास्त्रों में भवदत्त के भ्राता भावदेव मुनि के भी पूर्व पत्नी-प्रसंग-स्मरण से विचलित होने का उल्लेख मिलता है।

□ स्त्री-संसर्ग भयंकर विष है !

आगमों में नारी के उज्ज्वल पक्ष के साथ उसके पथ-भ्रष्ट बनाने वाले हलाहल के समान अंधकारमय पक्ष का भी उल्लेख मिलता है। यथा—

१. “थीमि लोए पव्वहित।”

(सूत्रकृतांग)

संसार स्त्रियों द्वारा पीड़ित, प्रताड़ित है।

२. “.....इत्थि संसग्गो.....विसं तालउडं जहा ।” (दशवैकालिक)
स्त्री संसर्ग तालपुट-विष के समान है।
३. “अंग-पच्चंग-संठाणं, चारुल्लविय पेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामराग विवड्ढणं ॥” (दशवैकालिक)
स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, संस्थान, चारु-भाषण, कटाक्ष आदि काम-राग को बढ़ाने वाले हैं।
४. “पंकभूयाडइत्थियो ।” (उत्तराध्ययन)
स्त्री का संग दलदल में फँसने के समान है।

बंधुओं! चंचल मन वालों के लिए स्त्रियों का रूप दीपक के समान होता है। जिस प्रकार पतंगा दीपक के प्रकाश पर मुग्ध होकर उस पर गिरकर अपने कोमल शरीर को जला डालता है, उसी प्रकार चंचल-मन काम-पीड़ित पुरुष नारी रूप पर मुग्ध बन, नारी के आग्नेय प्रकाश में अपने आपको पतित बना देता है, संयमी जीवन को दग्ध बना डालता है, अपनी साधना को जला देता है, अपने तप को नष्ट कर देता है।

□ वासना और संयम का भीषण संग्राम !

इस दृष्टि से स्थूलभद्र का प्रथम चातुर्मास गणिका कोशा के यहाँ होना, निश्चय ही पढ़ने, सुनने वाले को उद्विग्न बना देने वाला है। संसार में अच्छे से अच्छे सुभट देखे गये हैं। अनेक ऐसे सुभट भी हुए हैं जिन्होंने अकेले ही दस-दस हजार सैनिकों से युद्ध किया है। रावण परम शक्ति-सम्पन्न था, पर सीता के सौन्दर्य ने उसे पंगु, विवश, बेभान बना दिया। अपरकंका के विद्याधर राजा और कृष्ण एवं पाँच पांडवों के बीच जो महाविनाशक युद्ध हुआ, उसके पीछे भी द्रोपदी का अद्वितीय सौन्दर्य ही था।

काम की ऐसी ही अजस्र स्रोतस्विनी थी—‘गणिका कोशा’! उसके समक्ष था एक नवयुवा, नवदीक्षित संत स्थूलभद्र! काम ने अपनी समस्त प्रहारी अचूक शक्तियों को कोशा के माध्यम से निर्बाध कर दिया। कोशा के माध्यम से काम का एक मात्र उद्देश्य था—स्थूलभद्र मुनि को संयम-विचलित बनाना। उसका एक मात्र ध्येय था—स्थूलभद्र मुनि को योगों के ऊपर चढ़ते सोपानों से खींचकर पुनः भोगों के अंक में ला पटकना और काम की बाहों में बद्ध बना देना। उसका एक मात्र लक्ष्य था—दृढ़ता से मोक्ष पथ पर तीव्र गति से निरन्तर अग्रसर हो रहे स्थूलभद्र मुनि को उस पथ से भटकाकर संसार के स्वप्नों में सुला देना, भुला देना।

□ काम पर विजय सर्वाधिक दुष्कर !

बंधुओं! काम-वासना समस्त दुर्गुणों की प्रतीक है और काम को जीत लेना समस्त विकारों को जीतने की पहचान। वस्तुतः काम को जीतना सर्वाधिक दुष्कर है—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं,
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं च जीर्णं शतखण्डमयी च कन्था,
हा हा तथापि विषयान्न-परित्यजन्ति ॥

घर-घर से भिक्षा माँगकर उदर निर्वाह करता हुआ भिक्षुक, जो भिक्षा में केवल नीरस आहार ही लेता है और वह भी दिन में एक बार ही लेता है। जो जमीन पर सोता है, जिसके आसपास कोई अन्य नहीं रहता, बस! जिसके लिए एक मात्र उसका शरीर ही उसका परिजन है। जो फटे-पुराने चिथड़े पहनता है और सौ-सौ टुकड़ों वाली फटी-टूटी गुदड़ी ओढ़े फिरता है। अफसोस तो तब होता है कि इतना करके भी वह विषय-काम-वासना-विकार आदि को नहीं त्याग सकता।

मैंने कुछ देर पूर्व आपको उन ऋषि-मुनियों की बात कही थी जो हवा खाकर तप करते थे या केवल जल पीकर ध्यानलीन रहते थे या फिर वृक्षों के गिरे हुए पत्ते खाकर अपना धर्म-पालन करते थे, वे भी स्त्री का मुख-कमल देखकर मोहित बन अपनी साधना को भूल गये। उनके लिए वर्णन आता है—

विश्वामित्रपाराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना।
स्तेऽपि स्त्री-मुख-पंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ॥

इन सबकी यह हालत थी तो चिन्तन करिए, स्थूलभद्र मुनि जो षड्रस व्यञ्जन करते थे उनकी क्या दशा होनी चाहिए? कवि ने तो इसी पद की आगे की पंक्तियों में कह दिया—

शाल्यन्नं सघृत पयोदधियुतं ये भुञ्जन्ते मानवाः।
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरे ॥

तात्पर्य यह कि सरस शालिअन्न और साथ में घी, दूध, दही का भी सेवन जो करते हैं, वे कैसे इन्द्रियनिग्रह कर सकते हैं? वे कैसे काम-वासना पर विजय प्राप्त कर सकते हैं? उनका इन्द्रिय-जीत बनना, काम-विजय करना ठीक वैसे ही असम्भव-सा है, जैसे समुद्र में विन्ध्य पर्वत का तैरना!

□ सुमेरु पर्वत (दृढ़ संयम) कभी विचलित नहीं होता !

पर बंधुओं! ये सारे कथन तो उन साधारण साधकों व व्यक्तियों के लिए हैं, जो संकल्प में विकल्प को किसी क्षण निमंत्रण दे बैठते हैं। असाधारण व्यक्ति विरले होते हैं। कैसे होते हैं वे, इसका वर्णन आचार्य मानतुङ्ग ने तीर्थकर भगवंत ऋषभदेव स्वामी का अमर गुणगान करते हुए चमत्कारी स्तोत्र भक्तामर में किया है—

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभिर्—
नीतं मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्तकाल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि शिखरं चलितं कदाचित्॥

प्रलयकाल में प्रचण्ड वायु-वेग से गुजरता हुआ तूफान सामान्य पर्वतों को ही हिला सकता है। उसका क्या सामर्थ्य कि वह सुमेरु पर्वत को कम्पित भी कर सके!

इसी प्रकार स्वर्ग की अप्सराएँ अपने हाव-भाव-विलास से भरपूर प्रयास करने पर भी राग-द्वेष मुक्त दृढ़ संयमी-आत्माओं (वीतरागी आत्माओं) के विरक्त-मन को अंश मात्र भी चलायमान नहीं कर सकतीं।

□ संत-हृदय में 'काम' का स्थान नहीं होता !

एक बार एक लखपति साहूकार ने सुना कि शहर में एक सिद्ध महात्मा पधारे हुए हैं। उस साहूकार को यद्यपि धर्म में कोई रुचि नहीं थी फिर भी वह कौतूहलवश या कह दीजिए कि कुछ सांसारिक लाभ-प्राप्ति की कामना से उन महात्मा के दर्शनार्थ गया। जिस समय वह महात्मा जी के ठहरने के स्थान पर पहुँचा, उस समय महात्मा जी के आसपास बहुत-सी महिलाएँ भी बैठी थीं। ज्ञान-चर्चा चल रही थी। थोड़ी देर बाद ज्ञान-चर्चा बन्द हुई। सभी महिलाएँ वहाँ से उठकर चली गईं। भाई-लोग भी चले गये। अकेले महात्मा से सेठ ने पूछ लिया—“महाराज! यहाँ इतनी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ आती हैं। इन सुन्दर रमणियों को देखकर क्या कभी आपका मन चलित, विकृत नहीं होता? उनमें रमण की अभिलाषा नहीं जगती?”

महात्मा ने सेठ को निहारा और बोले—“वत्स! जिस निगाह से तू अपनी बहन-बेटियों को देखता है, उस निगाह में क्या उनके प्रति कभी अशुभ विचार उत्पन्न करने का सामर्थ्य है? बस, उसी निगाह से मैं इन बहनों को देखता हूँ।”

ऊसर भूमि तृण नहीं जामा।
संत हृदय इमि उपजे न कामा॥

जो भूमि बंजर है, ऊसर है, अनुपजाऊ है वहाँ घास-पात नहीं उग सकता। वैसे ही जो सच्चे संत हैं, आत्म-रमण ही जिनकी दिनचर्या है उनके हृदय में कभी, किसी भी परिस्थिति में काम-विकार उत्पन्न नहीं हो सकता।

कोई भाई प्रश्न कर सकता है कि महाराज! ऊसर भूमि को भी प्रयत्नों के द्वारा उपजाऊ बनाया जा सकता है। बात आपकी सही है। ऐसा तो होता है। मैंने कहा भी था कि कई बार संत, ऋषि-मुनि, महात्मा भी नारी-सौन्दर्य के मोह-जाल में पिघल जाते हैं, उलझ जाते हैं, फँस जाते हैं। पर बंधुओं! क्या पत्थर की अति कठोर चट्टान पर भी घास-पात उगाई जा सकती है? सच्चे साधक उस अति कठोर चट्टान से भी अधिक दृढ़ संयमी होते हैं।

□ काम-चेष्टाएँ निष्फल !

स्थूलभद्र मुनि कोशा की हर चेष्टा को अपने मौन-ध्यान और निर्विकारी भावों से पराजित करते रहे। कोशा की चेष्टाएँ प्रतिदिन बढ़ती रहीं, तीव्र होती रहीं, पर वज्र-हृदय थे संयम में स्थूलभद्र मुनि, अतः वे विचलित नहीं हुए। कोशा के तरकश के सारे अभेद्य और अचूक निशाने भी व्यर्थ बनते गये। ज्यों-ज्यों कोशा के कामोद्दीप्त प्रहारों में तीव्रता आती गई, त्यों-त्यों मुनिवर की अपने ध्यान में एकाग्रता की निरन्तर वृद्धि होती गई।

□ नूतन प्रहार : पूर्व स्त्री-संसर्ग-स्मृति !

सभी तरफ से पराजित होने पर कोशा ने मुनिवर को पिछले उन १२ वर्षों के एक-एक दिन की, एक-एक घटनाओं की स्मृति करवाना आरम्भ किया, जब वे 'दो जिस्म और एक प्राण' बने हुए थे। उन कामकेलियों का वासनापूर्ण शब्दों व मदभरे स्वरों में अतिरंजित वर्णन कर उन्हें पुनः उन्हीं कामकेलियों को करने के लिए उत्तेजित, प्रेरित करना चाहा, पर मुनिवर पर किया गया कोशा का यह प्रहार भी व्यर्थ गया।

□ गणिका थी, श्राविका बन गई !

चातुर्मास के दिन निरन्तर कम होते गए और चातुर्मास-अवसान का समय निकट आ गया। तब एक दिन कोशा ने अपने सारे प्रहार व्यर्थ जाते देख अपनी पराजय स्वीकार करते हुए कहा—“आप धन्य हैं। आपने मेरे प्रयासों को अस्वीकार करके यह सिद्ध कर दिया है कि आपने काम-वासना पर विजय प्राप्त कर ली है। असंभव है कामजयी बनना, पर आपने

असंभव को भी संभव कर दिखाया है। आप मुझ मूर्खा की अज्ञता का विचार कर मेरे अपराधों को क्षमा करें।”

बंधुओं! स्थूलभद्र मुनि ने उसे क्षमा करते हुए अपने धर्मोपदेश द्वारा उसके अज्ञान को दूर भगाया। कोशा ने उपदेश सुना। उसका मिथ्यात्व हटा, सम्यक्त्व प्रकट हुआ। उसने यथार्थ धर्म में अपनी श्रद्धा-प्रतीति-रुचि प्रकट कर मुनिवर से श्राविका-धर्म अंगीकार किया।

□ दुष्करं ! दुष्करातिदुष्करं !!

चातुर्मास समाप्त होने पर सभी मुनि पुनः आचार्य संभूतिविजय जी के पास आये। आचार्यश्री ने प्रथम तीन के लिए—“अहो ! दुष्करं कारिन् !” शब्द कहे, अर्थात् तुमने दुष्कर कार्य को कर दिखाया है, तुम्हें साधुवाद है।

स्थूलभद्र मुनि के आने पर आचार्य श्री संभूतिविजय जी म. सा. अपने चौथे शिष्य को बहुत-बहुत साधुवाद देते हुए अति प्रसन्न स्वर में बोले—“अहो ! दुष्करं, अतिदुष्करं कारिन् !” तुम धन्य हो, तुमने दुष्कर से भी अति दुष्कर कार्य को सिद्ध किया है।

स्थूलभद्र मुनि ने सहज भाव से कहा—“गुरुदेव! यह सब आपके आशीर्वाद का ही प्रताप है।”

□ ईर्ष्या ने खेला खेल !

इधर स्थूलभद्र को अपने से अधिक सम्मान मिलता देख शेष तीनों मुनि ईर्ष्या से जल उठे। उनके मन में भाव उठा कि इस बार हमें भी ऐसा ही सरल, सुकर कार्य करके गुरुमुख से “दुष्कर, अतिदुष्करकारी” का संबोधन प्राप्त करना है।

पुनः चातुर्मास-काल निकट आने पर जिस शिष्य ने विगत वर्ष में सिंह की गुफा पर ध्यानस्थ बनकर निराहार चार मास व्यतीत किए थे, वह सर्वप्रथम गुरु-चरणों में उपस्थित हुआ और बोला—“गुरुदेव! मैं इस बार अपना चातुर्मास कोशा गणिका की रंगशाला में व्यतीत करने की अभिलाषा रखता हूँ, अनुमति दीजिए।”

गुरुवर ज्ञानी थे। समझ गये कि इसके मन में ईर्ष्या की चिनगारी सुलग रही है। उसी के वशीभूत हुआ है यह। ज्ञानोपयोग लगाने के पश्चात् बोले—“वत्स! अपना यह विचार त्याग दो। सुमेरु के समान अचल मनोबल ऐसे अभिग्रह में आवश्यक है। तुम वहाँ जाकर अपना पूर्वोपार्जित तप-संयम भी खो बैठोगे।”

शिष्य को गुरु की ये बातें अच्छी नहीं लगीं। जिसके मन में ईर्ष्या की आग सुलग रही हो, उसे अपनी भलाई की कोई बात सुहाती नहीं है। उसे तो अपना टारगेट (Target) अर्थात् लक्ष्य ही नजर आता है। नीचा दिखाना है अगले व्यक्ति को और ऊँचा सिद्ध करना है अपने आपको। नहीं माने शिष्य ने गुरु के हित-वचन। गुरु-आज्ञा की अवहेलना कर वह शिष्य चल पड़ा गणिका कोशा के भवन की ओर।

□ हर मुनि स्थूलभद्र नहीं हो सकता !

हर गणिका कोशा नहीं हो सकती !!

कोशा गणिका के भव्य भवन के विशाल प्रांगण में उस मुनि के पहुँचने पर कोशा श्राविका ने सम्मुख आकर सविधि वन्दना की। चातुर्मास के लिए स्थान माँगने पर कोशा ने कहा—“देव! आप जहाँ चाहें अपनी साधना करें, मेरी अनुमति है।”

मुनि ने गणिका की रंगशाला में चातुर्मास-काल व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की तो कोशा ने रंगशाला की राह इंगित कर दी। अब उसके मन में अचानक विचार आया कि कहीं ये स्थूलभद्र से प्रतिस्पर्धा करने का भाव लेकर तो नहीं आये हैं? यदि यही तथ्य है तो कहीं ये अपने जन्म-मरण रूपी संसार-चक्र में अनंत वृद्धि न कर लें। उसने तय किया कि मुनि की परीक्षा लेनी चाहिए और परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाये, संयम से पतित हो जाये तो मेरा कर्तव्य है कि मैं इन्हें पुनः संयम में प्रतिष्ठापित करूँ।

कोशा ने स्वादिष्ट, सरस व्यंजन तैयार करवाकर उन्हें आमंत्रित किया। मुनि आहार ले गये। मध्याह्न के समय मुनि के संयम-भावों की परीक्षा निमित्त अपने को सजाया-सँवारा-शृंगारित बनाया और चित्रशाला में प्रवेश किया। हाव-भाव, हास-विलास, भ्रूकटाक्ष किसी की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। मुनि तो उसके चारु-रूप से ही चारों खाने चित्त हो गये, काम-विह्वल बन गये, विचलित मन और चलित चित्त हो गये। वे उस सुन्दरी के सौन्दर्य से कामान्ध बन एक याचक की भाँति उससे काम-भोग की प्रार्थना करने लगे।

□ मूल्य की माँग !

गणिका ने उन्हें इस तरह पतन के गर्त में उतरते देखा तो उन्हें सचेत बनाने का प्रयास करते हुए सस्मित कहा—“महात्मन्! आपकी याचना अपनी जगह सही है, पर इस याचना की पूर्ति के लिए आपको मूल्य चुकाना होगा?”

मुनि ने तो सोचा था कि पकी-पकाई खिचड़ी है, बस उसे मुँह में रखना है, पर यहाँ तो मूल्य चुकाने की बाधा आ रही है। सोचा—‘कैसे काम बनेगा?’ बोले—“देवि! हम मुनि हैं,

कौड़ी-पैसा पास नहीं रखते, अतः हमसे मूल्य माँगना उचित नहीं है। अतः मेरी दयनीय दशा पर तरस खाकर मेरी मनोकामना की पूर्ति करें।”

□ मुनि नियम भले तोड़ें, हम गणिकाएँ नहीं !

चतुर थी कोशा। मुनि को सजग करने के लिए कह बैठी—“महात्मन्! आप भले ही अपनी मर्यादा तोड़ दें, पर हम गणिकाएँ अपने नियम नहीं तोड़तीं। यदि आप अपनी मनोकामना पूर्ण ही करना चाहते हैं तो यह दासी आपको उपाय बता सकती है। नेपाल के राजा प्रत्येक नवागन्तुक साधु को एक रत्नकम्बल भेंट देता है। आप वहाँ जाइए और रत्नकम्बल ले आइए।”

□ मुनि कामिनी के बाद कंचन के चक्कर में !

कंचन और कामिनी के त्यागी वे मुनि पहले कामिनी के चक्कर में उलझे और अब कामिनी के लिए कंचन की चिन्ता में। चातुर्मास में विहार नहीं करते हैं श्रमण, पर कामांध व्यक्ति को कहाँ यह विचार आये? तत्काल चल पड़े नेपाल की राह। कहावत है—‘अंधे को सूझे, तो कामी का विवेक जागे।’

□ नाश का आना, विवेक का जाना !

राह कठिन थी, सघन वन थे, राह में और थे दुर्लभ्य पर्वत। विषयान्ध न तो किसी कष्ट, बाधा, रुकावट से घबराता है और न उसे हिंसक पशु, चोर-लुटेरों का भय सताता है। हिन्दी साहित्य के भक्त कवि तुलसीदास कामांध बन अँधेरी रात में उफनती नदी तैरकर ससुराल पहुँच गये। रात थी, द्वार सारे बन्द थे, एक दीवार पर सर्प चढ़ रहा था। तुलसी वासना में पगलाए थे, सर्प को रस्सा समझ, उसे पकड़ दीवार पर चढ़ गये। काम का काम ही ऐसा है। काम मनुज-जीवन का नाश कर देता है। जब नाश होना होता है तो पहले विवेक-बुद्धि मिट जाती है। कहा भी है—

जब नाश मनुज का आता है,
पहले विवेक मर जाता है। (दिनकर)

और—

विनाशकाले विपरीत बुद्धि। (नीति वचन)

□ कामी में भी एक गुण-एकाग्रता !

बंधुओं! ऐसी अंध-बुद्धि से भी उनका अर्थात् कामी का एक गुण प्रशंसनीय और ग्रहणीय है। कामी व्यक्ति पूर्णतः एकाग्र होता है, जितनी एकाग्रता उसमें अपने कामपूर्ति के साधन में होती है, वैसी एकाग्रता यदि साधक की साधना के प्रति हो जाये तो निश्चय ही उसे सिद्धि, मुक्ति, मोक्ष प्राप्त हो जाता है। तभी तो अँधेरी रात में, नदी पार कर आये, सर्प को रस्सी समझकर दीवार फाँदने वाले तुलसी से उनकी पत्नी रत्नावली ने कहा था—

हाड़-चाममय देह मम, तामे जैसी प्रीति।
वैसी जो श्रीराम में, होती तो न भवभीति॥

और यही हुआ। 'रामचरितमानस' की रचना कर तुलसी लोक-विख्यात बन गये।

□ प्रेमिका की तल्लीनता !

कामी पुरुषों की तल्लीनता के विषय में कभी एक प्रसंग सुना या पढ़ा था। किसी नगर के बाहर उद्यान में एक प्रेमिका अपने प्रेमी की प्रतीक्षा कर रही थी। समय बीतने के साथ प्रेमिका की बेचैनी बढ़ने लगी। संध्या उतरने लगी। धुँधलापन छ गया। बेचैन प्रेमिका ने उद्यान की दीवार के पार देखना चाहा कि शायद वह कहीं दिखाई दे। दीवार काफी ऊँचाई पर थी। स्थान पहले से निश्चित था उन दोनों के मिलन का, अतः कहीं दूर वह जाना नहीं चाहती थी। देखा इधर-उधर। दीवार के पास एक पेड़ दिखाई दिया। वह चली उस पेड़ की ओर। पेड़ पर चढ़कर दीवार के पार देखा जा सकता था, पर पेड़ पर चढ़े कैसे? नीचे देखा तो एक छोट-सा टूँठ की तरह कुछ लगा। पाँव रखा उस पर और पकड़ी पेड़ की डाल, चढ़ गई पेड़ पर।

तभी उसने सुना, पेड़ के नीचे से कोई कह रहा था—“कौन है? किसने हिम्मत की मुझ पर पैर रखने की? मेरा ध्यान भंग कर दिया?”

लड़की घबरा गई। पेड़ से नीचे उतरकर धुँधलके में देखा तो एक मानवाकृति दिखाई दी। बोली—“क्षमा करना बाबा! अपने प्रेमी की खोज में पेड़ पर चढ़ना था। ध्यान ही नहीं रहा कि आप हैं।”

इतना कहकर लड़की तो चली गई, पर बाबाजी को सजग बना गई। बाबाजी का चिन्तन जाग उठा। सोचने लगे—‘वह लड़की एक प्रेमी के ध्यान में इतनी डूबी हुई कि उसे कुछ अन्य ध्यान ही नहीं। मैं प्रभु के ध्यान में लीन पर साधारण-सा स्पर्श, दबाव मुझे

विचलित कर गया। यह कैसा ध्यान है मेरा? क्यों टूट गई साधारण से विघ्न को पाकर मेरी तल्लीनता?’

□ अर्जुन की सफलता का रहस्य !

यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि कामी पुरुषों में तल्लीनता का गुण असीम होता है। लक्ष्य-प्राप्ति का ऐसा गुण कहीं भी, किसी में भी हो, सफलता निश्चित है। पाँच पांडवों की धनुष चलाने की, निशाना लगाने की परीक्षा में चार को बिना तीर चलाने का अवसर दिये ही अनुत्तीर्ण घोषित कर दिया गया था। केवल अर्जुन को सक्षम समझा गया था और वह लक्ष्यवेध में सफल भी रहा था। कारण क्या था? कारण था—उसका लक्ष्य के प्रति एकाग्रता का गुण !

□ मुनि को मिल गया रत्नकम्बल !

सम्भूतिविजय का वह शिष्य मुनि भी अपने लक्ष्य-बिन्दु के ध्यान में मग्न, एकाग्र बन सुदीर्घ लम्बे एवं अति कठिन, दुर्गम पथ पर बढ़ता रहा। नेपाल पहुँचा। नेपाल नरेश से रत्नकम्बल प्राप्त किया। चल दिया पुनः पाटलिपुत्र की ओर। मार्ग की बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़ रहा था तभी चोरों ने उन्हें घेर लिया। सँभालने पर रत्नकम्बल मिला। चोर प्रसन्न हुए और रत्नकम्बल लेकर चले गए।

मुनि बिलखता रहा, चिल्लाता रहा, मना करता रहा पर चोर क्यों सुनते? अब मुनि क्या करें? बिना रत्नकम्बल लिए तो कोशा के पास कैसे जाएँ। मुनि ने निश्चय किया—पुनः नेपाल जाकर एक और रत्नकम्बल प्राप्त करने का। पुनः नेपाल की ओर प्रयाण किया। पहुँचा नेपाल। असत्य का आलम्बन लेकर येन-केन-प्रकारेण पुनः रत्नकम्बल प्राप्त किया। इस बार चला पाटलिपुत्र तो अत्यंत सावधान था। अतः मार्ग में उपसर्गों के आने पर भी चतुराई, सावधानी एवं भाग्यवश बचता हुआ वह लाखीणी रत्नकम्बल लेकर पहुँच गया पुनः पाटलिपुत्र के उसी कोशा गणिका के भवन में।

□ कोशा ने रत्नकम्बल डाला कीचड़ के नाले में !

कठोर परिश्रम और अनेकानेक असह्य कष्टों को सहकर लाये हुए उस रत्नकम्बल को मुनि जी ने गणिका के हाथों में रख दिया और बड़ी ही ललक के साथ उसके चेहरे पर नजर डाली, उसके नयनों में झाँककर देखा, उसके हृदय के भावों में उत्पन्न उल्लास की किसी रेखा को पढ़ना चाहा। कोशा गणिका थी, मूल्य प्राप्त कर चुकी थी, पर दृढ़व्रती श्राविका थी

वह अब। हाथों में रखे हुए उस अत्यंत कीमती रत्नकम्बल से अपने सुकोमल सद्य धुले पैरों को पौँछ और उठाकर फेंक दिया उसे बाहर गन्दी नाली के कीचड़ में।

□ मुनि की आशाओं पर तुषारापात !

मुनि ने देखा यह तो चकित हुए और खिन्न भी हुए। उनके मन की आशाओं के विपरीत 'एक्शन' था यह, अतः क्रोध भी आया। एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं के मोल के रत्नकम्बल को इस तरह फेंकते देखे भौंचक्क तो बनना ही था। विषय-वासना और काम-भोग की तीव्रेच्छा पर तुषारापात था यह, अतः खिन्नता भी स्वाभाविक थी।

किंचित् आक्रोश मिश्रित उदासीनतापूर्वक मुनि बोल पड़े—“सुन्दरी कोशा! यह क्या किया तुमने? लगता है तुम अत्यंत कठोर हृदया तो हो ही, मूर्ख भी हो! अरे! इतना बहुमूल्य रत्नकम्बल? कितने कष्टों और परिश्रम से प्राप्त किया मैंने? तुमने तो उसे भरपूर देखा तक नहीं। इस तरह उसे फेंक दिया गन्दी नाली में, जैसे वह कोई फटा-टूटा, मैला, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र हो।”

□ कोशा ने बरसाए शब्दों के चाबुक तो मुनि बन गये सजग !

कोशा ने तत्काल ही कहा—“अरे महासंयमी! क्या आप महामूढ़ नहीं हैं, जो इस रत्नकम्बल की तो चिन्ता कर रहे हैं, पर अपने संयम-धन को, चारित्र-जैसी सम्पदा को, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधनारूपी रत्नत्रयी को वासना और भोग के इस अपवित्र दलदल में गिराकर व्यर्थ गँवा रहे हैं?”

कोशा के ये शब्द क्या थे, चाबुक के तीव्र प्रहार थे। मोह-राग-काम में आसक्त, पतन के गर्त में गिरते मुनि सजग बन गये, सचेत हो गये। संयम से डोलता हुआ मन पुनः संयम में स्थिर हो गया। वे कृतज्ञ थे, उस गणिका-श्राविका के। अब उन्हें गुरु के वचन याद हो आये। गुरु के कथन का रहस्य आज उनकी समझ में आया। वे बोले—“श्राविके! तुमने मुझे पतन के गहन गर्त में गिरने से पहले सचेत बनाकर बचा लिया। मैं अब गुरुचरणों में जाकर आलोचनापूर्वक अपने लिए प्रायश्चित्त लूँगा और आत्म-विशुद्धि करूँगा।”

इतना कहकर मुनि ने कोशा का भवन छोड़ दिया। गुरुचरणों में आकर अपनी भूल के लिए क्षमायाचना कर प्रायश्चित्त लिया। स्थूलभद्र मुनि की उन्होंने स्तुति की।

□ आसपास के घटना-चक्र पर एक नजर !

शकडाल की मृत्यु और स्थूलभद्र के दीक्षा लेने के पश्चात् यक्षा, यक्षदिन्ना आदि सातों बहनों ने भी दीक्षा लेकर श्रमणी-धर्म स्वीकार कर लिया।

श्रीयक सात वर्ष तक मगध के महामात्य पद पर रहा, पर अन्त में उसके भी विरक्ति का अंकुर पनपा हुआ था, अतः वह अंकुर विकास पा गया और भ्राता की दीक्षा के सात वर्षों बाद उसने भी आचार्य संभूतिविजय से संयम-पथ स्वीकार कर मुनि-धर्म में दीक्षा ग्रहण की।

वररुचि के दुष्कर्म उदय में आये, अतः उसे आत्महत्या करने के लिए विवश होना पड़ा। पीसा हुआ शीशा पीकर उसने मौत का आलिंगन किया।

इन्हीं दिनों भीषण दुष्काल पड़ा। इसी दुष्काल के मध्य वीर निर्वाण संवत् १५६ में आचार्य संभूतिविजय निर्वाण को प्राप्त हो गये। तब आचार्य भद्रबाहु ने संघ-संचालन की बागडोर पूर्णरूपेण अपने हाथों में सँभाल ली। आर्य स्थूलभद्र उनकी आज्ञानुसार विचरण करने लगे।

आर्य स्थूलभद्र की संयम-दृढ़ता का वर्णन व स्तुति कर कोशा श्राविका ने अनेक मूढमति, संभ्रम और कामासक्त व्यक्तियों को यथार्थ ज्ञान कराकर संयम-पथ की ओर अग्रसर बनने की प्रेरणा दी और वे दीक्षित हुए।

अनेक व्यक्ति आर्य स्थूलभद्र की दिग्दिगंत में प्रसरित यशोगाथा का श्रवण कर स्वयं प्रेरित बन मुनिधर्म में दीक्षित बने।

□ प्रथम पाटलिपुत्र वाचना !

भीषण दुष्काल के समय आचार्य भद्रबाहु नेपाल की ओर विहार कर गये। अनेक आत्मार्थी मुनियों ने अन्नाभाव में संयमविराधना के भय से अनशनपूर्वक समाधिमरण को प्राप्त कर अपना जीवन सफल किया।

केहिं वि विराहणा-भीरुएहिं अइभीरुएहिं कम्माणं ।

समणेहिं संकिलिट्ठं, पच्चक्खायाइं भत्ताइं ॥

(तित्थोगालियपइण्णा)

अन्य अनेक श्रमण शिथिल-संयमी बन गये। अनेक श्रमण भद्रबाहु की भाँति सुदूरवर्ती प्रदेशों में विहार कर गये।

दुष्काल समाप्ति पर सुदूरवर्ती क्षेत्रों में गये श्रमण-श्रमणी पुनः पाटलिपुत्र लौटे। दुष्काल के दुस्सह परीषहों के मध्य श्रुत-परावर्तन नहीं हो सका था। अब जब सभी पुनः एकत्रित हुए तो वे एक-दूसरे से पूछने लगे कि किसको, क्या-क्या, कितना-कितना श्रुत स्मृति में है? यह देखकर कि सूत्रों के अनेक पाठ अधिकांश श्रमणों की स्मृति में नहीं हैं, अंगों की वाचना

के लिए पहली वृहत् वाचना का वीर निर्वाण संवत् १६० में पाटलिपुत्र में आयोजन किया गया। आचार्य भद्रबाहु नेपाल में ही थे, अतः यह वाचना आर्य स्थूलभद्र मुनि के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुई।

□ आर्य स्थूलभद्र दस पूर्व ज्ञान ही सीख पाए !

इस पाटलिपुत्र-वाचना में एकादशांगी वाचना तो अनेक स्थविर संतों के सहयोग से यथातथ्यरूप में संकलित कर ली गई। उपस्थित सभा व श्रमणों को एकादशांगी सूत्र-पाठ कंठस्थ करा दिये गये। इसके पश्चात् जब दृष्टिवाद की बात उठी तो ज्ञात हुआ कि किसी भी श्रमण को वह अंग स्मृति में नहीं है। दृष्टिवाद व चौदह पूर्वों के ज्ञाता केवल मात्र आचार्य भद्रबाहु थे और वे नेपाल में थे।

संघ ने श्रुतज्ञान की रक्षा के लिए आर्य स्थूलभद्र को पाँच सौ मुनियों के साथ तब नेपाल आचार्य भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद व चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने भेजा। वहाँ दस पूर्व में दो अध्ययन कम जितना ज्ञान सीख लेने के पश्चात् एक घटना घटी।

आर्य स्थूलभद्र मुनि की संसार-पक्ष की बहनें यक्षा, यक्षदिन्ना आदि ने दीक्षा ले ली थी। साध्वी बनकर वे भ्राता मुनि के दर्शन को लालायित हुईं। उधर आचार्य भद्रबाहु की महाप्राण ध्यान साधना जब समाप्त हुई तो वे नेपाल से विहार कर मुनि-मण्डल सहित पाटलिपुत्र की ओर आये।

□ महँगा पड़ा चमत्कार दिखाना !

इसी मध्य यक्षादि साध्वी वृंद भी उधर विहार कर गईं। राह में इन्हें आचार्य भद्रबाहु के दर्शन हुए। “मुनि श्री स्थूलभद्र कहाँ हैं?”—यह पूछने पर आचार्य भद्रबाहु ने एक खण्डहर की ओर संकेत कर दिया। साध्वी जी खण्डहर की ओर गईं। दूर से ही मुनि स्थूलभद्र उन्हें पहचान गये। अपनी विद्या का चमत्कार उन्हें दिखलाने की अभिलाषा से स्थूलभद्र मुनि ने सिंह का रूप धारण कर लिया। साध्वियाँ पहुँचीं वहाँ तो सिंह को बैठे देखा। वे भयभीत वहाँ से लौटीं और आचार्य भद्रबाहु से कह दिया कि वहाँ तो एक भयंकर वनराज बैठे हैं।

आचार्य प्रभु ने अपने ज्ञानोपयोग से सारा प्रसंग जानकर उन्हें पुनः यह कहकर वहाँ भेजा कि वहाँ अब सिंह नहीं है, स्थूलभद्र ही हैं। सातों साध्वी बहनों ने पुनः जाकर उनके दर्शन किये।

जब ज्ञान देने का समय आया और स्थूलभद्र आगे के अध्ययनों की वाचना लेने पहुँचे तो भद्रबाहु आचार्य ने ‘विद्या के प्रदर्शन’ वाला प्रसंग सुनाकर मुनि स्थूलभद्र को आगे के ज्ञान

की पात्रता के अयोग्य बताया और आगे ज्ञान देने से इन्कार कर दिया। मुनि स्थूलभद्र के पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त तथा संघ के निवेदन पर आचार्य भद्रबाहु ने शेष चार पूर्वों की मूल वाचना ही दी।

बन्धुओं ! इस तरह महावीर के इस शासनकाल के अन्तिम श्रुतकेवली (चौदह पूर्वधर) आचार्य भद्रबाहु थे और आर्य स्थूलभद्र सार्थ दशपूर्वधर ही बन सके, अंतिम चार पूर्व की मात्र मूल वाचना ही प्राप्त हुई, अर्थ नहीं। एक छोटे-से कौतुक ने जिनशासन की कितनी बड़ी हानि कर दी ? यह विचार करते हैं तो चित्त में बड़ी खिन्नता का अनुभव होता है।

□ अविस्मरणीय शासन सेवा !

वीर निर्वाण संवत् १७० में आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गारोहण होने पर आर्य स्थूलभद्र मुनि भगवान महावीर के आठवें पट्टधर आचार्य बने।

संघाधिनायक बनने के पश्चात् ४५ वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की प्रभावना करते हुए, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पद-विहार कर अनेक भव्य जीवों का आत्म-कल्याण करते हुए आचार्य स्थूलभद्र वीर निर्वाण संवत् २१५ में राजगृह नगर के समीप वैभवगिरि पर्वत पर १५ दिन के अनशन, संलेखना-संधारा के साथ पण्डितमरण को प्राप्त हुए।

आर्य स्थूलभद्र ३० वर्ष पर्यन्त गृहस्थ-पर्याय में रहे, २४ वर्ष सामान्य श्रमण-पर्याय में रहे, ४५ वर्ष तक युग-प्रधान आचार्य पद पर रहकर आपने जिनशासन की अविस्मरणीय सेवाएँ कीं। आपका सर्वायु एक कम सौ वर्ष रहा।

आनन्द ही आनन्द !

□□

मुनीश्वरों नी श्रेण-3

(नंदीषेण मुनि, अरणक मुनि व अतिमुक्त मुनि)

संबुज्झह ! किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमंति राइओ, नो सुलभ पुणरावि जीविअं ॥

(सूत्रकृतांग २/१/८९)

आत्म-बंधुओं !

आत्म-कल्याणी, जगदोद्धारिणी, पापपुञ्ज-विनाशिनी, सर्वज्ञभाषित जिनवाणी मोह-माया, राग-द्वेष, विषय-विकार और कषाय-कामनाओं आदि में अनंतकाल से अनंत-अनंत सुषुप्त जीवात्माओं को जागृत कर रही है, सचेत बना रही है, उत्थित कर रही है। भव-सागर में भटकते-डूबते प्राणियों के लिए वह जहाज का काम करती है और भटकते हुए विशाल जहाजों के लिए वह प्रकाश-स्तम्भ का काम करती है। प्रकाश की एक नन्हीं-सी किरण भी जैसे अंधकार को भगाने में सक्षम होती है, ठीक उसी प्रकार वीतराग वाणी का अनन्तवाँ भाग भी यदि जीवन-व्यवहार में ग्रहण कर लिया जाये तो स्वतः ही अज्ञान का, आसक्ति का, आस्रव का घेरा टूट जाता है।

□ बोधित्व से ही मुक्ति !

आज के मंगलाचरण में तीर्थंकर भगवन्त भव-भव में भटकते हुए प्राणियों को यही सन्देश दे रहे हैं—सम्यक् बोध को प्राप्त करो, आत्म-जागृत बनो, मोह-निद्रा का त्याग करो। सोए ही रहे तो व्यर्थ ही खो दोगे यह दुर्लभ नर-तन का अनमोल चोला। प्रभु कहते हैं—“क्यों नहीं प्राप्त करते बोध?” क्योंकि बोध प्राप्त किए बिना शाश्वत सुख, अक्षय शान्ति, जन्म-मरणरूपी भव-चक्र से मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है। यह जो दुर्लभ जन्म है, वही दुर्लभबोधि के लिए उचित है। यह जीवन, यह समय, ये रात्रियाँ यदि हाथ से बिना सम्यग्बोधि के निकल गईं तो सरलता से वापस मिलने वाली नहीं हैं।

□ कैसे मिलते हैं भक्त को भगवान ?

बोधि प्राप्त करना सहज नहीं है। उसे दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। प्रथम तो स्वतः अर्थात् बिना किसी बाह्य निमित्त के और द्वितीय सद्गुरु, सद्साहित्य, श्रुतश्रवण आदि के निमित्त से। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्ययन में आता है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ॥ २ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के सोपान हैं, पथ हैं, मार्ग हैं। कवि ने गीत के माध्यम से इसी बात को इस तरह व्यक्त किया है—

सम्यक् संयम, सम्यग्दर्शन, सम्यक् होवे ज्ञान,
उन्हीं को मिलते हैं भगवान।

बंधुओं ! यहाँ भगवान मिलने का तात्पर्य है—“स्वयं भगवान बन जाना।’ हमारी मान्यता यही है। हम प्रभु-प्राप्ति के लिए धर्म करते हैं तो हमें प्रभु के साथ प्रभुता स्वतः मिल जाती है। कर्म नष्ट किए बिना साधक की सिद्धि नहीं होती। कर्म नाश के साथ ही वह स्वयं तीर्थकर-अरिहंत और फिर सिद्ध या सामान्य केवलज्ञानी और फिर सिद्ध बन जाता है। वह सिद्धगति में ज्योत बनकर विराजमान हो जाता है। स्पष्ट है—सिद्ध (प्रभु) भी मिले, सिद्धि (प्रभुता) भी मिली।

□ निसर्ग और अधिगम—दो राहें !

उस सिद्धि के लिए चाहिए—सम्यग्दर्शन और वह सम्यग्दर्शन तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति से, अटूट श्रद्धा से मिलता है। उसकी प्राप्ति के दो तरीके हैं—प्रथम—निसर्गतः अर्थात् अन्तरात्मा से उद्भूत, स्वतः, पूर्व संस्कारों आदि के कारण और द्वितीय—अधिगमात् अर्थात् अधिगम से, बाह्य निमित्त से।

□ उत्थान-पतन-उत्थान !

बंधुओं ! कई बार प्राप्त हो जाती है सम्यग्बोधि, पर वह स्थिर ही रहे, यह आवश्यक नहीं है। कई बार ऐसे कारण, ऐसी स्थितियाँ, ऐसे निमित्त उपस्थित हो जाते हैं कि वे बोधि के बहुत उच्च स्तर को स्पर्श करके भी पुनः पतन की ओर चले जाते हैं। निश्चय में तो यह

उनके दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होता है। ऐसे साधक या पडवाई सम्यग्दृष्टि शुभ अध्यवसायों द्वारा पुनः ऊपर भी उठ जाते हैं।

□ नन्दीषेण, अरणक व अतिमुक्त !

बड़ी साधु वन्दना की ९८वीं कड़ी में युग-प्रधान एकभवावतारी आचार्यसम्राट् परम पूज्यनीय श्री जयमल जी म. सा. ने ऐसे ही कुछ महामुनीश्वरों का वर्णन, स्तुति-स्मरण किया है। आपने आर्द्रकुमार एवं स्थूलभद्र मुनिवरों के जीवन-प्रसंगों का अब तक श्रवण किया। आज आपके सम्मुख नन्दीषेण मुनि, अरणक मुनि व अतिमुक्तकुमार मुनि का प्रसंग रखा जा रहा है—

वलि आर्द्रकुमार मुनि स्थूलभद्र नन्दीषेण।
अरणक अइमुक्ते मुनीश्वरों नी श्रेण ॥९८॥

□ पारिवारिक परिचय (नन्दीषेण) !

अति समृद्ध मगध राज्य का उस समय अधिपति था—राजा श्रेणिक। भगवान महावीर का वह अनन्य उपासक था और वासुदेव श्रीकृष्ण की भाँति ही उत्कृष्ट धर्म-दलाली करने वाला राजा था। इन दोनों ने अपनी धर्म-दलाली की उत्कृष्टता के ही कारण तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया था। आपने अन्तगड़-वाचन के पर्युषण पर्व के पावन दिनों में श्रेणिक व उसके परिवार के प्रसंगों को सुना है। नन्दीषेण भी, जिसका प्रसंग आज रखा जा रहा है, श्रेणिक राजा का ही राजकुमार था। उसका वर्णन कथा भाग में मिलता है—इसके अतिरिक्त कथा भाग में अन्य नन्दीषेण मुनि का भी वर्णन आता है, पर वे परम सेवाभावी के नाम से विख्यात हुए उनका वर्णन आपने प्रथम भाग के प्रवचनों के अन्तर्गत सुना।

□ राजगृही के बाहर सघन वन में हस्ति-झुण्ड !

मगध की राजधानी थी राजगृह नगरी। राजधानी में ही बसता था राज-परिवार। इसी राजगृही के बाहर, कुछ ही दूरी पर एक सघन वन प्रारम्भ होता था। मीलों तक फैला हुआ था यह वन। वन में पेड़-पौधे इतने घने और सघन कि दिन में भी वहाँ अंधकार-सा व्याप्त रहता था।

इसी सघन वन में अनेक वन्य पशु निर्भय विचरण करते थे। वन के वन्य पशुओं में एक हाथियों का झुंड भी था, जो कई वर्षों से इसी वन में रहता, विचरण करता, खाता-पीता और क्रीड़ाएँ करता था। जिस समय का यह प्रसंग है, उस समय इस हस्ति-यूथ का यूथपति गजराज शक्तिमान और उन्मत्त तो था ही, स्वभाव से वह अत्यंत निर्दय एवं क्रूर भी था।

□ हस्ति-यूथ और यूथपति !

हस्ति-यूथ का नियम यह है कि सर्वाधिक युवा, बलवान और युद्ध-कुशल हस्ति यूथपति होता है। एक यूथपति के होते दूसरा हस्ति उस यूथ में बिना यूथपति की आज्ञा के रह नहीं सकता, किसी अन्य हस्ति या हथिनी से सम्बंध नहीं बना सकता और यूथपति के समस्त आदेशों की पालना करता है। उस झुण्ड की जितनी भी भोग्या हथिनियाँ होती हैं, वे सब यूथपति के भोग-योग्य होती हैं। यूथपति की इच्छा सर्वोपरि होती है उस यूथ में, अतः कोई भी हथिणी गर्भवती होती तो उसका बच्चा यूथपति की इच्छा से ही जीवित रखा जा सकता था।

□ सत्ता का मद !

बंधुओं ! सत्ता और शासन का नशा भी अजीबोगरीब है। जब तक भाग्य साथ देता है, अन्य लोग साथ देते हैं, प्रयत्न सफल होते हैं तब तक सत्ता से कोई दूर नहीं जाना चाहता है। आज राजनेता, मंत्री, ऑफिसर आदि अपनी कुर्सी आसानी से त्यागता नहीं। उस कुर्सी की सत्ता के लिए कितने किस्से बन जाते हैं।

□ सत्ता के लिए नवजात शिशुओं को कुचल डालना !

पशुओं में भी इस सत्ता के लिए बड़े-बड़े खूनी संघर्ष होते हैं। बड़ा वीभत्स और घिनौना विषय है यह, पर चाहत वालों को इसी में आनन्द मिलता है, रस आता है। मैं कह रहा था हाथियों के यूथ की बात। यूथपति के मन में यह आशंका बनी रहती थी कि कभी भी कोई दूसरा हाथी मुझे पराजित कर, प्रताड़ित कर, पदच्युत कर मेरा स्थान ले सकता है। अपनी इस आशंका के कारण वह निर्दयी अपने यूथ की किसी भी हथिनी के नर बच्चा होने पर उसे जन्म के समय ही पैरों तले रौंद देता था, कुचल देता था, परलोकगामी बना देता था।

□ क्रूरम मार्यों डीकरो, कमधज मार्यों बाप (सत्ता के लिए) !

मूक पशु की बात को यहीं छोड़ आप अपने इतिहास पर दृष्टि डालें तो अनेक ऐसे क्रूर इतिहास-पृष्ठ आपको मिलेंगे, जहाँ राज्य के लिए पुत्र पिता की और पिता पुत्र की हत्या कर डालते हैं। कभी-कभी चिन्तन उत्पन्न होता है कि हिंसक पशु अधिक क्रूर हैं या सभ्य, संस्कृत, प्राणियों में श्रेष्ठ मानव अधिक क्रूर है। राजस्थान में प्रचलित एक दोहा सुनाता हूँ आपको—

जोधपुर आमेरिया दोनों थाप—उथाप।

क्रूरम मार्यों डीकरो, कमधज मार्यों बाप॥

जोधपुर और जयपुर, दोनों के राजाओं ने अपने वंश में उथाप के शासन-सत्ता प्राप्त की है। कूरमा (कच्छवा वंश) के जयसिंह ने अपने बेटे को मारकर जयपुर की सत्ता प्राप्त की और कमधज (कान्यकुब्ज राठौड़ वंश) के अभयसिंह ने अपने पिता की हत्या करवाकर जोधपुर की राजसत्ता को प्राप्त किया। ऐसे अनेकानेक इतिहास में उदाहरण हैं।

□ कैसे हो बचाव ?

मनुष्य की तरह पशुओं में भी चतुरता का गुण होता है। वैसे भी प्रकृति का नियम है कि विपत्ति के समय उससे बचने का कोई न कोई उपाय मस्तिष्क में उत्पन्न हो ही जाता है। यूथ की हथिणियों के सम्मुख एक विपत्ति ही थी यह कि उनके बच्चों को यूथपति जन्म के साथ मरण का पथ दिखा देता था। बड़ा वात्सल्यपूर्ण होता है मातृ-हृदय, पर पुरुषों की सत्ता, अभिमान और निर्दयता के आगे मातृ-वात्सल्य भी विवश बन जाया करता है। इस विपत्ति से बचने के लिए कोई-कोई हथिणी ही सोच-विचार किया करती थी।

□ हथिणी ने चली एक चाल !

एक दिन एक गर्भवती हथिणी ने विचार किया कि इस गजराज ने मेरे द्वारा उत्पन्न समस्त बच्चों को जन्मते ही मार डाला, पर इस बार मुझे कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि मेरा बच्चा जीवित रहे, मौत से बच जाये, आने वाले अपने जीवन को स्वयं अपने ढंग से जीये। उसने एक योजना बनाई और एक दिन संध्या-समय के बहुत देर बाद लँगड़ाती हुई अपने यूथ में पहुँची। यूथपति उस निर्दयी गजराज ने देर से आने का कारण पूछा तो उसने बताया कि मेरे पैर में चोट लग गई है, अतः चलने में बहुत कष्ट होता है, धीरे-धीरे चलकर आने से देर हुई है।

दूसरे दिन भी यही हुआ। धीरे-धीरे उसका देर से आना नियमित बन गया और देरी का समय भी बढ़ता गया। गजराज तो उसके देर से आने पर नित्य यही सोचकर रह जाता था कि बिचारी लँगड़ी हो गई है।

हथिणी ने देखा कि यूथपति निश्चित बन गया है, मेरे आने-न आने पर इसका कोई ध्यान नहीं है तो एक दिन बिलकुल नहीं आई। दूसरे दिन आई तो हाथी (यूथपति) ने कुछ नहीं कहा। हथिणी कभी एक दिन, कभी दो दिन और फिर कभी चार-चार दिन गायब रहने लगी।

□ तापस आश्रम—सुरक्षित स्थल—हस्तिशावक का जन्म !

इन दिनों में जंगल में दूर-दूर विचरण कर हथिणी ने अपने यूथ-स्थल से बहुत दूर एक तापस-आश्रम देखा। उस आश्रम के पीछे के भाग में बड़े-बड़े सघन वट-वृक्षों का घना झुण्ड था। उसे लगा कि यह स्थल उपयुक्त एवं सुरक्षित रहेगा।

गर्भ पूर्ण होने के दिन आने पर हथिणी उसी झुण्ड के आसपास रहने लगी। समय आने पर उसने उसी झुण्ड के मध्य भाग में एक सुन्दर नन्हे-से हस्ति-शावक को जन्म दिया। कुछ दिन तक हथिनी वहीं रही और अपने शावक की देखभाल करती रही।

कुछ दिन पश्चात् वह अपने यूथ में गई, लेकिन किसी ने उस पर कोई सन्देह नहीं किया न गजराज ने ही कुछ पूछा।

□ तापसों का दुलारा बन गया वह हस्ति-शावक !

अब वह हथिणी नित्य नियमपूर्वक अपने नन्हें शावक के पास जाती, उसे स्तन-पय का पान कराती और वापस लौट आती। हस्ति-शावक माता का वात्सल्य पाकर धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। नन्हें बच्चों से, उगते हुए नन्हें पेड़-पौधों से, वर्षा की प्रथम फुहार से, प्राची में उगते हुए सूर्य से सभी स्नेह-भाव रखते हैं। आश्रमवासी तापसों के लिए भी वह हस्ति-शावक एक साथी, मित्र, स्नेही की भाँति प्यारा, दुलारा था, अतः वे सभी उससे सौहार्द-भाव रखने लगे।

□ नामकरण—‘सेचनक !’

हस्ति-शावक आश्रम के तापसों के बीच बैठता, सूँड़ से खेलता, कभी किसी को उठा भी लेता और धीरे से पुनः रख भी देता, ऐसी ही अनेक क्रीड़ाएँ वह वहाँ करने लगा। तालाब पर पानी पीने या नहाने जाता तो सूँड़ में पानी भर लाता और आश्रम के पौधों को पानी देता। स्नेह और वात्सल्य से पल रहे, बड़े हो रहे उस हस्ति-शावक को तापस लोग ‘सेचनक’ नाम से पुकारने लगे। हस्ति-शावक भी अभ्यस्त बन गया इस नाम का। जब भी वह कहीं से सुनता ‘सेचनक’, तो उसके कान खड़े हो जाते।

□ उदय-प्रदीप्त-अस्त !

धीरे-धीरे हस्ति-शावक युवावस्था की ओर बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया, उसमें स्वच्छंदता और घुमक्कड़पन की आदत बढ़ने लगी। वह उस सघन वन में कभी किसी

दिशा में दूर तक निकल जाता तो कभी किसी अन्य दिशा में मस्ती से विचरण करता हुआ दूर तक पहुँच जाता।

बंधुओं ! उगता हुआ सूर्य क्षण-प्रतिक्षण अधिक तेजस्वी, अधिक भास्मान, अधिक उग्र बनता हुआ मध्याह्न तक अपने तेज के शिखर पर पहुँच जाता है। इसी तरह अपनी सम्पूर्ण प्रखरता के साथ दीप्ति के शिखर पर चढ़ा हुआ रश्मि रथी मध्याह्न के पश्चात् शनैः-शनैः निस्तेज बनता हुआ, प्रखरता खोता हुआ, निष्प्रभ होता हुआ संध्या तक ऐसा दीप्तिहीन बनता है कि एक छोटा-सा बालक भी उसे आँख उठाकर देख लेता है।

प्राणी-समूह के साथ भी यही होता है। मानव हों, पशु हों या पक्षी हों—इन सभी को बचपन में सहारे की आवश्यकता होती है। ये सभी उस उम्र में बढ़ते हुए धीरे-धीरे मानसिक, वाचिक व कायिक शक्ति-सामर्थ्य बढ़ाते हैं। युवावस्था के आने तक इनकी इन शक्तियों का पूर्ण संवर्द्धन हो जाता है। फिर जवानी ढलने लगती है और ये शक्तियाँ पुनः निस्तेज होने लगती हैं।

□ पिता-पुत्र में युद्ध, पिता का मरण, पुत्र बना यूथपति !

हस्ति-शावक युवावस्था के दौर में प्रवेश कर रहा था। उसकी शक्ति, उसकी उन्मत्तता, उसका पराक्रम दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। उस सघन जंगल में स्वच्छंदता के साथ रमण-भ्रमण करते हुए उसकी मुलाकात उस क्रूर यूथपति से हो जाती है। आपस में पिता-पुत्र, दोनों गुत्थमगुत्था हो जाते हैं। यूथपति क्रूर था, अनुभवी भी था, पर वृद्ध था। ढल रही थी उसकी उम्र। शक्तियाँ और इन्द्रियाँ शिथिल बन रही थीं उसकी। यौवन उस वृद्धावस्था पर भारी पड़ रहा था। युद्ध में यूथपति पराजित होकर भागा वहाँ से। युवा-हस्ति ने पीछा किया और पुनः उसके साथ भिड़ गया। आखिर उस वृद्ध यूथपति को अपने जवान बेटे के प्रहारों से दम तोड़ना पड़ा। बेटे ने बाप को यमलोक की सैर करवा दी। जीत का पुरस्कार, पिता की हत्या का पुरस्कार प्राप्त किया उसने। वह उस हस्ति-झुण्ड का सरदार, उस यूथ का यूथपति मान लिया गया।

□ रहस्य जब खुला उसके जन्म का तो.....!

धीरे-धीरे दिन व्यतीत होने लगे। एक दिन उसकी जन्मदात्री हथिणी ने उसे बताया कि कैसे पूर्व यूथपति अपने प्रत्येक नवजात हस्ति-शावक को कुचल देता था और कैसे जंगल के उस तापस आश्रम में उसने उसे जन्म देकर पाला।

अपने जन्म का रहस्य ज्ञात होने पर वह हस्ति जो अब यूथपति था, मन ही मन विचार करने लगा—‘यही स्थिति मेरी भी बन सकती है। कोई हथिनी पुनः उस आश्रम में गुप्त रूप से अपने किसी बच्चे को जन्म दे सकती है। मेरा ही वह बच्चा बड़ा होकर यूथपति बनने की चाह में मेरा ही घात कर सकता है। अतः मेरे लिए तो यही अच्छा रहेगा कि मैं तापसों के उस आश्रम को ही उजाड़ दूँ। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।’

अशुभ विचार था, पर एक बार विचार आ गया तो दिल-दिमाग में शैतानियत भर गई। पशु था, गहन विचार करना तो उसकी प्रकृति में होता नहीं। होता यदि तो सोच सकता था कि इतने बड़े जंगल में कोई दूसरा ऐसा ही गुप्त स्थल और हो सकता है। उस नये यूथपति की नजरों में तो बस वही एक तापस आश्रम घूम रहा था। उसको उजाड़ने के बाद जैसे कोई ऐसा स्थल बचेगा ही नहीं, जहाँ कोई हथिनी पुनः किसी बच्चे को गुप्त रूप से पैदा कर सके।

□ तापस आश्रम पर हस्ति-कहर !

चल दिया वह गजराज उस आश्रम की तरफ। आश्रम नजदीक आया। तापसों ने देखा उसे। जानते थे वे उसे। किसी ने उसके उधर आने पर कोई ध्यान नहीं दिया। यह पहुँचा वहाँ और उखाड़ने लगा आश्रम के वृक्षों को, झोंपड़ों को, पुष्प-वाटिकाओं को, पर्ण-कुटियों को। तापस भागे वहाँ से। सीधे दौड़ते हुए पहुँचे राजा श्रेणिक के पास। बोले—“रक्षा करिए महाराज! एक हाथी उन्मत्त बनकर हमारे सारे आश्रम को उजाड़ रहा है।”

□ कुशल हस्ति-विद्या के योद्धा असफल !

महाराजा श्रेणिक ने मदमस्त बने हाथियों को वश में करने की कला में निपुण शूरवीरों का एक दल तापसों के आश्रम की ओर भेज दिया। वे शूरवीर जब राजाज्ञा से, आवश्यक अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर तापस-आश्रम पहुँचे तो वहाँ एक भीमकाय युवा हाथी को उन्मत्तावस्था में उत्पात मचाते, सर्वनाश करते देखा। उस दल ने हाथी की घेराबन्दी की और उसे पकड़ने के अनेक उपाय किए, पर वे सभी असफल रहे। हाथी तो जैसे विक्षिप्त था, सिर पर भूत सवार था जैसे उस पर, किसी प्रकार भी वश में नहीं आ रहा था।

□ नन्दीषेण कुमार की नियुक्ति !

सभी वहाँ से लौट आए। महाराज को उनके विफल होकर आने की जानकारी प्राप्त हुई तो उन्होंने राजकुमार नन्दीषेण को बुलाया और बोले—“वत्स ! तुम हस्ति का मद उतारने की

कला में पारंगत हो। सेचनक नाम का एक हस्ति आज विपदा का कारण बना हुआ है। तापसों के आश्रम में उसने ताण्डव मचा रखा है। जाओ और उस हस्ती को वश में कर, उसे पकड़कर अपनी हस्तिशाला में लाकर बाँध दो।” तापसों ने भी अनुनय की कुमार से। कुमार ने हस्ति के सम्बन्ध में विवरण पूछा तो ज्ञात हुआ उन्हें कि इन्हीं तापसों ने बचपन में उसे पाला था।

□ नन्दीषेण की ललकार !

राजकुमार नन्दीषेण विचार करने लगे—‘यह पशु की जाति भी अजीब है। जिस थाली में खाती है, उसी में छेद करती है ! पर इसमें भी उनका क्या दोष ? इतनी दूर तक वे भला कैसे सोच सकते हैं ? बदले की भावना तो उदय में आना सहज है, परन्तु उपकार के बदले कृतज्ञता मानना सरल नहीं।’

कुमार नन्दीषेण चले वन की ओर। पहुँचे वे तापसों के आश्रम में। हाथी अब भी उत्पात मचा रहा था। हस्ति-मद उतारने में निष्णात नन्दीषेण ने उसका ध्यान उत्पात से हटाकर अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उसे ललकारा।

□ उन्मत्त हस्ति शान्त बन गया !

ललकार पहुँची सेचनक हस्ति के कर्ण-रन्ध्रों में। उसने सिर घुमाकर सूँड़ ऊपर की ओर उठाकर देखा ललकारने वाले नन्दीषेण कुमार को। देखा तो एकटक उन्हें देखता ही रह गया। लगा उसे कि कहीं पहले की पहचान है, कुछ है इस ललकारने वाले में जो मुझे आकृष्ट बना रहा है। बंधुओं! इन विचारों की धारा में बहते सेचनक को वहाँ जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। देखने लगा वह अपने पूर्वभव को, जिसमें वह स्वयं तो मुखप्रिय ब्राह्मण था और ललकारने वाला कुमार नन्दीषेण उसका तब का पड़ोसी भीम था। ठीक ऐसी ही कथा अभयकुमार आदि के लिए भी मिलती है।

□ नन्दीषेण व हस्ति का पूर्वभव : दोनों पड़ोसी थे !

उसे याद आया—मेरे इस पड़ोसी भीम को मुखप्रिय ब्राह्मण के भव में मैंने एक कार्य सौंपा था। मैंने संकल्प किया था तब एक लाख ब्राह्मणों को ब्रह्मभोज कराने का। इस भीम से कहा था मैंने कि तुम इस पुण्य के कार्य में मेरा हाथ बँटाओ। भोजन के लिए आने वाले ब्राह्मणों को ले जाकर आसन पर बिठाओ, उन्हें पत्तल आदि परोसे जाने की व्यवस्था करो। इसने वह काम स्वीकार तो किया पर ब्रह्मभोज का बचा हुआ भोजन माँगा था। बहुत सुन्दर

व्यवस्थित कार्य किया था इसने। मैंने भी खुश होकर ब्रह्मभोज से बची सारी भोजन-सामग्री शर्त के अनुसार इसे दी थी।

बंधुओं ! इन्हीं विचारों में खोए उस यूथपति युवा हस्ति का मद उतर गया। नन्दीषेण ने उसे इस तरह शांत बने देखा तो उस पर सवार होकर नगर की ओर चल दिया। शेष बचे भोजन को अपने उस पूर्वभव में भीमरूपी नन्दीषेण के जीव ने अत्यंत श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक साधु-संन्यासियों को भिक्षा के रूप में प्रदान किया।

ब्राह्मण मुखप्रिय के जीव ने अनेक भव करके हस्ति के रूप में जन्म लिया और भीम का जीव देवलोक में देव का आयु पूर्ण कर राजा श्रेणिक के यहाँ नन्दीषेण कुमार के रूप में उत्पन्न हुआ।

□ पराजित सेचनक श्रेणिक की हस्तिशाला में !

नन्दीषेण सेचनक हस्ति पर सवार होकर राजगृही पहुँचा। राज्य की प्रजा ने ऐसे गुणी एवं वीरवर राजकुमार का जयनिनाद कर स्वागत किया। कुमार नन्दीषेण का कालान्तर में पाँच सौ राज-कन्याओं के साथ विवाह कराया गया। यौवन-वय, राजवैभव, पाँच सौ अप्सरा-सम राज-कन्याएँ। नन्दीषेण कुमार काम-भोग में, आमोद-प्रमोद में, हास्य-विनोद में जीवन को व्यतीत करने लगे।

□ नन्दीषेण द्वारा भगवान महावीर के दर्शन व धर्मश्रवण !

कुछ ही समय पश्चात् तीर्थंकर भगवंत प्रभु महावीर का राजगृही में पदार्पण हुआ। श्रद्धालु श्रावक एवं भक्तजन प्रभु के दर्शनार्थ गये। राजा श्रेणिक भी गया। कुमार नन्दीषेण भी गये।

प्रभु का समवशरण लगा हुआ था। अमृतोपम धर्मदेशना चल रही थी। वन्दना कर सभी प्रभु की देशना श्रवण करने लगे। देशना समाप्त होने पर महाराज श्रेणिक ने पूछ लिया—“भगवन्! कुछ दिन पूर्व राजकुमार नन्दीषेण सेचनक नामक उन्मत्त हाथी का मद उतारने गये, पर इनके कुछ करने से पहले ही उसका मद उतर गया। प्रभु! यह कैसे संभव हुआ ?”

श्रेणिक का प्रश्न सुनकर प्रभु ने उसके पूर्वभव में भीम के रूप में दान देने व मुखप्रिय के एक लाख ब्राह्मणों को ब्रह्मभोज देने आदि का पूर्ण प्रसंग सुना दिया।

प्रभु मुख से राजकुमार नन्दीषेण के पूर्वभव का वृत्तान्त सुन श्रेणिक सन्तुष्ट हुए और उन्होंने प्रभु वचनों को हृदय से अंगीकार किया। श्रेणिक के राजकुमार अभयकुमार भी साथ

थे, अभयकुमार ने बारह व्रतरूपी श्रावक-धर्म अंगीकार किया। नन्दीषेण ने सुनी प्रभु-देशना और अपना पूर्वभव तो संसार से विरक्ति की भावना उत्पन्न हुई, दीक्षा लेकर संयम-पथ पर अग्रसर बन आत्म-कल्याण का चिन्तन उत्पन्न हुआ। वे प्रभु से बोले—“प्रभु! आपकी धर्मदेशना सुनकर मुझे यथार्थ श्रद्धान उत्पन्न हुआ है। अब यह संसार मेरे लिए दावानल की प्रलयाग्नि-दहक की तरह है। मैं आपकी शरण में आना चाहता हूँ, संयम की शीतल सलिला में अवगाहन करना चाहता हूँ, मुनि बनकर कर्मबंधनों को तोड़ने का तपश्चरण करना चाहता हूँ।”

प्रभु मौन रहे, बार-बार आग्रह करने पर प्रभु ने नन्दीषेण को स्थविरों के पास जाने के लिए कहा। स्थविर मुनियों से स्वीकृति मिलने पर घर आकर नन्दीषेण कुमार ने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति देने का निवेदन किया, तब श्रेणिक महाराज ने इसे धर्मकार्य समझकर अनुमति प्रदान कर दी।

अनुमति प्राप्त कर नन्दीषेण दीक्षा के लिए राजभवन से बाहर निकले, तभी आकाश में देववाणी हुई—“वत्स! अभी तुम्हारे चारित्र मोह कर्म के प्राबल्य का योग है, अतः कुछ काल तक घर में ही रहकर कर्मों के क्षीण हो जाने पर फिर दीक्षा ले लेना अन्यथा संकल्प विकल्प में बदल जायेगा।”

नन्दीषेण तो चारित्र-ग्रहण की प्रबल भावना से ओत-प्रोत थे, अपने चिन्तन के प्रवाह में बह रहे थे, अतः बोल उठे—“मेरा मन अटल है, मेरे भावों में सुदृढ़ता है, मैं संयम के चिन्तन से ओत-प्रोत हूँ फिर यह चारित्रावरण मेरा क्या करेगा?”

□ मुनिधर्म-पालन कर तपाराधन से लब्धिधारी बने-नन्दीषेण !

बालहठ, त्रियाहठ और राजहठ—ये तीन हठ जगत् प्रसिद्ध हैं। राजकुमार की दीक्षा के लिए दृढ़ता भी एक तरह का राजहठ ही है। कुमार नन्दीषेण ने अपना राज्य-वैभव, सुख-सम्पदा, पाँच सौ नारियाँ आदि सर्वस्व त्याग दिया और मुनिवेश धारण कर स्थविर मुनियों के पास दीक्षित बन गए तथा उनकी सेवा करते हुए एकादशांगीरूपी श्रुतज्ञान की साधना करने लगे। ज्ञानाराधना के साथ-साथ उन्होंने उग्र तप भी प्रारम्भ कर दिए। विभिन्न प्रकार की तप-साधना के कारण मुनि अनेक प्रकार की लब्धियों के अधिकारी बन गये।

□ तप कर्मनिर्जरा का हेतु : लब्धियाँ तो गौण फल !

वस्तुतः बिना किसी फल की आकांक्षा से केवल कर्मनिर्जरा के लिए किया गया तप कर्मनिर्जरा का ही कारण है। पूर्व में बँधे हुए कर्म-पुञ्ज तप से विनष्ट होते हैं। रही बात

लब्धियाँ प्राप्त होने की तो यह ध्यान में लेने की बात है कि कोई भी यथार्थ तपस्वी, तपसाधक इन लब्धियों की प्राप्त्यर्थ तपाराधन नहीं करता। किसान जब खेती करता है तो खेत में उत्पन्न होने वाले धान के साथ जैसे घास-फूस आदि स्वतः उग आते हैं, वैसे ही लब्धियाँ तपस्वी साधकों को मुख्य फल-प्राप्ति अर्थात् कर्मनिर्जरा के साथ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। ज्ञानी मुनि, उत्कृष्ट साधक इनका प्रयोग-उपयोग केवल संघ-हित या धर्म-हित में ही करते हैं अन्यथा उनका ख्याल भी नहीं करते।

□ भिक्षार्थ नगर-वधू के द्वार पर !

निरतिचार संयम के पालक और भाँति-भाँति के तप के निरन्तर आराधक मुनि नन्दीषेण एक दिन बेले के पारणा हेतु उच्च, नीच, मध्यम आदि कुलों में भ्रमण करते हुए एक नगर-वधू के द्वार पर पहुँच गये। चले गये भिक्षार्थ उस विशाल भवन में। अन्दर पहुँचकर कहा मुनि ने—“दयापालो!”

□ दया नहीं, धन चाहिए !

नगर-वधू ने सुना मुनि मुख से निकला यह शब्द तो सम्मुख आते हुए अनायास अपनी परम्परा, अपनी प्रवृत्ति, अपनी अन्तर् कामना को शब्द दे बैठी और हँसते-मुस्कराते कह गई—“मुनिवर! यहाँ दया का क्या काम? हमें तो धन चाहिए।”

□ लब्धि प्रयोग : रत्न-वृष्टि !

मुनि को लगा कि शब्दों में व्यंग्य छिपा है, मेरे भिक्षाटन-कर्म का मखौल उड़ा रही है यह। नहीं जानती मुझे कि मैं राजा श्रेणिक का पुत्र, इस राज्य का राजकुमार हूँ और एक ऋद्धि-सिद्धि-लब्धि सम्पन्न तपस्वी संत भी हूँ। उनका मन कुछ आक्रोश में आया। अन्तर् में एक ठेस लगी। अहंकार को एक चोट लगी। सुषुप्त गरिमा व मान जागृत हो गया। यह सब मोहनीय कर्म के उदय का प्रभाव था, दिखा दिया तत्काल चमत्कार। परिणामस्वरूप नगर-वधू के विशाल भवन का लम्बा-चौड़ा प्रांगण रत्न-राशि के ढेर से भर गया। मुनि साभिमान कह उठे—“लो धन! बटोर लो यह रत्न-राशि! तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियों तक समाप्त नहीं हो सकेगा यह धन !”

□ धन लेती है : तन देती है !

नगर-वधू ने हास्य किया था, पर परिणाम की गंभीरता को देख कुछ पलों के लिए स्तंभित बन गई। तभी मुनि वहाँ से मुड़कर जाने लगे। नगर-वधू तुरन्त सचेत बन, त्वरित

गति से चलते हुए उनकी राह में ऐसे खड़े हो गई जैसे कोई अवरोध हो। मुँह पर मोहक मुस्कान भरते हुए बोली—“महात्मन्! यह क्या? जा कहाँ रहे हैं? हम जब किसी का धन लेती हैं तो बदले में अपना तन समर्पित करती हैं। इस दासी पर कृपा करिए प्रभु! अब आपका स्थान इस गृह-द्वार से बाहर नहीं अपितु इस विलास-भवन का वह प्रत्येक स्थल है, जहाँ आप अपने चरण अंकित करें। भीतर पधारिए और इस कृपाकांक्षी के दामन को आनन्द की पुष्प-वृष्टि से भर दीजिए।”

□ उलझ गये वहीं नन्दीषेण मुनि !

दीक्षा से पूर्व देववाणी भी हुई थी—“कुमार संकल्प से विकल्प में जा सकता है।” बंधुओं! इस समय निमित्त पाकर उसका मन डोलने लगा। वेश्या के मधुसिक्त शब्दों, मदभरे तीखे नैन कटाक्षों और मन को विचलित बना देने वाली उसकी भाव-भंगिमाओं ने उचित समय पर अचूक प्रहार किया मुनि नन्दीषेण पर। मुनि सँभल नहीं पाए वहाँ, चलित-विचलित बन गये वे, फिसल गये अपनी साधना से। त्याग दिया साधु-वेश उन्होंने और उलझकर रह गये उस भुवन-मोहिनी की बंकिम भ्रू-भंगिमाओं में, हास-विलास में।

□ अनोखा संकल्प : “दस को प्रतिबोध देकर अन्न-जल” !

उलझ गये वे वहाँ, पर अन्तर् में जागृत थे, अतः प्रथम दिन ही यह संकल्प लिया कि मैं प्रतिदिन दस व्यक्तियों को दीक्षा के लिए प्रतिबोधित बनाकर प्रभु के पास भेजूँगा। जब तक संकल्प की पूर्ति नहीं हो जाएगी, तब तक उस दिन आहार-पानी ग्रहण नहीं करूँगा। अब यह उनका नित्य का नियम बन गया। जो आता, उसे संसार की क्षणिकता, असारता, स्वार्थपरता का उपदेश देकर विरक्ति के भाव भरते और प्रतिबुद्ध व्यक्तियों को प्रभु के पास भेज देते। नित्य दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर फिर अन्न-जल ग्रहण करते।

□ जिनशासन की महती सेवा !

बंधुओं ! बारह वर्ष तक यह क्रम चला। उपयोग लगाइए—एक दिन में दस तो एक मास में कितने ? तीन सौ ! एक मास में तीन सौ तो १२ मास में कितने ? ३६००, एक वर्ष में ३६०० तो १२ वर्ष में कितने ? कुल ४३,२०० (तेतालीस हजार दो सौ) व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर प्रभु के पास भेजा।

□ एक दिन जब दसवाँ व्यक्ति प्रतिबोध नहीं पा सका !

एक दिन एक-एक कर नौ व्यक्तियों को प्रतिबोधित कर प्रभु के पास भेज दिया और दसवें व्यक्ति की प्रतीक्षा करने लगे। समय बहुत हो गया। आया दसवाँ व्यक्ति ! जाति से सोनी

था और बहुत तरह से समझाने पर भी वह प्रतिबोधित नहीं हो पा रहा था। दो प्रहर का समय व्यतीत हो गया। वेश्या ने कई बार बुलावा भेजा, पर नियम तो नियम। दसवाँ प्रतिबोध नहीं पाए तब तक अन्न-जल कैसे लिया जाये? नहीं गये वे पाकशाला में। भोजन ठंडा हो रहा था। वेश्या झुँझला गई। अच्छे-अच्छे सद्गृहस्थों की सन्नारियाँ भी झुँझला जाती हैं तो वह तो वेश्या थी। आई नन्दीषेण के पास और बोली—“अब चलिए भी। कितना समय हो गया है? सारा भोजन ठंडा बनकर बेस्वाद हो जाएगा।”

□ अपने को दसवाँ मान लीजिए !

वेश्या की बात सुन नन्दीषेण बोले—“जब तक दस की संख्या पूरी नहीं हो, कैसे भोजन ग्रहण करूँ? तुम तो मेरी प्रतिज्ञा जानती हो। बस एक बाकी है। दसवाँ व्यक्ति प्रतिबोधित बनते ही मैं आ रहा हूँ।”

वेश्या ने कहा—“प्रियतम! आज नौ ही सही। कल ग्यारह कर लेना। आपके पीछे मैं भी तो भूखी हूँ।”

नन्दीषेण बोले—“ऐसा संभव नहीं है। मैं अपना संकल्प कदापि नहीं तोड़ूँगा। तुम चाहो तो भोजन ले लो। दसवाँ व्यक्ति प्रतिबोधित किए बिना मैं यहाँ से नहीं उठूँगा।”

इस पर वेश्या ने सस्मित विनोद-भाव से कह दिया—“दसवाँ व्यक्ति स्वयं अपने को मान लो और उठकर चलो मेरे साथ, भोजन कर लो अब।”

□ नन्दीषेण का चिन्तन !

नन्दीषेण ने वेश्या के चेहरे पर दृष्टिपात किया। वहाँ तो वही हास्य, वही मुस्कान थी, पर जो बात उसके मुँह से निकली, वह नन्दीषेण के अन्तर् में उतर गई। निमित्त मिलना था सचेत बनने के लिए, स्वयं प्रतिबोधित होने के लिए सो निमित्त मिल गया। सोचा—‘कितना यथार्थ कथन कह गई आज ये सन्नारी! दुनियाँ भले ही इसे नगर-वधू कहे, पर इसने जो पथ, जो चिन्तन आज मुझे दिखाया उसे देखकर तो मैं इसे कल्याणी ही कहूँगा। प्रतिदिन अन्यान्य को उपदेश देता था, इस संसार के दलदल के बाहर निकलने का, पर स्वयं मैं, उपदेशक ही संसार के दलदल में फँस रहा था। कथनी और करनी में इतना अन्तर? यह तो विमुक्त बनने का पथ नहीं है। अच्छा हुआ जो इस नारी ने मुझे इस दलदल से बाहर निकलने के लिए सचेत बना दिया। मुझे अब यहाँ से निकलकर पुनः आत्म-कल्याण के मुनिधर्मरूपी पथ पर अग्रसर हो जाना चाहिए।’

□ तत्काल मुनिवेश धारण किया !

बंधुओं! नन्दीषेण तत्क्षण उठ खड़ा हुआ। गृहस्थ वेश उतारकर उसने उसी क्षण वहीं मुनि-वेश धारण किया। धर्म के किसी भी कार्य में प्रमाद करना अपने लक्ष्य से भटकना है। प्रभु ने भी बार-बार कहा है—“अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।” और “समयं गोयम मा पमायए।” तात्पर्य यह है कि धर्मकार्य में क्षण मात्र का भी विलम्ब नहीं करें। विचार आया कि अमुक धर्मानुष्ठान करना है, धर्मसभा में जाना है, धर्मचर्चा करनी है तो फिर देर क्यों? देर करने से हो सकता है विचारों में पुनः परिवर्तन आ जाये। कोई प्रसंग ऐसा आ जाये कि फिर आप उस धर्मकार्य को चाह कर भी न कर सकें। कोई मित्र ऐसा मिल जाये कि जो आपको कहीं और ले जाये और आप उलझ जाँएँ।

□ वेश्या का अनुनय-विनय !

नन्दीषेण ने प्रमाद नहीं किया, विलम्ब नहीं किया। तुरन्त मुनि-वेश धारण कर लिया। रजोहरण हाथ में लिया और रंगमहल से बाहर निकल नीचे आँगन की ओर जाने लगे। नगर-वधू जो अभी इसे हँसी, ठिठोली, अभिनय ही समझ रही थी, अब समझी कि तीर तो ऐसी जगह लगा है कि घाव गम्भीर बन गया है। वह त्वरित गति से नीचे आते हुए बोल उठी—“क्या कर रहे हैं आप? कहाँ जा रहे हैं मुझे छोड़कर? मैंने तो हँसी की थी और आपने उसे इतनी गम्भीरता से ग्रहण कर लिया। इस तरह आप यदि मुझे छोड़कर चल दिए तो मेरा क्या हाल होगा? आपके बिना कैसे रह सकूँगी मैं? यह विशाल भवन आपके न रहने पर श्मशान-तुल्य बन जाएगा। यह दासी आपके बिना जिन्दा-लाश बन जाएगी। रुक जाइए प्रियवर! मुझ पर दया कीजिए।”

□ बुद्धिमान धर्मकार्य में प्रमाद नहीं करते !

बंधुओं! कहीं छूटा हुआ तीर भी लक्ष्य-मध्य में वापस लिया जा सकता है क्या? कहीं गया हुआ समय भी वापस लाया जा सकता है क्या? अंग्रेजी में एक कहावत है—“Time and tide never comes again.” बीता हुआ समय और गया हुआ ज्वार (समुद्री ज्वार-भाटा) कभी वापस नहीं आता।

बहुत अनुनय-विनय की उस नगर-वधू ने, नन्दीषेण जी को हाथ जोड़े, पाँव पड़ी। उन्हें रोकने के लिए जितने प्रयत्न कर सकती थी, किए पर “उट्टिए णो पमायए”—आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध, ५वाँ अध्ययन, द्वितीय उद्देशक में स्पष्ट आज्ञा है प्रभु की, कि उठकर

खड़े यदि हो गये हो कर्तव्य-पथ पर, साधना-पथ पर चलने के लिए तो फिर रुको मत, अनुनय-विनय पर ध्यान मत दो, प्रमाद मत करो। इसी सूत्र में कहा है प्रभु ने कि वह साधक बुद्धिमान है जो साधना के लिए जागृत बनने के पश्चात् प्रमाद न करे—“अलं कुसलस्स पमाएणं।”

बंधुओं ! अति दुर्लभ है यथार्थ का साक्षात्कार, सत्य का प्रत्यक्षीकरण। कोई-कोई ही विरला साधक अपने अन्तर् के समस्त अन्तर्द्वन्द्वों को अभिभूत बनाकर इतना आगे निकल जाता है कि उसकी आत्मा अनंत सूर्यो जैसे प्रकाश से भर जाती है। यह कार्य कर सकता है कोई जितेन्द्रिय पुरुष, कोई जागृत आत्मा, कोई सतत अप्रमत्त साधक ! आचारांगसूत्र में ही आता है प्रभु का यह कथन—“वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं।”

□ आलोचना-प्रायश्चित्त से आत्म-शुद्धि !

नहीं रुके नन्दीषेण वहाँ ! वेश्या के आँसुओं में, अनुनय-विनय में नहीं उलझे वे। निकल पड़े वहाँ से, यह कहते हुए कि “देवी ! तूने आज मुझे सजग बनाया, सचेत किया, मेरे सुषुप्त अन्तर् को झकझोर दिया। आत्म-कल्याण के पथ पर जाने में रुकावट मत बनो। हो सके तो तुम भी सँभलो, सचेत बनो और निकलो इस दलदल से।”

नन्दीषेण मुनि पुनः प्रभु-चरणों में उपस्थित हुए। अपना मस्तक रखा उन पावन पाद-पद्मों में और बोले—“भगवन् ! क्षमा प्रदान करें।”

बंधुओं ! इसे एक शुभ संयोग ही समझना चाहिए कि काम-विकारों के कीचड़ में रहते हुए भी नन्दीषेण के अन्तर् में वैराग्य और संयम का कमल खिला हुआ रहा। नारी-संसर्ग में आसक्त बन पतन के गहन गर्त में गिरकर भी उन्होंने अपने अन्तर् के किसी कोने में पावन-आत्म-रमण का संस्कार प्रदीप्त रखा।

मुनि नन्दीषेण ने पूर्व पापों की अंतःकरण से आलोचना की, प्रभु से आत्म-शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त लिया और पुनः रत्नत्रयी की सम्यक् आराधना में जुट गये।

बहुत काल तक मुनिवर ने निरतिचार संयम का पालन किया, उग्र तपश्चरण से कर्मनिर्जरा कर आत्मारूपी शुद्ध स्वर्ण में आये कर्मरूपी रज-मैल को दूर करने की साधना की। अंतिम समय में संलेखना-संधारा कर आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर त्यागकर ऊर्ध्वगति के अधिकारी बने।

[अरणककुमार]

तगरा नाम की नगरी में दत्त नामक एक श्रेष्ठि रहते थे। नीतिपूर्वक जीवनचर्या व्यतीत करने वाले, संतोष में परम सुख मानने वाले एवं धर्म में दृढ़ आस्था रखने वाले उन सेठजी के घर में धन की कोई कमी नहीं थी, व्यापार भी उनका अच्छा चलता था और नगरी में पूरी प्रतिष्ठा भी थी। परिवार बहुत छोटा था, स्वयं व धर्मपत्नी और एक पुत्र।

सहधर्मिणी भी सेठ की ही भाँति विवेकवान, पतिव्रता एवं सहृदया स्वभाव वाली थीं। नाम था—भद्रा—“यथा नाम, तथा गुण!” पुत्र था उनका अरणक। दोनों की आँखों का तारा, प्यारा-दुलारा, जीवन-सहारा। सुखी-संतुष्ट जीवन में एक दिन अचानक ही परिवर्तन आया। परिवर्तन ह्यसमान नहीं, विकासमान दिशा देने वाला, आत्मा को कल्याण के पथ की ओर ले जाने वाला, बाह्य पदार्थों में रमण को मिटाकर आत्म-रमण की जागृति लाने वाला।

□ मृत्यु ही जीवन का एक मात्र सत्य !

परिवर्तन का निमित्त बनी पड़ोस में घटी एक कारुणिक घटना। पड़ोस में रहने वाले पड़ोसी के चंचल, सुन्दर, सलौने पुत्र की अचानक मृत्यु हो गई। रोना-चीखना, हाय-त्राय, आर्तनाद। संसार की यही रीति है—इष्ट का संयोग आनंद देता है, हर्ष लाता है, हँसी और मुस्कराहट से जीवन की झोली भर देता है, पर जब किसी इष्ट का वियोग होता है तो दुःख से हृदय भर जाता है, अश्रु-धारा रोके से नहीं रुकती, छाती फटने-सी लगती है।

समदृष्टि जीव, बोध को प्राप्त जीव, अध्यात्म-रश्मि की सीमा में आये हुए जीव ऐसे समय में स्वयं को दुःख का अनुभव नहीं होने देते। वे अन्यान्य को भी सान्त्वना देकर उन्हें शांत बनाते हैं। कुछ अत्यन्त विरले व्यक्ति होते हैं जो इस तरह की घटनाओं से कुछ सीखते हैं और अपने जीवन-व्यवहार में परिवर्तन ले आते हैं। उनका वह परिवर्तन उनको अध्यात्म-जगत् से जोड़ देता है, बाह्य समस्त जागतिक पदार्थों से उनकी आसक्ति विरक्ति में बदल जाती है।

□ चेत रे गुमानी !

सेठ दत्त ने भी चिन्तन किया—‘जो आज पड़ोस में घटित हुआ, कल मेरे यहाँ भी हो सकता है। एक दिन मृत्यु तो सभी सांसारिकों की अवश्यंभावी है, पर कब, किस दिन? —इसका समाधान तो केवल सर्वज्ञ ही दे सकते हैं। आने को आज अभी आ जाये। मैं, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र—कोई भी कभी भी काल का ग्रास बन सकते हैं। जीवन क्षणिक है, पानी का बुलबुला है। जो समय रहते चेत जाते हैं, उनका जीवन ही सफल बन सकता है, अतः मुझे चाहिए कि मैं अभी ही सचेत हो जाऊँ।’

बंधुओं! कितना यथार्थ चिन्तन था दत्त का। प्रभु भी तो यही कहते हैं।

एक कवि के शब्दों में—

मिट्टी में मिलेगी मिट्टी, पानी में पानी, चेत रे गुमानी।
 पानी का बबूला जैसी, तेरी जिन्दगानी॥
 महल खजाने कोठी, काम नहीं आएँगे।
 अंत समय में कोई, साथ नहीं जाएँगे॥
 माता-पिता-भाई-बंधु, नाना और नानी.....
 रही न निशानी यहाँ, शाह और वजीरों की।
 एक-एक श्वास तेरी, लाख-लाख हीरों की॥
 ढाई गज कपड़ा डोली, हो जाए रवानी.....
 धर्मध्यान कर ले जग में, यही साथ जाएगा।
 मरने के बाद भी यही, काम तेरे आएगा॥
 मुनिजन सुनाते यही, छोटी-सी कहानी.....

□ समझदार बन जाते हैं सचेत !

मुनिजन सुनाते हैं, आप सुनते हैं गुरुदेवों के श्रीमुख से, पर सूखे कपड़े पर लगी धूल की तरह सुनी-सुनाई आत्म-कल्याणी शिक्षा को वहीं झटक देते हैं। दत्त को तो मुनिजनों का संयोग शायद हुआ, शायद नहीं हुआ पर “खर (गधा) कूट्यां केंकाण (घोड़े) डरे” या फिर मेरी इन माताओं, बहनों के शब्दों में—“सास केवे तो आपरी बेटी ने पर सांभले बहू, सचेत बने बहू।” घटना पड़ोस में घटी थी, पर चेत गया दत्त श्रेष्ठि।

□ सेठ दत्त (अरणक के पिता) की दीक्षाभिलाषा !

दत्त श्रेष्ठि ने अपनी सहधर्मिणी भद्रा से कहा—“भाग्यवती! काल सभी के सिर पर लटक रहा है। कब किस पर बिजली बनकर टूट पड़े, कोई भरोसा नहीं? हमारी भी यही स्थिति है। नहीं चाहते हम कि मौत अभी आ जाये पर जानते भी तो नहीं कि वह कब आयेगी? अतः मेरा मन संसार से विरक्त बन गया है। मैं सब कुछ छोड़कर अपने आपको समझने व ‘स्व’ में रमण करने की भावना से मुंडित होकर पाँच महाव्रत धारण करना चाहता हूँ, श्रमणधर्म अंगीकार करना चाहता हूँ। इसके लिए तुम्हारी सहमति चाहिए, अनुमति चाहिए। मुझे विश्वास है तुम मेरे आत्म-कल्याण के इस निर्णय को स्वीकृति प्रदान करोगी।”

□ दीक्षानुमति भी साहस का काम है !

अत्यंत कठिन कार्य है दीक्षा लेना और जो ले रहा है उसको लेने के लिए अनुमति देना उससे भी कठिन है। संसार के स्वार्थ भरे सम्बन्ध तो एक ही बात में विश्वास रखते हैं—“हम तो डूबेंगे सो डूबेंगे, छोड़ेंगे आपको भी नहीं, साथ में आपको भी लेकर डूबेंगे।” लेकिन बंधुओं! ऐसे पुरुषों या ऐसी नारियों से इतिहास नहीं बनता। इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णिमाक्षरों में नाम तो उनके ही अंकित होते हैं जो बदली हुई संसार-धारा के विपरीत चलने का साहस करें। दीक्षा लेना साहस का कार्य है, दीक्षानुमति देना भी उतने ही साहस का काम है।

दीक्षार्थी के मनोबल को शिथिल बनाने के लिए प्रयत्न करने वालों की कमी नहीं है। सारे प्रयत्नों से जब हार जाते हैं तो समय की ढील देना चाहते हैं। “सालभर बाद में लेना”, “कुछ महीने और पढ़ लो”, “इतनी जल्दी क्या है दीक्षा की, हमें भी तो कुछ सोच लेने दो”.....आदि अनेक सुभाषित छोड़े जाते हैं, पर नहीं जानते वे कि—

हजार वर्ष जो बीत गये और, हजार वर्ष जो बीतने वाले हैं।
इन सबसे बढ़कर वह समय है, जो इस समय आपके हाथ में है।

□ सेठानी भद्रा भी तैयार !

बंधुओं ! भद्रा सच्ची सहधर्मिणी थी। मना करना, टालमटोल करना, समय की ढील देना आदि बहाने वह करती भी तो क्यों? वह तो “जहाँ नेम वहीं राजुल”—के आदर्श की अनुगामिनी थी। उसने कहा—“मार्ग तो संयम का ही श्रेष्ठ है। आत्म-कल्याण के इस पथ पर मैं भी संग ही निकल जाना चाहती हूँ। बस चिन्ता है तो पुत्र—‘अरणक’ की।”

□ पुत्र अरणक पीछे क्यों रहता ?

पुत्र सुन रहा था। उम्र अभी खेलने-खाने की, मौज-शौक की, पर दस वर्ष की आयु के उस बालक में भी संस्कारों का उत्तम प्रवाह। उसने माता-पिता से कहा—“आप दोनों यदि संसार में रहने को बुरा मानते हैं, दलदल मानते हैं तो मुझे क्यों इस दलदल में रखना चाहते हैं। संयम का पथ यदि श्रेष्ठ है, शिव है, कल्याण करने वाला है तो मुझे भी अपने साथ संयम के पथ पर ले चलिए।”

बंधुओं ! दुष्कर होगा संयम का पथ। समझते होंगे माता-पिता इस पथ की कठिनाइयों को, पर अन्तर् में दृढ़ आस्था हो तो हर कठिनाई पर सहज-सरलता के साथ विजय पाई जा सकती है। ग्रन्थों को उठाकर देखिए—दीक्षित बनने की सर्वोत्तम आयु का वर्णन आया

है वहाँ। स्पष्ट लिखा है कि ८ वर्ष ३ माह से ग्यारह वर्ष तक की आयु दीक्षा के लिए सर्वोत्तम है।

□ पूरा परिवार चारित्र-धर्म के पथ पर !

पूरे परिवार ने, परिवार के तीनों सदस्यों ने, पिता-माता-पुत्र तीनों ने दीक्षा लेकर संयम-धर्म, चारित्र-धर्म, श्रमण-श्रमणी-धर्म-पालन का निश्चय कर लिया।

कालान्तर में आचार्य अर्हन्मित्र का जब उस तगरा नामक नगरी में पदार्पण हुआ तो अपने पूर्व निर्णय के अनुरूप वे तीनों आचार्य भगवन् के दर्शनार्थ गये। विधियुक्त वन्दनादि कर उनका धर्मोपदेश श्रवण किया। तीनों ने करबद्ध होकर आचार्य भगवन् से प्रार्थना की— “प्रभो! हम तीनों सर्वज्ञ-कथित जिनधर्म में दीक्षित बनने को उत्सुक हैं। कृपया हमें दीक्षा देकर, द्रव्य-मुंडित बनाकर भाव-मुंडन के पथ पर अग्रसर करने का अवसर प्रदान करें।”

दीक्षा का निवेदन उचित जानकर आचार्यश्री ने तीनों को विधिपूर्वक चतुर्विध संघ की उपस्थिति में समारोह के साथ दीक्षा-मंत्र प्रदान किया। साध्वी भद्रा को सतीवृंद के संघाड़े में भेजा। पिता-पुत्र, अर्थात् मुनि बने दत्त मुनि व अरणक मुनि वहीं, आचार्य भगवन् के पास रहे। दीक्षा के बाद शिक्षा व भिक्षा का क्रम प्रारम्भ हुआ। स्थविर व ज्ञानी मुनियों से दोनों मुनि आगमज्ञान सीखने लगे। इस आगम शिक्षा में बाल-मुनि एकदम आगे ही रहते, पर भिक्षा के क्रम में पिता के स्नेह-बंधन ने पुत्र को कच्चा बना दिया।

□ मुनि बने पिता की अपने पुत्र मुनि पर ममता !

बात यह हुई कि माता-पिता का सांसारिक सम्बन्धों में जो सहज स्नेह अपने पुत्र के प्रति होता है, मुनिधर्म में दीक्षित बनने के बाद उस रागरूपी स्नेह-भाव की पिता में विद्यमानता रह गई। मोह-भाव मिटा नहीं। प्रेम-भाव पुत्र के प्रति छूट नहीं पाया। ममता के इस भाव के कारण पिता दत्त मुनि अरणक मुनि के लिए स्वयं ही भिक्षा ले आते, क्योंकि वे सोचते थे कि “मेरा पुत्र भिक्षाचरी को जाएगा तो उसे कष्ट होगा।”

□ ममता गिराती है पतन के गर्त में !

बंधुओं! यह राग-भाव, यह मोह-भाव, यह प्रेम-भाव बाल-मुनि अरणक के लिए आगे जाकर अहितकर सिद्ध हुआ। होता भी यही है कि आप तो करते हैं बच्चे से स्नेह, प्यार, दुलार पर आपके प्यार-दुलार के कारण कई बार बच्चा बिगड़ जाता है। अनेक लोग यह

कहते सुने गये हैं कि अमुक के एक ही लड़का था। माता-पिता ने हृद से ज्यादा लाड़-प्यार दिया, बच्चे की हर जिद पूरी की, अतः बच्चे की आदतें बिगड़ गईं। सोहबत बुरे लोगों की हो गई, वह जिद्दी-हठी बन गया।

□ पिता-मुनि दत्त का स्वर्ग-गमन !

बात चल रही थी अरणक मुनि की। पितृ-स्नेह की वह छत्रछाया जब तक रही, अरणक मुनि पिता द्वारा लाई गोचरी का आहार लेते रहे। एक दिन पिता दत्त मुनि असातावेदनीय कर्म के उदय से रुग्ण हो गये। उनका उचित उपचार होने लगा। इस बीच अन्य मुनि अरणक के लिए गोचरी ले आते थे। दत्त मुनि को उपचार लगा नहीं, आयुष्य कर्म निःशेष हो रहा था, अतः कुछ दिन रुग्ण रहकर, वेदना भोगकर, आयुष्य पूर्ण करके वे एक दिन स्वर्ग-गमन कर गये।

□ आसान नहीं है गोचरी !

मुनि दत्त के देहावसान हो जाने के पश्चात् कुछ दिन तो अन्य मुनिजन अरणक मुनि के लिए भिक्षा लाये पर एक दिन उन्होंने भी कह दिया—“आप अपनी भिक्षा स्वयं लाया करिए, यही उचित रहेगा।” बात सही थी। भिक्षु को अपनी गोचरी स्वयं ही लानी चाहिए, इससे भिक्षाचर्या सम्बन्धी दोषों से बचने की अधिक संभावना रहती है। मुनिधर्म में भिक्षाचरी के लिए आहार लाते समय बयालीस दोष से बचकर आहार ग्रहण करने का विधान है और आहार करते समय मण्डल के पाँच दोषों से अपने बचाव का ध्यान रखना पड़ता है।

□ अरणक मुनिवर चाल्या गोचरी !

अरणक मुनि ने अन्य मुनियों की बात सुनी और वे एक दिन झोली, झोली में पातरे लेकर दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षार्थ उपाश्रय से निकल पड़े। वैशाख-ज्येष्ठ का मास था। ग्रीष्म ऋतु अपने यौवन पर थी। चारों ओर आग बरस रही थी। प्रथम बार गोचरी के लिए निकले मुनिवर का मुंडित शीश सूर्य के प्रखर ताप से तप्त बना जा रहा था और पाँव अंगारों की तरह जलती हुई धरती के कारण भीषण दाह से दहक उठे थे। आचार्य समयसुन्दर जी ने लिखा है—

अरणक मुनिवर चाल्या गोचरी, तड़के दाझे शीशो जी।

पाय उबराणा रे बेलु पर जले, तन सुकुमाल मुनीशो जी॥

(तड़के = धूप, दाझे = जल रहा, शीश = सिर, उबराणा = नंगे पैर)

भयंकर गर्मी, जेठ की दुपहरी, तन झुलसा देने वाली लू की लपटें—इन सबसे घबराकर मानव और पशु-पक्षी तो घरों और नीड़ों में दुबके सो तो दुबके, पर छाया भी घबरा गई, वह भी मानो विश्राम लेने चली गई। कवि बिहारी ने तो कह ही दिया—“छाँहो चाहती छाँह” अर्थात् छाँह भी छाँह चाहती है। भूख-प्यास के परीषह के साथ पहली बार ग्रीष्म का ऐसा भीषण परीषह। अरणक मुनि उस परीषह को सह रहे थे, पर फिर भी व्यथित बन चुके थे। थकान अनुभव होने लगी उन्हें। गर्मी की बेचैनी से बचने के लिए किसी छायादार स्थल की तलाश में नजरें इधर-उधर घुमाईं। एक विशाल घर दिखाई दिया। घर के एक ओर छाया दृष्टिगोचर हुई। चल दिए उधर और उस छाया में खड़े हो गये।

□ मोह्यो मानिनी मीठो जी !

उस घर की मालकिन एक तरुणी सुन्दर महिला थी। नगर-वधू थी वह, अतः तन जितना सुन्दर था, मन वैसा सुन्दर नहीं था। नगर के नजारों को देखने के लिए वह भवन के एक कक्ष में गवाक्ष (खिड़की) के पास खड़ी थी। उस तरुणी की नजर छाया में खड़े मुनि पर पड़ी। दासी को भेजकर कहलाया—“मुनिवर! अन्दर चलिए। अन्दर गर्मी कम है। हवा भी है और शीतलता भी। मालकिन की भावना है कि आप अन्दर पधारकर आहार भी ग्रहण करें।”

“अंधा क्या चाहे? दो आँखें।” मुनि अरणक थके थे, तपे हुए थे, भूखे-प्यासे भी थे। दासी के निवेदन पर चले गये अन्दर।

मालकिन उस तरुणी नगर-वधू ने पूछा—“आप कौन हैं? ऐसी भीषण गर्मी में यहाँ बाहर क्यों खड़े हैं?”

अरणक बोले—“मैं भिक्षु हूँ और भिक्षा के लिए निकला हूँ।”

मुख कुमलानो रे मालती फूल ज्युँ, ऊभा गोखा हेठो जी।
भरी दुपहरी रे दीठो एकलो, मोह्यो मानिनी मीठो जी॥
वयण रंगीली रे नयण वेधियो, ऋषि थम्यो तिण ठाणो जी।
दासी ने कहे जाय उतावली, ओ मुनि तेड़ी आणो जी॥
पावन कीजे ऋषि घर-आंगणो, बहरो मोदक सारो जी।
नवयौवन में रे काया काँई दहो, सफल करो अवतारो जी॥

□ त्रिया-चरित्र जाने नहीं कोई !

बंधुओं! स्त्री-चरित्र की यही विशेषता है। भावना में उस तरुणी के मुनि जी का सुदृढ़, सुगठित, ब्रह्मचर्य के ओज से दीप्त वह तन घूम रहा है, पर बाहर से कैसा विनय, कैसी अभ्यर्थना, कैसा सुशील व्यवहार! इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

पुरुषस्य भाग्यं, स्त्रीषु चरित्रं।
देवो न जानाति, कुतो मनुष्याः ? ॥

पुरुष के भाग्य और स्त्री के चरित्र का अनुमान देवता भी नहीं लगा सकते तो फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है? अर्थात् वह कितना भी प्रयत्न करे, स्त्री के चरित्र का भेद नहीं पा सकता। उस नगर-वधू ने मुनि जी को मोदक (लड्डू) बहराए और बहराते हुए ही कहा—“आपकी अवस्था भिक्षु बनने की तो नहीं है। यह अवस्था तो भोग भोगने की है, संसार के सुखों में लीन बनने की है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बनने की है। क्या आपका मन नहीं करता इस आयु में मखमली सुकोमल शय्या पर सोने का, कानों में मधुर सुधा-रस घोलते संगीत वाद्यादि को श्रवण करने का, किसी नवयुवती के मादक हास-विलासपूर्ण भाव-भंगिमायुक्त नृत्यादि देखने का? आपका मन अभिलषित हो तो आप इस दासी के इस विशाल भवन में रहकर इस आनन्द का भोग करें। मैं तो समझती हूँ कि ऐसी उठती हुई जवानी में इस सुन्दर काया को इस तरह तपाना, कष्ट देना, दुःखों की अग्नि में झुलसाना कदापि उचित नहीं है।”

□ चन्द्रवदनी सूं चारित्र चूकियो !

बंधुओं! भोगी को भोग और योगी को योग अच्छा लगता है, पर अपवाद भी हैं। भोगी यदि निमित्त पाये, रुचि जागृत हो तो भोग छोड़ सकता है। योगी बनकर वह आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो जाता है, पर यदि ‘योगी चाहे योग’ के अपवादस्वरूप कोई योगी निमित्त पाकर योग छोड़ दे, भोगी बन जाये तो वह अपनी आत्मा को पतन की राह पर ले जाकर नये कर्मबंध के भार को बढ़ाता हुआ, अपने जन्म-मरणरूपी संसार की वृद्धि कर लेता है।

अरणक मुनि भी उस चन्द्रमुखी, सुनयना, कोमलाङ्गी नगर-वधू के ‘तिरिया-चरित्र’ में उलझकर भोगों के रास्ते पर चल पड़ने को तैयार बन गये। योगी ने मुनि-वेश को उतारकर भोगी का गृहस्थ वेश धारण कर लिया। मन विचलन के साथ ही इन्द्रियों पर से नियन्त्रण हट गया और मुनिवर तो—

चंदा वदनी सूँ चारित्र चूकियो, सुख विलसे दिन रातो जी ।

सोचा मुनि ने कि यह तरुणी बिलकुल यथार्थ कह रही है। कहाँ वह कष्टकारी संयम जीवन—सर्दी में भीषण शीत, गर्मी में भंयकर गर्मी, भूख और प्यास, नंगे पाँव ग्राम-नगर में विचरण—यह भी कोई जिन्दगी है? यहाँ कितनी शीतलता, कितना सुख, कैसा मधुर भोजन, कितना सुवासित जल! फिसल गये अरणक वहाँ। चारित्र-धर्म को त्याग बैठे वे। माया और मोहिनी के आकर्षण ने बाँध लिया उन्हें। भोगने लगे भोग। बहने लगे काम-वासना की धारा में। भटक गये सन्मार्ग से और रहने लगे वहीं, उस तरुणी के स्नेह-पाश में।

□ माता साध्वी की ममता !

उपाश्रय नहीं पहुँचे अरणक मुनि तो अन्य साधुओं ने खोज की उनकी, पर कुछ भी पता नहीं चला। कुछ दिन और खोज चलती रही। नहीं मिले अरणक तो माता साध्वी भद्रा को यह समाचार भेज दिया गया।

माता तो माता ही होती है। साध्वी धर्म धारण कर लिया, पर अन्तर् में अभी मातृ-हृदय का स्पंदन अवशेष था, मातृ-वात्सल्य के रस की कुछ बूँदें अब भी हृदय के किसी कोर (किनारे) में सँजोयी हुई थीं, मातृ-स्नेहरूपी बंधन के कुछ रेशे (तन्तु) अभी भी भावनाओं के भँवर में चक्रायत थे। सुना यह सन्देश तो व्यथा हुई। नहीं मिल रहा, पर चला कहाँ गया? क्यों गायब हो गया? कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ? किसी ने अपहरण तो नहीं किया? क्यों करेगा कोई उसका अपहरण? अनेक विचार, अनेक बातें उमड़ने-घुमड़ने लगीं। वे पगला गईं। विक्षिप्त बन गई पुत्र के विषय में सोच-सोचकर।

□ कहो कोई दीठो म्हारो बालुड़ो !

एक दिन विक्षिप्त चित्त लेकर वे निकल पड़ीं पुत्र को ढूँढ़ने के लिए। नगर की डगर-डगर पर दिग्भ्रमित बनी हुई—सी घूमने लगीं वे। गली-गली में जातीं और नजरों से चारों ओर ढूँढ़तीं अपने अरणक को। नहीं मिला अरणक तो वे आते-जाते पथिकों, राहगीरों और यहाँ तक कि हर पुरुष-नारी को पूछने लगीं—“कहाँ है मेरा बेटा? क्या तुमने कहीं उसे देखा है? उसका नाम अरणक है। वह जवान है, सुन्दर है। किसी ने उसे देखा हो तो मुझे उसका पता बताओ। मुझको उससे मिलवाओ।”

अरणक ! अरणक !! करती माता फिरे ।
गलियां, गलियां मझारो जी ॥

कहो कोई दीठो रे म्हारो बालुड़ो ।
 पूछे लोक हजारो जी ॥
 एक दिन गोखे रमतां चौपड़-पासा ।
 तब दीठा निज मातो जी ॥
 तिहां थी उतरी ने जननी पाय नम्यो ।
 मन में लाज्यो तिवारो जी ॥
 धिग-धिग माता म्हारा रे जीव ने ।
 एह मैं अकारज धार्यो जी ॥

□ अरणक लाज्यो तिवारो जी !

एक दिन उस तरुणी के भवन में किसी कक्ष में गवाक्ष में अरणक बैठे हुए उस तरुणी नगर-वधू के साथ चौपड़ खेल रहे थे। नगर के राजपथ, भवन, बाजार, वीथियाँ आदि देख रहे थे। ऐसे में नजर घुमाते हुए, नजारे देखते हुए अचानक उनके नयन थम गये। वह एक चौराहा था, जहाँ उनकी नजर ठहरी हुई थी। उन्होंने उस चौराहे पर अपनी साध्वी माता को देखा। वे 'अरणक! अरणक!' शब्दों का बार-बार उच्चारण कर रही थीं। पचासों लोग उसके पीछे चल रहे थे, क्योंकि उनके लिए उस साध्वी का चिल्लाना, उसका घूमना-फिरना, उसका पुत्र के बारे में पूछना आदि सब एक कौतुक ही था।

साध्वी माता को इस अवस्था में देखकर पुत्र अरणक का मन अत्यंत खेदित हुआ। उसे लगा कि उसी ने अपनी माता की यह दशा की है। वह पूर्ण अपराधी है। स्वयं तो पतित हुआ ही, साध्वी माता को भी इस दशा में पहुँचाने का कारण-भूत बना। दुःख, ग्लानि और पश्चात्ताप के भावों से लज्जित उसका हृदय दग्ध होने लगा।

□ धिग धिग माता म्हारा रे जीव ने !

वह तुरन्त गवाक्ष से कमरे के भीतर होते हुए नीचे आँगन में आया और घर के बाहर निकल गया। चौराहा निकट ही था। वह गया वहाँ और माता के चरणों में गिरकर रोने लगा। बहुत देर बाद उठा और बोला—“मातेश्वरी! धिक्कार, धिक्कार तुम्हारे इस लाल को! इस लाल के संयम-च्युत होने से क्या दशा हुई है तुम्हारी? मुझे क्षमा करो मातृश्री, इस अपराधी की भूलों को बस एक बार भुला दो। बड़ा अकार्य किया है मैंने, पर तुम मुझे माफ कर दो। मैं संकल्प लेता हूँ कि भविष्य में कभी ऐसी भूल नहीं करूँगा।”

□ आलोचना-प्रायश्चित्त !

माता ने सुने अपने लाल के वचन, निहारा अपने लाल को, सुस्थित होने में उसे कुछ समय लगा। बोली वह साध्वी माता अपने पुत्र से—“लाल! सवेरे का भूला साँझ को भी घर आ जाये तो सुधर जाएगा। चल, आचार्य अर्हन्मित्र के पास चल! वे ही तुझे क्षमा करेंगे। अपनी भूल की आलोचना करके उनसे प्रायश्चित्त माँग।”

अरणक को उपाश्रय में आचार्यश्री को सौंप उन्हें वन्दन कर माता भद्रा साध्वी अपने स्थान पर जाने के लिए वहाँ से प्रस्थान कर जाती हैं।

भटके हुए उस संयम-पथिक ने अपने गुरु के सम्मुख अपने अपराध का पूरा विवरण देकर भूल की आलोचना की तथा आत्म-शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त माँगा। आचार्य ने कहा—“मुनि अरणक! धन्य है तुम्हारी माता का ममत्व, जिसने तुम्हें पुनः सत्पथ दिखा, भटके हुए को सन्मार्ग पर लाकर तुम्हारे आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त बनाया।”

आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को धारण कर अरणक मुनि ने बहुत वर्षों तक निरतिचार संयम का पालन किया, उग्र तप भी किया, गुरु एवं स्थविर मुनिजनों की वैयावृत्य भी की।

□ अगन तपन्ती शिला ऊपरे !

जिनशासन की महती सेवा करते हुए, अनेक ग्राम-नगरों में भवि जीवों को प्रतिबोध देते हुए वे पुनः एक दिन गुरु चरणों में आकर वन्दन-नमन करते हुए विनयपूर्वक कहने लगे—“प्रभु! मेरे अन्तर्मन में एक अभिलाषा ने अभी-अभी अँगड़ाई ली है। मैं चाहता हूँ कि जिस प्रखर धूप के परीषह को सहन न कर पाने के कारण मैं संयम-भ्रष्ट बना, प्रव्रज्या-पतित हुआ, श्रमणाचार से स्खलित हुआ अब वही धूप मेरे आत्मोत्थान की हेतु बने।”

गुरु भगवन् की आज्ञा पाकर अरणक मुनिवर ने संधारापूर्वक समाधिमरण के लिए एक ऐसा प्रस्तर-खंड, ऐसी चट्टान, ऐसी विशाल शिला को चुना जो अग्नि से भी अधिक प्रदीप्त थी, उष्ण थी, सुतप्त थी। उस शिला पर मुनिवर ने संधारा लिया और अचल बन अपने आपको शुभ ध्यान में सुस्थित कर लिया। कुसुमों से कोमल थे जो, आज वे वज्र से भी अधिक कठोर बन गये—

अगन तपन्ती रे शिला ऊपरे, अरणक अनशन कीधो रे।

‘समयसुन्दर’ कहे धन्य ते मुनिवर, मनवाँछित फल लीधो रे॥

□ सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेंगे !

बंधुओं ! अरणक मुनि आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर त्यागकर देवलोक के अधिकारी बने। वहाँ से च्यवकर उनकी आत्मा महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-शरीर धारण कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेगी।

[अतिमुक्तकुमार]

अतिमुक्त मुनि का प्रसंग भी संयम-पर्याय में रहते हुए दोष लगाकर पुनः आत्म-शुद्धि का ही है, पर विशेष भिन्नता यह है कि वे किसी नारी के सम्मोहन में नहीं उलझे अपितु नारी के, अपनी ही भावज (भाभी) के सांसारिक सुखों के लिए आमंत्रण पर आवेश भाव में सत्य पर कटु वचन कह देते हैं। बाद में मुनि अपने दोषों की आलोचना-प्रायश्चित्तपूर्वक आत्म-शुद्धि कर मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं। इनके विषय में पूर्व प्रवचनों में 'कृष्ण-वासुदेव' के प्रवचन में कथन किया जा चुका है।

□ कंस के सहोदर थे अतिमुक्त (कंस-जन्म) !

ये अतिमुक्तकुमार "एयवंता मुनिवर, नाव तिराई बहता नीर में"—वाले अतिमुक्त नहीं हैं। ये अतिमुक्तकुमार मथुरा-नरेश उग्रसेन के पुत्र थे और कंस के सहोदर थे। कंस जब गर्भ में आया तभी महारानी धारिणी ने समझ लिया कि मेरे गर्भ में जो भी जीव आया है, वह अत्यंत क्रूर होगा। "पूत रा पग पालना में दीसे" कहावत जगत् प्रसिद्ध है, पर यहाँ तो पूत रा पग गर्भ में ही दिखने लगे। कंस जब गर्भ में था तो धारिणी रानी को अपने पति महाराज उग्रसेन के हृदय का माँस खाने को दोहद उत्पन्न हुआ। बुद्धिमान् मंत्री ने अपनी चालाकी से नाटकीय प्रसंग की रचना कर उस दोहद की पूर्ति तो कर डाली, पर महारानी धारिणी का मन उस पुत्र के प्रति ग्लानि से भर गया। जो पुत्र गर्भ में पिता के प्रति ऐसी दुर्भावना रखे वह बड़ा होकर जाने कैसी भावना रखेगा ? पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् किसी भावी अनिष्ट की कल्पना कर उसने अपने पुत्र को दासी के सुपुर्द कर दिया और आदेश दिया—"इसे यमुना में बहा दो।"

दासी ने उसे एक कांस्य-मंजूषा में रखा, परिचय के लिए राजा उग्रसेन की राजकीय मुद्रिका रखी और तब यमुना की धारा में उसे बहने के लिए छोड़ दिया। यमुना में बहती हुई पेटि यमुना के किनारे बसे 'शौरिपुर' नगर के यमुना-तट पर पहुँची। यहाँ नदी किनारे स्नानादि के लिए आए सुभद्र सेठ को वह मंजूषा दिखाई दी। साहस कर उसने उसे निकाला और खोला। अन्दर एक तेजस्वी बालक और स्वर्ण-मुद्रिका देख प्रसन्न हुआ। पुत्रहीन था, अतः उसका प्रसन्न होना स्वाभाविक था। नहीं लिखा था सेठानी के गर्भ से पुत्र-जन्म तो क्या ? किसी भी तरह पुत्र-पालन की अभिलाषा तो पूर्ण होगी। घर ले आया मंजूषा। पत्नी

को बताया। सेठानी भी बालक को पाकर प्रसन्न हुई और बड़े चाव से, प्यार-दुलार से उसका पालन-पोषण करने लगी। कांस्य-मंजूषा में मिला, अतः नाम दिया—‘कंस’ !

□ वसुदेव के साथ कंस !

कंस कुछ बड़ा हुआ। मौहल्ले के बच्चों के साथ खेलने लगा। स्वभाव से क्रूर होने के कारण बच्चों को पीड़ा पहुँचाने लगा, संताप पहुँचाने लगा, कष्ट देने लगा। किसी बच्चे का हाथ मोड़ देता, किसी के चिकौटी काट लेता, किसी को बिना बात गिराकर उस पर बैठ जाता। बच्चे सब घर जाकर अपने माता-पिता से उसकी शिकायत करते। बच्चों के माता-पिता कंस की शिकायत लेकर सुभद्र सेठ के यहाँ पहुँचते। जहाँ-तहाँ से जब अधिक उपालंभ आने लगे तो सेठ चिन्तित हुआ, घबराया, मुश्किल में पड़ गया कि क्या करे? “सूती बैठी डोकरी, घर में घाल्यो घोड़ो”—वही बात हुई ये तो। याद आई मुद्रिका की। देखा निकालकर उस मुद्रिका को। मथुरा के राजचिह्न को अंकित देख सेठ समझ गया कि यह तो सिंह है, इस घर में और इस मौहल्ले में इसका रहना कैसे संभव हो सकेगा?

पत्नी से विचार-विमर्श कर सेठ सुभद्र ने उस नन्हें बालक को शौरिपुर के महाराज समुद्रविजय जी को सौंप दिया। मुद्रिका बतलाकर उसका वास्तविक परिचय भी दे दिया। महाराज समुद्रविजय जी ने भी बालक को तेजस्वी समझकर उसे अपने सबसे लघु भ्राता वसुदेव को सौंप दिया। वसुदेव ने अनेक विद्याएँ, शर-संधान, तलवारबाजी, मल्लयुद्ध आदि सिखाकर उसे बहादुर व लड़ाका बना दिया। खाने-पीने के लिए कंस को वहाँ मन-इच्छित वस्तुएँ मिल जाती थीं, पर वह अपनी स्वभावगत उद्वंडता को वहाँ प्रकट नहीं कर सकता था। कभी वह उद्वंडता कर बैठता, कोई धृष्टता हो जाती उससे तो वसुदेव उसे ऐसी सजा देते कि कंस फिर कभी उद्वंडता न कर सके। यहाँ सेठों या अन्य गली-मौहल्लों के लड़के तो पहले की तरह उसके साथ खेल नहीं पाते थे, जिन पर वह अपनी पटेलाई चला सके। वसुदेव तो स्वयं सिंह थे, सिंह-पुत्र थे। उनके आगे कंस विवश था। वह चुपचाप वसुदेव की डाँट-डपट या मार-पीट, डंडे आदि सहन कर लेता था। कंस के सेवा में आने से पूर्व ही वसुदेव ने अपने शौर्य का डंका दिग्दिगंत में बजा दिया था। उनका पूर्व विवरण भी इस प्रसंग का एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

□ वसुदेव का मनहर रूप और व्यथित शौरिपुर प्रजा !

बंधुओं! वसुदेव अत्यंत सुदर्शन, मनोहर, कमनीय, कोमल, कान्त और इष्ट था। शौरिपुर के वनों, उद्यानों, बाग-बगीचों में भ्रमणार्थ जाता या राजमार्गों, चौराहों, वीथियों, बाजारों से

निकलता तो पूर्वकृत निदान के कारण उनके अतिशय रूप पर मुग्ध बन शौरिपुर की कुमारिकाएँ तथा वधुएँ परिवार की, बड़ों की लज्जा का त्याग कर उनके पीछे-पीछे दीवानी नारियों की तरह चली जाती थीं। एक बार जिन्होंने उस सुन्दरता को देख लिया फिर वह सोते-जागते विक्षिप्त की भाँति बस उसी के चिन्तन में डूबी रहती थीं, अतः फिर वे घर का काम-काज भी नहीं कर पाती थीं और करती भी तो इतनी अनमनी होकर कि कोई काम ढंग से हो ही नहीं पाता था। प्रजाजन यह सब देख-देखकर चिन्तित हुए जा रहे थे, पर समझ नहीं पा रहे थे कि वे क्या करें? किससे कहें अपनी समस्या? कैसे रोकें राजकुमार को इस तरह घूमने-फिरने से?

□ वसुदेव का पूर्वभव (नन्दीषेण मुनि) !

वसुदेव को ऐसा मनोहारी, स्त्रीवल्लभ, चुम्बकीय रूप किन पूर्वकृत पुण्यपुञ्ज के उदय से प्राप्त हुआ? आप सभी के मन में यह जानने की जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न हुई होगी। बंधुओं! अपने पूर्वभव में वसुदेव अत्यंत कुरूप व बेडौल था। उसका नाम तब नन्दीषेण था। अपनी कुरूपता एवं मामा के छल से दुःखित बन उसने आत्महत्या का प्रयत्न किया, पर किसी जैन संत ने उन्हें ऐसा करने से रोका और आत्म-कल्याण का उपदेश देकर दीक्षामंत्र प्रदान किया। नन्दीषेण मुंडित बन श्रमण-धर्म का पालन करते हुए निरतिचार संयम का पालन करने लगे। उन्होंने अपने मुनि-जीवन में १२ प्रकार के तपों में से वैयावृत्य अर्थात् 'सेवा' रूप तप की उत्कृष्ट आराधना की। उनकी अग्लान साधु-सेवा की इन्द्र ने भी प्रशंसा की, देवों ने परीक्षा ली। अविचल व अग्लान भाव से उत्कृष्ट सेवा देख देव प्रसन्न हुए। उन्होंने बारह हजार वर्षों तक घोर तप, उत्कृष्ट सेवा व निरतिचार संयम-पालन किया।

किसी समय में तपलीन नन्दीषेण को अपनी पहले की दुःखदायी स्थिति, अपना कुरूप शरीर, मामा की कन्याओं द्वारा तिरस्कार व घृणा याद आ गई। उसने तभी निदान किया कि "मेरे तप का यदि कुछ फल हो तो मैं अगले जन्म में अति रूपवान व स्त्रियों का अति प्रिय बनूँ।"

इसी निदान के फलस्वरूप पूर्व में उपार्जित शुभ कर्मों का फल था—वसुदेव के रूप में यादव कुमार बनना और अति मनहर रूप प्राप्त कर स्त्रियों के लिए आकर्षण का केन्द्र होना।

□ समुद्रविजय का प्रजाजनों को आश्वासन !

वसुदेव के रूप से अपनी प्रतिष्ठा को मिटते देख शौरिपुर के प्रजाजनों ने निर्णय लिया 'शौरिपुर त्यागकर किसी अन्यत्र नगर में जा बसने का।' पर उससे पूर्व वे एक बार महाराज

समुद्रविजय जी से अपना अन्तर्निवेदन कर देना चाहते थे। मिले विभिन्न जाति-समाज-वर्ग के प्रतिनिधिगण महाराज समुद्रविजय जी से और सारी बात, मन का सारा दुःख सुनाकर बोले—“स्वामी! परिवार की प्रतिष्ठा धूल में उड़ी जा रही है। बहू-बेटियाँ लाज-शर्म त्यागकर अमर्यादित आचरण कर रही हैं, पर कहेँ किससे? दोष राजकुमार वसुदेव को भी कैसे दिया जाये? प्रबल पुण्यपुञ्ज से उन्होंने सौन्दर्य, शरीर-सौष्ठव ही ऐसा पाया है। इस अवस्था में नगर छोड़कर अन्यत्र जाने के अतिरिक्त हमारे पास कोई अन्य उपाय भी तो नहीं है।”

□ वसुदेव नजरबन्द !

महाराज समुद्रविजय जी ने उस प्रतिनिधि-मंडल को विश्वास दिलाया कि वे आज ही कोई उपाय करेंगे, अतः शहर छोड़कर जाने का विचार त्याग दें।

महाराज ने वसुदेव को एकान्त में बुलाया और कहा—“तुम्हारी शारीरिक कान्ति पहले से कम क्यों हो रही है? दुर्बल भी दिखाई दे रहे हो, बात क्या है? क्या करते हो आजकल?”

वसुदेव ने जब कहा कि “मैं तो बस सारा दिन घूमता रहता हूँ। बाग-बगीचों की सैर करता रहता हूँ।” तो समुद्रविजय जी बोले—“यह अच्छा नहीं है। तुम राजमहलों में रहकर ही घूमो-फिरो, मौज-शौक करो। तुम्हें कुछ हो गया तो मेरा क्या होगा?”

बड़े भैया का कहना मानते हुए वसुदेव ने बागों में घूमना-फिरना बन्द कर दिया, पर एक दिन किसी दासी से उलझ गये तो दासी ने ताना मार दिया कि “सुन्दरता और यौवन में गर्वित होकर मनमानी करते रहते हो। ऐसे उदंड आचरण के कारण ही तो राजमहलों में कैदी की-सी स्थिति कर दी गई है, इसी कारण तो बाहर घूमना बन्द किया गया है।”

□ वसुदेव का शौरिपुर त्यागना !

चौंके वसुदेव। ऐसी बात तो उनकी कल्पना से भी परे थी। दासी को डराकर, लालच देकर, मीठे वचन बोलकर सारा प्रसंग जब सुना वसुदेव ने तो निर्णय लिया कि मुझे अब अपने भाई के इस राज्य को त्यागना ही उत्तम है। चुपचाप निकल गये वे शौरिपुर से। वर्षों तक एक राज्य से दूसरे राज्य और दूसरे से तीसरे राज्य.....इसी तरह आगे से आगे घूमते रहे। कथाकारों ने लिखा है कि उन्होंने बीस हजार कोस का भ्रमण इस भूतल पर कर लिया। कभी किसी राजा की युद्ध में सहायता करके, कभी किसी विद्याधर की विद्या-साधना के कारण और कभी किसी नैमित्तिक के निमित्त से वसुदेव ने कितनी ही राजकुमारियों के साथ पाणिग्रहण किया। इन सुन्दर कुमारिकाओं के साथ वसुदेव को विपुल सम्पदा भी प्राप्त हुई।

□ रोहिणी का स्वयंवर !

अदिष्टपुर राज्य के नरेश कोशलपति रुधिर ने एक बार अपनी अत्यंत सुरूपवती एवं सुलाक्षणिक कन्या रोहिणी के लिए स्वयंवर का आह्वान कर अनेक राजाओं को आमंत्रित किया। स्वयंवर में जरासंध, दमघोष, दंतवक्र, पाण्डु, समुद्रविजय, चन्द्राभ, कंस आदि अनेक नामी-गिरामी शूरवीर नृपति उपस्थित हुए। घूमते हुए वसुदेव तक सूचना पहुँची। वे वेश बदलकर एक गायक के रूप में वीणा धारण किए हुए पहुँच गये और एक आसन पर बैठ गये। राजकुमारी रोहिणी 'वरमाला' लिए प्रविष्ट हुई तो उसके अनुपम सौन्दर्य को देख सभी नृप चकित रह गये। राजकुमारी 'वरमाला' लिए एक-एक नृपति के आगे से निकलती रही। जिन राजाओं को पीछे छोड़कर राजकुमारी आगे बढ़ गई, उन नृपतियों के मुखकमल एकदम मुर्झा गये।

□ छद्मवेषी वसुदेव के गले में वरमाला !

इसी मध्य वसुदेव ने अपनी सिद्ध-वीणा के तारों को झंकृत कर मंद-मधुर नाद जो छोड़ा तो मन्त्रमुग्ध-सी बनी सम्मोहित रोहिणी की हृदय-तंत्री ही जैसे झंकृत हो गई। वीणा-नाद की दिशा में उस सुनयना, मृगाक्षी, रूपसुन्दरी ने चेहरा उठाकर देखा। वसुदेव के रूप में बैठे गायक की ओर तीव्र गति से उसके कदम बढ़ गये। कब रोहिणी वसुदेव के निकट पहुँची, कब उसकी वरमाला वसुदेव की गलहार बनी और कब वरमाला डालकर रोहिणी रनिवास में चली गई—कोई इसे समझ नहीं पाया। पलक झपकने जितने समय में यह सारा कार्य सम्पन्न हो गया।

□ स्वयंवर मंडप में उपस्थित नराधिपों से युद्ध !

एक गायक के गले में स्वयंवर की वरमाला, एक राजकन्या अज्ञात कुलशील वाले वीणावादक के पल्ले जाये, इस आकस्मिक घटना-चक्र से सभी उपस्थित बड़े-बड़े अवन्यपति अप्रसन्न थे। पहले इसका विरोध हुआ। जब वसुदेव ने युद्ध के लिए ललकारा उन्हें तो एक-एक कर ये शूरवीर नृपति उससे युद्ध करने लगे। युद्ध में चंद्राभ, दन्तवक्र, कालमुख जैसे पराक्रमी वीर नरेशों को पराजित हुआ देख जरासंध ने समुद्रविजय जी को संकेत किया।

□ समुद्रविजय और वसुदेव का मिलन !

संकेत पाकर समुद्रविजय वसुदेव से युद्ध करने उतरे। समुद्रविजय द्वारा चलाए गये समस्त शरों को वसुदेव ने अपने शर-संधान से काट डाला, पर अपनी तरफ से वसुदेव ने कोई भी शर-प्रहार समुद्रविजय पर नहीं किया। इधर समुद्रविजय अपने शर-प्रहारों को

विफल देख कुपित होने लगे तभी वसुदेव ने अपना नामांकित एक शर समुद्रविजय जी के चरणों में प्रेषित किया। तीर देख समुद्रविजय जी चकित रह गये, देखने लगे वे उस गायक कलाकार को, गौर से जब देखा तो अपना धनुष-बाण धरती पर गिराते हुए दौड़ पड़े उस ओर। मुँह से निकल गया उनके—“अरे वसुदेव! तुम यहाँ?”

□ रोहिणी से विवाह !

इसके पश्चात् तो वहाँ का सारा दृश्य ही बदल गया। युद्ध-स्थल की जगह वह स्थान स्नेह-स्थल बन गया। सभी वसुदेव से गले मिले। कंस ने उन्हें प्रणाम किया। इस तरह अपूर्व सुन्दरी रोहिणी का विवाह वसुदेव के साथ अत्यंत ठाट-बाट, धूमधाम, समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। समुद्रविजय जी ने कहा—“कुमार! बहुत रुलाया तुमने, बहुत घूमे-फिरे स्वतंत्र! अब अपनी पत्नियों को लेकर शीघ्र शौरिपुर पहुँच जाओ।”

□ शौरिपुर आगमन !

वसुदेव ने अपने सभी शस्त्र, सम्पदा व परिणीता रानियों को एकत्रित किया। सभी को लेकर पूर्ण मान के साथ उन्होंने शौरिपुर में प्रवेश किया। पूरे राज्य में कई दिन तक उत्सव जैसा वातावरण रहा। अनेक सरदार, मंत्री, उमराव, राज्याधिकारी, सेठ, साहूकार मिलने आये। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी ने वसुदेव को बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट में दीं।

□ जरासंध का सन्देश !

एक दिन मगधेश जरासंध का दूत शौरिपुर के महाराज समुद्रविजय के पास मगधेश का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ। जरासंध प्रतिवासुदेव था और तीन खंड राज्य का अधिपति था। मगध राज्य की राजधानी राजगृह में वह रहता था।

दूत ने सन्देश दिया। सन्देश में त्रिखंडाधिपति जरासंध ने सिंहपुरी के राजा सिंहरथ को बन्दी बनाकर लाने का आदेश दिया था। सिंहरथ राजा के एक सौ पुत्र थे और सभी एक से एक बढ़कर सुभट योद्धा, अतः उसको मद चढ़ गया था। सीमा पर वह उत्पात मचाने लगा। सीमावर्ती राज्यों से शिकायत आने पर जरासंध ने दूत भेजकर उसे चेतावनी दी। इस पर उसने कह दिया—“हमारे ऊपर आज्ञा भेजने का आपको अधिकार नहीं है। हम अपने राज्य के राजा हैं। हम किसी के गुलाम नहीं हैं।” जरासंध ने यह सुना तो प्रचंड क्रोध से सुलग उठा। सेना को तैयार होने की आज्ञा दी तब मंत्री ने जरासंध को समझाया कि स्वयं आपको सेना लेकर जाने की क्या आवश्यकता है? आपके अधीन इतने राज्य हैं। किसी भी राज्य पर आदेश लिख दीजिए। बस! आपका कार्य हो जाएगा। मंत्री की सलाह मानकर ही जरासंध

ने समुद्रविजय के पास दूत के साथ सन्देश भिजवाया। साथ में यह भी कहलवाया कि सिंहरथ को बन्दी बनाकर लाने वाले के साथ त्रिखंडाधिपति जरासंध अपनी कन्या जीवयशा का विवाह कर उसे अपना दामाद बनायेंगे।

□ वसुदेव को भेजा युद्ध हेतु : सिंहरथ को बन्दी बनाया !

सन्देश पाकर समुद्रविजय ने उस दूत के साथ कहला दिया—“महाराज को जाकर कहना, वे निश्चित रहें। शीघ्र ही सिंहरथ उनके चरणों में होगा।” दूत को रवाना कर समुद्रविजय ने सेना को तैयार किया और युद्ध के लिए सिंहापुर की ओर प्रस्थान को उद्यत हुए। वसुदेव ने युद्ध की तैयारियाँ देखकर अग्रज से पूछ लिया कि “ये तैयारियाँ किसके लिए?” पूरी बात ज्ञात कर बोले—“छोटा भाई यहाँ बैठा मौज करे और आप बड़े होकर युद्ध के लिए जाएँ, यह तो उचित नहीं। आप तो मुझे आदेश दीजिए, मैं सिंहरथ को पराजित कर, बन्दी बनाकर ले आता हूँ।”

समुद्रविजय जी ने स्नेहवश वसुदेव के इस आग्रह को स्वीकार नहीं किया और बोले—“भाई! वह सामंत अत्यंत धूर्त एवं अभिमानी है। वह अकेला नहीं है, उसके साथ उस जैसे ही सौ पुत्र हैं। वे सभी पुत्र युवा हैं और वीर योद्धा हैं। स्वयं त्रिखंडाधिपति जरासंध की सेना व सेनानायक भी उससे भयभीत हैं। उसकी शक्ति, उसका बल, उसकी सेना बहुत अधिक है। अनेक अन्य राजा भी उसकी शक्ति के आगे घुटने टेक चुके हैं, अतः वहाँ तुम्हारा नहीं मेरा जाना ही उचित है।”

इस पर वसुदेव ने कहा—“क्या आप अपने इस लघु-भ्राता को योग्य नहीं मानते? इन रगों में भी उबलता हुआ यादव वंशी खून है। आप निश्चित रहिए, मैं निश्चित ही विजय प्राप्त करूँगा और सिंहरथ को बन्दी बना लाऊँगा।”

वसुदेव के अत्यधिक हठ के कारण समुद्रविजय जी को स्वीकृति देनी पड़ी। युद्ध के लिए सेना सजाकर वसुदेव ने प्रस्थान किया। गंतव्य पर पहुँच गई सेना, पड़ाव डाल दिया गया वहाँ। सिंहरथ भी सेना लेकर आया। युद्ध प्रारम्भ होने से ठीक पहले युवक कंस ने वसुदेव से अनुनय-विनय किया कि आज वह युद्ध करने के लिए तत्पर है, अतः आप यहीं विश्राम करें।

वसुदेव ने अनुमति दे दी। कंस के नेतृत्व में युद्ध हुआ। युद्ध में कंस ने अपने अद्भुत युद्ध-कौशल का परिचय दिया। उधर भी सैन्य-बल कमजोर नहीं था। आखिरी दम तक लड़ते हुए सिंहरथ के सभी पुत्र मारे गये, सिंहरथ बन्दी बना लिया गया, सिंहरथ की सेना युद्ध के मैदान से पीठ दिखाकर भाग खड़ी हुई।

□ बन्दी सिंहरथ को राजगृह भेजा !

सिंहरथ को कुछ उत्तरदायी राज्याधिकारियों व सैन्याधिकारियों के साथ जरासंध के पास राजगृह भेज दिया गया। वसुदेव विजयपताका फहराते हुए शौरिपुर लौट आये। प्रथम युद्ध-विजय के उपलक्ष में शौरिपुर के प्रजाजनों व राज्याधिकारियों ने उनका भव्य स्वागत किया। स्वयं महाराज समुद्रविजय जी ने राजमहल के मुख्य प्रवेश-द्वार पर आकर उनका स्वागत किया।

□ जीवयशा का नारियल !

बन्दी सिंहरथ राजगृह पहुँच गया। जरासंध ने घोषणा की थी कि जो सिंहरथ को बन्दी बनाएगा, उसके साथ वे अपनी कन्या जीवयशा का विवाह कर उसे सम्मानित करेंगे। अपनी घोषणा के अनुसार जरासंध ने जीवयशा के लिए नारियल शौरिपुर भेजा। इस पर महाराज समुद्रविजय जी ने अपने राज-कोष्ठुकी (नैमित्तिक या ज्योतिष) को एकान्त में बुलाकर—“इस सम्बन्ध के विषय में ग्रह-नक्षत्र क्या बताते हैं”—यह पूछा। गणना करने के पश्चात् कोष्ठुकी ने बताया कि “जरासंध की पुत्री हीन लक्षणों वाली है तथा पति व पिता दोनों ही कुलों का नाश करने वाली है।”

□ कौष्ठुकी ने जीवयशा को दोनों कुल की नाशिनी बताया !

सुनकर समुद्रविजय जी चिन्तित हुए। उन्होंने वसुदेव को सारी स्थिति बताई। दोनों ने मिलकर तय किया कि जीवयशा का विवाह कंस से होना ही उचित है और इसी में हमारे कुल की सुरक्षा भी है। वसुदेव ने तभी यह भी बता दिया कि वस्तुतः युद्ध-विजय एवं सिंहरथ को बन्दी बनाना भी उसी का कार्य है।

□ जीवयशा के लिए कंस का नाम !

दूसरे दिन राजदूत से इस विषय में बात की गई। राजदूत के साथ आये एक विश्वस्त व्यक्ति को पुनः राजगृह जरासंध के पास भेजा गया। उसके साथ कंस के नाम का प्रस्ताव भेजते हुए उसका वास्तविक परिचय भी वहाँ कहने के लिए बता दिया गया।

जरासंध यह सब सुनकर चकित भी हुआ और विचार में भी पड़ गया। अंत में उसने कंस के नाम का प्रस्ताव करते हुए नारियल उसके नाम से महाराज को देने की आज्ञा दे दी।

कंस ने यह सब सुना तो वह अपने स्वामी वसुदेव की इस उदारता से गद्गद हो गया। वह हृदय से अपने स्वामी का आभार मानने लगा। उनके प्रति कृतज्ञता से वह आह्लादित हो उठा।

□ जीवयशा का कंस से विवाह !

जरासंध त्रिखंडाधिपति था, अतः यह विवाह अत्यधिक राजसी ठाट-बाट, आडम्बर व आमोद-प्रमोद के साथ किया गया। इतने विशाल साम्राज्य के अधिपति का दामाद बनकर कंस भी गर्वोन्नत बन गया। महाराज जरासंध ने विवाह के पश्चात् कंस को कहा—“कंस! तुम्हें कौन-से नगर का राज्य चाहिए? बिना किसी संकोच के बता दो।”

अपना वास्तविक परिचय जानने के क्षण से ही कंस तो अपने पिता पर जला जा रहा था, जलकर खाक बन रहा था, क्रोध में झुलस रहा था, प्रतिशोधात्मक भाव में भभक रहा था, अतः बोला—“महाराज! मुझे मथुरा नगरी का राज्य चाहिए।” मथुरा का राज्य माँगते हुए उसके रोम-रोम में एक ही विचार प्रतिध्वनित था—“माता-पिता को पीड़ित बनाना !”

□ कंस की मथुरा-विजय कामना !

चौंका जरासंध! समुद्रविजय जी और वसुदेव भी चकित थे। वहाँ बैठे अन्य बड़े-बड़े राजा, मंत्री, राज्याधिकारी भी आश्चर्य कर रहे थे। जरासंध ने कहा—“वह राज्य तो तुम्हें नहीं मिलेगा। तुम कोई दूसरा राज्य माँग लो।” इस पर कंस ने कहा—“मुझे किसी का राज्य वैसे ही नहीं चाहिए, बल्कि मैं अपनी शूरवीरता व युद्ध-कौशल के बल पर वह राज्य लेना चाहता हूँ। आप तो अपनी सेना को मेरे साथ इस विजय-अभियान के लिए भेज दीजिए।”

जरासंध ने भी देखा कि मेरा दामाद बदले की आग में जल रहा है तो दामाद की खुशी व अपने वचन की पूर्ति के लिए उसने कंस के साथ मगध की सेना भेज दी।

□ मथुरा-विजय, उग्रसेन बन्दी, अतिमुक्त दीक्षित !

कंस ने मथुरा पर आक्रमण किया, मथुरा पर विजय प्राप्त की, स्वयं अपना राज्याभिषेक करवाया और पिता उग्रसेन महाराज को बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया। महाराज उग्रसेन के द्वितीय पुत्र और कंस के अनुज अतिमुक्तकुमार थे। संसार की यह विचित्रता, स्वार्थी की यह नग्नता, सत्ता की ऐसी विभीषिका देख उनका चिन्तन संसार-विमुख बन गया। वे सांसारिकता से विमुक्त बनने की चाह रखने लगे। विरक्त भावों से वे अतिमुक्तकुमार मुंडित बन, श्रमणधर्म स्वीकार कर संयम के आत्म-कल्याणी पथ पर अग्रसर बन गये।

□ कंस के निवेदन पर देवकी से विवाह की स्वीकृति !

एक दिन मथुरा-नरेश और वसुदेव का बचपन का साथी कंस वसुदेव से मिलने गया और करबद्ध नमन करते हुए बोला—“स्वामी! इस दास पर आपके अनेक उपकार हैं। मैं

आपके उन उपकारों के बोझ से दबा हुआ हूँ। मेरी क्या हिम्मत कि मैं उन उपकारों से किसी तरह भी उन्नत बन सकूँ इस पर भी मेरा एक विनम्र निवेदन है। आप मेरी प्रार्थना को ध्यान से सुनकर उस पर अन्तर्-हृदय से विचार अवश्य करिएगा। मेरे एक चाचा हैं—देवसेन राजा। उनकी कन्या है—देवकी। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मेरी उस देवकी बहन का ब्याह आपके संग हो। आप स्वीकृति दें तो मथुरा में इस ब्याह की तैयारियाँ की जाएँ।” इस पर वसुदेव ने अग्रज समुद्रविजय जी महाराज से यह बात कही। उनकी स्वीकृति मिलने पर कंस ने प्रसन्नता से मथुरा आकर विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ कीं।

□ विवाह की तैयारियाँ !

बंधुओं ! कंस ने मथुरा को स्वर्ग की तरह सजाया, राजमहलों को नवीन रूप देकर सज्जित करवाया, जगह-जगह बारातियों के ठहरने का उत्तम प्रबंध किया, उनकी सुविधाओं का सारा सामान एकत्रित किया और इन सबके लिए राजकोष का मुँह खोल दिया, पैसे को पानी की तरह बहा दिया।

अपनी ननद के विवाह में जीवयशा भाभी भी किसी तरह की कोई कमी नहीं रखना चाहती थी। खूब ठाट-बाट से वह अपनी ननद का विवाह होते देखना चाहती थी। राजमहलों में सुरीले विवाह-गीतों के स्वर उठने लगे, नौपत-निशान बजने लगे, भाट विरुदावलि गाने आने लगे, नट रोमाञ्चक करतब दिखाने आने लगे। देवसेन मृत्तिकावती नगरी का राजा व उग्रसेन जी का भाई था। वह अपनी इस पुत्री देवकी के वसुदेव से पाणिग्रहण कराने को तैयार नहीं था, पर कंस ने उसे दबाव देकर तैयार किया था।

नवम् नारद के अनुसार राजकुमारी देवकी उस समय समस्त लोक में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एवं सर्वोत्तम नारी रत्न थी। नारद ने ही वसुदेव के कहने पर देवकी के हृदय-पटल पर वसुदेव का मनहारी ऐसा चित्र बनाया था कि वह सचमुच अपना मन हार बैठी वसुदेव के लिए। एक यह भी कारण था देवसेन के इस विवाह के लिए ‘हाँ’ भरने का।

□ अतिमुक्त मुनि भिक्षार्थ राजमहलों में !

शादी में कुछ दिन शेष थे। मथुरा नगरी, विशेष करके वहाँ के राजमहल आमोद-प्रमोद में डूबे हुए थे। इन्हीं दिनों महामुनि अतिमुक्तकुमार (महाराज कंस के सांसारिक लघु भ्राता) मासक्षमण का तपश्चरण पूर्ण होने पर पारणे की गोचरी के लिए मथुरा नगरी के उच्च, मध्यम, निम्न कुलों में भ्रमण करते हुए राजमहलों में पधारे। अन्दर महलों में किसी उत्सव का-सा दृश्य देख अतिमुक्त मुनि वापस मुड़े ही थे बाहर जाने के लिए

कि जीवयशा की दृष्टि मुनि पर जा पड़ी। पहचान गई भावज कि देवर मुनि हैं। वहीं से बोली—“अरे देवर जी! इन महलों तक आ ही गये हैं तो वापस मुँह क्यों मोड़ लिया? नाराजगी है क्या?”

□ जीवयशा द्वारा मुनि को मादक आमंत्रण !

मुनि अतिमुक्तकुमार रुककर जीवयशा को देखने लगे। जीवयशा पुनः चहकी—“अरे देवर जी! देख नहीं रहे आप! इन महलों का चप्पा-चप्पा आनन्द की हिलोरें ले रहा है। वहाँ क्यों खड़े हो? आओ, इधर आ जाओ। अरे देवर जी! तुम भी इस आनन्द का एक अंग बन जाओ आज! मेरा कहना मानो। तुमने ये क्या हाल बना लिया? अपना सिर मुँडित करवाकर इस महल की प्रतिष्ठा को लजा दिया। तुम्हारे भाई की साहिबी कहाँ? वे तो इस नगरी के राजा हैं, हजारों-लाखों लोगों के नाथ हैं और तुम इस तरह घर-घर भीख माँगते फिरते हो। छोड़ो ये झोली-डंडा! आओ और मेरे रंग में रँग जाओ। ये देखो मेरी ननद देवकी के विवाह-वस्त्र। तुम अपने ये सफेद वस्त्र उतारकर इन्हें पहन लो फिर हम-तुम दोनों मिलकर नाचें। अच्छी रहेगी ना हमारी जोड़ी?”

□ ‘देवकी का सातवाँ गर्भ कंस की मौत बनेगा’—मुनिवाणी !

भावज ने हँसी-हँसी में ये शब्द कहे और मुनि का मजाक उड़ाया। अतिमुक्त मुनि कुछ देर सहनशील बने रहे, पर फिर उन्हें आवेश आ गया। वे बोले—“भाभी! मेरी बात ध्यान से सुनो। आज से उल्टी गिनती प्रारम्भ कर दो। भाई साहब की ये साहिबी अधिक दिनों की अब नहीं है, अतः तुम मूर्ख बनकर, गर्वितावस्था में भान भूलकर इस तरह का प्रलाप छोड़ो। भाई साहब तो केवल मथुरा के राजा हैं, पर छह खंड विजय करने वाले सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के अधिपति चक्रवर्तियों ने भी राज्य ऋद्धि का त्याग कर संयम-पथ ग्रहण किया है। एक धर्म ही जीव की रक्षा और आत्मा का कल्याण कर सकता है। बिना धर्म किए, पापियों का हाल तो बुरा ही होना है यही होगा भी। जिस ननद देवकी के विवाह-उत्सव में तुम पगलाई हुई हो उसी तुम्हारी ननद देवकी का सातवाँ गर्भ तुम्हारे पति कंस को मौत की नींद सुलाएगा, वही तुम्हारे पिता जरासंध और तुम्हारे भाइयों का काल बन उनके सिर धड़ से अलग करेगा। जब ऐसा होवे, मेरे वचन सत्य-सिद्ध हो जाएँ तब आकर मेरे मुँडित बनने की, मेरे श्वेत वेश की, मेरी भिक्षा-झोली और जीव रक्षार्थ ग्रहण किए गये रजोहरण रूपी दंड (डंडे) की स्तुति करना।”

□ वही हुआ जो होना था !

बंधुओं ! जैन मुनि या तो कुछ कहते नहीं और कह देते हैं तो वह 'लोहे की लकीर' के समान सत्य ही सिद्ध होता है। यद्यपि बात का पता लग जाने पर कंस ने अपनी सुरक्षा के अनेक प्रबंध किए, जरासंध ने वसुदेव को कपटयुक्त प्रयोगों से मृत्यु के मुँह में पहुँचाने के बहुत प्रयत्न किए, पर हुआ वही जो होना था और जो होना था वही मुनि ने कहा था।

कंस देवकी के सातवें पुत्र कृष्ण के द्वारा मारा गया। जरासंध को स्वयं के चक्र से मौत का रास्ता दिखाकर कृष्ण 'वासुदेव' पद पर प्रतिष्ठित हुए और त्रिखंडाधिपति बने। जरासंध के पुत्र भी कृष्ण के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुए।

□ अतिमुक्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने !

कथा-भाग में उल्लेख मिलता है कि अतिमुक्त मुनि ने आवेश में आकर कहे गये कटु-सत्य-वचनों के लिए, पर-पीड़ा पहुँचाने के लिए लगने वाले दोषों की सच्चे हृदय से आलोचना की और भगवान अरिष्टनेमि से प्रायश्चित्त लिया।

अन्त समय में संलेखना-संधारा ग्रहण कर आयुष्य पूर्ण होने पर परम पद की प्राप्ति की।

आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने 'बड़ी साधु वन्दना' की इससे आगे की कड़ी में इस अवसरिणी काल की (प्रथम कड़ी में कथित ऋषभादि महावीर) तीर्थकर-चौबीसी, अर्थात् आदि तीर्थकर प्रभु ऋषभदेव से चरम तीर्थकर भगवान महावीर तक के सर्व साधु-मुनिराजों को भाव-वंदन करते हुए उनकी सर्वसंख्या (चौबीसों तीर्थकरों के साधुओं की संख्या का महायोग) का योग बताया है—

चौबीसे जिनना मुनिवर, संख्या अठावीस लाख।

ऊपर सहस्र अड़तालिस, सूत्र परम्परा भाख ॥१९॥

अब तक आगम में वर्णित अनेक मुनिवरों के पावन प्रसंग आपने सुने। इस अवसरिणी काल की चौबीसी अर्थात् प्रथम तीर्थकर प्रभु ऋषभदेव से चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर तक के मुनिवरों की कुल संख्या का उल्लेख इस कड़ी में हुआ है।

२४ तीर्थकरों के ऐतिहासिक जीवन-चरित्रों में प्रत्येक तीर्थकर भगवंत के साधु-साध्वियों की कुल संख्या दी गई है। अधिकांश आचार्यों व चरित्र-लेखकों ने यह संख्या कल्पसूत्र से उद्धृत की है। अनेक मनीषी आचार्यों व संतों ने अपने समय के श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका से ऐसी सज्जाएँ भी सुनीं, जिनमें प्रत्येक तीर्थकर के सर्व साधु, सर्व साध्वी आदि के विवरण

अर्थात् संख्याएँ थीं। ये पुरानी सज्जाएँ वृद्धजनों, साधकों को कंठस्थ थीं। परम्परा से चली आ रही उन सज्जायों की संख्याओं को भी इनसे मिलाया गया। लगभग वे ही संख्याएँ सज्जायों में पाई गईं।

एक विशेष बात जो देखने-पढ़ने-सुनने में आई, वह यह कि श्रमणवृंद की सर्व संख्या तो हर ग्रंथ, चरित्र, सज्जाय में वही है जो कल्पसूत्र में है, पर श्रमणीवृंद की सर्व संख्या में अन्तर आता है। इसका उल्लेख आगे प्रसंग आने पर आपके समक्ष रखने की भावना है। 'बड़ी साधु वन्दना' की इस निन्यानवीं कड़ी में इस अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थकरों के सर्व साधुओं की संख्या (२८,४८,०००) अट्ठाईस लाख अड़तालीस हजार बताई है। मैं आपके सम्मुख प्रत्येक तीर्थकर भगवंत के सर्व साधुवृंद की संख्या बता रहा हूँ। आपमें से जो लिखना चाहें, लिख लें। इन सभी का योग २८,४८,००० होता है।

क्रमांक	तीर्थकर	साधु संख्या (अक्षरेन)	अंकेन
१.	श्री ऋषभदेव जी	चौरासी हजार	८४,०००
२.	श्री अजितनाथ जी	एक लाख	१,००,०००
३.	श्री संभवनाथ जी	दो लाख	२,००,०००
४.	श्री अभिनन्दन जी	तीन लाख	३,००,०००
५.	श्री सुमतिनाथ जी	तीन लाख बीस हजार	३,२०,०००
६.	श्री पद्मप्रभ जी	तीन लाख तीस हजार	३,३०,०००
७.	श्री सुपाश्वरनाथ जी	तीन लाख	३,००,०००
८.	श्री चन्द्रप्रभ जी	दो लाख पचास हजार	२,५०,०००
९.	श्री सुविधिनाथ जी	दो लाख	२,००,०००
१०.	श्री शीतलनाथ जी	एक लाख	१,००,०००
११.	श्री श्रेयांसनाथ जी	चौरासी हजार	८४,०००
१२.	श्री वासुपूज्य जी	बहत्तर हजार	७२,०००
१३.	श्री विमलनाथ जी	अड़सठ हजार	६८,०००
१४.	श्री अनन्तनाथ जी	छियासठ हजार	६६,०००
१५.	श्री धर्मनाथ जी	चौंसठ हजार	६४,०००
१६.	श्री शान्तिनाथ जी	बासठ हजार	६२,०००

१७.	श्री कुन्धुनाथ जी	साठ हजार	६०,०००
१८.	श्री अरनाथ जी	पचास हजार	५०,०००
१९.	श्री मल्लीनाथ जी	चालीस हजार	४०,०००
२०.	श्री मुनिसुव्रत स्वामी जी	तीस हजार	३०,०००
२१.	श्री नमिनाथ जी	बीस हजार	२०,०००
२२.	श्री अरिष्टनेमिनाथ जी	अठारह हजार	१८,०००
२३.	श्री पार्श्वनाथ जी	सोलह हजार	१६,०००
२४.	श्री महावीर स्वामी जी	चौदह हजार	१४,०००
सर्वयोग—अठईस लाख अड़तालीस हजार			२८,४८,०००

बंधुओं ! नाम, जप, स्मृति, गुणगान, भाव-वंदन आदि से जीव उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर लेता है। इतना अवश्य है कि भावों की उत्कृष्टता का आधार तो मिलना ही चाहिए। मोक्ष की मंजिल जो प्राप्त करनी है तो जपिए बड़ी साधु वन्दना, स्मृति कीजिए उत्कृष्ट चारित्र आत्माओं की, कर सकें यदि ऐसा तो निश्चय ही आपका मुक्तिपथ प्रशस्त बनेगा।

आनन्द ही आनन्द !



उघाड़े मुख बोल्यां, पाप लगे इम भाख

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाणमज्झे लहइ पसंसणं ॥

(दशवैकालिकसूत्र ७/५५)

आत्म-बंधुओं !

धर्म की आदि करने वाले देवाधिदेव तीर्थकर भगवंतों ने भव्य जीवात्माओं के कल्याण हेतु जिनवाणी रूपी ज्ञान-सलिला को प्रवाहित कर, अनादिकाल से जो प्राणी भव दुःखों की ज्वालाओं में दग्ध हो रहे हैं, उन्हें शांत बना, शीतलता प्रदान करने का और उनकी समस्त दुःखरूपी ज्वालाओं को मिटा उन्हें सुख तथा यथार्थ आनंद प्राप्ति का पथ प्रदान किया है।

□ तीर्थकर-वाणी महात्म्य

छद्मस्थ व्यक्तियों के मनोयोग द्वारा उद्भूत चिन्तन की काय-योग में जब परिणति होती है और तदनुकूल वाणी का प्रकटीकरण होता है तो ऐसे साधकों की वाणी भी मन-वचन-काय योगों की साम्यता के कारण जनप्रिय बन जाती है। मामूली साधना से वाणी में जब इतना प्रभाव पैदा हो सकता है तो तीर्थकर भगवंत की वाणी का प्रभाव तो अपार, असीमित, अनंतगुणित होता है। चूँकि उन्होंने अपनी दिव्य साधना की सफलता के परिणामस्वरूप सर्वज्ञता को प्राप्त कर लिया है, अतः उनके मुखारविन्द से निस्सृत होने वाली वाणी “जो आत्मा के द्वारा जाना और देखा गया है”—उसे ही प्रकट करती है। ऐसी यथार्थ वाणी निश्चय ही प्राणिमात्र के लिए एकान्त-सुखरूपी, हितकारी, श्रेयकारी पथ्य-सत्य रूप यथार्थ तथ्य का बोध कराने वाली होती है।

□ कैसी हो मुनि की भाषा ?

आज के मंगलाचरण पाठ में दशवैकालिकसूत्र के ७वें अध्ययन की जो गाथा कही गई, वह साधक की भाषा से सम्बन्धित है। उसमें बताया गया है कि साधक भाषा की शुद्धि को भलीभाँति जानता हुआ मृषावाद अर्थात् असत्यादि के दोषों से युक्त भाषा को छोड़कर बोले, बोलने से पहले तोलकर अर्थात् सोच-विचारकर विवेकयुक्त भाषा बोले, परिमित अर्थात् अल्प—जितना आवश्यक हो, उतना ही बोले और निर्वद्य भाषा अर्थात् ऐसी भाषा बोले जिससे छह काय जीवों की विराधना न हो, उन्हें पीड़ा, कष्ट, सन्ताप न हो। पाँच महाव्रतों के धारक मुनिराज को कदम-कदम पर भाषा के दोषों से बचकर ही भाषण करना चाहिए। ऐसा करने पर वे पाप की सावद्युक्त प्रवृत्ति से बचे रहेंगे और सत्पुरुषों के बीच में प्रशंसा के पात्र भी बन जायेंगे।

□ मुनि मधुर, निर्वद्य व स्पष्ट भाषा कहें

इसी सूत्र के इसी अध्ययन में पुनः-पुनः प्रभु ने फरमाया है कि साधक सावद्य भाषा न बोले, निर्वद्य भाषा बोले।

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पण्णवं ॥
एयं च अट्ठमण्णं वा, जं तु णामेइ सासयं।
स भासं सच्चमोसं पि, तं पि धीरो विवज्जए ॥

(दशवैकालिक ७/३-४)

इन दोनों गाथाओं में निर्देश है कि साधक निर्वद्य-पापरहित और कर्कशतारहित मृदु भाषा बोले, सन्देहरहित भाषा बोले, स्पष्ट भाषा बोले। जहाँ व्यवहार (असत्य-अमृषा) बोलने की स्थिति आवे, वहाँ भी भली प्रकार से विचार कर बोले और सत्य भाषा भी मुँह से बाहर निकाले तो विवेकपूर्वक चिन्तन करके निकाले।

भाषा यदि सावद्य है, कर्कश है या उसका भाव सावद्य या कर्कशतायुक्त है अथवा वह भाषा शाश्वत-सुख विघातक है, जिसे बोलने के कारण मोक्ष प्राप्ति में बाधा पहुँचती है तो साधु ऐसी भाषा का त्याग करे।

□ मोठे जयणा राख

मुनि की भाषा-समिति में उल्लेख मिलता है कि मुनि आठ प्रकार की भाषा अर्थात् कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, निश्चयात्मक, सावद्य, क्लेशोत्पादक एवं मिश्र भाषा नहीं

बोले। मुनि यह भी विवेक रखे कि उसके द्वारा कही गई भाषा क्रोधादि कषायों व हास्य, रति, भय आदि नौ कषायों की उत्पादक न बन जाए।

आचार्यसम्राट् एकभवावतारी श्री जयमल जी म. सा. ने बड़ी साधु वन्दना में सावद्य भाषा से साधक को बचने का निर्देश देते हुए लिखा है—

कोई उत्तम बांचो, मोंढे जयणा राख।

उघाड़े मुख बोल्यां, पाप लगे इम भाख ॥ १०० ॥

उत्तम साधक, उत्तम ढंग से इस उत्तम रचना को उत्तम-उत्कृष्ट-शुभ भावों से पढ़े, वाचन करे तो बँधे हुए पाप-अशुभ कर्मों की अत्यधिक निर्जरा होती है, महान् पुण्यों का उपार्जन होता है। क्यों न हो? जिस स्तुति-रचना में मोक्ष प्राप्त या भविष्य में मोक्ष जाने वाली सहस्राधिक अनन्तानन्त पावनात्माओं का स्मरण कर उन्हें विनय-वन्दन किया गया हो, निश्चय ही वह रचना आत्म-कल्याणकारी ही मानी जाएगी। इस सम्पूर्ण रचना की एक सौ ग्यारह कड़ियों में अंतगड़ की ९०, उत्तराध्ययनसूत्र की ४६^१, भगवतीसूत्र की १,०२६^२, ज्ञाताधर्मकथांग की २,५२७^३, अनुत्तरौपपातिक की ३३, सुखविपाकसूत्र की १०, कल्पावतंसिका की १० एवं वण्हदशा की १२ आत्माओं का वर्णन है। चौबीस तीर्थकरों के सर्व साधु २८,४८,००० तथा ६,२८० अन्यपुरुष-साधकों एवं सर्वसाध्वी (२४ तीर्थकरों) ४७,१७,८०० तथा अन्य ७८ स्त्री-साधकों का स्मरण व उनकी प्रणति की गई है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ में ही अनन्त चौबीसी लिखकर श्रद्धेय आचार्यसम्राट् एकभवावतारी ने आज तक हुए अनन्त तीर्थकर भगवन्तों को नमन किया है। वर्तमान काल में अढ़ाई द्वीप में विचरण कर रहे सीमंधर प्रमुख २० विहरमान भगवन्तों को, सर्वक्षेत्र की अपेक्षा से उत्कृष्ट एक सौ सत्तर तीर्थकर एक समय में होते हैं उनको, दो क्रोड़ केवली भगवन्तों, उत्कृष्ट नव क्रोड़ केवली भगवन्तों को, जघन्य दो हजार करोड़ व उत्कृष्ट नव हजार करोड़ मुनिजनों को एवं इसी तरह की अनन्त-अनन्त भव्य-आत्माओं को वंदन किया गया है।

बन्धुओं ! ऐसी परम-पावन रचना को पढ़ने का विधान भी परम-पावन होना चाहिए। रचना में वर्णित पावनात्माओं की भावना के अनुरूप होना चाहिए। यह कर्मबन्धन काटने वाली रचना है, अतः पठन-विधि भी ऐसी होनी चाहिए जो कर्मबन्धन को काटने में सहयोगी बने, न कि कर्मबन्धन में ! स्वयं सृजनकर्ता, काव्यकला-मर्मज्ञ, भेद-विज्ञान ज्ञाता ने इस

१. उत्तराध्ययन की ४६ चारित्रात्मा में काशीराजा, संभूति और अरिष्टनेमि को नहीं गिना है।

२. भगवतीसूत्र की १,०२६ चारित्रात्मा में रेवती को नहीं गिना है।

३. ज्ञाताधर्मकथा की २,५२७ चारित्रात्मा में कुंडरिक को विराधक की अपेक्षा नहीं गिना है।

रचना के पाठन की समुचित विधि के लिए स्पष्ट संकेत दे दिया है—‘मोंढे जयणा राख’—अर्थात् मुँह से यतना रखते हुए, विवेकपूर्ण उसका पाठ करें।

□ उघाड़े मुख बोल्यां, पाप लगे.....

‘यतना’ का अर्थ क्या? यतना का यहाँ अर्थ है कि इस प्रकार बोला जाए जिससे कोई दोष न लगे, कोई पाप नहीं बँधे, अशुभ कर्मों का उपार्जन न हो। कवि-साधक ने आगे पुनः अपनी बात को स्पष्ट किया है—

उघाड़े मुख बोल्यां, पाप लगे इम भाख।

आगम, शास्त्र, सञ्ज्ञाय आदि को यदि आप मुँह खुला रखकर बोलते हैं तो आपको पाप लगता है। मुख खुला रखेंगे तो भाषा भी सावद्य हो जाएगी, वायुकाय जीवों की विराधना भी होगी। जहाँ हिंसा वहाँ आत्मा का अहित है, अतः अशुभ कर्म-बन्धन वहाँ निश्चित है।

भगवतीसूत्र में १६वें शतक के द्वितीय उद्देशक में गणधर गौतम स्वामी शक्रेन्द्र की भाषा के सावद्य या निर्वद्य होने के विषय में पृच्छा करते हैं—

सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासति ? अणवज्जं भासं भासति ?

अहो भगवन् ! शक्रेन्द्र आपके पावन चरणों में वन्दन-नमन कर जब कुछ पृच्छा करते हैं, बोलते हैं तो उनकी भाषा, उनके वचन, उनका वह बोलना सावद्य होता है या निर्वद्य ?

□ सुहुंकायं निज्जुहत्ताणं, अणवज्जं भासं (भगवतीसूत्र)

इस प्रश्न के उत्तर में प्रभु फरमाते हैं कि उसकी भाषा सावद्य भी होती है और निर्वद्य भी। गणधर गौतम तब पुनः प्रभु से पृच्छा करते हैं कि अहो भगवन्! यह कैसे? शक्रेन्द्र सावद्य भी बोलते हैं तो कैसे और शक्रेन्द्र निर्वद्य बोलते हैं तो कैसे? तब प्रभु महावीर गौतम की जिज्ञासा का समाधान देते हुए कहते हैं—

गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जूहत्ता णं भासं भासति ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासति, जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुम कायं निज्जूहत्ताणं भासं भासति ताहेणं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासति।

अर्थात् अहो गौतम! जब देवेन्द्र मुँह पर उत्तरासंग वगैर या मुख ढके वगैर बोलता है तो वह सावद्य भाषा बोलता है, क्योंकि वह जीव-संरक्षण का विवेक नहीं रखता, पर जब वह मुँह पर उत्तरासंग रखकर अथवा वस्त्र से मुँह ढककर बोलता है तो वह निर्वद्य भाषा बोलता है, क्योंकि इस प्रकार विवेकपूर्वक बोलने में वह जीवों की यतना करता है।

□ मुख-वस्त्रिका मुनि के लिए अनिवार्य

भगवतीसूत्र के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि जो कोई भी खुले मुँह बोलता है, उसकी भाषा सावद्य होती है। इसी सत्य-तथ्य का चिन्तन करते हुए जैन-चतुर्विध-संघ के साधकों, अर्थात् श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों, श्राविकाओं सभी को अपने साधनाकाल में मुँह पर मुख-वस्त्रिका अवश्य बाँधनी चाहिए। सर्वविरति श्रमण व श्रमणीवृंद तो दीक्षा समय से ही “सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहं-तिविहेणं” का मंत्र स्वीकार कर लेते हैं, अर्थात् जीवन-पर्यन्त के लिए तीन करण (करना नहीं, करवाना नहीं, करते हुए को अच्छा समझना नहीं और न उसकी किसी भी प्रकार से अनुमोदना ही करना) तीन योग (मन-वचन-काया) से सर्व-सावद्य-योग (अशुभ अध्यवसाय, पाप-प्रवृत्ति) का प्रत्याख्यान कर लेते हैं, अर्थात् त्याग देते हैं सावद्य-प्रवृत्तियों को। ऐसे मुनिराजों के मुख पर तो जीवन-पर्यन्त मुख-वस्त्रिका बाँधी हुई रहनी चाहिए।

□ श्रावक-श्राविका के लिए भी.....

श्रावक-श्राविकाएँ जब सामायिक व्रत में बैठकर एक निश्चित समय के लिए सावद्य-योगों का दो करण, तीन योग से प्रत्याख्यान लें तो उन्हें भी अपने सामायिक व्रत के काल में मुख पर मुख-वस्त्रिका बाँधी हुई ही रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाएँ जब-जब भी आस्रव का त्याग कर संवर करें, पौषध करें तो उन्हें उस काल में भी मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधकर रखनी चाहिए।

□ श्रावकों के लिए स्थानक में प्रवेश के पाँच अभिगम

आगमों में वर्णन आता है कि साधु-साध्वी के निकट दर्शन-वंदना को जाते समय, स्थानक में प्रवेश करते समय श्रावक को पाँच अभिगमों का पालन करना चाहिए। वे पाँच अभिगम हैं—

□ पाँच अभिगम

(१) सचित्त का त्याग—देवगुरु के समीप जाते समय पान, फल, फूल, बीज, अनाज, दातौन, शाक आदि सचित्त वनस्पति, कच्चा पानी, नमक, लालटेन (जलती हुई), टॉर्च (जलती हुई), सैल की घड़ी आदि नहीं ले जाना।

(२) अचित्त का विवेक—दर्प सूचक वस्तुएँ, यथा—छत्र, चंवर आदि तथा लाठी, अस्त्र, शस्त्र आदि बाहर छोड़कर उपाश्रय या स्थानक में गुरु दर्शनार्थ जाना।

(३) **उत्तरासंग**—गुरुदेव के समक्ष पृच्छा करना, सुनाना, बातचीत करना आदि के प्रसंग आने पर खुले मुँह नहीं बोलकर मुँह पर आठ पट्ट का उत्तरासंग वस्त्र या मुख-वस्त्रिका बाँधनी चाहिए।

(४) **अञ्जलिकरण**—स्थानक में प्रवेश के बाद जहाँ से गुरु दर्शन हों, वहाँ से करबद्ध होना, विनयपूर्वक पञ्चांग नमाकर वन्दन करना।

(५) **मन की एकाग्रता**—मन से गृहस्थी के विषय में उद्भूत प्रपंच-जनक विचार, व्यवसाय या नौकरी से सम्बन्धित विचार आदि को निकाल बाहर कर देना चाहिए। सावद्य योगों से अपने मन को पूर्णतः दूर कर लेना चाहिए और गुरु उपासना करनी चाहिए।

बन्धुओं ! तीसरा अभिगम है उत्तरासंग। यह स्पष्ट संकेत करता है कि खुले मुँह नहीं बोलना चाहिए, मुख-वस्त्रिका या उत्तरासंग से मुँह ढका हुआ होना चाहिए।

□ मुख-वस्त्रिका और डोरा ?

अनेक बन्धु यहाँ तर्क देते हैं कि आगमों में मुख-वस्त्रिका का तो उल्लेख है, पर उस मुख-वस्त्रिका में डोरा लगाकर उसे बाँधने का उल्लेख नहीं है। आगमों में मुख-वस्त्रिका के नाप का उल्लेख मिलता है जो चौड़ाई में अपने हाथ की १६ अँगुल और लम्बाई में अपने ही हाथ की २१ अँगुल होनी चाहिए। उसकी आठ तहें करके प्रयोग में लेना चाहिए। उसका प्रतिलेखन समय-समय पर करना चाहिए। इन सभी बातों का उल्लेख जब है तो डोरे का उल्लेख क्यों नहीं है? उल्लेख नहीं तो डोरा भी नहीं। यह है उनका तर्क ?

□ मुख-वस्त्रिका या मुँहपत्ति को हथवस्त्रिका या हथपत्ति नहीं बनाएँ

तर्क अपने स्थान पर सही है, पर हर जगह केवल तर्क से काम नहीं चला करता। जगह-जगह पर विवेक-बुद्धि का उपयोग होना ही चाहिए। बन्धुओं! आगमानुसार सूक्ष्मकाय-हिंसा रक्षार्थ, अर्थात् वायुकाय जीवों की रक्षा के लिए मुख-वस्त्रिका का प्रयोग लिया जाता है। नाम है इसका—मुख-वस्त्रिका! अब चिन्तन करिए कि इसे कहाँ रखा जाए। यदि यह हाथ में रखी जाती है तो यह हथ-वस्त्रिका बनकर रह जाती है। आप 'पगरखी' किसे कहेंगे? जो पैरों में धारण की जाए। 'अंगरखी' किसे कहेंगे? जो अंग पर धारण की जाए। इसी तरह जो वस्त्र मुँह पर धारण किया जाए, वह मुखपत्ति या मुख-वस्त्रिका कही जाएगी। जो हाथ में रखी जाती है, उसे हम कहेंगे—हाथपत्ति!

अब कोई बुद्धिजीवी मुख पर रखने के वस्त्र को हाथ में रखे, उसे हाथ में ही रखने के लिए संकल्पित बने, पर उसे हाथ-वस्त्रिका या हाथपत्ति न कहे तो कैसा लगेगा? हम अपने

आध्यात्मिक वेश के इस सोदेश्य चिह्न को क्या मुख-वस्त्रिका से हाथ-वस्त्रिका बनाना या कहना उचित समझेंगे? अरे जब आगमकार उसे मुख-वस्त्रिका कहते हैं तो हम क्यों उसे इस तरह बदलने पर हठ कर रहे हैं? नाम तो बदल सकते नहीं, पर काम बदल दिया उसका और स्थान भी परिवर्तित कर दिया उसका। यह तो कोई समझदारी की बात नहीं है। मुँहपत्ति कहते हैं तो मुँह पर धारण करनी ही चाहिए।

□ मुँहपत्ति पूरी ही धागों से निर्मित है तो.....!

बात चली थी धागे की। आगम में नहीं है उल्लेख धागे का, पर बिना धागे के उसे मुँह पर धारण करेंगे कैसे? धागे की बात पर यह हठ ही तो है। मुख-वस्त्रिका तो स्वयं ही धागों से बुने कपड़े की है फिर धागे का अलग उल्लेख कहाँ आवश्यक है? यदि धागे के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की मुख-वस्त्रिका का आगम में उल्लेख होता तो वहाँ स्पष्ट रूप से बाँधने का भी उल्लेख कर दिया जाता। जहाँ स्पष्ट यह उल्लेख कर दिया कि खुले मुँह बोलना नहीं और मुँह पर धारण करना। नाम भी मुख-वस्त्रिका तो स्व-विवेक से स्वतः ही उसे मुँह पर बाँध देना चाहिए।

□ पायजामा और लहँगा कहे तो नाड़े का उल्लेख क्या आवश्यक है ?

बन्धुओं ! गृहस्थ-धर्म पालन करने वाले पुरुष कई बार धोती के स्थान पर पायजामा या कच्छ (अंदरूनी वस्त्र) धारण करते हैं आज, पर यदि उनका उल्लेख करें तो अलग से नाड़े का उल्लेख कतई आवश्यक नहीं है। नारियाँ लहँगा या पेटीकोट का प्रयोग करती हैं। नाड़ा डालकर ही ये अधोवस्त्र के रूप में धारण किये जाते हैं। लहँगों के प्रयोग का वर्णन किए जाने पर धागे या नाड़े का वर्णन आवश्यक नहीं होता। ऐसी ही बात मुँहपत्ति और धागे के लिए समझनी चाहिए।

□ हाथ में रहेगी मुखपत्ति तो दोष निश्चित ही लगेगा.....

हाथ में मुख-वस्त्रिका धारण करने से बहुधा खुले मुँह संभाषण करने की सम्भावना रहती है। इस वास्तविकता को वे सभी जानते हैं जो हाथ में मुख-वस्त्रिका धारण किए रहते हैं, वे भी जानते हैं जो उनके सम्पर्क में आते हैं, पर एक परम्परा जो बना दी गई उसे छोड़ देने का मानस नहीं बन रहा। सत्य-तथ्य पूर्ण आधार प्राप्त करने पर भी उस परम्परा का त्याग उनके लिए कठिन हो रहा है।

धर्मप्रेमी बंधुओं ! चिन्तन यह करना है कि हाथ में धारण की हुई मुख-वस्त्रिका अधिक धर्मोपयोगी, जीवरक्षा की निमित्त और वेष-परिचायक है या मुँह पर धारण की हुई डोरे से बँधी मुख-वस्त्रिका ?

चिन्तन यह भी करना है कि हाथ में यदि मुख-वस्त्रिका रखें तो एक हाथ उसके साथ उलझा रह जाएगा और उस हाथ से किए जाने वाले कार्य या उसकी सहायता से होने वाले कार्य तो बाधित होंगे ही अथवा मुँहपत्ति हाथ में रखकर ही काम करने होंगे या फिर मुँहपत्ति कहीं रखकर कार्य को सम्पादित करना होगा और विवेक की दृष्टि से ऐसा करना अनुचित ही कहा जा सकता है।

□ थूक सम्मूर्च्छिम-उत्पत्ति का स्थान नहीं है.....

मुख पर मुँहपत्ति नहीं बाँधने व हाथ में उसे धारण किए रखने के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि मुँहपत्ति के बँधे रहने पर मुँह की भाप, थूक आदि से मुँहपत्ति के मुख के साथ चिपके रहने वाली तह पर सम्मूर्च्छिम जीवोत्पत्ति होने की सम्भावना बनती है और उनकी हिंसा होती है। यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि मुँहपत्ति की प्रतिलेखना यथासमय करने का जो उल्लेख आगमों में है, उसे पालन किया जाए तो सम्मूर्च्छिम जीवोत्पत्ति की सम्भावना बनने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

वैसे भी थूक में सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति बताना आगम-विरुद्ध है। ऐसा वे ही कह सकते हैं, जिनका आगमज्ञान अपूर्ण है, अल्प है। पन्नवणा जी में सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति के १४ स्थान बताए हैं। वे १४ स्थान इस प्रकार हैं—

- (१) उच्चारेसु वा—विष्ठा (भिष्ठा) में।
- (२) पासवणेसु वा—मूत्र (पेशाब) में।
- (३) खेलेसु वा—खेंकार (बलगम) में।
- (४) संघाणेसु वा—नाक के श्लेष्म में।
- (५) वन्तेसु वा—वमन (कै, उल्टी) में।
- (६) पित्तेसु वा—पित्त में।
- (७) पुड्गएसु वा—पीव (मवाद, रस्सी) में।
- (८) सोणिएसु वा—रक्त (खून, शोणित) में।
- (९) सुक्केसु वा—वीर्य (शुक्राणु) में।
- (१०) सुक्के पोग्गल परिसाडिएसु वा—वीर्य के सूखे हुए पुद्गलों के गीले होने पर उसमें।
- (११) विगय-जीव कलेवरेसु वा—शव में।
- (१२) इत्थी-पुरिस संजोएसु वा—मैथुन में।

(१३) नगर-निद्धमणेसु वा—ग्राम, नगर की मोरी (नाली) में।

(१४) सव्वेसु चेव असुइठाणेसु वा—सभी अशुचि स्थलों में।

इन चौदह स्थानों में थूक का तो नामोल्लेख तक नहीं है।

□ मुख-वस्त्रिका बाँधने के दो कारण

मुख-वस्त्रिका क्यों बाँधनी चाहिए मुख पर? दो कारण बताए गये हैं इसके—
(१) वायुकायादि जीवों की रक्षा, और (२) जैन साधुत्व का, मुनिवेश का परिचायक चिह्न (लिंग)।

(१) वायुकायादि जीव-रक्षा हेतु मुँहपत्ति

जैन सन्त छह काया के प्रतिपाल होते हैं, अतः पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति व त्रास अर्थात् बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों को अभयदान देते हैं। मुँह से बोलने पर वायुकाय के जीवों की हिंसा से बचने के लिए मुख-वस्त्रिका धारण की जाती है। इस उद्देश्य के पालन हेतु प्रत्येक जैन-पंचमहाव्रती-षट्जीवनिकाय पाठ द्वारा सुदीक्षित सन्त को आवश्यक रूप से मुख-वस्त्रिका धारण करनी चाहिए, पर ध्यान रहे कि मुख-वस्त्रिका हथ-वस्त्रिका न बने, अर्थात् हाथ में धारण न की जाए।

हाथ में रहेगी मुँहपत्ति (मुख-वस्त्रिका) तो हाथ ऊपर-नीचे होने की स्थिति बनने पर खुले मुँह बोलने की पूर्ण सम्भावना रहेगी, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। मान लीजिए छींक आ गई, उबासी आ गई तो ऐसी और इसी तरह की अन्य स्थितियों में क्या हाथ में धारित वह मुख-वस्त्रिका स्थिर रह सकेगी? स्थिर नहीं रहेगी तो क्या वायुकाय जीवों की विराधना नहीं होगी?

□ हिंसा के आतंक को जानकर मुनि हिंसा नहीं करता

भगवान महावीर स्वामी ने आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन के सप्तम उद्देशक (सूत्रांक-१४५, १४६, १४९) में फरमाया है—पहू एजस्स दुगुंछणाए ॥ आतंकदंसी अहियं ति णच्चा ॥.....इह संतिगता दविया णावकंखंति जीविउं ॥ अर्थात् साधक हिंसा में आतंक को देखकर उसे अपने लिए अहित मानता है, अतः दयार्द्र हृदय बन मुनि जीव-हिंसा नहीं करते। (चूँकि वे स्वयं जीना चाहते हैं, अतः दूसरों को भी जीने का अधिकार देते हैं।)

बन्धुओं! यहाँ आतंक का अर्थ है हिंसा से होने वाला कष्ट, भय पारलौकिक दुःख। इसे आगमवाणी या आत्मानुभव रूप आत्मज्ञान से ही देखा जा सकता है। इसी तरह अहित का

अर्थ है—आत्मा का अहित। जो जानता है कि सम्यग्ज्ञान आदि रत्नत्रयी दुष्प्राप्य है, वही आत्मा के अहित को जान सकता है।

□ मुनि अंधानुकरण या परम्परा-पालन के लिए अहिंसाव्रती नहीं है

अहिंसा का पालक साधक-वर्ग यदि अंधानुकरण या परम्परा-निर्वाह के लिए अहिंसा-पालन का आडम्बर करते हैं तो वह अहिंसा-पालन सम्यक् नहीं है। साधक को चाहिए कि वह हिंसा-अहिंसा के विराट् स्वरूप का ज्ञान कर करुणा भाव से हिंसा का पूर्ण त्याग करे और पूर्ण अहिंसा का पालन करे। इसके लिए आवश्यक है—जीव-मात्र को आत्मवत् मानना, किसी भी प्राणी के कष्ट को देख स्वयं कष्टानुभूति करना और यह जानना-मानना कि किसी भी प्रकार की जीव-हिंसा से जिसकी हिंसा हो रही है, उसी को कष्ट हो ऐसा नहीं है अपितु हिंसा करने वाले के ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप आत्मगुणों की भी हानि होती है।

□ आपकी तरह स्थावर जीव भी जीने की इच्छा रखते हैं

बन्धुओं! “सव्वे जीवा वि इच्छुं.....” के प्रभु कथन को चिन्तन में लेना है। संसार के सभी जीव जीना चाहते हैं, सुख चाहते हैं। उनकी मूल वृत्ति है—शान्ति प्राप्त करने की अभिलाषा! एक जीव यदि अपनी इन वृत्तियों को पहचान लेगा तो वह यह भी जान लेगा कि अन्य जीवों को भी यही वृत्तियाँ हैं। यह ज्ञान ही साधक को द्रवीभूत, दयार्द्र और कारुण्य-भाव से ओतप्रोत बनाकर त्रस-स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा से विलग करता है, अहिंसा में प्रवृत्त बनाता है।

□ वायुकाय-समारंभ आत्म-अहित है

लेकिन एक पूर्ण अहिंसक और गृहत्यागी जब विविध प्रकार के शस्त्रों या साधनों से वायुकाय के जीवों का समारंभ करता है तो वह हिंसा उसके आत्मा का अहित ही करती है। आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन के सातवें उद्देशक में ही उल्लेख आता है—“इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणणपूयणाए, जाती-मरण-मोयणाए, दुःखपडिघातहेतुं॥ से सयमेव वाउसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वाउसत्थं समारंभते समणुजाणति ॥ तं से अहियाए, तं से अबोधीए।”

(आचारांग-१/७/१५४-१५५-१५६)

कोई साधक साधना-जीवन में प्रशंसा, सम्मान या पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के लिए, दुःखों का प्रतिकार करने के लिए स्वयं वायुकाय जीवों का शस्त्र-समारंभ करता

है, दूसरों से करवाता है और करने वालों का अनुमोदन करता है तो वह वायुकायिक हिंसा उसके आत्मा का अहित करती है, उसकी बोधि का हनन करती है।

बन्धुओं! आत्मा का विभाव में जाना ही हिंसा है। हिंसा के साथ आत्महिंसा होती ही है। कारण कि हिंसा आत्मगुणों का घात करती है और आत्मगुणों का घात ही आत्महिंसा है। हिंसक सर्वप्रथम स्वयं के शान्त-प्रशान्त-अप्रमत्त स्वभाव का हनन करता है। कहा जा सकता है कि हिंसा के भाव में स्वभाव-च्युति प्रधान है। अतः “**से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।**”

अर्थात् हिंसा के पूर्व स्वरूप को भली प्रकार से समझकर मुनि वायुकायादि तथा समस्त अन्य स्थावर व त्रसकायिक जीवहिंसा को त्याग, संयम में सुस्थित हो जाए।

“**सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अत्तिए इहमेगेसिं णायं भवइ-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।**” (आचारांगसूत्र)

ऐसा हिंसात्यागी मुनि, अहिंसा का पूर्ण पालक साधक प्रभु से या गृहत्यागी अहिंसापालक श्रमण-श्रमणियों से सुनकर जान ले कि यह जो हिंसा है—वह ग्रन्थिरूप है, वही मोहरूप है, वही मृत्युरूप है और वही नरक का द्वार है।

□ वायुकाय-हिंसा किस तरह होती है ?

अज्ञानी व्यक्ति हिंसा में आसक्त बनकर विविध प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय की हिंसा करता है। निर्युक्ति (१७०) में वायुकाय के शस्त्र के रूप में जिन पाँच वस्तुओं का वर्णन है, वे इस प्रकार हैं—

विअणे य तालवंटे, सुप्प सियपत्त चेलकण्णे य।

अभिधारणा य बाहिं गंधग्गी वाउसत्थहिं॥

तात्पर्य यह कि बीजणा या पंखा, तालपत्र, चामर, वस्त्र-छोर (किनार) से हवा करना दूसरी वायु के लिए शस्त्र है।

इसी प्रकार पसीने से लथपथ शरीर पर हवा का स्पर्श, गंध, अग्नि की उष्णता आदि भी वायुघातक शस्त्र हैं।

निशीथसूत्र में एक वायु को दूसरी वायु का शस्त्र बताया है। स्वकाय से भी वायु की हिंसा होती है। ऐसी वायुकायिक हिंसा के साथ अनेक अन्य प्रकार के जीवों की भी हिंसा होती है। वायुकाय की शस्त्र-परिज्ञा या स्वकाय से या अन्य प्रकार से जो हिंसा का दोषी है, वह अन्य जीव-हिंसा का भी दोष लगाता है।

□ बुद्धिमान साधक तीन करण-तीन योग से वायुकायादि हिंसा त्यागें
आचारांगसूत्र के इसी प्रथम अध्ययन में आगे कहा गया है—

संति संपाइमा पाणा, आहच्च संपयंति य।
फरिसं च खलु पुट्टा, एगे संघायमावज्जंति ॥
जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति।
जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उद्दायंति ॥

(आचारांग-१/७/१६४)

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति। —१६५

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णा या भवंति। —१६६

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वायुसत्थं समारंभेज्जा, णेव अण्णेहिं वाउसत्थं
समारंभावेज्जा, णेव अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा। —१६७

जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिणाय कम्मे। —१६८

तात्पर्य यह कि आकाश में उड़ने वाले कुछ प्राणी होते हैं जो वायु से प्रताड़ित होकर नीचे गिर जाते हैं।

कुछ प्राणी ऐसे हैं जो वायु का स्पर्श पाकर या वायु का आघात लगने पर सिकुड़ जाते हैं, ऐसे प्राणी वायु स्पर्श या आघात से सिकुड़ते हैं तो मूर्च्छित हो जाते हैं।

जब वे जीव मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं तो मर भी जाते हैं।

जो यहाँ वायुकायिक जीवों का समारंभ करता है, वह यद्यपि इन आरंभ-समारंभ के कार्यों से अनजान ही होता है, पर वह तत्संबन्धी हिंसा की प्रवृत्तियों से अलिप्त नहीं कहा जा सकता, अतः दोष तो उसे लगता ही है।

जिसने वायुकाय सम्बन्धी हिंसा, समारंभ आदि का ज्ञान प्राप्त कर लिया, वह तब वायुकायिक जीवादि की हिंसा-समारंभ नहीं करता, त्याग देता है ऐसे कार्यों को।

भगवान कहते हैं कि बुद्धिमान साधक स्वयं वायुकाय का समारंभ न करें, दूसरों से न करवाएँ और जो कर रहे हैं ऐसा उनको समुचित मानकर, उनका अनुमोदन भी नहीं करें।

□ वायुकाय-जीव रक्षा का उत्तम साधन है बँधी हुई मुँहपत्ति

बन्धुओं! साधक-मुनियों का शरीर-संपोषण मात्र संयम-साधनाओं के परिपूर्ण रूप से पालन के लिए होता है और इन सन्त, महात्मा-मुनियों का विहार भी विवेक के साथ होता है, जिसमें अनासक्ति के भाव निहित होते हैं।

वे ईर्या-समिति का पालन करते हैं तो त्रस व स्थावर जीवों की हिंसा से बचते हैं। यह जो 'पर' दया व 'पर' रक्षा का भाव है, वही साधक के लिए 'स्व' दया व 'स्व' रक्षा का कारण है, क्योंकि यह नियम है—'जहाँ पर-दया, वहीं स्व-दया!'

जहाँ तक वायुकायिक जीवों की रक्षा का प्रश्न है वह ईर्या-समिति के पालन से सम्भव नहीं। वायुकायिक जीवों की रक्षा के लिए तो साधक को मुँह पर मुँहपत्ति बाँधनी ही चाहिए। क्योंकि वायुकायिक जीवों की उदीरणा मुख्य रूप से मुख द्वारा ही होती है।

□ मुनियों की जघन्य तीन उपधि में मुँहपत्ति का महत्त्व

मुनियों के लिए जघन्य तीन उपधि रखने का विधान है—(१) रजोहरण, (२) मुख-वस्त्रिका, और (३) पात्र।

रजोहरण ईर्या-समिति पालन के लिए मुख्य उपधि है। आवागमन में तथा प्रतिलेखना-प्रमार्जन में उसका उपयोग त्रसकाय जीवों की रक्षा करने के लिए होता है।

संयम के सुचारु पालनार्थ शरीर-पोषण के निमित्त से पात्र-उपधि रखी जाती है।

प्रमत्त संयति आत्माएँ त्रस व स्थावर जीवों की रक्षा करते हैं, पर वे प्रमत्त संयति एवं उनके पास के उपकरण रजोहरण भी मुख से निकलने वाले भाषा समिति से उदीरित वायुकाय जीवों की रक्षा करने में असमर्थ हैं। अतः २१ अंगुल लम्बे व १६ अंगुल चौड़े वस्त्र के आठ पुट देकर उसे मुख-वस्त्रिका बनाकर मुँह पर बाँधना ही चाहिए। यह मुख-वस्त्रिका बन्धन कर्म-बन्धन काटने में सहायक रूपी है, अतः इसका कार्य महत्त्वपूर्ण है।

□ नासिका से उदीरित वायुकायिक-जीवों की रक्षा कैसे हो ?

घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका का कार्य है श्वास लेना व छोड़ना। श्वास लेने व छोड़ने के द्वारा भी वायुकाय के जीवों की उदीरणा होती है। यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि इस स्थान से होने वाली वायुकाय-उदीरणा में वायुकाय-जीवों के समारम्भ से मुनि कैसे बचें ?

बन्धुओं ! प्रथम बात तो यह कि नाक के भीतर में अग्र भाग में जो रोमावलि (बाल) होती है, वह वायु के वेग को मंद बना देती है। दूसरी बात मुख पर यदि मुख-वस्त्रिका बाँधी हुई है तो नाक के इतने निकट होने से वह श्वासोच्छ्वास के वायुवेग को तोड़ देगी, अतः दोष नहीं लग पाएगा। यही विवेक है और वीतराग प्रभु तो 'जयं चरे, जयं चिट्टे' का ही सन्देश देते हैं। तात्पर्य यह कि उनके कथन में भी विवेक ही धर्म है। अनेक ग्रन्थकार तो यहाँ तक कहते हैं कि साधक को श्वास-क्रिया में मंदता लाने के लिए अनेक बार कायोत्सर्ग करना

चाहिए, क्योंकि जितनी-जितनी श्वासोच्छ्वास क्रिया मंद होगी, उतनी-उतनी संयमोत्कृष्टता बढ़ती जाएगी। मुनिचर्या में विवेक की मात्रा के अनुपात में भी श्वासोच्छ्वास मंद बन सकेगा।

“कायोत्सर्ग में निपुणता, निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर श्वासोच्छ्वास नासिका के दोनों छिद्रों को छोड़कर स्वयमेव तालुवा के बाल की अणि के आठवें भाग प्रमाण अतिसूक्ष्म रंध्र में से, अर्थात् दसवें द्वार में से होकर निकलती है।” (परमार्थ प्रकाश टीका)

□ प्रबल वायु-वेग को भी रोकना

आचारंगसूत्र के ही द्वितीय श्रुतस्कंध में उल्लेख मिलता है—

“से भिक्खु वा भिक्खुणी वा ऊसासमाणे वा, णीसासमाणे वा, कासमाणे वा, छीयमाणे वा, जंभायमाणे वा, उड्डुएण वा, वायणिसग्गे वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपिहित्ता तओ संजयामेव ऊससेज्ज वा जाव वायणिसग्गं वा करेज्जा।”

अर्थात् साधु अथवा साध्वी उच्छ्वास या निच्छ्वास के समय खाँसी, छींक, जँभाई, उबासी, डकार, वायुत्सर्ग आदि क्रियाओं के समय पहले ही मुखादि को हाथ से ढक लें। ऐसा करने के पश्चात् उच्छ्वास आदि क्रियाएँ करें।

यहाँ यदि कोई यह कहे कि जब मुख-वस्त्रिका मुख पर बाँधना आगम-सम्मत है तो यहाँ, इन क्रियाओं को करने से पूर्व हाथ से यतना करने का विधान क्यों रखा गया या कथन क्यों किया गया?

बन्धुओं! ये सभी प्रसंग वायु के वेग में प्रबलता के हैं। उच्छ्वास, छींक, उबासी, डकार, जँभाई, खाँसी आदि के समय वायु वेग में प्रबलता के कारण मुख-वस्त्रिका के रहते हुए भी वह वायु बिना किसी बाधा के वेगपूर्वक बाहर निकल जाती है जो साधक के लिए अतीव अयतना का कारण है। मुँह पर बँधी और ओष्ठों पर रही मुख-वस्त्रिका क्या उस वेग को सहन कर पाती है? नहीं, वह इधर-उधर हो सकती है। अतः शास्त्रकारों ने ठीक ही कहा कि ऐसे समय हाथ से यतना कर लेनी चाहिए। अब बँधी हुई मुख-वस्त्रिका पर हाथ का भी दबाव आयेगा तो वह इधर-उधर नहीं हो सकेगी।

ऐसे समय यदि हाथ में मुख-वस्त्रिका रही हुई होती तो क्या सूत्रकार सूत्रपाठ में हाथ से यतना की बात कहते? स्पष्ट है कि यह पाठ भी मुख-वस्त्रिका को मुख पर बाँधने का ही प्रमाण है।

□ मुख पर बँधी हो मुँहपत्ति : कुछ अकाट्य उद्धरण

आचार्य हेमचन्द्र सूरीश्वर ने योगशास्त्र के भाषान्तर में लिखा है—“मुँहपत्ति पण उडीने मुखमां पड़तां जीवों तथा मुखना उष्णवाय थी बाहर ना वायुकाय जीवों नी विराधना टालवा माटे छे, तेम मुखमां पड़ती धूलने पण अटकाववा माटे छे।”

(भीमसिंह माणेक द्वारा प्रकाशित और निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित वि. सं. १९५५, पृष्ठ २६०)

“मुखादिवातैर्बाध्यन्ते”

अर्थात् मुख आदि से निकलने वाली वायु भी वायुकाय के जीवों की विराधना करती है।

(प्रवचनकार श्री रामचन्द्रविजय जी, जैन प्रवचन साप्ताहिक, वर्ष ४, अंक ३५, पृष्ठ ४०७)

“वचन नी प्रवृत्ति मां थती हिंसाने निवारना मुँहपत्ति नी जरूर छे।”

(सागरानंद सूरि जी की “दीक्षानुं सुन्दर रूप” पुस्तक के पृष्ठ ३१ पर)

यही सागरानंद सूरि जी लिखते हैं—“मुख-वस्त्रिका के अभाव में भाषा सावद्य होती है। निर्वद्य भाषा की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् भी कोई मुँहपत्ति की मान्यता नकारे तो वह मिथ्यात्वी बने।”

(गुजराती से हिन्दी में अनूदित)

जैनज्म (श्रंपद) नामक ग्रंथ जो जर्मन विद्वान् हेल्मुटग्लाजे नॉव द्वारा लिखित है। उसके भाषा-रूपान्तर (जैनधर्म) में पृष्ठ ३४६ पर लिखा है—

“वायु ना जंतुनी हिंसा थाय नहीं, एटला माहे मोढ़े बांधवानी मुख पट्ट्ठी।”

(जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

जैन सत्य प्रकाश (मासिक) के प्रथम वर्ष के ७वें अंक में पृष्ठ २०१ पर ‘सागरानन्द सूरि जी’ लिखते हैं—

“सचित्त वायुकाय जीवों की विराधना बिना मुख-वस्त्रिका लगाये साधु करते ही हैं, इसमें शंका का कोई स्थान नहीं। शास्त्रों में भी यह बात सिद्ध है कि शरीर के अन्दर की वायु के पुद्गल बाहर की वायु के लिए स्वकाय-शस्त्ररूप है। मुख-वस्त्रिका मुख से निकलती हुई वायु के वेग को तोड़कर इतना धीमा कर देती है कि फिर वह बाहर के वायु का घात नहीं कर सकती या बहुत कम अंशों में आघात पहुँचा पाती है। इसीलिए तो शास्त्रकार भी साधु-साध्वीगण को फूँक देने से मना करते हैं।”

□ सार-संक्षेप

इन सभी उदाहरणों से आप समझ गये होंगे कि मुख पर मुँहपत्ति की कितनी आवश्यकता है। भाषा समिति के दोषों से बचने के लिए एवं पूर्ण अहिंसा महाव्रत पालन के लिए मुँह पर मुँहपत्ति अवश्य बाँधी होनी चाहिए। इसी से षट्काय जीवों की रक्षा का संकल्प पूर्ण होता है और संत को षट्काय जीवों का प्रतिपाल कहना सार्थक बनता है।

(२) जैन श्रमण-श्रमणी के परिचायक चिह्न (लिंग) के रूप में मुँहपत्ति

मुँह पर मुँहपत्ति बाँधने का दूसरा कारण आपको बताया था—“यह जैन साधु-साध्वियों का जीवन-पर्यन्त का तथा श्रावक-श्राविकाओं का ‘व्रत-पौषध-संवर’ पर्यन्त का बाह्य लिंग (चिन्ह) है।”

□ प्रत्येक धर्म का अपना एक विशेष चिह्न

बंधुओं! संसार में जितने भी धर्म, मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि हैं उन सभी का अपना कुछ खास ऐसा बाह्य चिह्न होता है जिसे देखते ही उस मत, सम्प्रदाय आदि का ज्ञान हो जाता है। ये बाह्य चिह्न संसार के किसी भी अन्य पंथ, मत से अपने मत की अलगता-विलगता सिद्ध करते हैं। किसी पंथ में पीताम्बर धारण किया जाता है तो किसी में भगवा या रक्तवर्ण वस्त्र धारण करते हैं। कुछ सम्प्रदाय लम्बा तिलक लगाते हैं तो कुछ सम्प्रदाय केवल बिन्दी। कुछ पंथानुगामी त्रिशूल रखते हैं तो कुछ मयूरपंख धारण कर लेते हैं।

□ मुख-वस्त्रिका जैन साधु का मुख्य चिह्न

अनादिकाल से जैन साधुओं की भी अपनी अलग ही पहचान बनी हुई है। वह पहचान दो प्रकार की है—आभ्यन्तरिक आचार-विचार या क्रिया-कलाप तथा बाह्य लिंग (चिह्न)! अन्य मत-मतान्तरों के धर्मगुरु-धर्माचार्यों की पहचान में भी बाह्य चिह्न के अतिरिक्त उनकी आचार-पद्धति व विचार, अर्थात् दार्शनिक-सिद्धान्त भी उनकी पहचान है।

जैनधर्मावलम्बियों के बाह्य चिह्न के रूप में मुख्य रूप से मुख-वस्त्रिका को माना जाता है। शिवपुराण संहिता, अध्याय २१, श्लोक २५ में स्पष्ट कहा गया है—

हस्ते पात्रेर्दयानश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः।

मलिनान्येव वासांसि, धारयन्तोऽल्प भाषिणः॥

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि जो हाथ में पात्र (भिक्षार्थ) धारण किए हुए हों, जो मुँह पर वस्त्र (मुँहपत्ति) धारण किए हुए हों, जिनके वस्त्र दिखने में मलिन दिखाई दें और जो अल्पभाषी, मितभाषी, कम बोलने वाले हों—वे जैन मुनि (साधु) होते हैं।

जयगच्छीय श्रुताचार्य स्वामीवर्य श्री चौथमल जी म. सा. ने भी जैन साधुओं की पहचान व उनकी चर्या का वर्णन अपने काव्य में किया है, काव्य की पहली ही पंक्ति है—

साधु जैन रा, मुखड़ा रे ऊपर मुँहपत्ति बांधे रे.....

इसी प्रकार 'सावचूरि यति दिनचर्या' में उल्लेख मिलता है—

बत्तीसांगुलढीहं रयहरणं पुत्तियाय अब्हेणं।
जीवाण रक्खणहा, लिंगहा चेव एयंतु॥

इस गाथा में कहा गया है कि ३२ अंगुल लम्बा रजोहरण और उससे अर्द्धमाप की (१६ अंगुल) मुख-वस्त्रिका—ये जीवों की रक्षा तथा लिंग (पहचान) के लिए रखे जाते हैं।

साधु-समाचारी एवं आवश्यक बृहद्वृत्ति (हरिभद्रीय) में मृतक साधु के लिए भी लिंग की अपेक्षा से मुख-वस्त्रिका धारण करवाने का उल्लेख मिलता है। साधु-समाचारी में उल्लेख है—

मयग कलेवरणहविन्ता कुंकुमाइहिं विलिंपित्ता य अवंगं चोलयहं परिहाविय,
“पुत्तिं-मुखे-बांधियं” बीयं वत्थं हिट्ठा पत्थरिय, तइएणं उवरि पाडणिय संथारे कहिए
दोरिं वज्झई।

इसका तात्पर्य यह है कि मुनि के मृत-शव (पार्थिव-शरीर) को स्नान कराकर, कुंकुम आदि से विलेपन करके और उल्टा चोलपट्टा पहिनाकर 'मुँह पर मुख-वस्त्रिका' बाँधे। दूसरा वस्त्र नीचे बिछाकर और तीसरा वस्त्र संथारे (संस्तारक) पर ढककर कमर में डोरी बाँधे।

(साधु-समाचारी)

“तत्थय-जाहे चेव काल गतो चेव हत्थ पादा उज्जाधारिज्जन्ति। तुंडं च से 'मुखं पोत्तियाए बज्झई', जाणि संधाणाणि अंगुलि-अंतराणि.....।”

(आवश्यक बृहद् वृत्ति (हरिभद्रीय) प्रतिक्रमर्णाप्ययन परिष्ठापनिकाधिकार)

अर्थात् “जिस समय भी साधु काल करे, उसी समय शीघ्र उसके हाथ, पैर सीधे करके पकड़कर रखा जाए और मुँह पर मुँहपत्ति बाँधी हो तो ठीक अन्यथा मुँह पर मुँहपत्ति बाँधी जाए। जितने अंगुल.....”

इन सब उदाहरणों को आपसे बताने का मेरा तात्पर्य मात्र यही है कि—(१) मुँहपत्ति अनिवार्य है, और (२) वह मुँह पर बाँधी हुई ही होनी चाहिए।

□ जैनागम व जैन इतिहास में मुँहपत्ति के साक्ष्य

(१) तीर्थकर-इतिहास

इस अवसर्पिणी काल की तीर्थकर-चौबीसी के प्रथम तीर्थकर भगवान आदिनाथ ऋषभदेव से चरम-चौबीसवें तीर्थकर शासनपति भगवान महावीर तक प्रत्येक तीर्थकर भगवंत के शासनकाल में मुख-वस्त्रिका का विधान साधु-साध्वी भगवंतों के लिए था। स्वयं तीर्थकर भगवंत तो कल्पातीत होते थे, अतः वे तो निर्वस्त्र ही रहते थे, उनके लिए किसी भी तरह के कल्प का पालन अनिवार्य नहीं था। जीतकल्पी वह जो कल्प को जीत ले। शेष जो साधु-साध्वी समुदाय होता था, तीर्थकर भगवंतों का, उनके लिए वस्त्र धारण व मुख पर मुख-वस्त्रिका धारण करना अनिवार्य था।

भगवान ऋषभ व भगवान महावीर इन दोनों के शासनवर्ती साधु-साध्वी श्वेत अल्प मूल्यवान वस्त्र अनिवार्यतः धारण करते थे और मध्यवर्ती २२ तीर्थकरों के स्थविरकल्पी, गणधर, साधु-साध्वी रंगीन और बहुमूल्य वस्त्र भी धारण कर सकते थे। मुख बाँधने, अर्थात् मुख पर मुखपत्ति, मुँहपत्ति या मुख-वस्त्रिका धारण करने की अनिवार्यता थी, जीव रक्षार्थ वह आवश्यक रूप से धारण की जाती थी। कारण स्पष्ट है—खुले मुँह यदि एक भी शब्द मुख से बाहर आता है तो भाषा सावद्य हो जाती है और साधु-साध्वी सावद्य-भाषा का पूर्ण त्यागी होता है।

(२) गणधर गौतम और अतिमुक्त कुमार (अंतकृतदशांग, वर्ग ६, अ. १५)

सामान्य छद्मस्थ साधु-साध्वी कदाचित् प्रमाद में आकर इस सम्बंध में कभी कोई भूल कर भी दे, लेकिन चार ज्ञान के धनी और चौदह पूर्व का ज्ञान जानने वाले गणधर गौतम स्वामी से तो ऐसी भूल हो नहीं सकती कि वे खुले मुँह, सावद्य भाषा निकालें। अंतकृतदशांगसूत्र में जो सूत्र पाठ आया है, वह इस प्रकार है—

“तए णं से अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं अदूरसामंतेण वीईवयमाणं पासइ, पासित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागए। भगवं गोयमं एवं वयासी—के णं भंते ! तुब्भे, किं वा अडह !”

तएणं भगवं गोयमे अइमुत्तं कुमारं एवं वयासी—“अम्हे णं देवाणुप्पिया ! समणा णिगंथा इरियासमिया जाव बंभयारी उच्चणीय जाव अडामो।” तए णं अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं एवं वयासी—

“एह णं भंते ! तुब्भे, जण्णं अहं तुब्भं भिक्खं दवावेमि—” त्ति कट्टु भगवं गोयमं अंगुलीए गिण्हइ, गिण्हत्ता, जेणेव सए गिहे तेणेव उवागए ।

तात्पर्य यह कि गणधर गौतम स्वामी को देखकर अतिमुक्त उनके पास जाते हैं और कहते हैं—“हे पूज्य! आप कौन हैं और इस तरह क्यों घूम रहे हैं ?”

तब गौतम कहते हैं कि “हम श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं और भिक्षार्थ भ्रमण कर रहे हैं।”

गौतम के मुँह से यह सुनकर अतिमुक्त गौतम से कहते हैं—“हे भगवन् ! मेरे घर चलिए । मैं आपको भिक्षा दिलाता हूँ।”—इतना कहकर अतिमुक्त गौतम स्वामी की अंगुली पकड़ लेते हैं और अपने घर ले जाते हैं। अतिमुक्त गौतम स्वामी से उनके परिचय की पृच्छा के लिए भी प्रश्न करते हैं और गौतम गणधर उन प्रश्नों का समाधान कर बालक की जिज्ञासा को शान्त बनाते हैं।

अब चिन्तन यह करना है कि उन महान् लब्धिवन्त गणधर गौतम स्वामी के एक हाथ में भिक्षा की झोली है और एक हाथ की अंगुली बालक अतिमुक्त ने पकड़ रखी है तो क्या उस समय अतिमुक्त के प्रश्नों के उत्तर भगवान गौतम स्वामी ने खुले मुँह से दिए? यदि दिए तो क्या यह उनके लिए कल्पनीय आचरण था?

बंधुओं! यह त्रिकाल में भी संभावित नहीं है। मुख-वस्त्रिका मुख पर न होकर हाथ में होती तो उनका संभाषण, उनका वार्त्तालाप, उनका प्रश्न-समाधान संभव ही नहीं होता। इससे स्वतः स्पष्टतया सिद्ध है कि उनके मुख पर मुँहपत्ति धारण की हुई थी और वह वहाँ बँधी हुई थी।

(३) पोट्टिला-वृत्तांत (ज्ञाताधर्म., अ. १४)

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में भी एक प्रसंग आता है, जो सिद्ध करता है कि आगमानुसार मुख पर मुँहपत्ति बँधी रहती थी। इस सूत्र के चौदहवें—‘तेतलिपुत्र’ नामक अध्ययन को गौर से पढ़िए। तेतलिपुत्र की पत्नी थी पोट्टिला। किसी कारणवश तेतलिपुत्र का मन पोट्टिला से उतर जाता है। कभी उसको मनोज्ञ लगने वाली पोट्टिला उसे अमनोज्ञ लगने लगती है। तब वह एक दिन अपने यहाँ भिक्षार्थ पधारी हुई भिक्षुणियों, साध्वियों से कोई ऐसा मंत्र, तंत्र माँगती है जो पति को पुनः उसकी ओर झुका सके, आकर्षित कर सके। इस पर वे साध्वियाँ जी, आर्या जी उन्हें क्या कहती हैं और कैसे कहती हैं? सूत्र में इसका पाठ आया है—

तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए एवं वृत्ताओ समाणीओ दो वि कन्ने ठाइंति, ठाइत्ता पोट्टिलं एवं वयासी—“अम्हे णं देवाणुप्पिया ! समणीओ-निगंथीओ जा गुत्तबंभचारिणीओ, नो खलु कप्पइ अम्हं।”

अर्थ यह कि—पोट्टिला का ऐसा कथन सुनकर उन साध्वीगण ने अपने दोनों कान बन्द कर लिए, अर्थात् उन साध्वियों ने अपने दोनों कानों पर अपने दोनों हाथ रख लिए और पोट्टिला से कहा—“देवानुप्रिये! हम निर्ग्रन्थ-श्रमणियाँ हैं यावत् गुप्त ब्रह्मचारिणियाँ हैं। अतएव ऐसे वचन हमें कानों से श्रवण करना भी नहीं कल्पता.....!”

बंधुओं! कान पर दोनों हाथ देकर उसकी बात सुनने का भी निषेध किया। दोनों हाथ कान पर ही हैं और कहा कि—“देवानुप्रिये! हम निर्ग्रन्थ.....!” यह सूत्र पाठ क्या कहता है? स्पष्ट है साध्वियाँ खुले मुँह नहीं बोली हैं, अतः निश्चय ही उनके मुख पर मुँहपत्ति बँधी हुई थी। जैन साधु-साध्वी खुले मुँह एक शब्द भी नहीं कहते फिर पोट्टिला को तो सुत्रता आर्या ने पूरा धर्मोपदेश दिया था। मुख-वस्त्रिका यदि हाथ में होती तो उनका खुले मुँह बोलना सिद्ध होता है, पर खुले मुँह कोई जैन साधु-साध्वी बोलते नहीं, अतः स्पष्ट है कि दोनों हाथ से कान बन्द किए साध्वियों के संभाषण, कथन, उपदेश आदि के समय मुख पर मुखपत्ति बँधी हुई थी।

(४) सुकुमालिका वृत्तांत (ज्ञाताधर्म., अ. १६)

अब आगे ज्ञाताधर्मकथांग का १६वाँ अध्ययन देखिए। द्रौपदी का अध्ययन है वह। द्रौपदी अपने पूर्वभव में सुकुमालिका थी। वह सागरदत्त सार्थवाह की पुत्री थी। देखने में वह इष्ट, कांत, मनोज्ञ, सुन्दर, सुकुमार थी। उसके मनोज्ञ रूप को देख जिनदत्त ने अपने पुत्र सागर के विवाह का प्रस्ताव सागरदत्त से किया। सागरदत्त ने शर्त रखी कि वह मेरी एक ही पुत्री है और अतिवल्लभ है, अतः हम माता-पिता उसे अपने से दूर नहीं रख सकते। आपका पुत्र हमारे घर में घर-दामाद (घर-जँवाई) बनकर रहना स्वीकार करे तो हमें यह रिश्ता स्वीकार है।

सागर ने कभी एक बार सुकुमालिका के उस मोहक रूप की छवि देखी थी, अतः पिता के पूछने पर ‘ना’ नहीं कहा। विवाह हो गया। विवाह के समय वेदी पर हस्त-मिलाप के समय सुकुमालिका का हस्त-स्पर्श सागर को ऐसा लगा, जैसे एक साथ सैकड़ों सुइयाँ उसकी हथेली में घुस गई हों या फिर ऐसा लगा जैसे किसी बिच्छू ने डंक लगा दिया हो। वस्तुतः यह स्पर्श किसी ज्वाला, किसी अंगारे की भाँति दहकता हुआ उसे अनुभव हुआ। रात्रि में शरीर-स्पर्श भी उतना ही असह्य लगा। दूसरी बार का अनुभव भी वैसा ही रहा। तब उसी प्रथम रात्रि में ही शयनागार का निःशब्द द्वार खोल सुकुमालिका को वहीं त्याग वह अपने घर आ गया।

सुकुमालिका के पिता सागरदत्त को जब ज्ञात हुआ तो वह जिनदत्त के घर आकर उपालंभ देने लगा। जिनदत्त ने उसे बिठाकर भीतर पुत्र के कमरे में जाकर पुत्र से बात की तो पुत्र सागर बोला—“पितृवर! मुझे पर्वत से गिरना स्वीकार है, सागर में डूबना स्वीकार है, अग्नि-प्रवेश भी स्वीकार है, विष-भक्षण करना या परदेश चले जाना या दीक्षा ले लेना भी स्वीकार है, पर मैं सागरदत्त सार्थवाह के घर नहीं जाऊँगा।”

दीवार के पार बैठे सागरदत्त ने जब यह सुना तो वह चुपचाप, खिन्न मन से उठकर वहाँ से अपने घर आ गया। घर आकर उसने अपनी पुत्री को समझाया—“किं णं तव पुत्ता ! सागरएणं दारएणं मुक्का ! अहं णं तुमं दाहामि जस्स णं तुमं हट्ठा जाव मणामा भविस्ससिं त्ति सूमालियं दारियं ताहिं इट्ठाहिं वग्गूहिं समासासेइ, समाससित्ता पडिविसज्जेइ।”

सागरदत्त पुत्री सुकुमालिका से कहता है—“हे पुत्री ! सागर ने तुझे त्याग दिया तो क्या हुआ? अब मैं तेरा विवाह ऐसे व्यक्ति से रचाऊँगा, जिसे तू इष्ट होगी, कान्त लगेगी, प्रिय लगेगी और मनोज्ञ लगेगी।”

कालान्तर में सागरदत्त ने सुकुमालिका का विवाह एक हृष्ट-पुष्ट, युवा भिखारी से करना निश्चित किया। वह अति दीन भिखारी फटे हुए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहने था, उसके हाथ में भिक्षान्न एकत्रित करने का एक मिट्टी का पात्र था, हजारों मक्खियाँ उस पर भिनभिना रही थीं।

सार्थवाह के कहने पर उसके दास उस भिखारी को अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर अपने मालिक के घर ले गये। तत्पश्चात् उसका अलंकार-कर्म अर्थात् हजामत, तेल मालिश, उबटन आदि कराया। स्नान कराया। सुन्दर वस्त्र पहनाए। अनेक अलंकरण पहनाकर उसे शोभित बनाया। रुचिकर स्वादिष्ट भोजनादि कराया।

इन सब कार्यों के सम्पन्न होने पर सार्थवाह ने उसे अपनी पुत्री दिखाई और पूछा—“क्या तुम मेरी इस एक मात्र पुत्री को अपनी पत्नी बनाना स्वीकार करते हो?”

भिखारी की स्वीकृति होने पर सार्थवाह ने दोनों का विवाह रचाया। वही हुआ जो सागर के साथ हुआ था। सागर सम्पन्न घराने का था, पर भिखारी की स्थिति तो पूर्णतः दयनीय थी फिर भी वह उसी विवाह-रात्रि में वहाँ के कपड़े खोल, अपने कपड़े पहन, सिकोरा आदि लेकर चुपचाप वहाँ से निकल गया।

सारा वृत्तान्त जानकर सार्थवाह सागरदत्त ने अपनी पुत्री को धैर्य बँधाते हुए कहा— “हे पुत्री! निश्चय ही यह तेरे किन्हीं पूर्वकृत हिंसा आदि भयंकर दुष्कृत्यों का परिणाम है, अतः आर्त करना त्याग दे और हमारी भोजनशाला में जाकर श्रमणों आदि को विपुल अशन-पान आदि से लाभान्वित करती हुई शुभ भावों के साथ बुरे कर्मों को हल्का बना, इसी में तेरी भलाई है।”

पिता के इस प्रकार कहने पर वह सुकुमालिका अपने पिता की भोजनशाला में नित्य जाकर श्रमण-श्रमणियों आदि को आहार आदि दान का प्रतिलाभ लेते हुए समय व्यतीत करने लगी।

एक दिन भोजनशाला में बहुश्रुत आर्या गोपालिका का अपनी कुछ श्रमणियों के साथ भिक्षार्थ पधारना हुआ। सुकुमालिका ने भी पोट्टिला की तरह इन आर्याओं से किसी ऐसे तंत्र-मंत्र या विधि की माँग की जिससे वह पुनः सागर की इष्ट, प्रिय, कांत बन सके।

सूत्रकार ने यहाँ भी पुनः वही स्थिति बतलाई है, अर्थात् कानों पर हाथ रखकर आर्याएँ कहती हैं कि हम जैन साध्वियों को तो ऐसी बातें सुनना भी नहीं कल्पता.....।

(५) सोमिल ब्राह्मण (पुष्फिया, अ. ३)

निरयावलिका पंचक के पुष्फिया, अ. ३ में भी मुख बाँधने का समास मिलता है। वहाँ प्रसंग आता है सोमिल ब्राह्मण का। यह सोमिल ब्राह्मण पूर्णतः वैदिकधर्म को पालन करने वाला था। एक बार उसकी नगरी वाराणसी में पुरुषादानीय अर्हत् प्रभु पार्श्व भगवान पधारे और नगरी के बाहर आम्रशाल उद्यान में विराजित हुए। सोमिल भी जिज्ञासावश प्रभु के समवशरण में गया। अनेक अर्थों और हेतुओं की प्रभु से उस सोमिल ने पृच्छा की और अंत में प्रभु के उपदेश से बोध को प्राप्त कर श्रावकधर्म को, अर्थात् श्रावक के बारह व्रतों को धारण कर वह अपने घर चला गया।

कालान्तर में यथार्थ साधु-समाचारी आदि से हीन असाधुओं के सम्पर्क में आया। पुनः सुसाधुओं की पर्युपासना का प्रसंग नहीं बनने से उसका मिथ्यात्व-पर्याय बढ़ता गया और सम्यक्त्व-पर्यायों से हीन बन मिथ्यात्व-दशा में चला गया।

मिथ्यात्वी बन जाने पर उसने वाराणसी में बहुत से बगीचे लगवाए, उनके पौधों का सिञ्चन करवाया, उनका संरक्षण करवाया। जब वे सभी बगीचे के रूप में विकसित हो गये तो उसकी इच्छा हुई कि गंगातट पर जो बहुत से अग्निहोत्री, पौत्रिक, कौत्रिक, यज्ञयाजी, श्राद्धकी, स्थालकी, हुण्डिका, दान्तोदूरवलिक, उन्मज्जक, निम्मज्जक, संप्रक्षालक, शंखध्मा,

हस्तीतापस, उदण्डा, दिशाप्रोक्षी, बल्कवासी, जलवासी, जलभक्षी, वायुभक्षी, मूलभोजी, शैवालभोजी, कन्दभोजी, पत्रभोजी, पुष्पभोजी, फलाहारी, बीजाहारी आदि तापस रहते हैं, उनमें से मैं दिशाप्रोक्षी तापस बनकर यह अभिग्रह धारण करूँ—

“कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं-छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं दिसाचक्क वालेणं तवोकम्मेणं उड्ढ बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सुराभिमुहस्स आयावरणभूमीए आयविभाणस्स विहरित्ताए।”
(पुष्फिया, अध्याय ३)

अर्थात् मैं यावज्जीवन निरन्तर षष्ठ-षष्ठ दिक्चक्रवाल तपस्या करता हुआ सूर्य के सम्मुख दोनों बाहु उठाकर 'आतापना-भूमि' में आतापना लेता हुआ विचरण करूँ।

उसने ऐसा ही किया। कालान्तर में उसे इच्छा उत्पन्न हुई कि अब मुझे महाप्रस्थान (मरण) के लिए प्रस्थान कर देना चाहिए। तब वह महाप्रस्थान के लिए प्रस्थित हुआ, उसका सूत्रपाठ इस प्रकार है—

“.....बहुवे तावसे य दिट्ठाभट्ठे य पुव्वसंगइए य, तं चेव-जाव-कट्ठ-मुद्दाए मुहं बन्धइ। मुहं बंधित्ता अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हई.....”

बंधुओं! जैसे ही उसने महाप्रस्थान की तैयारी की, तभी उसे अपने पूर्व संस्कारों का स्मरण हो आया। इस समय तापस के रूप में उसने वल्कल आदि के वस्त्रादि व काष्ठ के पात्रादि धारण किए थे, अतः अपने पूर्व संस्कारों के कारण वस्त्र से मुँह बाँधने की नकल करते हुए काष्ठ (लकड़ी) की मुद्रा से मुख को बाँधा।

इतना करने पर भी देव ने जब मध्यरात्रि में उसके समक्ष प्रकट होकर कहा—“हे ब्राह्मण! यह तुम्हारी दुष्प्रव्रज्या है। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, लगातार मध्यरात्रि में देव उसकी प्रव्रज्या को दुष्प्रव्रज्या बताता रहा, पर सोमिल ने उस पर ध्यान नहीं दिया।

पाँचवें दिन जब देव ने मध्यरात्रि में पुनः ऐसा कहा तो सोमिल ने देव से पूछा—“हे देव! मेरी प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है तो यह सुप्रव्रज्या कैसे बनेगी?”

तब देव बोला—“जइणं तुमं देवाणुप्पिया, इयाणिं पुव्वपडिवन्नाइं पंच अणुव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ताणं विहरसि, तो णं तुज्झ इयाणि सुपव्वइयं भवेज्जा।”

अर्थात् हे देवानुप्रिय! यदि तुम पूर्व में धारण किए हुए पंच अणुव्रतादि को स्वयमेव पुनः स्वीकार कर (तदनुसार आचरण करते हुए) विचरण करोगे तो तुम्हारी यह प्रव्रज्या सुप्रव्रज्या हो जाएगी।

बंधुओं! वह सोमिल ब्राह्मण बारहव्रती श्रावक बनने पर व्रत, पौषध, संवर आदि में कपड़े की मुँहपत्ति मुँह पर बाँधता था। तब उसके भीतर में सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगा रहा था। अब जब वह मिथ्यात्वी बन गया तो व्रतादि छूट गये। अज्ञान तप, अज्ञान-साधना में वह रमण करने लगा; फिर भी पूर्व के संस्कार (मुँहपत्ति बाँधना) की स्मृति होने पर उसने लकड़ी की मुँहपत्ति (काष्ठ मुद्रा) बनवाकर उससे अपना मुँह बाँधा।

□ सोमिल तो मिथ्यात्वी था, पर आज के सम्यक्त्वी.....!

जरा चिन्तन करिए। सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में गिरा हुआ साधक भी जब वायुकाय जीवों की रक्षार्थ पूर्व संस्कारों के कारण काष्ठमुद्रा (लकड़ी की मुखपट्टिका) से अपना मुख बाँध सकता है तो जो सम्यक्त्वी हैं, सर्वसावद्य के यावज्जीवन तीन करण तीन योग से त्यागी हैं, अहिंसादि पाँच महाव्रतों के पालक हैं, षट्काया के प्रतिपाल हैं वे श्रमण-श्रमणीधर्म और आचार के पालक तथा जो सम्यक्त्वी हैं, सावद्य योगों को यथानियम दो करण, तीन योग से त्यागते हैं, अहिंसादि अणुव्रतों की मर्यादा से मर्यादित हैं—ऐसे श्रावक व श्राविकावृंद भी व्रतादि के समय मुख पर मुख-वस्त्रिका नहीं बाँधकर उसे हाथ में रखकर समय-असमय सावद्य-प्रवृत्ति के सेवन करने वाले बनें, वायुकायादि जीवों की विराधना करें, भाषा-समिति का उल्लंघन करें, तो क्या वे व्रतों या महाव्रतों में दोष के भागी नहीं हैं?

□ सम्यक्त्व है तो मुँहपत्ति अवश्य बाँधें !

बंधुओं! सम्यक्त्व की दृष्टि अन्तर्प्रकाश का दिव्य स्वरूप है, उस 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं' रूपी प्रकाश से प्रकाशित होकर तो यथार्थ तत्त्व का पालन करना ही चाहिए, आगम-विधान को स्वीकारना ही चाहिए, यथेष्ट माप अर्थात् २१ अंगुल लम्बी व १६ अंगुल चौड़ी आठ पट्ट वाली मुख-वस्त्रिका को बिना वजह हाथ में न रखकर, कल्पित तर्क-वितर्क से दूर रहकर मुख पर बाँधनी ही चाहिए।

(६) जैन मूर्तिपूजक आगम—'महानिशीथ' से.....

जैन मूर्तिपूजक सम्प्रदाय कहलाने को सम्यगी कहलाते हैं, पर वे इस आगमोल्लिखित तथ्य पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। वे जिन ४५ आगमों को मानते हैं, उनमें से एक है—'महानिशीथसूत्र'। इस महानिशीथसूत्र के सातवें अध्ययन में मुख पर मुख-वस्त्रिका बाँधने सम्बन्धी एक सूत्र-पाठ आया है, जो सिद्ध करता है कि मुख-वस्त्रिका का सही स्थान हाथ नहीं है। मूल पाठ इस प्रकार है—

“कण्णेट्टियाए वा मुहणंतगेण वा विणाइरियं पडिक्कमे, मिच्छुक्कडं पुरिमडुं।”

(महानिशीथसूत्र, अ. ७)

अर्थात् कान में डाली हुई मुख-वस्त्रिका के बिना या सर्वथा मुख-वस्त्रिका के बिना इरियावही क्रिया करने पर साधु को मिथ्यादुष्कृत या परिमार्द्ध प्रायश्चित्त आता है।

(७) अन्य विभिन्न मत

अनेक मूर्तिपूजक (जैन) आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों में भी मुख-वस्त्रिका हाथ में रखने का निषेध मिलेगा एवं उसे मुख पर बाँधने का उल्लेख मिलेगा। (१) “समाचारी-ग्रन्थ” में मूर्तिपूजक जैनाचार्य देवसूरि जी ने लिखा है—“मुख-वस्त्रिका प्रतिलेख्य मुखेबध्वा” अर्थात् “मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना कर, मुँह पर बाँधकर.....।” (२) मूर्तिपूजक विद्वान् कवि ऋषभदास जी ने अपनी रचना ‘हितशिक्षा नो रास’ में लिखा है—“मुखे बांधि ते मुखपत्ति” जो मुख पर बाँधी जाए, वही मुखपत्ति। (३) इसी पुस्तक में आगे ‘श्रावकाधिकार’ नामक अध्याय में लिखा है—“रजोहरण उज्जल, मुँहपत्ति अलगी न करे ते मुँहपत्ति” स्पष्ट है इसमें कि मुँह से मुँहपत्ति अलग नहीं हो, अर्थात् हाथ में नहीं, मुँह पर बाँधी होनी चाहिए। (४) ‘विचार-रत्नाकर’ पुस्तिका में उल्लेख मिलता है—

कण्ठे सार सरस्वती हृदिकृपा नीति क्षमाशुद्धयो।

वक्त्राब्जे मुख-वस्त्रिका सुभगता, काये करिपुस्तिका।।

इसमें कहा गया है कि कंठ में सरस्वती (विराजमान) हो, हृदय में दया, नीति, क्षमा और पवित्रता हो, मुख पर मुख-वस्त्रिका बाँधी हो, शरीर में सुभगता और हाथ में पुस्तक हो—मेरे सद्गुरु में ये सभी बातें अवश्य हों। (५) ‘हरीबल—मच्छी—रास’ खंड २, ढाल छट्टी में आया है—

“साधुजन मुख मुँहपत्ति, बाँधी है जिनधर्म।”

जिन साधकों ने, साधु-साध्वीवृंद ने मुँह पर मुँहपत्ति बाँधी हो, वे ही जिनधर्मी हैं। (६) मूर्तिपूजक संत श्री सागरानंद सूरि जी ने “जैन सत्य प्रकाश” प्रथम वर्ष के अंक सात में लिखा है—

“जो साधक मुख-वस्त्रिका जैसी आवश्यक वस्तु (उपकरण), भाषा-समिति की पालनार्थ उपयोग आने वाले उपकरण को नहीं मानते, वे वायुकाय रूपी एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा तथा इसी भाँति डाँस, मच्छर बगैरह उड़कर मुँह में पड़ने वाले जीव जो त्रसकाय हैं, उनकी रक्षा भला किस रीति से कर सकेंगे” अर्थात् नहीं कर सकेंगे।

मुख पर मुँहपत्ति या मुख-वस्त्रिका बाँधना संत-समाचारी है, सावद्य त्याग है, भाषा-समिति है, अहिंसा है—वायुकाय जीव रक्षा है। अतः जैन श्रमण-श्रमणी मुख-वस्त्रिका अवश्य धारण करें एवं श्रावक-श्राविका जब भी धर्मसाधनारत होते हैं अथवा धर्मस्थान में प्रवेश करते हैं तो मुँह के ऊपर मुख-वस्त्रिका अथवा उत्तरासंग वस्त्र अवश्य धारण करें। सभ्यता और विवेक तो यही है, अतः आइए आप और हम आज से हर जन, हर जैन, हर जैन संत-सती के कर्णरंध्रों तक एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. की यह कड़ी, यह पद पहुँचा दें।

कोई उत्तम बांचो, मोंढ़े जयणा राख।

उघाड़े मुख बोल्यां, पाप लगे इम भाख ॥

मोक्षसाधकों से मेरा प्रवचनान्त में विनीत निवेदन है कि पाप से बचें, धर्म को धारण करें, संयम की पूर्ण पालना करें, अपने 'छह काया प्रतिपाल' नाम को सार्थक करें, अपने लिंग (चिह्न) को लोपित न करें और इन सबके लिए मुख पर मुख-वस्त्रिका बाँधकर साधना करें। जो करेंगे ऐसा तो निश्चय ही उनके लिए शाश्वत सुखों वाला, अनन्त सुख वाला, जन्म-मरण के समस्त दुःखों को मिटाने वाला मोक्ष का पथ प्रशस्त बनेगा।

आनन्द ही आनन्द !



ध्यायो निर्मल ध्यान

(मरुदेवी माता)

नारीणां परमरूपं, मातृत्वेन निगद्यते ।
अनन्तमुपकारत्वम् एकमेकं नगण्यते ॥
मातस्तवास्ति वात्सल्यं वास्तवं पावनं परमं ।
अपारं सिन्धु संकाशं निर्मल स्वर्णं सन्निभम् ॥

आत्म-बंधुओं !

प्राणिमात्र के परमोपकारक वीतराग भगवंतों की पावन वाणी जीव को शिव पद प्राप्त कराने वाली, आत्मा को परमात्मा बनाने वाली और इन्सान को भगवान के सिंहासन पर बिठाने वाली है। उसी परमकल्याणी वाणी में नारी की महिमा का वर्णन पद-पद पर किया गया है। वीतराग भगवंतों ने ही सर्वप्रथम उसे मोक्ष की, परम पद की, परमात्मस्वरूप की अधिकारिणी बनने के चरम सत्य को संसार के सम्मुख रखकर उसकी महिमा को शिखर पर बिठाया। नारी की सबसे बड़ी महिमा उसके मातृत्व के कारण है। माँ के रूप में उसके अनन्त उपकार हैं।

□ माता-पद अद्भुत महत्त्वशाली

इस अवसर्पिणी काल के प्रथम या आद्य तीर्थंकर भगवान आदिनाथ या ऋषभदेव की महिमामयी माता मरुदेवी का हम पर, इस विश्व पर अनन्त-अनन्त उपकार है कि जिन्होंने आदिमानव को सभ्य, सुसंस्कृत, उद्यमी और कलापारंगत बनाने वाले उस आद्य महापुरुष को अपनी रत्न-कुक्षि से जन्म दिया। ऐसे महनीय पुत्रों को जन्म देने वाली माताओं के लिए ही कवि ने कहा है—

उपाध्यायान् दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता, गौर वेणातिरिच्यतः ॥

दस उपाध्यायों के समकक्ष एक आचार्य होता है, दस आचार्यों के समकक्ष एक पिता होता है, पर रत्नकुक्षिधारिणी माता तो एक हजार पिताओं से भी अधिक गौरवशालिनी है।

□ तीर्थकर-माता (क्या ऐसी माता कोई अन्य ?)

आचार्य मानतुंगाचार्य ने अपनी अमर चमत्कारी रचना—‘ भक्तामर स्तोत्र ’ में उसी महिमामयी माता के लिए लिखा है—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयति पुत्रान्,
नान्यासुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वादिशोदधति भानि सहस्र रश्मिः,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥

(भक्तामर स्तोत्र-२२)

इस पद में तीर्थकर भगवंत की महनीया माता के लिए रचनाकार कहते हैं कि—वैसे तो इस विश्व की लाखों-लाख नारियाँ अपने पुत्रों को जन्म देकर अपने मातृत्व-कर्तव्य का वहन करती हैं, पर हे मातेश्वरी! आपने जिस तीर्थकर पुत्र को अपनी उज्ज्वल कुक्षि-रत्न से उत्पन्न किया है, वैसे उत्तम पुत्र-रत्न को उत्पन्न करने वाली कोई अन्य माता इस धरातल पर नहीं है। यह उसी प्रकार है, जैसे समस्त दिशाएँ अनेक तारों को जन्म देती हैं, पर रश्मि-अधिपति अंशुमालि सूर्य को केवल पूर्व दिशा ही अपनी पावन कुक्षि में धारण कर उदय-समय पर उसे उदित (उत्पन्न) करती है।

□ माता मरुदेवी : महिमा अवर्णनीय

बंधुओं ! आद्य-मातेश्वरी मरुदेवी माता की महिमा को शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। जो माता इस अवसर्पिणी के आद्य तीर्थकर को अवतरित करें, जो इस अवसर्पिणी काल के आद्य (प्रथम) चक्रवर्ती की मातामही (दादी) हों और जो इस अवसर्पिणी में चौबीसवें तीर्थकर बनने वाले जीव अर्थात् मरीचि की प्रमाता (परदादी) हों—उनके लिए किन विशिष्ट शब्दों को एकत्रित कर उनकी महिमा आपके सम्मुख रखी जाये ? वे माता मरुदेवी ही तो थीं जो इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम मोक्ष में जाकर विराजमान हुईं। युगलिक काल एवं कर्मभूमिज काल की संधिकाल में उत्पन्न। आयुष्य जिनका एक करोड़ पूर्व का। अपनी नजरों के सामने जिन्होंने अपनी पैसठ हजार पीढ़ियाँ देखीं।

कितनी पीढ़ियाँ देखता है आज का आदमी ? चार, पाँच, सात, आठ, दस। लम्बी से लम्बी आयु कितनी आज ? सौ, एक सौ दस या एक सौ बीस वर्ष अर्थात् १०० वर्ष झाझेरा।

उस माता की पुण्यवानी क्या कही जाये, जिसने पैंसठ हजार पीढ़ियाँ स्वयं अपनी नजरोँ के समक्ष देखी हों। शरीर की ऊँचाई, उत्कृष्ट अवगाहना वाली, अर्थात् पाँच सौ धनुष। वृद्धावस्था कभी आई नहीं, आमरण युवावस्था रही। अपने समक्ष किसी कुटुम्ब के सदस्य को मरते हुए नहीं देखा। जीवन के अन्तिम क्षण तक किसी तरह के शोक, संताप का नाम नहीं। रुग्णता कभी आई नहीं, सिरदर्द तक नहीं हुआ उन्हें कभी। प्रतिदिन तीन बधाइयाँ वे सुना करती थीं। पूर्व संचित असीम पुण्य पुँज का प्रभाव था यह सब।

□ माता मरुदेवी : एक परिचय

युगलिक काल परिवर्तित हो रहा था। काल-परिवर्तन की स्थिति में अनेक विषमताएँ आनी थीं। युगलिक युग था भोग युग, पर जिनके कारण यह भोग युग था, वे कल्पवृक्ष शनैः-शनैः सूख रहे थे। कहना चाहिए संधि काल था वह। भोग युग और योग युग का संधि काल।

ऐसे समय में अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। कुलकर परम्परा में उत्पन्न विशिष्ट युगल को कुलकर मानकर शेष युगल उनके पास समस्या-समाधान के लिए आते थे। नाभि पन्द्रहवें कुलकर थे और उनके साथ युगल रूप में उत्पन्न मरुदेवी उनकी सहधर्मिणी, अर्द्धांगिनी, धर्मपत्नी थीं।

□ माता मरुदेवी का पूर्वभव : असीम पुण्य पुँज कैसे प्राप्त हुआ ?

कथाकार कहते हैं मरुदेवी अपने पूर्वभव में एक सार्थवाह की पत्नी थीं। किसी कारणवश सार्थवाह के रुष्ट होने तथा पत्नी के साथ किसी भी तरह का व्यवहार नहीं रखने पर पत्नी ने आजीवन शीलव्रत पालन का संकल्प ग्रहण किया और मासक्षमण के पारणे मासक्षमण तप करने लगीं। उसने कभी मन में पति के लिए कोई दुर्भावना नहीं भाई।

□ प्रथम मान्यता

कालान्तर में सार्थवाह के पुनः प्रसन्न होने पर सार्थवाही ने स्पष्ट बता दिया कि उसने आजीवन शीलव्रत का संकल्प लिया है और अब वह इसे पूर्ण रूप से पालेगी।

बंधुओं! साठ हजार वर्ष पर्यन्त शीलधर्म का अखण्ड पालन किया उसने और मासक्षमण के पारणे मासक्षमण तप करते हुए मरण धर्म को प्राप्त किया। वह उच्च देवलोक की अधिकारिणी बनी। देवायुष्य पूर्ण कर वह इस युगलिया युग के अन्तिम चरण में मरुदेवी के रूप में पूर्व संचित असीम पुण्य पुँज के साथ अवतरित हुई।

□ द्वितीय मान्यता

कुछ मनीषियों, आचार्यों, ज्ञानियों ने ऐसा भी उल्लेख किया है कि मरुदेवी माता का जीव वनस्पतिकाय के भव से निकलकर मनुष्यभव में आया। वनस्पतिकाय के भव में माता मरुदेवी का जीव किसी केले के वृक्ष पर उत्पन्न केले के रूप में था। केले के वृक्ष के निकट ही एक बेर के फल का काँटेदार वृक्ष (पौधा) था। जब हवा चलती तो केले के वृक्ष के पत्ते, शाखाएँ, फल, टहनियाँ आदि हिलती थीं और उधर काँटेदार बेर का पौधा भी झूले खाता था। ऐसे में बोरड़ी (बेर का वृक्ष) के अनेकानेक तीखे शूल उस कोमल केले के लगते, चुभते, उसे बींध देते थे। यह असह्य वेदना न जाने कितने समय तक सहन की थी उस केलेरूपी मरुदेवी के पूर्ववर्ती जीव ने।

उस असह्य, भयंकर और तीव्रातितीव्र वेदना को बार-बार सहन करने के कारण अकाम-निर्जरा से उपार्जित पुण्य उस जीव ने प्राप्त किया। कहा जाता है, उसी प्रबल पुण्य पुँज के कारण माता मरुदेवी को मनुष्य भव में इतनी उत्कृष्ट पुण्यवानी रूपी साता की प्राप्ति हुई।

□ मेरा मन्तव्य

मेरे चिन्तन में यह मान्यता प्रथम मान्यता से कुछ कम सही बैठती है। वनस्पतिकाय की यह वेदना ऐसी उत्कृष्ट पुण्यवानी का फल दे, इसकी सम्भावना कुछ कम ही नजर आती है। इसकी अपेक्षा शील का साठ हजार वर्ष तक उत्कृष्ट पालन और फिर उतने ही दीर्घकाल का मासक्षमण पर मासक्षमण तप ऐसी पुण्यवानी दे सकता है। ऐसा संभव हो सकता है कि मरुदेवी माता का जीव सार्थवाह की पत्नी बनने से पूर्व अथवा पश्चात् केले का जीव रहा हो और वहाँ से च्यवकर मनुष्य भव में आया हो। खैर, जो भी हो, सर्वज्ञ जानें। हमें तो यहाँ यह ध्यान रखना है कि उनकी पुण्यवानी अत्यन्त ही प्रबल थी।

□ धन्य मरुदेवी माता

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने उन महनीया नारी, तीर्थकर-मातेश्वरी, पुण्य-निधाना का पावन स्मरण करते हुए बड़ी साधु वन्दना में लिखा है—

धन्य मरुदेवी माता, ध्यायो निर्मल ध्यान।

गज-हौदे पायो, निर्मल केवलज्ञान॥१०१॥

आदीश्वर की माता मरुदेवी धन्य हैं, जिन्होंने हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही (आदीश्वर की वीतरागता को देखकर अनित्य-भावना की उत्कृष्टता के कारण) सम्पूर्ण ज्ञान, सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपन प्राप्त कर लिया।

□ पुत्र ऋषभ की स्मृति

युगानुरूप माता मरुदेवी भी जड़-बुद्धि एवं ऋजु-स्वभाव की थीं। उनके पुत्र ऋषभ ने लम्बे समय तक राज्य भोगकर सर्व सावद्य योगों, पापकारी प्रवृत्तियों का जब पूर्ण त्याग किया, स्वयमेव पंचमुष्टि लोच किया और मुनिधर्म पालन के लिए संयम के पथ पर जाने लगे तो माता मरुदेवी ने अति गंभीरता से यह सब देखा। पैसठ हजार पीढ़ियाँ अपने जीवन में देखने वाली उन महनीया माता का परिवार कितना बड़ा रहा होगा ? कितने अधिक व्यक्ति होंगे उस परिवार में ? कल्पना करना भी कठिन है। इतने बड़े, भरे-पूरे परिवार के होने पर भी माता को पुत्र का संन्यास लेना, गृहस्थी त्यागना, संसार से विरक्त बनना कुछ अटपटा लगा। ऋषभ के इस तरह घर से निकल जाने के पश्चात् उसकी यादें उस माता के हृदय को बेचैन बना देती थीं। अनेक बार वह अपने पौत्र सिंहासनासीन चक्रवर्ती भरत से 'ऋषभ' के समाचार लाने के लिए कहतीं, उसके स्वास्थ्य के बारे में ज्ञात करने को कहतीं, उसके सुख-दुःख के समाचार मँगाने के लिए कहतीं।

□ प्रभु ऋषभ के दर्शनार्थ माता मरुदेवी

दीक्षा के पश्चात् प्रभु ऋषभ विचरण करते हुए अयोध्या राज्य के पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में पधारे। वहाँ पर उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। उद्यान-पालक ने तुरंत यह शुभ संदेश महाराज भरत को सुनाया। भरत महाराज तत्काल माता मरुदेवी की सेवा में पहुँचे और भगवान ऋषभदेव के अयोध्या में पधारने का सन्देश उन्हें सुनाया।

महाराज भरत, माता मरुदेवी एवं राजपरिवार के सभी सदस्य भगवान ऋषभदेव के दर्शनार्थ शकटमुख उद्यान में जाने की तैयारियों में लग गए।

माता मरुदेवी हाथी पर आरूढ़ होकर विनिता नगरी के मुख्य राजपथों से होती हुई नगर के बाहर उद्यान के निकट पहुँचीं। दूर ही से देखी वहाँ देवनिर्मित समवशरण की रचना तो आश्चर्यचकित रह गई उनके उस अपार वैभव को देखकर। समवशरण में बैठे हुए प्रभु आदिनाथ ऊँचे स्फटिक सिंहासन पर प्रभामण्डल, छत्र-चँवर आदि के साथ स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। वहाँ अनेक इन्द्र एवं देवादि मिलकर प्रभु का केवलज्ञान महोत्सव मना रहे थे।

□ भाव करें भव पार

लिखा है कड़ी में—“गज हौदे पायो निर्मल केवलज्ञान” वहीं हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। कैसे हुआ उनको केवलज्ञान ? अभी तो प्रभु को निकट जाकर

वन्दन भी नहीं किया, धर्मोपदेश श्रवण भी नहीं किया; फिर परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कैसे हुई? त्रिलोक की, त्रिकाल की एक-एक बात का, एक-एक पदार्थ का, घट-घट का ज्ञान और वह भी ऐसा जैसे कोई वस्तु हाथ पर रख दी गई हो—इतना स्पष्ट!

बन्धुओं! यह सब है भावों का चमत्कार! “भाव करें भव पार” और “भाव डुबोवनहार” क्या विचार आये होंगे उस महनीया माता के मन में? किन भावनाओं की उत्कृष्ट श्रेणी पर चढ़कर पाया होगा उस महादेवी ने वह परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान?

□ क्या चिन्तन किया होगा उस माता ने ?

बन्धुओं! अन्तर् की बात अन्तर्ज्ञानी, सर्वज्ञ, केवलज्ञान-दर्शन के धारक ही बता सकते हैं। शेष ज्ञानी तो केवल श्रुतज्ञान के पंख पसारकर उस ऊँची उड़ान की एक झलक दिखला सकते हैं। अनेक प्रबुद्ध विचारकों, ज्ञानी-मनीषियों और ध्यान-चिन्तकों ने माता मरुदेवी के उस समय उत्पन्न भावों को अपनी-अपनी अपेक्षा से बताया है।

किसी कवि-हृदय ने उस महान् माता को केवलज्ञान की प्राप्ति कराने वाले भावों को अपनी काव्य-कल्पना में जिस तरह सँजोया है, वह सुनने, गाने और मनन करने योग्य है—

बोल बोल आदेश्वर ह्वाला, काँई थांरी मरजी रे,
म्हासूं मूंडे बोल..... ॥

न्हाय धोय ने गज असवारी, करी मरुदेवी माता रे।
जाय बाग में निरख्यो नन्दन, पाई साता रे॥

राज छोड़ने गयो लाडेश्वर, आ लीला अद्भूति रे।
चँवर, छत्र ने और सिंहासन, मोहनि मूरति रे॥

किस्या देश में गयो रे लाडेश्वर, तुम बिन वनिता सूनी रे।
बात कहो दिल खोल लाल, क्यों बन गये मौनी रे॥

रह्या मजा में, है सुखसाता, खूब किया दिल चाया रे।
अब तो बोल आदेश्वर म्हासूं, कलपे काया रे॥

अनित्य भावना भाई माता, निज आतम ने तारी रे।
केवल पायी मोक्ष सिधाया, पामी साता रे॥

इस अवसर्पिणी काल की प्रथम मोक्ष प्राप्त करने वाली माता मरुदेवी ने चिन्तन किया होगा कि 'आश्चर्य है ! जिस ऋषभ को वे इतने सुखों के मध्य भी प्रतिदिन याद कर लेती थीं, आज वही ऋषभ मेरे नगर में आकर भी मेरे महलों तक नहीं आया। माता पुत्र को याद करती रही, पर पुत्र माता तक को ही भूल गया।'

मरुदेवी ने नजर डाली समवसरण पर फिर चिन्तन करने लगी—'क्यों नहीं भूलेगा? कैसा अनुपम वैभव का अम्बार है इसके पास? कितने देव-देवी सेवा में खड़े हैं इसके? स्वयं वह कैसा सूर्याभ-सा प्रकाशवंत है।'

माता मरुदेवी का यही चिन्तन आगे से आगे बढ़ता रहा। कभी उनके मन में अपने लाड़ले का, उसकी सूरत-सीरत का, उसके बचपने और घर से निकलने का ध्यान आता है तो कभी वह पुनः उसके दिव्य वैभव को देखकर चकित बन जाती है और सोचती है—

'मैं यहाँ हूँ, उसे यह तो ज्ञात हो ही गया होगा। उसे मेरा यहाँ होने का ज्ञान होने पर भी वह निर्लिप्त कैसे है? उसके चेहरे पर क्यों अपनी माता के प्रति कोई स्नेह, राग, आसक्ति का भाव नहीं? वह इतना निर्मोही कैसे बन गया? फिर तो इस अपार वैभव, देवी-देवताओं की सेवा, अपार जनमेदिनी के दर्शनार्थ आने से भी वह निर्लिप्त ही होगा? क्या निर्लिप्तता में भी कोई सुख है? एक दिन कह रहा था कि मुझे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है, शाश्वत और सच्चा सुख खोजना है, तो क्या यही है यथार्थ ज्ञान, सच्चा सुख?'

□ ध्यायो निर्मल ध्यान

बन्धुओं! चिन्तन का प्रवाह ऊर्ध्व की ओर गतिशील बन रहा था। पुण्य का संचित कोष भोग लिया था, शेष कर्म निर्झरण के क्रम में पहुँच रहे थे। भावों में सांसारिक सम्बन्धों के प्रति उदासीनता ने कदम रखा। आसक्ति दूर हो चुकी थी, विरक्ति भावों में रम रही थी, मोह-माया-राग-कामना-आसक्ति-स्नेह आदि भाव पीछे छूट रहे थे। चिन्तन धर्मध्यान में अवगाहन कर रहा था।

□ भावों का सम्बन्ध ध्यान से

धर्मध्यान को समझने से पहले ध्यान का ज्ञान होना आवश्यक है। मैंने अभी कहा था आपसे कि—“भाव करें भव पार” और “भाव डुबोवनहार”। हिन्दी भाषा के लोकोक्ति साहित्य में एक उक्ति आती है—“मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।” मन का सम्बन्ध है भावों से और भावों का सम्बन्ध है ध्यान से।

□ किसे कहते हैं ध्यान ?

ध्यान कहते हैं चित्त की एकाग्रता को। चित्त की एकाग्रता शुभ भी हो सकती है और अशुभ भी। वह प्रवृत्तिपरक भी हो सकती है और निवृत्तिपरक भी। अशुभ चित्त-एकाग्रता या अशुभ प्रवृत्तिपरक चित्त-एकाग्रता में वाणी प्रवाह बना रह सकता है और काया का हलन-चलन भी रह सकता है, इनमें न वाणी की एकाग्रता आवश्यक है, न काया की। ऐसी एकाग्रता अशुभ ध्यान का कारण है। आगमकारों ने इसे आर्त एवं रौद्रध्यान की श्रेणी में लिया है। इन दोनों प्रकार के अशुभ ध्यानों में हँसना, रोना, गाना, नाचना, कामभोगों में रत बनना, हिंसक वृत्तियों में प्रवृत्त होना आदि क्रियाओं का समावेश किया गया है।

अशुभ ध्यान के कारण जीव नरक, तिर्यच गति का अधिकारी बनता है।

चित्त की एकाग्रता यदि निवृत्तिपरक है, शुभ पदार्थों पर केन्द्रित है तो वहाँ धर्मध्यान की श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। धर्मध्यान में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए साधक कायिक एकाग्रता की साधना करता है, वचन एकाग्रता का अभ्यास करता है और तब मन की एकाग्रता को स्थिर बनाता है।

शुक्लध्यान इससे आगे की स्थिति है, जिसके विषय में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट करते हुए लिखा है—

उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं। (तत्त्वार्थसूत्र ९/२७)

अर्थात् उत्तम संहनन वाले जीव का एक विषय में चित्तवृत्ति का निरोध करना ध्यान है।

यहाँ 'उत्तम संहनन' शब्द आया है। भाष्य के अनुसार उत्तम संहनन वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच और नाराच—इन तीन को ही माना गया है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र में यह सूत्र मोक्ष-मार्ग प्रकरण में बतलाया है। इस दृष्टि से यहाँ आर्त व रौद्र को ध्यान होते हुए भी ध्यान के रूप में नहीं लिया है। ध्यान-तप (अभ्यंतर तप का एक भेद) में आर्त व रौद्र को स्थान नहीं है। वे दोनों संसार बढ़ाने वाले हैं, जबकि तप तो संसार घटाता है।

भाष्यकारों ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए "उत्तम संहनन" का आशय श्रेणीगत ध्यान उपर्युक्त तीन संहनन वाले ही कर सकते हैं। इस अपेक्षा से उत्तम संहनन शब्द का प्रयोग किया है। उसमें भी जिनको ऋषभनाराच व नाराच संहनन होता है, वे मात्र उपशम श्रेणी करते हैं और ११वें गुणस्थान तक जा सकते हैं। पूर्वो का ज्ञान या पूर्वश्रुत ज्ञान के आश्रय से यथायोग्य ध्यान में प्रवृत्त होते हैं। क्षपक श्रेणी को तो मात्र वज्रऋषभनाराच संहनन वाले ही संप्राप्त करते हैं। उनमें पूर्वो का ज्ञान हो तो वे ८वें से १२वें गुणस्थान तक भी शुक्लध्यान को

प्राप्त होते हैं, अन्यथा उनका भी पूर्वश्रुत आश्रित बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान ही जानना। तेरहवें गुणस्थान में वे अवश्य शुक्लध्यान को एवं केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं।

बंधुओं! मोक्ष की साधना अति कठिन है। उसके लिए मन की स्थिरता आवश्यक है। मन की स्थिरता एक सुदृढ़ शरीर में ही रह सकती है। अतः यहाँ 'उत्तम संहनन' शब्द इस दृष्टि से दिया गया हो, यह सम्भव है।

एक बात यह भी है कि अन्तर्मुहूर्त काल तक चित्त की एकाग्रता और योगों का निरोध उत्तम संहनन वाले जीवों के लिए ही संभव है। अन्य संहनन वाले जीवों के लिए इतने काल तक चित्त को एकाग्र बनाए रखना संभव नहीं, क्षमता ही नहीं होती उनमें ऐसी। उनका ध्यान बहुत ही अल्प समय का होता है। वस्तुतः अन्य संहनन वाले जीव ध्यान करने के लिए अवस्थित होते हैं पर वे चित्त को 'जहन्नेणं एक्क समयं' जघन्य एक समय और अधिक अपनी क्षमतानुसार, पर आचार्यों ने वह समय अन्तर्मुहूर्त से बहुत कम माना है, उनका कहना है कि वे लम्बे समय तक ध्यान-प्रवाह में तो रहते हैं, अर्थात् उनका ध्यान अनेक विषयों, वस्तुओं और ध्येयों पर घूमता रहता है, पर निर्वात स्थान में दीपशिखा की अकंप दशा की भाँति उनका मन एक विषय पर केन्द्रित नहीं हो पाता, क्योंकि यदि ऐसा हो जाए तो फिर मुक्ति में विलम्ब नहीं होगा।

बंधुओं! इससे आपने यह स्पष्ट समझ लिया होगा कि वज्रऋषभनाराच संहनन एवं ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन वाले जीव, अर्थात् उत्तम संहनन वाले छद्मस्थ जीवों का ध्यान ही अन्तर्मुहूर्त काल तक रह सकता है।

□ ध्यान की स्थिरता

उत्तम संहनन वाले छद्मस्थों का चित्त अधिकतम एक मुहूर्त अर्थात् २ घड़ी यानी ४८ मिनट तक किसी एक चिन्तन, विचार, परिणाम में स्थिर बना रह सकता है तो फिर तो अस्थिरता आएगी ही। हाँ, कुछ देर की अस्थिरता के पश्चात् पुनः एकाग्रता आ सकती है। ध्यान की जघन्य स्थिरता का काल एक समय माना गया है।

● भगवतीसूत्र के २५वें शतक, छट्टे उद्देशक में गौतम स्वामी प्रभु महावीर से प्रश्न करते हैं—“केवतियं कालं अवट्ठिय परिणामे होज्जा ?”

प्रभु कहते हैं—“गोयमा ! जहन्नेणं एक्क समयं उक्कोसेणं अन्तोमुहुत्तं।”—हे गौतम! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक।

- स्थानांगवृत्ति के चौथे स्थान में ध्यान के विषय में लिखा मिलता है—

अन्तोमुहुत्तमितिं चित्तावस्थाणमेगवत्थुम्मि ।

छद्ममत्थाणं झाणं जोग निरोही जिणाणु तु ॥

अर्थात् छद्मस्थों और जिनों (केवलज्ञानियों) का योगनिरोध ही ध्यान है। छद्मस्थों का एक वस्तु पर चित्त का अवस्थान अन्तर्मुहूर्त्त मात्र तक ही रहता है। (इससे अधिक नहीं।) इसमें विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त बताई है। तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान की स्थिति जघन्य अतर्मुहूर्त्त उत्कृष्ट देशऊण क्रोड़ पूर्व की है। केवलियों के परम शुक्लध्यान होता है। वे निरन्तर स्व-संवेदन शुक्लध्यान को ध्याते हैं। केवलियों के इस शुक्लध्यान की स्थिति को “ध्यानांतरिका” कहकर अलग रखकर अन्यत्र ध्यान की स्थिति जघन्य एक समय उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त्त दर्शायी है।

□ ध्यान के प्रकार

स्थानांगसूत्र में ध्यान के जो चार प्रकार बताए हैं, उनमें आर्त्त और रौद्र अशुभ हैं, जबकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभ हैं—

आर्त्तरौद्रधर्म शुक्लानि ।” (तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सूत्र २९)

आर्त्तध्यान—दुःख और पीड़ा जिससे उत्पन्न हो वह आर्त्तध्यान है। उसकी उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं—(१) इष्ट वियोग, (२) अनिष्ट संयोग, (३) रोग, (४) भोग-निदान। इन चार कारणों से चार प्रकार का आर्त्तध्यान होता है। जैसा कि भगवती सूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र में बताया है—

“अट्टे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विष्पओग सति समन्नागए यावि भवइ ।”

(भगवतीसूत्र)

एवं

आर्त्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहारः ॥

(तत्त्वार्थसूत्र ९/३१)

वेदनायाश्च ॥

(तत्त्वार्थसूत्र ९/३२)

विपरीत मनोज्ञानाम् ॥

(तत्त्वार्थसूत्र ९/३३)

निदानं च ॥

(तत्त्वार्थसूत्र ९/३४)

(१) **इष्ट वियोग**—जो वस्तु हमारे पास है, जिस वस्तु या सजीव की हमें चाहना है, अर्थात् हमें जो प्रिय हैं, यदि वे हमारे पास हैं तो उनका वियोग होने से और यदि नहीं हैं तो उनकी प्राप्ति न होने के परिणामस्वरूप हाय-त्राय करना, रोना-चिल्लाना, बार-बार उन्हीं का चिन्तन करना इष्ट-वियोग आर्तध्यान है। इस तरह की स्थिति में व्यक्ति का ध्यान, उसके चित्त की वृत्तियाँ, मन की एकाग्रता इष्ट का वियोग न हो—इसी में लगी रहती हैं। परिवार के सदस्य, धन-सम्पत्ति, खाद्य-सामग्री, उपभोग-परिभोग सामग्री आदि उसे अच्छी लगती हैं। हर समय मन में यही विचार रहता है कि कोई ले न जाए, कहीं खो न जाए, कहीं चली न जाए, कोई मर न जाए अर्थात् प्रिय वस्तु या प्राणी का वियोग न हो जाए। इनकी सुरक्षा के लिए तत्पर रहता है। भयभीत बना रहता है, वियोग के भय से।

मान लीजिए एक व्यक्ति को अपने किसी प्रिय की दी हुई सोने की अँगूठी अच्छी लगती है। अब वह चाहेगा कि यह गुम न हो जाए। उसका मन, उसका ध्यान बार-बार उस सोने की अँगूठी की तरफ ही जायेगा। दुर्योग से यदि वह गुम हो जाए तो वह दुःखी होगा, रोएगा, चिल्लाएगा। वह उसे ढूँढ़ने में आकाश-पाताल एक कर देगा; यहाँ तक कि कभी-कभी खाना-पीना भी भूल जायेगा। न मिलने पर अपने निकट के व्यक्तियों पर क्रोधित होगा, चिड़चिड़ा बन जायेगा। यह आर्तध्यान का ही रूप है।

(२) **अनिष्ट संयोग**—व्यक्ति जिन वस्तुओं या प्राणियों को पसंद नहीं करता, जिनके लिए मन में अरुचि भाव विद्यमान हैं, कभी ऐसी वस्तुओं या ऐसे प्राणियों का संयोग व्यक्ति को मिल जाए तो वह जल्दी से जल्दी उनसे अपना छुटकारा चाहेगा। उसके चिन्तन में प्रतिपल यही विचारधारा बहेगी कि कैसे ये मुझसे दूर हों और मैं इनसे छूट जाऊँ।

अनेक बार अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, विषय एवं उनकी साधनभूत वस्तुओं का संयोग जीवन में हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को वह अनिष्ट संयोग खटकता है। वर्तमान में उसका सारा ध्यान उस अनिष्ट संयोग से पिंड छुड़ाने पर केन्द्रित हो जाता है।

मन के विचारों में बार-बार यही बात घूमती है कि इनसे पीछा छोटे और भविष्य में भी कभी इनका पुनः संयोग न बने, ये मेरे जीवन में न आयें। यह सब आर्तध्यान का ही अंग है।

(३) **रोगोदय-चिन्ता**—यह शरीर रोगों का घर है। सारे शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हैं और एक-एक रोम के पीछे पौने दो रोग हैं। क्या पता कब असातावेदनीय का उदय हो और कौन-सा रोग उभरकर बेचैनी पैदा कर दे? ऐसे रोगों के उत्पन्न होने पर या उनकी संभावना की सोचकर व्यक्ति अपने स्वास्थ्य के लिए चिन्तित बन जाता है।

इन शारीरिक, मानसिक रोगों से उत्पन्न कष्ट, पीड़ा, बेचैनी में उनकी चिकित्सा के लिए व्यग्र बने इन्सान का इनसे वियोग के लिए जो चिन्तन बनता है और भविष्य में भी वैसे रोग, आधि-व्याधि न हों, यह चिन्ता भी आर्त्तध्यान है।

(४) काम-भोगोदय चिन्ता—संसारी व्यक्ति के लिए काम-भोगों में उलझना सहज है और उनसे बच निकलना कठिन है। साधारण संसारी काम-भोगों की वस्तुओं को एकत्रित करने तथा उन्हें भोगने की योजना में लगे रहते हैं। उन्हें एकत्रित करते हैं तो संरक्षण की चिन्ता बनी रहती है। उनके चित्त की एकाग्रता उन काम-भोगों में ही बनी रहती है। उनका सारा पुरुषार्थ काम-भोगों की प्राप्ति में, उनकी वृद्धि में, उनके संरक्षण में और उन्हें भोगने में खर्च होता है। यह सारा विषय आर्त्तध्यान का है। काम-भोगोदय-चिन्ता नामक आर्त्तध्यान में ही मनीषी जन निदान को भी सम्मिलित कर लेते हैं। देवेन्द्र, नरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि के रूप को देखकर, उनके बल को देखकर, उनकी ऋद्धि-सिद्धि-वैभवादि को देखकर या सुनकर उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट बनना और यह सोचना कि मैंने जो तप, संयम आदि धर्मानुष्ठान किए हैं, उनके फलस्वरूप मुझे भी ऐसा रूप, बल, ऋद्धि, वैभव मिले। यह 'निदान' कहलाता है। मन की समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने वाले चिन्तामणि से भी कहीं अधिक बढ़कर है धर्मरत्न, पर उसी धर्मरूपी रत्न को कोयलों के बदले में देने जैसा कार्य है 'निदान'। जो अज्ञान के अंधकार से घिर जाते हैं, जिसके पाप का उदय हो जाता है, वही प्राणी अपनी अमूल्य धर्मनिधि के बदले इस तरह के सांसारिक या दैविक भोगों की कामना करता है। उसका ऐसा निदान भी आर्त्तध्यान की श्रेणी में आता है।

राग-द्वेष और मोह में पूर्णतः फँसा प्राणी इन चार प्रकार के आर्त्तध्यान में लगकर अपने संसार को बढ़ाता है। ऐसे व्यक्ति को प्रायः तिर्यच गति में जाना होता है।

आप सभी को आर्त्तध्यान से बचना चाहिए। बिना किसी प्रयोजन के चिन्तन में उतरकर रोना आपका काम नहीं। मनोयोग द्वारा आप इस पर नियन्त्रण कर सकते हैं।

ठाणांगसूत्र में आर्त्तध्यान के चार लक्षण बताए गए हैं—

“अट्टस्मरणं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—कंदणता, सोमणता, तिप्पणता, परिदेवणता।”

(१) क्रन्दन—आर्त्तध्यानी दुःख में होने पर उच्च स्वर से बोलते हुए रुदन करता है।

(२) शोचनता—वह दीन-हीन बनकर, दीनता प्रकट करते हुए शोक प्रकट करता है।

(३) **तेपनता**—इष्ट वियोग या अनिष्ट योग आदि आर्त्तध्यान का कारण बनने पर वह आर्त्त चिन्तन करता हुए आँसू बहाता है।

(४) **परिदेवनता**—शोक का अवसर आने पर, दुर्घटना घटने पर, हानि होने पर और प्रिय का वियोग होने पर या ऐसी ही अन्य आर्त्तजनक स्थिति में करुणाजनक विलाप करता है।

आर्त्त में आया व्यक्ति अमनोज्ञ, अप्रिय या अनिष्ट का संयोग नहीं चाहता और मनोज्ञ, प्रिय, इष्ट का वियोग नहीं चाहता। हो जाए वियोग-संयोग तो वह दुःख, शोक, सन्ताप, क्रन्दन, परिवेदन आदि करने लगता है। इन सबके लिए चिन्तित रहना भी आर्त्तध्यान है।

आर्त्तध्यान प्रमादजन्य होता है। आर्त्तध्यान के कारण अणुव्रत आदि के अतिचार दोषों का भागी बनना पड़ता है। प्रारम्भ के छह गुणस्थानों में उक्त आर्त्तध्यान संभव है, इनमें भी प्रमत्त संयत गुणस्थान में निदान को छोड़कर तीन ही आर्त्तध्यान संभव हैं।

बंधुओं ! रोना, चिल्लाना, सांसारिक पदार्थों या प्राणियों के विषय में चिन्ता करना, मरने पर बाँग देना (हाय-त्राय मचाना), काम-भोग, आधि-व्याधि, रोगादि के विषय में सोचना, पर-पुरुष या पर-स्त्री कथा करना, अश्लील दृश्य, चित्र, मूर्तियाँ आदि देखना, अश्लील साहित्य पढ़ना, अश्लील गीत, फाग-गालियाँ आदि सुनना, टी. वी. पर अश्लील सीरियल्स या चैनल्स लगाकर उन्हें देखना, डांस वाले क्लबों में जाना आदि सभी आर्त्तध्यान में आते हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद—इन नौ नोकषायों का सेवन भी आर्त्तध्यान है।

दक्षिण में कई स्थानों पर 'कल्कि' नामक विशेष पंथ में दक्षिणवासी अत्यंत रुचि लेते हैं, पर वहाँ भी आर्त्त की चीज है। अमेरिका में भी कल्कि जैसे पंथ का प्रचलन है। वहाँ ध्यान में बैठकर कहते हैं—“अपने पापों को याद करो।” फिर कहते हैं—“अपने पापों को धोने के लिए रोओ, कोशिश करो, चिल्ला-चिल्लाकर रोओ।” इस तरह घंटे भर रुलाते हैं। जब व्यक्ति रोते-चिल्लाते थक जाता है तो वहाँ के आश्रम में जो मुख्य फकीर, पीर, बाबा या और कुछ कह दीजिए उसे, वे लोग उसे कल्की कहते हैं, वह अंदर से प्रकट होता है, स्टेज पर आता है, आशीर्वाद देता है और पूरे हॉल में इस तरह की उद्घोषणा गूँज उठती है—“कल्की प्रभु खुश हैं, उन्होंने आपके सारे पाप अपने ऊपर ले लिये।” सुनकर रोने वाले लोग खुश हो जाते हैं कि हमारे पाप दूर हो गए। शायद वे इसका अर्थ यह भी लगाते हों कि अब हम और पाप करने के लिए स्वतंत्र हैं। यह सारा आर्त्तध्यान है और इससे अधिक पापों का, नवीन अशुभ कर्मों के समूह का बंध होगा। हँसना, रोना, गाना, नाचना आदि सारी क्रियाएँ रागजन्य होती हैं, राग से राग बढ़ता है और राग कर्मबंधन का बीज है।

“हिंसा-नृतस्तेय विषय संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत देश विरतयो।” अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी और विषय रक्षण के लिए सतत चिंता करना रौद्रध्यान है, जो अविरति और देशविरति में संभव है। उसके निम्नोक्त चार भेद हैं—

□ रौद्रध्यान का प्रथम भेद : हिंसानुबंधी

हिंसाजन्य परिणामों की उत्पत्ति में रौद्रध्यान है। किसी को मारना-काटना, छेदन-भेदन करना, ताड़न-तर्जन करना आदि कायिक कष्ट की प्रवृत्तियाँ करना अथवा इनका चिन्तन करना। योजना बनाना, साथ ही कर्कश, कठोर, मर्मकारी, पीड़ाकारी, हिंसाजन्य भाषा का प्रयोग करना अथवा अपने शत्रु के प्रति मानसिक भावनाओं में हिंसाजन्य चिन्तन का बार-बार उत्पन्न होना, मारण-उच्चाटन-विद्वेषण आदि मंत्रों का प्रयोग करना अथवा इन सभी के लिए चिन्तन करना, योजनाएँ बनाना। इस तरह हिंसानुबंधी प्रथम प्रकार के रौद्रध्यान में हिंसाजन्य संकल्प, योजना-निर्माण व क्रियान्विति, ये तीनों चरण आ जाते हैं। कालसौरिक कसाई, अंगुलिमाल, अर्जुनमाली आदि के उदाहरण इसमें लिए जा सकते हैं। हिंसानुबंधी रौद्रध्यान से श्रावक का प्रथम अणुव्रत खंडित होता है।

□ रौद्रध्यान का दूसरा भेद : मृषानुबंधी

झूठ सम्बन्धी योजनाएँ, संकल्प, क्रियान्विति आदि इसमें आते हैं। कपट वचन की योजना, कपट वचन कहना, पापाचरण सूचक या अनिष्ट सूचक कथन करना अथवा वैसा चिन्तन करना, असभ्य बोलना, जैसा अर्थ नहीं है वैसा अर्थ निकालना-कहना या चिन्तन करना। जो कुछ सत्य है उसे छिपाना, छिपाने का विचार करना। संकल्प करना कि मैं ऐसा झूठ कह दूँगा। इस तरह योजना बनाना असत्य भाषण अथवा असत्य भाषण के लिए चिन्तन में एकाग्रता मृषानुबंधी रौद्रध्यान है। इस ध्यान वाले का सत्यव्रत खंडित होता है। महाभारत में “अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा” कथन इसका उदाहरण है, जहाँ संकल्पपूर्वक, योजनानुसार झूठ बोला गया, यह झूठ भयंकर परिणामों की धारा के साथ कि अश्वत्थामा का पिता सेनापति द्रोणाचार्य यह सन्देश सुनकर हताश, निराश बन मरणासन्न हो जाएगा। हुआ भी वही, द्रोणाचार्य यह सुन मृत्यु को प्राप्त हुए।

□ रौद्रध्यान का तीसरा भेद : चौर्यानुबंधी

तीव्र क्रोध या लोभ के वशीभूत बन किसी के द्रव्यहरण का संकल्प, द्रव्यहरण की योजना, द्रव्यहरण द्वारा उसे हानि पहुँचाने का चिन्तन चौर्यानुबंधी रौद्रध्यान है। इसमें व्यक्ति की चित्तवृत्ति में ऐसी भावनाओं का योजनाबद्ध एकीकरण हो जाता है, जिनमें वह किसी का

ताला तोड़कर चोरी करने की योजना बनाता है, चोरी करने की चिन्ता में एकाग्र बन जाता है और द्रव्य चुराकर द्रव्य-मालिक को हानि देता है। इस तरह चोरी की योजना, संकल्प, चिन्तन और चोरी का कार्य करना आदि चौर्यानुबंधी रौद्रध्यान में आते हैं। श्रेणिक नृप और बुद्धिनिधान अभयकुमार के समय का रोहिण्येय चोर इसका एक उदाहरण है।

□ रौद्रध्यान का चौथा भेद : संरक्षणानुबंधी

काम-भोग व परिग्रह सम्बन्धी साधनों का एकीकरण, संग्रहण, उनको प्राप्त करने की चिन्ता, योजना, प्राप्त साधनों के संरक्षण की चिन्ता व तत्परता आदि को संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान में लिया जाता है। इसमें व्यक्ति इन्द्रियों व मन के विषय-विकारों के साधन रूप शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि की अथवा धन, सम्पत्ति, व्यवसाय, बंगले-मोटर आदि को प्राप्त करने और प्राप्त का संरक्षण करने में चित्त को एकाग्र बनाता है। भोग-परिभोग की वस्तुओं, स्व-स्त्री आदि के संरक्षण हेतु चिन्तित बना रहता है। ये साधन कोई छीन न ले, चुरा न ले आदि चिन्ताएँ बनी रहती हैं। सुरक्षा के अनेक तरीके अपनाता है। छीने जाने का डर होने पर जिसके प्रति सन्देह है, उसके अपघात आदि का चिन्तन भी इसी ध्यान का विषय है।

राजा श्रेणिक की भाँति सुख-साधनों में मगन बनना, मम्मण सेठ की भाँति धन-लोलुप बन धन में ही आसक्त रहना, चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की तरह काम-भोगों के दलदल में फँसे-धँसे रहना—ये सभी संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान के प्रसंग हैं।

□ ध्यातव्य (आर्त्त, रौद्र)

विशेष ध्यातव्य यह है कि आर्त्तध्यान कैसा भी हो, वह प्रमादजन्य होगा, उसमें व्रतभंग की संभावना कम और व्रतों में दोष लगने की संभावना अधिक रहेगी। आर्त्तध्यान की गति तिर्यच बताई गई है। इसी तरह रौद्रध्यान हमेशा संकल्पपूर्वक होगा। उसमें व्रतभंग होने की पूरी-पूरी संभावनाएँ बनेंगी और रौद्रध्यानी नरक गति का अधिकारी बनेगा।

□ रौद्रध्यानी की पहचान के लक्षण

रौद्रध्यान की पहचान के चार लक्षण बताये हैं—(१) कठोर एवं संक्लिष्ट परिणामों वाला होता है। उसे दूसरों के दुःखों को देखकर प्रसन्नता का अनुभव होता है। (२) वह न तो इस लोक में अप्रतिष्ठा, कानून, सजा आदि से डरता है और न परलोक में—‘नरकादि गति मिलेगी’—इससे भय खाता है। (३) उसके हृदय में लेशमात्र भी दया, अनुकम्पा, सौहार्द या करुणा का भाव नहीं होता। (४) वह पाप-प्रवृत्ति करके प्रसन्न बनता है, अपकार्य करने के बाद कभी पश्चात्ताप का विचार उसके मन में नहीं आता।

□ धर्मध्यान

आर्त्त और रौद्र—इन दोनों ध्यानों से उपरत होकर कषायों की मन्दता के शुभ अध्यवसाय या शुभ उपयोग रूप पुण्य-कर्म-सम्पादक जितने भी कार्य हैं, उन सबको करना, कराना और उनकी अनुमोदना करना धर्मध्यान है। इसी तरह सदशास्त्रों का पठन-पाठन करना, व्रताराधन, शीलपालन और जिनाज्ञाओं का परिपालन करना एवं करने के लिए चिन्तन करना धर्मध्यान है। यहाँ इस बात को अवश्य ध्यान में ले लेना चाहिए कि इन सभी कर्तव्यों/अनुष्ठानों में जितनी देर चित्त एकाग्र रहता है, उतनी देर ही धर्मध्यान रहता है।

समवायांगसूत्र के चौथे समवाय में—“पदार्थ स्वरूप के पर्यावलोचन में मन की एकाग्रता को धर्मध्यान कहा है।” यहाँ पदार्थ-स्वरूप-चिन्तन में पदार्थ का यथार्थ बोध और यथार्थ तत्त्व बोध आवश्यक माना गया है।

श्रमण-श्रमणीवृंद एवं सम्यग्दर्शी श्रावक-श्राविकाओं का किसी एक पुद्गल (वस्तु) पर दृष्टि को स्थिर कर मन-वचन-काया के योगों के निग्रहपूर्वक ध्यान करना, ध्यान में धर्म के लक्षणों या किसी एक लक्षण पर गहन चिन्तन करना व उसी में रम जाना, खो जाना, लीन बन जाना धर्मध्यान कहा गया है।

निर्ग्रन्थ संत-मुनिराज शुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए जब-जब भी ध्यान करते हैं और भावों में आत्मचिन्तन करते हुए आत्मरमणता की स्थिति में होते हैं, तब उनका वह आत्मरमण प्रवाह धर्मध्यान कहलाता है।

बंधुओं ! सूत्रार्थ की साधना, महाव्रतों की आराधना, बंध और मोक्ष की चिन्तना, गति-आगति के हेतुओं की विचारणा, पंचेन्द्रिय के विषय-विकारों से निवृत्ति और प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा भाव—इन सभी में, इनमें से कुछेक में या इनमें से किसी भी एक में मन की सम्पूर्ण एकाग्रता बना लेना धर्मध्यान है। मनीषी आचार्यों ने ‘आवश्यक-अध्ययन’ में जिनेश्वर भगवंत तथा निर्ग्रन्थ मुनिराजों के गुणकीर्तन करने, उनके आदर्शों की चर्चा करने, उनका विनय करने वाली श्रुतशील और संयमात्माओं को धर्मध्यानी बताया है। वे जब-जब इनमें मन को एकाग्र करते हैं तब-तब वे धर्मध्यान में होते हैं।

□ धर्मध्यान के भेद

धर्मध्यान के भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा गया है—

“धम्म ज्ञाणे चउव्विह पण्णत्ते तं जहा—आणा विजए, अवाय विजए, विवाय विजए, संठाण विजए।”

(भगवतीसूत्र, श. २५, उ. ७)

“आज्ञाऽपायविपाकसंस्थान विचयाय धर्मप्रमत्तसंयतस्य।”

(तत्त्वार्थसूत्र ९/३६)

अर्थात् धर्मध्यान चार प्रकार का होता है—

(१) आज्ञा विचय, (२) अपाय विचय, (३) विपाक विचय, और (४) संस्थान विचय।

(१) **आज्ञा विचय**—जिन आज्ञा रूप प्रवचन के चिन्तन में संलग्न रहना आज्ञा विचय है। इसमें जीवात्मा यह चिन्तन करता है कि ‘हे जीव! वीतराग प्रभु ने आरम्भ-परिग्रह को हेय बताकर उसे त्यागने का कथन किया है, जबकि तू आरम्भ-परिग्रह में ही आसक्त, लुब्ध, मूर्च्छित होकर विचरण कर रहा है।’

बंधुओं! अनादिकाल से भवभ्रमण कर रहे जीव के लिए जिनवाणी अत्यंत हितकारी है, प्रियकारी है व कल्याणकारी है। वह अनेकान्त-दर्शन द्वारा सूक्ष्म तत्त्वों का दिग्दर्शन कराती है और जैनेतर वाणियों, प्रवचनों, सिद्धान्तों आदि से अपराभूत है। वह अपरिमित, अमूल्य, अनादि, अतिनिपुण, महत् अर्थ वाली, महत् प्रभाव वाली, महत् विषय वाली, निर्दोष, नयभंग व प्रमाणादि से गहन है। इस तरह जिनेश्वर वाणी के अनेकानेक गुणों का एवं उसमें प्रतिपादित तत्त्वों का मनन-चिन्तन करना, उसे सत्य-तथ्य मानते हुए उस पर समर्पित अटूट श्रद्धाभाव रखना आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

(२) **अपाय विचय**—संसार-पतन (आत्म-पतन) के कारणों का विचार एवं उनसे बचने का चिन्तन ‘अपाय विचय’ नामक दूसरा धर्मध्यान है। जीवात्मा का यह चिन्तन कि ‘राग और द्वेष, क्रोधादि कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव प्रवेश के हेतुक हैं, इनसे अशुभ कर्मबंधन होता है। अतः आत्मा की हानि, आत्मा का अपकर्ष होता है।’ अपाय विचय धर्मध्यान है।

यह सोचना कि जैसे किसी महाव्याधि के उत्पन्न होने पर व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को खीर, मिष्टान्न, बादाम का हलुआ या अन्य कोई उसकी प्रिय खाद्य वस्तु जो उस व्याधि में हानिकारक है, अपथ्य-रूप है, उस वस्तु को रुग्ण व्यक्ति तक नहीं पहुँचने देना, क्योंकि उसका खाना तो क्या, उसकी वांछ करना भी व्याधिग्रस्त व्यक्ति को अधिक बेचैन बना देता है। इसी प्रकार जीवात्मा के लिए राग भी दुःखदायी, पीड़ाकारी और कष्टप्रद होता है। यह राग जीवात्मा के लिए संसार-वृद्धि का कारण है।

यह चिन्तन कि द्वेष एक अग्नि है, ऐसी अग्नि जो जीवात्मा के गुणों को उसी प्रकार जला डालती है, जैसे वृक्ष के कोटर में रखी हुई अग्नि पूरे पेड़ को जलाकर राख बना डालती है। इस द्वेष-अग्नि से व्यक्ति इस लोक में भी तापित-संतापित बनता है, दुःखी होता है और परलोक में तो वह नरक के दुःखों की अग्नि में जलता ही है।

यह विचारना कि कषाय-चतुष्क अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ भी संसारवृद्धि के कारण हैं और इनके कारण जीवात्मा प्रशम आदि गुणों से रहित बन मिथ्यात्वी, मूढमति, पापात्मा जीव इस लोक में ही नरक सदृश दुःख पाता है।

इस प्रकार राग-द्वेष, कषाय आदि के दुष्परिणामों (अपायों) के चिन्तन को, ऐसे चिन्तन में चित्त की एकाग्रता को अपाय विचय नामक धर्मध्यान की संज्ञा दी गई है।

(३) **विपाक विचय**—कर्मफल के विषय में चिन्तन करना विपाक विचय है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मावरण से आत्मा अनंतज्ञानादि गुण आवृत हैं। चेतनात्मा और पुद्गल कर्म (जड़) के दुग्ध-जलवत् एकीकरण के कारण ही जीव सांसारिक सुख-दुःख, मोह-माया, राग-द्वेष आदि के जाल में उलझकर चार गति, पाँच जाति, छह काय, चौबीस दंडक में निरन्तर अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। इस प्रकार का चिन्तन विपाक विचय नामक धर्मध्यान के अन्तर्गत आता है।

बंधुओं! आप सभी जानते हैं कि संपत्ति-विपत्ति, संयोग-वियोग आदि के कारण जीव को संसार में सुखों और दुःखों का जो अनुभव होता है, वह इस जीव के अपने स्वयं के ही पूर्वोपार्जित शुभ या अशुभ कर्मों का फल (विपाक) है, परिणाम है। प्रत्येक आत्मा अपने द्वारा किए गए शुभाशुभ कार्यों का, शुभाशुभ चिंतन का, शुभाशुभ कथन का फल भोगता है और उसी फल के कारण होता है सुख या दुःख का वेदन। प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र के बीसवें अध्ययन में बतलाया है कि—

अप्या नई वेयरणी, अप्या मे कूडसामली ।
 अप्या कामदुहाधेणू, अप्या मे नन्दणं वणं ॥
 अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
 अप्या मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठय सुप्पट्ठओ ॥

(उ. २०/३६-३७)

पापकार्यों में प्रवृत्त (अशुभ कर्मबंध में पड़ी) आत्मा वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान कष्टदायी बन जाती है। सत्कर्मों में प्रवृत्त यदि मेरी आत्मा शुभ कर्म अर्जित करती

है तो वही कामधेनु व नन्दनवन के समान सुख देने वाली होती है। तात्पर्य यह कि आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और आत्मा ही अपने किए शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता है। शुभ प्रवृत्तियों-सदाचार में रहती हुई आत्मा मित्रवत् है, जबकि अशुभ प्रवृत्तियों-दुराचार में रत आत्मा अपनी ही शत्रु है।

इस तरह कर्म-विषयक चिन्तन में मन की एकाग्रता विपाक विचय नामक धर्मध्यान है।

(४) **संस्थान विचय**—जन्म-मरण के आधारभूत पुरुषाकार लोक के स्वरूप का चिन्तन करना संस्थान विचय है। धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्यों व उनकी पर्यायों, जीव-अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोक स्वरूप पृथ्वी, द्वीप, सागर, नरक, विमान, भवन आदि के आकार, लोक स्थिति, जीव की गति-अगति, जीवन-मरण आदि सभी सिद्धान्तों के अर्थ का चिन्तन करना एवं इस अनादि-अनंत संसार-सागर का चिन्तन करना जो जन्म-जरा-मरण रूपी जल से परिपूर्ण है, क्रोधादि कषाय रूप पातालों वाला है, विविध दुःख रूपी कच्छ-मच्छ-मगर आदि से भरा हुआ है, अज्ञान रूपी वायु से उठने वाली संयोग और वियोग की उत्ताल तरंगों से युक्त है। यह चिन्तन करना कि इस संसार रूपी सागर से चारित्र रूपी नौका ही तिरा सकती है, ऐसी चारित्र अर्थात् संयम रूप नौका जिसे ज्ञान रूपी नाविक चलाए और जो सम्यग्दर्शन रूपी मजबूत काष्ठ व लौह कीलों से तैयार की गई हो। आस्रव रूपी छिद्रों से रहित इस नाव को तप रूपी पवन अनुकूल वेग देता रहे, निश्चित वैराग्य पथ पर यह बढ़े, अपध्यान (आर्त्त-रौद्र) की तरंगों से यह नौका डिगे नहीं। ऐसी नौका में मुनि रूपी व्यापारी शील रूपी बहुमूल्य रत्नों के साथ यात्रा करके शीघ्र ही, निर्विघ्न निर्वाण-तट पर पहुँच जाता है। इस निर्वाण-तट पर पहुँचने वाले जीवों को अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत, स्वाभाविक, निरुपम सुख प्राप्त होता है।

इस प्रकार जीवादि पदार्थों का सम्पूर्ण विस्तार सहित चिन्तन, समस्त नयादि सिद्धान्तोक्त अर्थ का चिन्तन करना और उसी चिन्तन में मन को एकाग्र करना संस्थान विचय रूप धर्मध्यान है।

यह धर्मध्यान उपशांत कषाय और क्षीण कषाय वाले जीवों को भी संभव है।

□ धर्मध्यानी के लक्षण

बंधुओं! धर्मध्यानी की पहचान के सर्वज्ञों ने चार लक्षण बताए हैं—

(१) **आज्ञा रुचि**—वीतराग भगवान की आज्ञाओं के अनुसार क्रिया करने की उत्कृष्ट अभिलाषा होना—‘आज्ञा रुचि’ है। यह धर्मध्यान का पहला लक्षण है। इसमें जिनाज्ञा में मनन-चिन्तन में रुचि, श्रद्धा, भक्ति होनी चाहिए।

(२) **निसर्ग रुचि**—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन नव तत्त्वों को जानने की एवं धर्मकार्यों को करने की स्वाभाविक अभिलाषा को धर्मध्यान का दूसरा लक्षण बताया है। नाम है इसका 'निसर्ग रुचि'।

(३) **उपदेश रुचि**—सदुपदेश सुनने की उत्कृष्ट अभिलाषा धर्मध्यान का तीसरा लक्षण 'उपदेश रुचि' है।

(४) **सूत्र रुचि**—ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और आवश्यक सूत्र इन बत्तीस आगम सूत्रों को पढ़ने व सुनने की उत्कट या उत्कृष्ट अभिलाषा ही 'सूत्र रुचि' है, जो धर्मध्यान का चतुर्थ पाया है।

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र रुचि को तीसरे स्थान पर रखकर चौथा लक्षण **अवगाढ़ रुचि** बताया है, जो उपदेश रुचि के समान ही है।

धर्मध्यान के ध्येय चार बताए गए हैं—

(१) **पिण्डस्थ**—पार्थिवी, आग्नेयी आदि पाँच धारणाओं का एकाग्रता से चिन्तन पिण्डस्थ धर्मध्यान है।

(२) **पदस्थ**—नाभि में सोलह पंखुड़ी, हृदय में चौबीस पंखुड़ी तथा मुख पर आठ पंखुड़ी के कमल की कल्पना करना और प्रत्येक पंखुड़ी पर वर्णमाला के अ, आ, इ, ई आदि अक्षरों की अथवा पञ्च परमेष्ठी मंत्र के अक्षरों की स्थापना करके एकाग्रतापूर्वक उनका चिन्तन करना। तात्पर्य यह है कि किसी पद के आश्रित होकर मन को एकाग्र करना पदस्थ धर्मध्यान है।

(३) **रूपस्थ**—शास्त्रों में वर्णित अरिहन्त भगवान की शान्त दशा को हृदय में स्थापित करके, स्थिर चित्त से उसका ध्यान रूपस्थ धर्मध्यान है।

(४) **रूपातीत**—रूपरहित निरंजन, निर्मल सिद्ध भगवान का आलम्बन लेकर, उसके साथ आत्मा की एकता का चिन्तन करना रूपातीत ध्यान है।

(कर्तव्य कौमुदी, भाग-२, श्लोक २०८-२०९)

□ **धर्मध्यान तक पहुँचने के लिए चार अवलम्ब**

कैसे पहुँचें धर्मध्यान तक ? कैसे छोड़ें आर्त व रौद्रध्यान ? बंधुओं ! इसके लिए सर्वज्ञों ने चार अवलम्ब बताए हैं—

(१) **वाचना**—आगमों का शुद्ध उच्चारणपूर्वक पठन-पाठन करना एवं संत-मुनिराज द्वारा प्रदत्त सूत्र-वाचनाओं को रुचिपूर्वक ध्यान देकर सुनना—यह धर्मध्यान का प्रथम अवलम्ब है, जिसे 'वाचना' कहा गया है।

(२) **पृच्छना**—सूत्रार्थ में शंका होने, भ्रम में पड़ने, सन्देह की स्थिति आ जाने पर उसका निवारण करने के लिए विनयपूर्वक पूछना, प्रश्न करना धर्मध्यान का दूसरा 'पृच्छना' नामक अवलम्ब है।

(३) **परिवर्तना**—सन्देहरहित प्राप्त और ग्रहीत ज्ञान को स्मृति में रखने के लिए उस ज्ञान की, सूत्र-पाठों व श्लोकों आदि की बार-बार आवृत्ति (Revision) करना, यह 'परिवर्तना' नामक धर्मध्यान का तीसरा अवलम्ब है।

(४) **अनुप्रेक्षा**—चित्त को एकाग्र बनाकर सूत्र-पाठादि के अर्थ, गूढार्थ व परमार्थ का स्वतंत्र बुद्धि से मनन-चिंतन करना और सूत्र-पाठों के मूल आशय को पुष्ट बनाना तथा हेय, ज्ञेय, उपादेय का चिंतन-मनन करना धर्मध्यान का चौथा अवलम्ब 'अनुप्रेक्षा' है।

□ धर्मध्यान की चार भावना

(१) **अनित्य भावना**—“जगत् में जितने भी पौद्गलिक पदार्थ हैं, वे सभी अनित्य हैं। यह शरीर, यह धन, परिवार के सभी सदस्य अर्थात् माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी आदि, यह घर या महल, बंगला, कार आदि जो भी वस्तुएँ हमें प्राप्त हैं और जो भी सम्बन्ध जिन-जिन सांसारिक प्राणियों से हैं, वे सारे नाशवान, क्षणभंगुर, अनित्य हैं।”—जीवात्मा का यह चिन्तन, इस चिन्तन में जीवात्मा की एकाग्रता अनित्य भावना धर्मध्यान के अन्तर्गत आने वाली भावना है।

व्यक्ति अनित्य भावना के चिन्तन में लगकर विचार करता है कि शरीर, जीवन, सांसारिक पदार्थ अनित्य हैं। वह सोचता है कि मेरा यह शरीर व्याधि मन्दिर है, रोगों का घर है। स्थानांगसूत्र की टीका में शरीर के लिए बताया गया है—“प्रतिक्षणं शीर्यन्तः इति शरीराणि।” (स्थानांगसूत्र ५/१ टीका) अर्थात् जो उत्पन्न हुआ तभी से प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है, परिवर्तित हो रहा है, एक दिन नष्ट हो जायेगा। उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्ययन में शरीर की क्षणभंगुरता के लिए बताया है प्रभु श्री महावीर ने—

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, धोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए॥

बंधुओं! घास की नोंक (अग्र भाग) पर ठहरे पानी के बिन्दु की तरह यह जीवन आयुष्य की नोंक पर टिका है। जरा-सी मृत्यु की धूप लगी कि आयुष्य की पत्तियों पर पड़ी जीवन की जल-बिन्दु (ओस) सूख जायेगी।

मनीषी आचार्यों ने अनित्य भावना के लिए एक संस्कृत पद में बताया है—

**वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं, जराक्रान्तं च यौवनम्।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं, मरणान्तं च जीवितम्॥**

बंधुओं! कहा है मनीषी चिन्तकों ने कि शरीर को रोगों से घिरा हुआ समझो, यौवन को बुढ़ापे से आक्रान्त समझो और ऐश्वर्य को समझो कि यह अंत में नाशवान् है। प्रत्येक प्राणी का जीवन अंत में मरण में बदलने वाला है। जब मौत ही हर प्राणी का अंतिम परिणाम है तो अन्य-अन्य वस्तुओं का चिन्तन मूर्खता है। वे भी नष्ट हो जायेंगी। यदि ये वस्तुएँ रह भी जाएँ तो स्वयं प्राणी, व्यक्ति नष्ट हो जायेगा।

उत्तराध्ययनसूत्र के १३वें अध्ययन में भगवान महावीर ने कहा है—

**अच्चेइ कालो तूरंति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण णिच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥**

समय पंख फैलाए उड़ता जा रहा है, रात्रियाँ भागी जा रही हैं। जीवन में जो काम-भोग के पदार्थ प्राप्त हुए हैं, वे स्थिर नहीं हैं, अस्थिर, अनित्य हैं। जब तक पुण्य का संयोग है, सुख-सम्पत्ति दौड़ी आ रही है, लेकिन जिस दिन पुण्य क्षीण होंगे, उस दिन से ही ये काम-भोग, ये सांसारिक भौतिक पदार्थ, ये सुख-सम्पत्ति के साधन, ये स्वजन-परिजन आदि सभी तुम्हें उसी तरह छोड़कर चले जायेंगे जैसे फलहीन, फूलरहित, पत्तोरहित, घनी छाया से विहीन वृक्ष को पक्षी छोड़कर चले जाते हैं।

जीवन की इस वास्तविकता, क्षणिकता, नश्वरता को समझकर मन में यह चिन्तन करना कि 'शरीर, धन, सत्ता, भौतिक पदार्थ आदि सभी अनित्य, अशाश्वत हैं। अतः मेरा इनमें उलझना, मोहित होना, भ्रमित बनना, आसक्ति बढ़ाना ठीक नहीं। मुझे इनसे निर्लिप्त रहना है, अपने आपको निर्वेद स्थिति में लाना है।' यही है **अनित्य भावना**, धर्मध्यान की भावनाओं का एक अंग। इसमें यह चिन्तन किया जाता है कि 'हे जीव! संयोग-वियोग के स्वभाव वाले जिन सांसारिक पदार्थों में तू रम रहा है, प्रीति लगा रहा है, आसक्त बन रहा है—एक दिन ये प्रीतिकर पदार्थ अपने स्वभाव के अनुसार नष्ट हो जायेंगे, अन्यत्र चले जायेंगे। उस समय तू जिन्हें सुख का कारण मान रहा है, वे ही दुःख के कारण बन जायेंगे।'

(२) अशरण भावना—इस भावना में यह चिन्तन बनता है कि एकमात्र धर्म या आत्मा ही शरणभूत है। जो स्वयं अनित्य है, अशाश्वत है, क्षणभंगुर है, वह भला कैसे शरण दे सकेगा? शाश्वत और नित्य तो धर्म ही है। अतः मुझे उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिए। उत्तराध्ययन में भगवान महावीर कहते हैं—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया, कातम्मि तम्मिऽसहराभवन्ति ॥

बंधुओं! वन में वनराज सिंह जब किसी मृग-टोली में से किसी एक मृग को दबोच लेता है तो बाकी दूसरे मृग भयभीत होकर इधर-उधर छिप जाते हैं, वे अपनी जान बचाने की चिन्ता करते हैं। उस समय कोई भी अन्य मृग उस सिंह के मुँह में जाते मृग को बचाने नहीं आता। यही स्थिति संसार में प्राणियों की है। कालरूपी सिंह जब झपट्टा मारता है तो सभी दूर खड़े देखते रह जाते हैं। किसी व्यक्ति के घर कोई मरता है तो अन्य लोग—उसके माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-पत्नी आदि चाहकर भी उसे शरण नहीं दे सकते, अर्थात् उसे बचा नहीं सकते, उसकी रक्षा नहीं कर सकते। वे विवश बन जाते हैं और केवल मोहवश रोते हैं, बिलखते हैं लेकिन मृत्यु से उसे नहीं बचा सकते।

सूत्रकृतांग में सर्वज्ञों का कथन है कि—

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एण मम तेसुवि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ ॥

(सूत्रकृतांग १/२/३/१६)

बंधुओं! इसमें स्पष्ट उल्लेख आया है कि यदि कोई यह समझता है कि यह जो मेरा धन है, यह मेरी रक्षा करेगा तो यह उसकी भ्रांति है। कोई यह माने कि ये मेरे पशुओं का समूह, ये मेरे ज्ञातिजन, स्वजन-परिजन आदि जिन्हें मैं अपना मानता हूँ, जिनका पालन-पोषण-संरक्षण करता हूँ, लाखों रुपये जिन पर खर्च करता हूँ—ये समय आने पर मेरी रक्षा करेंगे, मेरे शरणभूत बनेंगे, मेरी सहायता करेंगे। उनका ऐसा विचार ज्ञानियों की दृष्टि में बाल-विचार अर्थात् नादान बालक की भाँति नादान सोच है। ऐसा चिन्तन करने वाले लोक की स्थिति से अनभिज्ञ हैं। इस लोक का सत्य यह है कि कोई किसी का नहीं, सब नाते-रिश्ते स्वार्थ के हैं। न तू उनको पालता, उनका संरक्षण करता या उनका आधारभूत है और न वे तुझे शरण दे सकते हैं, रक्षा कर सकते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा चिन्तन धर्मपथ की ओर ले जाने वाला है। इसी चिन्तन का नाम है अशरण भावना। धर्मध्यान की यह दूसरी भावना है। प्रत्येक व्यक्ति का चिन्तन इस भावना में रमण करना चाहिए। मन इन्हीं विचारों में एकाग्र बनना चाहिए कि—

**जन्म-जरा-मरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥**

(प्रशमरति प्रकरण १५२)

बंधुओं! जन्म, जरा, मरण, भय, रोग, शोक, वेदना आदि से पीड़ित इस संसार में जिनेश्वर देवों के वचन, उनके उपदेश, उनके द्वारा प्ररूपित धर्म ही एक ऐसा है जो प्राणियों के लिए शरणभूत है।

उत्तराध्ययनसूत्र के चौदहवें अध्ययन में प्रभु कहते हैं—

“एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।”

(उत्तराध्ययन १४/४०)

यह प्रसंग है भृगुपुरोहित का। भृगुपुरोहित, उसकी पत्नी यशा और उसके दोनों ही बालक जब दीक्षा लेते हैं तो राजा इषुकार भृगुपुरोहित की सम्पत्ति को राज्यकोष में अधिकृत कर लेता है। रानी कमलावती तब राजा इषुकार से कहती हैं कि “हे नरदेव! एक धर्म ही इस पृथ्वी पर हमारी रक्षा करने वाला, हमारा भ्राता, हमें शरण देने वाला है। धर्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी, कोई भी इस लोक में हमारा रक्षक नहीं है।

इन सबका चिन्तन करते हुए, धर्म को ही एकमात्र शरणभूत मानकर शेष सबको नश्वर समझ अशरण मानना, चिन्तन करना और जीवन में दान, शील, तप एवं शुभ भाव का आचरण करना ही **अशरण भावना** रूप धर्मध्यान की तीसरी भावना है। उत्तराध्ययन के तेवीसवें अध्ययन में स्पष्ट कर दिया है इसे प्रभु महावीर ने—

**जरा-मरण वेगेणं, वुज्झमाणण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमम् ॥**

(उत्तराध्ययन २३/६८)

बंधुओ! प्रभु ने कहा है कि वृद्धावस्था और मरण के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म एक ऐसा स्थान है, ऐसा द्वीप है, ऐसी उत्तम गति है, ऐसी शरणस्थली है कि जहाँ जाकर प्रत्येक प्राणी शांति और निर्भयतापूर्वक रह सकता है।

(३) संसार भावना—इसमें व्यक्ति संसार, संसार में जीव के चार गतियों अनंतकाल से भ्रमण व संसार के विचित्रतापूर्ण स्वरूप पर चिन्तन करता हुआ, यह विचार करता है कि—

हे चिदानन्द! तू अनादि काल से चार गति, चौबीस दंडक, चौरासी लाख जीव योनि में इधर से उधर, उधर से इधर संसरण कर रहा है, भटक रहा है, दुःख सहन कर रहा है। तीसरी नरक तक परमाधार्मिक देवकृत अनेक भयंकर दुःख, पीड़ाएँ, वेदनाएँ तूने सहन की हैं। इससे आगे क्षेत्रजन्य तथा पारस्परिक नारकीय अकल्पनीय वेदनाओं को तूने अनेकों बार भोगा है। तिर्यच गति में दूसरों के अधीन बनकर उनके द्वारा दी गई ताड़ना-प्रताड़ना, मार, बंधन आदि दुःख तूने सहन किए हैं। वहाँ तू मूक रहने के कारण अपनी वेदना प्रकट भी नहीं कर पाता था, चुपचाप सहकर आँसू बहाता, रोता-कलपता रहता था।

मनुज जन्मों में तूने आधि-व्याधि, रोग-शोक, दारिद्र्य आदि की अनेकों वेदनाएँ सहन की हैं। देवगति में गया है तो कभी आभियोगिक, कभी किल्बिषिक, कभी कान्दर्पिक और कभी आसुरी देव बनकर अन्य देवों की गुलामी की। तामस और क्रूर भावों के कारण अनेक दुःख भोगे। कभी अनैतिक कार्य किए तो वज्र के प्रहार सहन करने पड़े। आयुष्य पूर्ण होते समय च्यवन के अवसर पर भी अनेक मानसिक पीड़ाओं को भोगा।

पद-पद पर दुःख से परिपूर्ण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, आधि, व्याधि की अनंत-अनंत वेदनाओं से भरा ऐसा यह लोक, यह संसार असार है, निस्सार है। इस संसार में संसरण करते हुए जीव ने अनंत-अनंत जीवों के साथ अनंत-अनंत सम्बन्ध बनाए हैं। आगमों में तीर्थंकर भगवंतों ने कहा है—

न सा जाइ न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलं ।
न जाया न मुआ जत्थ सब्बे जीवा अणंत सो ॥
तं किंचि नत्थं ठाणं लोए बालग्ग कोडिमित्तं पि ।
जत्थ न जीवा बहुसो सुहदुक्खं परंपरं पत्ता ॥

बंधुओं! प्रभु ने फरमाया कि लोक में कोई ऐसी जाति, ऐसी योनि, ऐसा कोई स्थान और ऐसा कोई कुल नहीं, जहाँ पर इस जीव ने अनंत-अनंत बार जन्म-मरण न किया हो।

बाल के अग्र भाग जितना सूक्ष्म स्थान भी लोक में ऐसा नहीं, जहाँ जीव ने बहुत-बहुत बार सुख-दुःख की परम्परा प्राप्त न की हो।

आचारांगसूत्र (६/१) में प्रभु ने बताया है—“पासलोए महब्भयं।” अर्थात् देखो! यह संसार महाभयानक है।

सूत्रकृतांग (१७/११) में आया है—“एगंत दुक्खं जरिएव लोयं।” कहा है कि जैसे बुखार में व्यक्ति बेचैन रहता है, वैसे ही संसार में हर प्राणी ज्वरग्रस्त की तरह बेचैन बना रहता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रभु ने बताया है—“शरीर माणसा चेव वेयणाओ अणंत सो।” अर्थात् शरीर और मन की अनंत-अनंत वेदनाएँ यहाँ (चार गति रूप संसार में) पग-पग पर खड़ी हैं।

उत्तराध्ययन में ही प्रभु महावीर ने कहा है कि—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जन्तुणो ॥

(उ. १९/१६)

अर्थात् इस संसार में जन्म का दुःख है, जरा (बुढ़ापे) का दुःख है, रोगों से ग्रस्त होने का दुःख है, मृत्यु का दुःख है, वियोग का दुःख है। जिधर देखो, नजर को भी जिधर पसारो, उधर दुःख ही दुःख है, हाय-त्राय है, रोना-चिल्लाना है।

भगवतीसूत्र (२/१) में कहा है—“आलित्तं पलित्तेणं लोए भंते ! जराए मरणेण य।” भगवन्! यह संसार तो अनेक तरह के दुःखों की ज्वालाओं से धधक रहा है। जलती हुई भट्टी की तरह यहाँ जरा और मरण की अग्नि प्रज्वलित हो रही है।

बंधुओं! स्कंधक संन्यासी को भगवान महावीर ने कहा। संसार से विरक्त अनेक दीक्षाभिलाषी भव्यात्माओं को ऐसा ही स्थान-स्थान पर प्रभु ने कहा है।

इस अनित्य, अशरणभूत, भारी विचित्रताओं से भरे स्वार्थी दुःखमय संसार में यदि कोई सार तत्त्व है तो वह जिनधर्म है, अरिहंत देव है, निर्ग्रंथ गुरु है। अरिहंत भगवंतों व गुरु निर्ग्रंथों द्वारा कही गई बातें ही सार हैं।

इस प्रकार संसार से छूटने का, विरक्त बन संयम धारण करने का विचार ही धर्मध्यान की तीसरी संसार भावना है।

(४) एकत्व भावना—व्यक्ति जब यह चिन्तन करता है कि हे प्राणी! तू इस संसार में आया तब भी अकेला आया था और इस संसार से जब जायेगा तब भी अकेला ही जाएगा। जिस शरीर को तू अपना मानकर उस पर अत्यंत प्रीति रखता है, उसे सजाता-सँवारता है, उसका लालन-पालन-पोषण व संरक्षण करता है और दिन-रात जिस शरीर के लिए दौड़-धूप करता है, पुरुषार्थ करता है, खून-पसीना एक करता है—वह शरीर भी परभव में

तेरे साथ चलने वाला नहीं है। आचारांगसूत्र में प्रभु ने यही तो फरमाया है—“**पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि।**”—हे पुरुष! हे आत्मन्! हे प्राणिन्! तू ही तेरा मित्र है, तेरा मित्र तेरे ही भीतर है, बाहर में तू कहाँ मित्रों की खोज कर रहा है? तू अकेला ही है—“**एगे अहमंसि न मे अत्थि कोई, न याहमवि कस्स वि।**”

हे जीवात्मा! चिन्तन यह कर कि मैं अकेला हूँ, एक हूँ! इस संसार में न मेरा कोई है, न मैं किसी का हूँ। अतः मुझे अपनी आत्मा के हित का ही चिन्तन करना चाहिए।

बंधुओं! जब शरीर ही जीव को त्याग देता है, परभव में साथ नहीं चलता, यहीं नष्ट हो जाता है तो शेष सांसारिक पदार्थों व प्राणियों की तो बात ही क्या करें? समयसार में प्रभु ने कहा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदाइरुवी।

ठावि अत्थि मज्झकिंचिव, अण्णं परमाणु मित्तं वि॥

(स. ३८)

मैं (अहं, आत्मा) एक हूँ, शुद्धस्वरूपी हूँ, मैं वस्तुतः अरूपी हूँ, ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप है मेरा। इसके अतिरिक्त जो बाहर दिखाई पड़ते हैं वे माता-पिता, पुत्र, धन-वैभव आदि सभी अन्य हैं। और तो क्या, यह मेरा शरीर भी मैं नहीं हूँ, अर्थात् शरीर मुझसे (आत्मा से) भिन्न है। शरीर और आत्मा, दो अलग-अलग तत्त्व हैं।

वस्तुतः जहाँ एक से दो बने, वहीं टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। नमिराजर्षि ने यह चिन्तन किया था। चिन्तन में एकाग्रता आई तो अस्वस्थता चली गई। चिन्तन स्थिर बनने लगा तो संसार-विरक्ति रूप एकत्व भावना में मन ऐसा केन्द्रित हुआ कि राज-पाट, धन-परिवार आदि छोड़ संयमी श्रमण बन गए।

वस्तुतः एकमात्र आत्मचिन्तन ही एकत्व भावना है। एकत्व भावना में रमण करने वाला जानता है कि आत्मा अर्थात् वह स्वयं शुद्ध, अविनाशी, सम्पूर्ण है। अतः वह बाह्य जागतिक पदार्थों और सम्बन्धों को त्यागकर आत्ममुखी बन जाता है। निज और पर, आत्मा और पुद्गल, चेतन और जड़ का यथार्थ स्वरूप जानकर, पहचानकर वह केवल एक को, केवल स्व को, केवल सोऽहं (स्वात्मा) को ही चिन्तन में उतार लेता है। धर्मध्यान की यह चौथी भावना **एकत्व भावना** है।

बंधुओं! ध्यान रखिए, धर्मध्यान की गुणस्थान सम्बंधी दो मान्यताएँ हैं। प्रथम मान्यता चौथे से सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान का होना मानती है और दूसरी मान्यता चौथे से बारहवें गुणस्थान तक।

शुक्लध्यान के लिए पूर्वो का ज्ञान अपेक्षित है। यदि नहीं है पूर्वो का ज्ञान तो भी वह जीव क्षपक श्रेणी में प्रवेश पा सकता है। ऐसा उसके विशुद्धतम अध्यवसायों के कारण होता है। ऐसे जीवों में बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की मान्यता है। तत्त्वार्थसूत्र के नवमें अध्याय में ४६वें सूत्र के विवेचन में मनीषियों ने ऐसे विचार दर्शाए हैं।

कौन-सी भावना का अवलम्ब लिया होगा, माता मरुदेवी ने धर्मध्यान तक पहुँचने के लिए? कवि ने तो अनित्य भावना लिखा है पर आपको बता दिया था कि कवि की कल्पना है। वे महनीया माता तो हाथी के हौदे पर अपने लाल आदीश्वर के वीतरागी उस निर्विकल्प चेहरे को देखकर ही भाव-मगन बन गईं। उनके भावों में राग-जन्य आर्त्तभाव जाने कब तिरोहित हुआ और वहाँ धर्मध्यान ने प्रवेश ले लिया। धर्मध्यान की वह दशा ध्यान-प्रवाह से कब अकंपित बनी? यह कौन बताए? सर्वज्ञ ही यह बता सकते हैं पर इतना निश्चित है कि उन्होंने धर्मध्यान से शुक्लध्यान में प्रवेश पाया। भाव-संयम की अवस्था में वे गुणस्थान श्रेणी आरोहण करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गईं।

बंधुओं! जब कोई उत्तम संहनन का धारक सप्तम गुणस्थानवर्ती मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करने के लिए उद्यत बनता है और प्रतिसमय अनंत गुणी विशुद्धि से प्रवर्धमान परिणाम वाला होता है और निवृत्ति बादर (अपूर्वकरण) श्रेणी में आता है तो वहाँ पर शुभोपयोग की प्रवृत्ति से अपने को शुद्धोपयोग रूप परिणति में ले आता है। यही शुक्लध्यान की प्रारम्भिक, प्रथम अवस्था है।

इस प्रथम अवस्था को 'पृथकत्व वितर्क सविचार' कहा गया है। इसमें एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक्-पृथक् रूप से विस्तारपूर्वक पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन किया जाता है। विचार का स्वरूप होता है—अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) एवं योगों में संक्रमण। तात्पर्य यह कि इस ध्यानावस्था में अर्थ से शब्द में, शब्द से अर्थ में, शब्द से शब्द में तथा अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है।

पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन रूप शुक्लध्यान की यह ध्यानावस्था पूर्वधारी को संप्राप्य है।

बंधुओं! माता मरुदेवी पूर्वधर नहीं थीं। जिन्हें पूर्वो का ज्ञान होता, उन्हें अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों में परस्पर संक्रमण रूप पृथकत्व वितर्क सविचार शुक्लध्यान होता है। माता मरुदेवी पूर्वभव के श्रुतज्ञान के आलंबन से शुभ अध्यवसायों से इसी शुक्लध्यानावस्था में पहुँची थीं।

यह ध्यानावस्था उपशम श्रेणी की अपेक्षा से ८वें, ९वें, १०वें तथा ११वें गुणस्थानवर्ती जीवों में होती है और क्षपक श्रेणी की अपेक्षा से ८वें, ९वें तथा १०वें गुणस्थान तक होती है।

यहाँ पहुँचकर मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम (उपशम श्रेणी वालों को) या क्षय (क्षपक श्रेणी वालों को) होता है।

शुक्लध्यान की द्वितीय अवस्था है—“एकत्व वितर्क अविचार”—पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व अर्थात् अभेद से किसी एक पदार्थ अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से इसमें चिन्तन किया जाता है। इस ध्यानावस्था में अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता। निर्वात् गृह में रहे हुए दीपक की लौ की तरह, इस अवस्था में चित्त विक्षेपरहित बना रहता है। पूर्ण स्थिर बना रहता है। यह ११वें या १२वें गुणस्थान में होता है। क्षपक श्रेणी के १२वें गुणस्थान में आया हुआ जीव पुनः नीचे नहीं गिरता, उसका सर्व कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त करना निश्चित हो जाता है। पूर्व श्रुतज्ञान के आलम्बन से शुभ अध्यवसायों से जीव १२वें गुणस्थान में जाता है।

सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती—यह इस ध्यान की तीसरी अवस्था है। केवली भगवान् तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय में अंतरमुहूर्त्त में योग निरोध क्रम में अंततः सूक्ष्मकाय योग का आलम्बन लेकर मन-वचन के योगों का पूर्ण निरोध करते हैं तब सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यहाँ मात्र सूक्ष्मकाय योगी सयोगी केवली अवस्था (१३वाँ गुणस्थान) रहती है। इसमें केवली के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही शेष रहती है। परिणामों के विशेष बड़े-चढ़े रहने से यहाँ से केवली पीछे नहीं हटते और अंत में सूक्ष्मकाय योग का भी निरोध करते हैं।

शुक्लध्यान की चौथी अवस्था को “समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति” कहा गया है। इसमें शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली सभी योगों का निरोध कर लेते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। यही अयोगी केवली (१४वाँ गुणस्थान) की अवस्था है। यह ज्योति रूप ध्यान सदा बना रहता है।

मरुदेवी माता भी शुभ-शुद्ध अध्यवसायों से शुक्लध्यान की ज्योति में चारों घाती कर्म क्षय कर अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर १३वें गुणस्थान में सयोगी केवली बनकर, यहाँ सर्व प्रकार के मनोयोग, वचनयोग तथा बादर काययोग का त्याग कर सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेकर १३वें गुणस्थान के अंतिम अंतरमुहूर्त्त में “सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती” को ध्याती हुई सभी योगों का पूर्ण निरोध करती हैं। निरोध हो जाने पर १४वें अयोगी केवली गुणस्थान को

प्राप्त कर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण “समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति” में प्रवेश कर पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारण प्रमाण काल में श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाओं का निरोध होने से एवं आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प होने से शैलेशी अवस्था को प्राप्त होती हैं अर्थात् आत्मा के सभी प्रदेशों के सर्वथा निष्कंप होने पर शेष चारों अघाती कर्म क्षय होते हैं।

आयुष्य कर्म क्षीण था उनका। वे विभाव से भाव में आकर स्वभाव में आ चुकी थीं। मन और वचनयोग से रहित स्थिति में पहुँच वे मात्र काययोग में स्थित बन गईं। वे वहीं हाथी के हौदे पर ही अपने निर्मल ध्यान के कारण सर्व कर्मों को क्षय कर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त बन ज्योतिर्मय बन, आयुष्य क्षय होने पर सिद्ध लोक में ज्योतिर्मय रूप में स्थित हो जाती हैं।

ऐसा ही निर्मल ध्यान आपका भी बने। मन की शुद्धता बनाकर शुभ विचारों के साथ एकाग्र बन ध्यान में रमण करते हुए आप सांसारिक कामनाओं से निर्लिप्त बन धर्मध्यान में आएँ और धर्मध्यान के ध्यान-प्रवाह में तैरते हुए ध्यान की, भावों की उत्कृष्टता की ओर बढ़ें। धर्मध्यान में चित्त की एकाग्रता ही आपको शाश्वत सुखों की ओर अग्रसर करेगी।

आनन्द ही आनन्द !



धन आदीश्वर नी पुत्री

(ब्राह्मी और सुन्दरी)

आत्म-बंधुओं !

जिनेश्वर भगवंत, वीतराग, तीर्थकर प्रभु की जगत्कल्याणी वाणी का हम सभी पर अनंत-अनंत उपकार है। उपकार इसलिए है कि सर्वज्ञों की यह वाणी ही आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान को प्रकट कर मानव-मात्र को आत्म-धर्म की ओर ले जाती है। वर्तमान में बत्तीस जिनागम हैं, जिनमें सर्वज्ञों की वह सर्वहितकारिणी वाणी उद्घाटित है, प्रकाशित है, गुम्फित है। इस अमृतवाणी का प्रवाह अनादिकाल से चल रहा है। वर्तमान अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थकर भगवंतों में तीसरे सुखमा-दुखमा आरे के अंतिम काल में होने वाले प्रथम तीर्थकर अर्थात् इस काल के आदि तीर्थकर भगवान ऋषभदेव स्वामी का विशेष महत्त्व है। युगलिक संस्कृति के निवारणकर्ता और वर्तमान मानव-संस्कृति के आदि प्रणेता उस युग-मनीषी को जैन संस्कृति में वही महत्त्व दिया गया है, जो वैदिक संस्कृति में जगत्पिता ब्रह्मा को दिया गया है। सुप्रसिद्ध कविराज श्री विनयचंद जी ने उनके लिए लिखा है—**आदि धर्म की कीधी हो, भरतक्षेत्र अवसर्पिणी काल में, प्रभु युगल्या धर्म निवार**। इस अवसर्पिणी के तीसरे आरे के विषय में जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र में विस्तार से वर्णन आता है।

अवसर्पिणी काल के द्वितीय आरक का तीन सागरोपम कोडाकोडी काल व्यतीत हो जाने पर सुषमा-दुःषमा नामक तीसरा आरा आरम्भ होता है। इस आरे में सुख अधिक और दुःख कम होता है। इस आरे की स्थिति दो कोडाकोडी सागरोपम की होती है। पूर्व के दो आरे की अपेक्षा इस आरे में अनन्त वर्ण-पर्याय, अनन्त गंध-पर्याय, अनन्त रस-पर्याय, अनन्त स्पर्श-पर्याय, अनन्त संहनन-पर्याय, अनन्त संस्थान-पर्याय, अनन्त उच्चत्व-पर्याय, अनन्त आयु-पर्याय, अनन्त गुरु-लघु-पर्याय, अनन्त अगुरु-लघु-पर्याय, अनन्त उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषाकार-पराक्रम-पर्याय आदि का अनन्त गुण परिहानि क्रम से ह्रास होता जाता है।

तीसरे आरे को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) प्रथम त्रिभाग, (२) मध्यम त्रिभाग, (३) अन्तिम त्रिभाग। प्रथम एवं मध्यम त्रिभाग के समय भूमिभाग बहुत समतल और रमणीय होता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष अर्थात् एक कोस की होती है। उनकी पसलियों की हड्डियाँ चौंसठ होती हैं। एक दिन के बाद उनमें आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उनका आयुष्य एक पल्योपम का होता है, ७९ रात-दिन अपने यौगलिक शिशुओं की वे सार-सम्भाल, पालन-पोषण, सुरक्षा आदि करते हैं। उसके बाद वह युगल शिशु स्वावलम्बी हो जाता है। इस समय तक के युगलिये बिना किसी वेदना का अनुभव किये काल के समय काल करके स्वर्ग में ही उत्पन्न होते हैं।

तीसरे आरे के अन्तिम त्रिभाग के आखिरी तीसरे हिस्से में जन्म लेने वाले युगलियों में छहों प्रकार के संहनन, छहों प्रकार के संस्थान होते हैं। उनके शरीर की ऊँचाई सैकड़ों धनुष परिमाण व आयुष्य जघन्य संख्यात वर्षों का, उत्कृष्ट असंख्यात वर्षों का होता है। आयुष्य पूर्ण कर उनमें से कई नरक गति में, कई तिर्यच गति में, कई मनुष्य गति में, कई देव गति में उत्पन्न होते हैं और कई सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परिनिवृत्त भी होते हैं।

काल-स्वभाव के प्रभाव से, कल्पवृक्षों से पूरी वस्तु प्राप्त नहीं होती और इसी कारण युगल मनुष्यों में परस्पर झगड़ा होने लगता है। मानो, इस विवाद का अन्त करने और झगड़ों को मिटाने के लिए क्रम से पन्द्रह कुलकरों की उत्पत्ति होती है। यह कुलकर अपने-अपने समय में प्रतापशाली और विद्वान् मनुष्य होते हैं। यह तत्कालीन समाज के मर्यादा-पुरुष होते हैं—समाज-व्यवस्थापक होते हैं। प्रारंभ के पाँच कुलकरों के समय तक हकार की दण्ड-नीति प्रचलित होती है। अर्थात् जब कोई मनुष्य कोई अशोभनीय कार्य करता है तो उसे कुलकर 'हा'! ऐसा शब्द कहते हैं। अर्थात् उसके कृत्य पर खेद प्रकट करते हैं। अपराधी के लिए यही दण्ड पर्याप्त होता है। इससे वह लज्जित हो जाता है। इसके आगे के पाँच कुलकरों तक मकार की दण्ड-नीति चलती है। अर्थात् अपराधी को 'मा' शब्द कह दिया जाता है। 'मा' का अर्थ है—मत, अर्थात् 'ऐसा मत करो'। इस प्रकार कह देना ही अपराध का दण्ड हो जाता है। इससे आगे के पाँच कुलकरों के समय में दण्ड की कुछ कठोरता बढ़ जाती है। उस समय अपराधी को 'धिक्' शब्द कहकर दण्ड दिया जाता है। इन दण्डों से लज्जित होकर उस समय के लोग अपराध से मुक्त हो जाते हैं।

यद्यपि कल्पवृक्षों की फलदायिनी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है, तथापि इस समय तक कल्पवृक्षों से ही निर्वाह होता रहता है। लोगों को अपने निर्वाह के लिए असि (शस्त्रों

की आजीविका), मसि (व्यापार) और कृषि (खेती) सम्बन्धी आजीविका की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव पहले आरे से लेकर तीसरे आरे के इस समय तक यह भूमि 'अकर्मभूमि' कहलाती है और यहाँ के मनुष्य जोड़े से ही उत्पन्न होते हैं और जोड़े से ही रहते हैं। इस कारण वे युगल, जुगल या जुगलिया कहलाते हैं।

इस अवसर्पिणी काल में आदि तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव ने जुगलिया धर्म का निवारण करते हुए उस समय के मानवों को असि (युद्ध कला), मसि (वाणिज्य एवं उद्योग कला) तथा कृषि (खेती-बाड़ी की कला) की शिक्षा दी और साथ ही उसे विज्ञान, गणित, संस्कृति, धर्म, सभ्यता, समाज-व्यवस्था आदि अनेक बातों का ज्ञान प्रदान किया। हम कह सकते हैं कि वे वर्तमान मानव सभ्यता व संस्कृति के आदि प्रणेता थे। संभवतः हमारे पूर्व जैनाचार्यों ने इसी कारण से 'आदि ब्रह्मा' कहकर स्तुति की है।

प्रभु ऋषभदेव के सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। दो पुत्रियों में बड़ी राजकुमारी ब्राह्मी के रूप में पुकारी गई, शायद इसका कारण प्रभु ऋषभदेव को 'आदि ब्रह्मा' के नाम से पुकारा जाना ही रहा होगा। ये ऋषभ-पुत्री ब्राह्मी शिल्प, कला एवं लिपि की प्रवर्तिका कही जाती हैं। ये ब्राह्मी ही हैं, जिन्होंने मानव को सर्वप्रथम अक्षर-बोध कराया। ये ब्राह्मी ही वर्तमान जिनशासन की प्रथम श्रमणी भी हैं। विनयचंद्र जी कहते हैं—

भरतादिक सौ नन्दन हो, बे पुत्री ब्राह्मी सुन्दरी, प्रभु ए थारा अंगजात.... ॥१॥

सघला केवल पाया हो, समाया अविचल जोत में, काँड़ त्रिभुवन में विख्यात।

बंधुओं ! सौ पुत्र ऋषभदेव भगवान के और दो पुत्री—ब्राह्मी, सुन्दरी—ये सभी केवलज्ञान (सर्वज्ञता) पाकर मोक्ष गति के अधिकारी बने।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री १००८ श्री जयमल जी म. सा. ने प्रभु आदिनाथ की दोनों पुत्रियों जो मोक्षगामी हैं—उनका गुण कीर्तन करते हुए कहा—

धन आदीश्वर नी पुत्री, ब्राह्मी सुन्दरी दोय।

चारित्र लेई ने, मुक्ति गई सिद्ध होय॥१०२॥

इस अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे के चार कोटाकोटी सागरोपम और दूसरे आरे के तीन कोटाकोटी सागरोपम तक युगलिक संस्कृति रही। तीसरे आरे के दो कोटाकोटी सागरोपम में भी अधिकांश काल युगलिक संस्कृति का ही रहा, पर अन्तिम भाग के आते-आते युगलिक-संस्कृति में परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। कल्पवृक्ष सूखने लगे। उनसे

पूरी वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती थीं और इसी कारण युगल मनुष्यों में परस्पर झगड़ा होने लगा। उनके झगड़ों को मिटाने और न्याय-निर्णय के लिए मानो कुलकरों का आविर्भाव हुआ। पन्द्रहवें कुलकर नाभिराय के घर मरुदेवी माता की रत्नकुक्षि से प्रथम तीर्थकर आदिनाथ का, प्रभु ऋषभ का अवतरण हुआ। इस समय तीसरे आरे की समाप्ति में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ मास और पन्द्रह दिन अवशिष्ट रह गये थे।

□ आद्य-तीर्थकर का आद्य-विवाह (इस अवसर्पिणी की दृष्टि से)

यद्यपि युगलिक काल समाप्ति पर था, पर अभी था युगलिक काल ही, अतः ऋषभकुमार का विवाह माता मरुदेवी की कुक्षि से युगलोत्पन्न कन्या सुमंगला से किया गया। यह उस काल का प्रथम विवाह-संस्कार था। इस विवाह की विधि देवेन्द्र ने सम्पन्न की थी। ऋषभकुमार का एक अन्य कन्या से भी विवाह हुआ। यह कन्या यद्यपि युगलोत्पन्न थी, पर उसके साथ युगल रूप में उत्पन्न बालक की अकाल मृत्यु हो गई। कुलकर नाभिराज ने तब उस कन्या के लालन-पालन की व्यवस्था की। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत इस कन्या सुनन्दा का विवाह अपने पुत्र ऋषभकुमार से कराया।

□ जन्म व शिक्षा : ब्राह्मी व सुन्दरी (ऋषभ-नन्दिनी)

रानी सुमंगला के गर्भ से युगल रूप में भरत एवं ब्राह्मी उत्पन्न हुए तो सुनन्दा ने बाहुबली व सुन्दरी को युगल रूप में जन्म दिया। इनके अतिरिक्त ऋषभदेव के ४९ युगलों में अट्टानवें पुत्र और हुए।

युग-परिवर्तन एवं आने वाले समय की आवश्यकताओं व कठिनाइयों को प्रभु ने अपने उपयोग से जाना-समझा। उस युग में मानव जाति समयानुकूल जीवन व्यतीत कर सके, इसी भावना से अवधिज्ञानी ऋषभ ने मानव-पुत्रों को खेती करना, भोजन पकाना, मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करना, वस्त्र बनाना आदि पुरुषोचित बहत्तर कलाएँ बतलाई एवं नारी जाति को उनके अनुरूप चौंसठ कलाएँ सिखाई।

□ ब्राह्मी लिपिज्ञानी तो सुन्दरी गणितज्ञ

ऋषभ ने अपनी पुत्रियों को भी ये कलाएँ सिखाईं। ब्राह्मी को अठारह विशिष्ट लिपियों का ज्ञान दिया। सुन्दरी को उन्होंने गणित विज्ञान सिखाया। ब्राह्मी ने बड़े होकर ऋषभ से अर्जित ब्राह्मी लिपि का सर्वत्र प्रचार-प्रसार किया। आज भी इस देश की हिन्दी वर्णमाला की लिपि ब्राह्मी लिपि ही कहलाती है।

ऋषभ ने असि, मसि व कृषि कर्म में मानव को शिक्षित किया, नवीन रीति-रिवाजों का प्रचलन किया, आवश्यकतानुरूप अनेक सामाजिक नव-व्यवस्थाएँ स्थापित कीं। विवाह-पद्धति को प्रारम्भ किया। 'हकार, मकार, धिकार' सरल दण्ड नीति को बदलकर 'जैसा अपराध वैसा ही दण्ड' नीति चलाकर अनेक प्रकार के शारीरिक-दण्ड व समाज-बहिष्कार जैसी सजाओं का निरूपण किया।

ऋषभ ने यौगलिक धर्म का मूलतः नाश करने के लिए तथा युगल भाई-बहन के दाम्पत्य जीवन की परम्परा को मिटाकर पाणिग्रहण परम्परा के सुदृढ़ीकरण के लिए भरत और बाहुबली के युवा होने पर भरत-सहजात ब्राह्मी का पाणिग्रहण बाहुबली से और बाहुबली सहजात सुन्दरी का पाणिग्रहण भरत के साथ करने का विचार किया। यहीं से भिन्न गोत्रों में उत्पन्न युवा-युवतियों के पाणिग्रहण की परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ।

□ ऋषभ-दीक्षित

इन सारे युगानुरूप परिवर्तनों को व्यवस्थित कर महाराज ऋषभ आत्म-कल्याणार्थ दीक्षा की अभिलाषा करने लगे। भरत ने उन्हें रोकना चाहा, स्वयं दीक्षित बनना चाहा, पर ऐसा हुआ नहीं। भरत को तो चक्रवर्ती बनना था। महाराज ऋषभ ने तब स्वयं ही पंचमुष्टि लोच करके, सांसारिक वस्त्राभूषणों का त्याग करके मुनिधर्म धारण किया।

□ ब्राह्मी को दीक्षानुमति मिलना

ऋषभ-पुत्रियाँ ब्राह्मी व सुन्दरी अपनी दादी मरुदेवी माता को हाथी के हौदे पर केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हुए देख विरक्ति के भावों में चली गईं, वे दोनों आत्म-कल्याणार्थ श्रमणी-धर्म अंगीकार करना चाहती थीं, पर उन्हें महाराज भरत की अनुज्ञा की आवश्यकता थी। भरत चक्रवर्ती ने दोनों को अनेक तरह से समझाकर गृहस्थी में रखने का प्रयत्न किया। जब देखा कि ब्राह्मी अपने संकल्प पर अटल हैं तो ब्राह्मी को दीक्षानुमति दे दी, लेकिन सुन्दरी को रोक दिया।

□ सुन्दरी के प्रति भरत का आकर्षण अतः दीक्षानुमति नहीं

सुन्दरी अत्यधिक रूपवती थीं। भरत सुन्दरी की सुन्दरता पर अत्यधिक मोहित थे। उन्होंने उन्हें संयम-पथ पर आगे बढ़ने से रोक दिया। उन्हें कहा कि तुम अभी भोग भोगो, गृहस्थ-धर्म का पालन करो जैसा कि पिताश्री ने किया। गृहस्थ-धर्म निर्वहन के पश्चात् तुम दीक्षित बन संयम-पथ पर अग्रसर हो जाना। सुन्दरी ने चिन्तन किया कि अभी मेरा अन्तराय कर्म बलवान है। अतः मुझे उसे तोड़ने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिये।

□ मन की दर्पण आँखें !

सुन्दरी सुज्ञ थीं, सज्ञान हो चुकी थीं। उसने भरत के शब्दों, उनके कथन के हाव-भावों, उनकी आँखों की रंगत से ही समझ लिया कि सत्ता के मद ने इन्हें यह अधिकार दिया है। उन्होंने इसे भी मन ही मन स्वीकार किया कि वे सुन्दरता में किसी की सानी नहीं रखतीं। अतः भरत के आकर्षण का केन्द्र बन गई हैं, तभी दीक्षानुमति पर अस्वीकृति की मोहर लगी है।

सुन्दरी का तन जितना उज्ज्वल, सुन्दर उसका अन्तर् उससे भी अधिक उज्ज्वल, सुन्दर! ब्राह्मी की दीक्षा के पश्चात् भरत षट्खण्ड विजय यात्रा के लिए प्रस्थान कर गये। बिना अनुमति सुन्दरी दीक्षा ले नहीं सकती थीं और प्रभु उन्हें दीक्षा दे नहीं सकते थे। सुन्दरी पशोपेश में पड़ गई? सोचने लगी—‘क्या करना चाहिए मुझे?’

□ सुन्दरी ने आत्म-सौन्दर्य बढ़ाया तो तन-सौन्दर्य घटाया

जहाँ संकल्प की दृढ़ता हो, आत्मबल में पुख्तापन हो, इरादों में मजबूती हो वहाँ बड़ी से बड़ी बाधा भी व्यक्ति को उसके लक्ष्य की तरफ बढ़ने से रोक नहीं सकती। सुन्दरी दीक्षा नहीं ले सकी, पर वे महलों में भी श्रमणी-चर्या की भाँति अपने आपको मर्यादित रखतीं। उन्होंने प्रसाधनों का त्याग कर दिया। आभूषण उतार दिये, इस प्रण के साथ कि अब जीवन में कभी इन्हें शरीर सजाने की दृष्टि से धारण नहीं करूँगी। पहनने के वस्त्र भी ऐसे चुने जो अत्यन्त सादगीपूर्ण थे।

‘शरीर का सौष्ठव और सौन्दर्य आत्मघातक है’—ऐसा विचार कर सुन्दरी ने शरीर पर से ममत्व कम कर दिया। राजसी गरिष्ठ स्वादिष्ट मधुर पकवानयुक्त सरस भोजन का त्याग कर दिया। दाल-रोटी जैसा सादे भोजन पर भी नियंत्रण किया। निश्चय किया कि प्रतिदिन आयंबिल करेगी और आयंबिल की निरन्तरता बनाये रखकर पारणा नहीं करेगी।

□ क्या यह वही सुन्दरी है ?

चक्रवर्ती भरत महाराज को षट्खण्ड विजय कर सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर एकछत्र राज्य स्थापित करने में साठ हजार वर्ष लगे।

साठ हजार वर्ष का विजय-यात्रा-अभियान सम्पन्न कर चक्रवर्ती भरत पुनः विनीता (अयोध्या) पधारे। पट्टमहिषी, अन्य रानियों, नगर की सौभाग्यवती ललनाओं ने अपने सम्राट् की आरती उतारी। श्रेष्ठजनों व प्रमुख नगरजनों ने अमूल्य भेंट के साथ अपनी बधाइयाँ दीं। बड़ी धूमधाम से कई दिनों तक विजयोत्सव मनाया गया।

इन सबसे अवकाश मिला तो भरत को सुन्दरी की याद आई। वे चल पड़े सुन्दरी के महलों की ओर। साठ हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि के बाद वे सुन्दरी के सौन्दर्य को देखने, निरखने, परखने जा रहे थे। पहुँचे सुन्दरी के महलों में। देखा इधर-उधर। घूम गये महलों में ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें। नहीं मिली सुन्दरी तो सेविका को बुलाया। पूछा सुन्दरी के विषय में। सेविका ने जिस नारी की ओर संकेत किया, उधर दृष्टि घूम गई सम्राट् भरत की, पर यह क्या? किसे देख रहे हैं वे? क्या यह वही सुन्दरी है? विश्वास नहीं हो पा रहा था भरत चक्री को।

□ साठ हजार वर्ष तक आयंबिल तप

बुलाया सेविकाओं को, डाँटा-फटकारा उन्हें कि क्यों उन्होंने सुन्दरी की देखभाल में लापरवाही रखी? याद दिलाया उनको कि विजय-यात्रा पर जाते समय उन्होंने किस तरह सावधानीपूर्वक देखरेख का आदेश दिया था।

भरत चक्री का क्रोध बढ़ता जा रहा था। तभी सुन्दरी ने कहा—“इनको क्यों डाँट रहे हो? दोष क्या है इनका? आपकी उपस्थिति में इनका कर्त्तव्य था कि ये मेरी आज्ञाओं का पालन करें।”

तभी एक दासी ने हिम्मत करके कहा—“क्षमा करें महाराज! राजकुमारी जी ने स्वयं शृंगार आदि छोड़ दिया, भोजन का त्याग कर दिया। आपके आने तक साठ हजार वर्षों की लम्बी अवधि पर्यन्त ये निरन्तर आयंबिल तपश्चर्या करती रहीं।”

□ मैं नहीं ले सकता दीक्षा, पर सुन्दरी को क्यों रोक रहा हूँ ?

साठ हजार वर्ष पर्यन्त आयंबिल का निरन्तर तप! सम्राट् भरत चक्री चकित रह गये। पुनः एक नजर डाली सुन्दरी पर। अति कृश बदन, केवल हड्डियाँ! सुन्दरता की झलक यदि कहीं थी तो चेहरे पर चमकती आभा, एक प्रभामण्डल।

भरत चिन्तन की धारा में बह गये—‘कहाँ भोग और कहाँ योग? एक आत्म-गुणों के लिए घातक, दूसरा आत्म-गुणों का वर्धक! ये राज्य, ये सत्ता, ये महल, ये नौकर-चाकर, ये रनिवास, ये सुसज्जित सेना, आयुधशाला, गजशाला, अश्वशाला, रथशाला...न जाने क्या-क्या! पर सभी के सभी कर्ममल को बढ़ाने वाले, आत्म-गुणों को आवृत्त करने वाले, संसार-परिभ्रमण को लम्बित करने वाले! हाय रे मेरा चक्रीपन! काश, मैं इस चक्री के चक्र से बचकर धर्म की शरण लेता! स्वयं लेना तो दूर सुन्दरी को भी रोक रहा हूँ मैं! क्यों? आखिर क्यों?’

□ दीक्षा अनुमति

मन में हजारों-हजार तर्क-वितर्क, पर संतुष्टि नहीं। अन्त में निर्णय, निश्चय किया कि सुन्दरी ने जब अपने शरीर की ममता ही त्याग दी है तो संसार के भोग-विलास भला उसे क्या लुभायेंगे? मैंने उसे दीक्षा की अनुमति नहीं देकर उलटा उसे परेशान ही किया है। मैं इन भोगों के कीचड़ में फँसा हूँ। सुन्दरी इस कीचड़ से निकलना चाहती है, तो मैं उसे क्यों कीचड़ में पटकने का प्रयत्न करूँ? मुझे सुन्दरी को दीक्षा की अनुमति देना ही उचित है। मन हलका हो गया। भारी-भरकम बोझ सिर पर सवार था, उतर गया। इस तरह सुन्दरी को दीक्षा की अनुमति मिली।

□ दोष मेरे कर्मों का !

चक्रवर्ती की बहन दीक्षा ले रही थी। महोत्सव अत्यन्त धूमधामपूर्वक हुआ। जहाँ चक्रवर्ती की साहिबी स्वयं उपस्थित हो, वहाँ महोत्सव की भव्यता का भला क्या कहना ?

स्वयं भरत ने प्रभु से कहा—“भगवन्! सुन्दरी आज से साठ हजार वर्ष पहले दीक्षा लेना चाहती थी, किन्तु मैंने तब उसे अनुमति नहीं दी थी। वास्तव में मैंने उसे आत्म-कल्याण के कार्य से रोककर अशुभ ही किया है। आज मेरी आत्मा इसके लिए पछता रही है। घोर पश्चात्ताप है मेरे मन में। मैं पाप का भागी हुआ हूँ। कृपया, मुझे उस पाप से छुटकारा हेतु प्रायश्चित्त बताइये।”

इस पर सुन्दरी ने कहा—“इसमें आपका दोष कम और मेरे कर्मों का दोष अधिक है। मेरे अन्तराय कर्म का उदय तीव्र न होता तो आप मुझे रोकते ही नहीं।”

□ सुन्दरी भी दीक्षित

प्रभु ऋषभदेव ने तब भरत की अनुमति पाकर सुन्दरी को श्रामणी-दीक्षा मंत्र दिया। राजकुमारी सुन्दरी अब महासती सुन्दरी बन गई। ब्राह्मी और सुन्दरी का कुछ काल वियोग के पश्चात् यहाँ पुनः संयोग हो गया। शुद्ध संयम पालन, उग्र तप एवं ज्ञान-ध्यान आदि से अपनी आत्मा को भावित बनाते हुए दोनों श्रमणीरत्न इतस्ततः विचरण करने लगीं।

□ बाहुबली का स्वयं दीक्षित बनकर उग्र तपश्चरण, पर मान नहीं छूटा

उधर भरत के निन्यानवें ही भाइयों ने स्वाभिमानवश भरत की अधीनता मानने से इनकार कर दिया। जब लगा कि अधीनता तो माननी पड़ेगी, तब राज्य-वैभव सर्वस्व तुकराकर दीक्षित बन गये। स्थिति ऐसी बनी कि स्वयं चक्री को उन्हें वन्दन करने हेतु आना पड़ा।

अट्ठानवें भाइयों ने तो प्रभु ऋषभ से दीक्षा मंत्र अंगीकार किया, पर बाहुबली! वे तो यथा नाम तथा गुण थे। भरत को हर तरह से हराकर भी चिन्तन-प्रवाह में विरक्ति की भावना का जो उछाल आया तो दीक्षा लेकर श्रमण बनने का निश्चय किया।

दीक्षा लेने हेतु वे प्रभु ऋषभ के पास जाना चाहते थे, पर मन में एक विचार आया— 'मेरे अट्ठानवें छोटे भाई प्रभु के पास पूर्व में ही दीक्षित हो चुके हैं। मैं प्रभु के पास अब दीक्षा लेता हूँ तो दीक्षा में छोटा माना जाऊँगा, अपने से छोटे उन अट्ठानवें भ्राताओं को दीक्षावय में बड़े होने के कारण वन्दना करनी होगी। बड़ा होकर छोटों को वन्दना क्यों करूँ?'

वे अकेले ही जंगलों में चले गये। स्वयं अपने हाथ से पंचमुष्टि लोच कर मुनि बन गये और दीक्षा के दिवस से ही लग गये तपश्चरण में। बड़ी उग्र तपस्या थी उनकी, बारह वर्ष तक अचल बन ध्यानलीन रहे। अपने बड़प्पन के मद में वे अहंकार से आवृत्त थे। अचल ध्यान स्थिति के कारण शरीर पर मिट्टी का ढेर एकत्रित हो गया, बेलें छ गईं। पैर की माटी में दीमक लग गई, सुकोमल शरीर मुरझाकर सूख गया। शरीर से लिपटी बेलों में पक्षियों ने घोंसले बना लिये। कहीं-कहीं कथा-साहित्य में मुनि बाहुबलि का ध्यान बारह मास का भी बताया है। मेरा चिन्तन कहता है कि बेलों का उनके शरीर से लिपटना और फिर उन बेलों में पक्षियों का घोंसले बना लेना आदि जो वर्णन कथा-साहित्य में मिलता है, उसे देखते हुए तथा उस काल के मानव की आयु को देखते हुए बारह वर्ष का समय ही रहा होगा। सत्य-तथ्य केवली भगवंत ही जानते हैं।

कितना घोर तप? कैसे अटल ध्यान? पर केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं। बाधक था अहंकार, दीक्षा में तो बड़े परन्तु आयु में छोटे भाइयों को वन्दन नहीं करने का भाव!

□ प्रभु आज्ञा से ब्राह्मी-सुन्दरी द्वारा बाहुबली को चेताना

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी प्रभु ऋषभ ने मुनि बाहुबली की इस स्थिति और मनःस्थिति को अपने ज्ञान से जान लिया। करुणानिधान, दया के अवतार प्रभु ने महासती ब्राह्मी और सुन्दरी को बुलाया। उन्हें सारा प्रसंग समझाया एवं बाहुबली को प्रतिबोध देने का संकेत किया।

दोनों ही बहनें, साध्वियाँ प्रभु-आज्ञा प्राप्त कर बाहुबली के पास गईं और अत्यन्त मधुर-मृदु स्वर में प्रेरणा-सी प्रदान करती हुई बाहुबली से बोलीं—

वीरा म्हारा गज थकी उतरो, गज चढ़ियां मुगति नहीं होय रे-
राजतणा अति लोभिया, भरत-बाहुबली जूझे रे।
मूठ उपाड़ी मारवा, बाहुबली प्रतिबूझे रे॥

बांधव गज थकी उतरो, ब्राह्मी सुन्दरी भाषे रे।
 ऋषभ जिनेश्वर मोकली, बाहुबली तुम पासे रे॥
 साध्वी वचन सुणी करी, चमक्यो चित्त विचारो रे।
 हय-गय-रथ सवि परिहर्या, पणचढ्यो हूँ अहंकारो रे॥
 वीरा म्हारा गज थकी उतरो...

□ “वीरा म्हारा गज थकी उतरो” सुनकर बाहुबली का चिन्तन

“हे मेरे वीरा, मेरे भ्राता, मेरे भाई! तुम जिस हाथी पर सवार हो, उससे नीचे उतरो। जब तक इस हाथी पर चढ़े रहोगे, तुम्हें सिद्धि नहीं मिलेगी, मुक्ति प्राप्त नहीं होगी।” राज्य के प्रति अत्यन्त ललचाते हुए भरत व बाहुबली आपस में टकराकर युद्ध में उलझ गये, एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए जूझ पड़े। युद्ध के अन्त में अति क्रोधित बन बाहुबली ने भरत को मारने के लिए मुष्टि-प्रहार करना चाहा। मुष्टि-प्रहार के लिए उन्होंने अपना हाथ ऊपर उठाया। इन्द्र, देवेन्द्र, शक्रेन्द्र भी उनके युद्ध को देख रहे थे। इन्द्र ने सोचा—‘इस तरह बाहुबली ने प्रहार कर दिया तो चक्रवर्ती कौन बनेगा?’ इन्द्र स्वयं युद्ध के मैदान में आए। उन्होंने बाहुबली के बल की स्तुति, प्रशंसा की तथा चक्रवर्ती पद की गरिमा का वर्णन कर छः खंड पर आधिपत्य की नियति को उन्हें समझाया। बाहुबली यह सब सुनकर गहन चिन्तन में उतर गए। तभी उन्हें आत्म-बोध प्राप्त हो गया, वे स्वयंबुद्ध बन गये और भरत को मारने का विचार त्यागकर उसी ऊपर उठे हाथ से अपना पंचमुष्टि लोच कर लिया, श्रमण बन गये, संयम के पथ पर चल पड़े। ध्यानलीन उन्हीं बाहुबली को सम्बोधित कर ब्राह्मी-सुन्दरी कह रही हैं—

“हे बन्धु! तुम हाथी से नीचे उतरो। हम तुम्हारी बहनें ब्राह्मी व सुन्दरी तुम्हें यह सन्देश दे रही हैं। हे बाहुबली! सर्वज्ञ प्रभु ऋषभ ने हमें तुम्हारे पास यह सन्देश देने के लिए भेजा है।”

साध्वी-बहनों के ये वचन ध्यानस्थ बाहुबली मुनि के कानों तक पहुँचे। उनका सन्देश सुनकर वे चकित हो गये और विचार करने लगे—‘मैंने तो संयम-पथ ग्रहण किया है, संसार का त्याग, अर्थात् जागतिक सभी पदार्थों का ममत्व त्याग दिया है। हाथी, घोड़े, रथ सभी तो छोड़ दिये हैं; फिर भी ये मुझे हस्ति पर आरूढ़ क्यों बता रही हैं? तीन करण, तीन योग से असत्य-वचन-कथन का त्याग करने वाली, महाव्रतों की धारिणी मेरी ये बहन-साध्वीद्वय झूठ तो बोल ही नहीं सकतीं। तब क्या बात है? क्या उद्देश्य है उनके कथन का?’ चिन्तन के

प्रवाह में समाधान ढूँढ़ते हुए उन्हें कुछ ही समय में समाधान मिल ही गया और वे मन ही मन कह उठे—‘सच ही तो कह रही हैं ये! मैंने सब कुछ छोड़ दिया, पर अभिमान नहीं छोड़ा। मैं अभिमान के हस्ति पर आरूढ़ हूँ। अभिमान-हस्ति से मुझे नीचे उतरना पड़ेगा। नहीं उतरा यदि, नहीं छोड़ा मैंने यदि अभिमान तो मेरी साधना निष्फल ही बनी रहेगी।’

□ नहीं किया छोटे भाइयों को वन्दन, पर मान टूटा और हो गया अलौकिक प्रकाश !

हृदय से मान दूर हो गया, अभिमान नष्ट हो गया, बड़प्पन का मद समाप्त हो गया। विचार किया—‘चलूँ मैं ! पहुँचूँ प्रभु के पास ! प्रभु को वन्दन करूँ ! सभी साधु-समुदाय को वन्दन करूँ ! अपने दीक्षित भ्राताओं को नमन करूँ !’

एक कदम भी नहीं बढ़ाया उन्होंने। केवल एक कदम बढ़ाने के भाव और देवदुन्दुभि बज उठी। नहीं गये वे प्रभु के पास ! वन्दन किया ही नहीं उन्होंने प्रभु को। अपने पूर्व दीक्षित लघु भ्राताओं को भी वन्दन नहीं किया, पर मन मोड़ लिया, भावों में तैयारी कर ली तो मिल गया केवलज्ञान, सम्पूर्ण ज्ञान ! बन गये सर्वज्ञ। यह था अहंकार त्याग का प्रत्यक्ष फल ! अहंकारियों के लिए अतिप्रेरक प्रसंग है यह। जहाँ अहंकार है, समझ लीजिए साधक की समस्त साधना वहाँ निष्फल बन जाती है।

□ सतीद्वय द्वारा जिनशासन की प्रभावना

बाहुबली को प्रतिबोध देकर ब्राह्मी और सुन्दरी, दोनों महासती प्रभु के निकट गईं। प्रभु से आज्ञा लेकर अपने संघाटक के साथ उन महासतीद्वय ने ग्राम-नगरों में विहार-विचरण प्रारम्भ किया। साधना करते हुए घूम-घूमकर सतीद्वय ने जिनवचनामृत का पान जन-जन को कराया। शत-सहस्र नर-नारियों ने सतीद्वय के ओजस्वी प्रवचन सुने। अनेक स्त्रियाँ व पुरुष जिनदर्शन, जैन सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हुए। कइयों ने कई प्रकार के व्रत-प्रत्याख्यानदि ग्रहण किये। उन्मार्ग पर भटकते अनेक मानवों को आप दोनों ने महती कृपा कर ‘सन्मार्ग’ की ओर उन्मुख किया।

□ जिण वयणे ए अनुराग रती !

लोक-कल्याण के साथ ध्येय बना था—आत्म-कल्याण का। कर्मनिर्जरा के लिए उत्कृष्ट संयम पथ पर बढ़ते दोनों साध्वीवृन्द ने जिन-वचनों में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए उग्र तपश्चरण किया। अन्तिम समय में संलेखना-संधारापूर्वक शरीर का त्याग कर वे मोक्षस्थल में जा विराजमान हुईं।

“चौंसठ सतियों की सञ्जाय” नामक एक अन्य रचना में आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने इन सतीद्वय की प्रणति में लिखा है—

संजम पामी सुख चेनी,
ब्राह्मी ने सुन्दरी दोग बेनी।
जिण वयणे ए अनुराग-रती,
समरूं मन हरषे मोटी सती ॥

माता मरुदेवी और ब्राह्मी, सुन्दरी के उल्लेख के पश्चात् आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने बड़ी साधु वन्दना की अगली कड़ियों में चौबीस तीर्थकरों की चौबीस साध्वी-प्रमुखा तथा इनके साध्वी-परिवार को भाव-भरी स्मरणांजलि देते हुए लिखा है—

चौबीशे जिननी, बड़ी शिष्यणी चौबीस।
सती मुक्ति पहुंच्या, पूरी मन जगीश ॥ १०३ ॥
चौबीसे जिनना, सर्व साधवी सार।
अड़तालीस लाख ने आठ से सित्तर हजार ॥ १०४ ॥

शुद्ध-(सुड़तालिस लाख ने आठ से सत्तर हजार)

आदिनाथ प्रथम तीर्थकर प्रभु ऋषभदेव से चौबीसवें तीर्थकर प्रभु महावीर के जितना-जितना साध्वी-परिवार था, उनमें प्रत्येक तीर्थकर के एक प्रमुख-साध्वी या साध्वी-प्रमुखा थीं। प्रभु ऋषभ के महासती ब्राह्मी और प्रभु महावीर के महासती चन्दनबाला का नाम तो आप सभी ने कई बार सुना। शेष के नाम मैं आपको अभी बता रहा हूँ। ये सभी साध्वी-प्रमुखा शुद्ध संयम पाल कर मोक्ष में विराजमान हुईं।

चौबीस तीर्थकर भगवंतों के सर्व-साध्वीवृंद की संख्या कुल ४७,१७,८०० आती है। यहाँ बड़ी साधु वन्दना की १०४वीं कड़ी में लिपि-अन्तर से लेखन, प्रकाशन वगैर में कहीं कोई भूल संभावित है। आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. की ही एक अन्य रचना ‘चौंसठ सती वंदना की सञ्जाय’ में आया है—

लाख सैंतालिस सर्व कही,
वलि आठ सौ सहस सतरे लही।
चौबीसे जिननी सतिया हुई इती,
समरूं मन हरषे मोटी सती ॥

‘बड़ी साधु वन्दना’ के प्रकाशित वर्तमान के पाठों में ‘अड़तालीस लाख’ आया है कड़ी १०४ में, जबकि ‘जय वाणी’ पुस्तक में प्रकाशित रचना चौंसठ सतियों की सज्जाय में ‘सैंतालिस लाख’ का उल्लेख है। इससे यह तो सिद्ध होता है कि लिखने-समझने आदि परम्परागत स्रोतों में कहीं न कहीं भूल रही है।

ऐसी ही भूल ‘हजार और सौ’ की संख्या में भी सम्भव है। मेरे खयाल से बड़ी साधु वन्दना कड़ी १०४ में दूसरी पंक्ति इस तरह होनी चाहिए—

॥ सुड़तालिस लाख ने, आठ से सत्तर हजार ॥

कालान्तर में लिपिकारों ने ‘सु’ के स्थान पर ‘अ’ करके अड़तालिस लाख कर दिया होगा तथा सत्तर के स्थान पर सितर लिखा गया होगा; क्योंकि गुजरात से प्रकाशित अनेक बड़ी साधु वन्दना की प्राचीन पुस्तकों में सुड़तालिस ही मिलता है। गुजराती में ‘४७’ को ‘सुड़तालिस’ ही कहा जाता है और ‘सत्तर’ ‘१७’ को कहा जाता है। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. का गुजरात में विचरण काफी रहा तथा उनके अनेक संत-सिंघाड़े गुजराती परम्परा के ही थे।

इस कड़ी की रचना ‘कल्पसूत्र’ के आधार पर की गई है। प्राचीन कल्पसूत्र में तथा वर्तमान में श्रमणसंघीय आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. सा. द्वारा संपादित कल्पसूत्र में भी ४७,१७,८०० की संख्या मिलती है। (तत्त्व केवलीगम्य)

इस बारे में पूर्वाचार्यों में अनेक अपेक्षाओं से संख्या में भेद अवश्य देखने को मिलता है।

जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग १ के चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ८१७ पर यह संख्या, अर्थात् कुल साध्वी जी योग चउमालिस लाख छियालीस हजार चार सौ छह (४४,४६,४०६) आता है और तीर्थंकर चरित्र, भाग १ में यह संख्या चउमालिस लाख तिहत्तर हजार आठ सौ छह है।

जो भी हो, उन सभी महासतियों को भावपूर्वक वन्दना करने से कर्मों का क्षय निश्चित और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होगा।

आनन्द ही आनन्द !

□□

क्र. सं.	तीर्थकर नाम	सर्व साध्वी जी की संख्या	साध्वी प्रमुखा नाम
1.	ऋषभदेव जी	तीन लाख	ब्राह्मी
2.	अजितनाथ जी	तीन लाख तीस हजार	फल्गू
3.	संभवनाथ जी	तीन लाख छत्तीस हजार	श्यामा
4.	अभिनन्दन जी	छह लाख तीस हजार	काश्यपी
5.	सुमतिनाथ जी	पाँच लाख तीस हजार	काश्यपी
6.	पद्मप्रभ जी	चार लाख बीस हजार	रति
7.	सुपार्श्वनाथ जी	चार लाख तीस हजार	सोमा
8.	चन्द्रप्रभ जी	तीन लाख अस्सी हजार	सुमना
9.	सुविधिनाथ जी	तीन लाख	वारुणी
10.	शीतलनाथ जी	एक लाख बीस हजार	सुलसा
11.	श्रेयांसनाथ जी	एक लाख छह हजार	धारिणी
12.	वासुपूज्य जी	एक लाख तीन हजार	धरणी
13.	विमलनाथ जी	एक लाख	धरणिधरा
14.	अनन्तनाथ जी	एक लाख आठ सौ	पद्मा
15.	धर्मनाथ जी	बासठ हजार चार सौ	शिवा
16.	शान्तिनाथ जी	निवयासी हजार	शुचि
17.	कुंथुनाथ जी	साठ हजार छह सौ	अंजुका
18.	अरनाथ जी	साठ हजार	भावितात्मा
19.	मल्लिनाथ जी	पचपन हजार	बंधुमती
20.	मुनिसुव्रत जी	पचास हजार	पुष्पवती
21.	नमिनाथ जी	इकतालीस हजार	अमिला
22.	अरिष्टनेमिनाथ जी	चालीस हजार	यशस्विनी
23.	पार्श्वनाथ जी	अड़तीस हजार	पुष्पचूला
24.	महावीर स्वामी जी	छत्तीस हजार	चन्दनबाला
कुल		सैंतालीस लाख सत्तरह हजार आठ सौ (कल्पसूत्र से)	

इत्यादिक सतियाँ गईं जमारो जीत-१

(चेड़ानी पुत्री, राखी धर्म नी प्रीत)

देव दाणवगंधव्वा, जक्ख रक्खस किन्नरा।

बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥ (उत्तरा. १६-१७)

आत्म-बन्धुओं !

प्राणीमात्र के लिए सर्वज्ञ वीतराग भगवंतों ने सुखी और शान्त जीवन व्यतीत करने हेतु अपनी परम-पावन वाणी को आत्मा के द्वारा जानकर धर्मोपदेश के रूप में प्रवाहित किया। उस वाणी का एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर जीवन-कल्याणी मंत्र की भाँति है। समझकर यथार्थ स्वरूप को धारण करने वाला निश्चित रूप से मन-इच्छित सफलता प्राप्त करता है। सर्वज्ञों के उपदेशों में मानव-मात्र के लिए जिन विशिष्ट व्रतों, नियमों, संकल्पों को जीवन में ग्रहण कर पालन करने का निर्देश है, उनमें पाँच प्रमुख सिद्धान्त सर्वोपरि हैं और वे हैं— (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य, (४) ब्रह्मचर्य, और (५) अपरिग्रह।

□ बंभयारिं नमंसंति

उत्तराध्ययनसूत्र की जिस गाथा का आज मंगलाचरण के रूप में आपके समक्ष उच्चारण किया गया, उसमें ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस गाथा में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन अति दुष्कर है। जो इसका पूर्ण पालन करते हैं, उन्हें देव, राक्षस, गंधर्व, यक्ष, दानव, किन्नर आदि सभी जो ब्रह्मचर्य जैसा अति कठिन व्रत पालन नहीं कर सकते, वे उन दुष्कर व्रतियों, अर्थात् ब्रह्मचारियों को नमन करते हैं।

□ ब्रह्मचर्य-पालन दुष्कर क्यों ?

यहाँ ब्रह्मचर्य-पालन दुष्कर बताया है। क्यों है ब्रह्मचर्य का पालन दुष्कर ? पूर्ण, अखण्ड और शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन बहुत ही कम व्यक्ति कर पाते हैं। कर्मशास्त्र के अनुसार

इसका कारण है—संसारी जीव का प्रबल मोहनीय कर्मोदय। मोहनीय कर्म दो प्रकार का है— (१) दर्शन मोहनीय, और (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की प्रकृतियाँ जब जीव के उदय में आती हैं तो जीव दर्शन-भ्रष्ट बन जाता है, उसकी सम्यग्दृष्टि, अर्थात् विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है या आवृत्त हो जाती है। ऐसे में वह जीव ब्रह्मचर्य आदि जो धर्म के प्रमुख अंग हैं उन पर प्रतीति नहीं कर पाता। इसी भाँति चारित्र मोहनीय की प्रत्याख्यानावरण कषायों की प्रकृतियों के उदय में रहने तक जीव महाव्रतादि ग्रहण नहीं कर पाता।

□ दुष्कर, पर असाध्य नहीं

बंधुओं ! ब्रह्मचर्य-पालन दुष्कर अवश्य है, पर असाध्य नहीं। मन और इन्द्रियाँ यदि नियंत्रण में रखने का अभ्यास किया जाये तो ब्रह्मचर्य-पालन सहज हो सकता है। मर्यादा में ही जीवन है, मर्यादाओं के बंधन से ही मुक्ति है। आप नियमों, व्रतों, महाव्रतों आदि से बंधित बन जाइये तो मुक्ति निकट आती जायेगी। क्योंकि—

सितार के तार कसे हों, बंधन से बँधे हों तो उसमें से मधुर स्वर निकलेंगे।

परिवार यदि मर्यादाओं में बँधा है तो उसमें वात्सल्य छन-छनकर आयेगा ही।

नौका यदि नियंत्रण में है तो वह निर्धारित दिशा में दौड़ेगी और मंजिल तक पहुँचेगी ही।

इसी तरह व्यक्ति का, प्राणियों का जीवन यदि ब्रह्मचर्य से नियंत्रित है तो उसे सुख-शान्ति प्राप्त होगी ही। प्रश्नव्याकरणसूत्र में उल्लेख आता है—

“बंभचरं उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं।”

उत्तम तप, उत्तम नियम, उत्तम ज्ञान, उत्तम दर्शन, उत्तम चारित्र, उत्तम सम्यक्त्व और उत्तम विनय इन सभी का मूल ब्रह्मचर्य है।

□ ‘ब्रह्मचर्य’ क्या है ? (‘शील’ विवेचन)

ब्रह्मचर्य शब्द के अनेक अर्थ हैं—ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या या रमण, ब्रह्म अर्थात् परमात्मा। अतः परमात्म भाव में रमण ब्रह्मचर्य है। इसके अतिरिक्त मैथुन का त्याग या मर्यादा भी ब्रह्मचर्य रूप में है। ब्रह्मचर्य का एक अर्थ शील भी होता है। आज के मेरे प्रवचन-प्रसंग में शील को समझना-समझाना आवश्यक है। शील का अर्थ है—सदाचार, शील का अर्थ है—मन का नियंत्रण, शील का अर्थ है—पंचेन्द्रिय संयम, शील का अर्थ है—जननेन्द्रिय-संयम अर्थात् ब्रह्मचर्य। आज का हमारा प्रसंग है—जैनधर्म की शीलवती, धर्म-पालक, संयम-पालक सतियाँ।

बंधुओं ! एक कवि ने कहा है—

शुद्ध शील आराधा जिनने, पाली है नववाड़ ।
सतियाँ कर गईं खेवोपार ।
पर-पुरुषों पर कभी न राची, साँची धर्माधार ।
सतियाँ कर गईं खेवोपार ॥

आप भी तो गाते हैं कई बार—

इण शील वरत रो लावो, जग में सतियाँ ले गईं रे ।
कष्ट पड़्या सती शील जो राख्यो, नाम अमर वो कर गईं रे ॥

□ शील की ३२ उपमाएँ

प्रश्नव्याकरणसूत्र में शील धर्म को ३२ (बत्तीस) उपमाओं से मण्डित किया गया है—

१. गहगणणक्खत्तारगाणं वा जहा उडुवई ।
शीलव्रत सभी व्रतों में उसी प्रकार प्रधान है, जैसे ग्रहगण, नक्षत्रों और तारागण में चन्द्रमा प्रधान होता है।
२. मणि मुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराणं च जहा समददो ।
अर्थात् मणि, मुक्ता, शिला, प्रवाल और लाल माणक (रत्न) की उत्पत्ति के स्थानों (खानों) में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार शील सर्व व्रतों का श्रेष्ठ और प्रधान उद्भव स्थल है।
३. वेरुलिओ चेव जहा मणीणं ।
शील सभी मणियों में उत्तम वैडूर्य मणि सम है।
४. जहा मउडो चेव भूषणाणं ।
शील आभूषणों में उत्तम मुकुट के समान है।
५. अरविन्दं चेव पुप्फ जेट्ठं ।
शील पुष्पों में श्रेष्ठ कमल के समान है।
७. गोसीसं चेव चन्दणाणं ।
शील चन्दनों में श्रेष्ठ गोशीर्ष चन्दन सदृश है।
८. हिमवंतो चेव ओसहीणं ।
जैसे चमत्कारिक वनस्पतियों-औषधियों आदि का उत्पत्ति स्थान हिमवंत पर्वत है, उसी प्रकार शील समस्त लब्धियों का उत्पत्ति स्थान है।

९. शीतोदा चे णिण्णगाणं ।
जैसे नदियों में प्रधान शीतोदा नदी है, वैसे ही शील सभी व्रतों में प्रधान है ।
१०. उदहीसु जहा सयंभूरमणो ।
शील समुद्रों में प्रधान स्वयंभूरमण की तरह है ।
११. रुगयवरे चेव मंडलियपव्वयाणं पवरे ।
शील गोलाकार पर्वतों में प्रधान रुचकवर (तेरहवें द्वीप में स्थित) पर्वत जैसा है ।
१२. एरावण एवं कुञ्जराणं ।
शील इन्द्र के प्रधान हस्ति ऐरावण-सा श्रेष्ठ है ।
१३. सीहाव्व जहा मियाणं पवरे ।
शील मृगों आदि वन्य जन्तुओं में वनराज सिंह की तरह है ।
१४. पवगाणं चेव वेणुदेवे ।
शील सुपर्णकुमार देवों में श्रेष्ठ वेणुदेव के समान है ।
१५. धरणो जहा पण्णगिंदराया ।
शील नागकुमार जाति के देवों में श्रेष्ठ धरणेन्द्र के सदृश है ।
१६. कप्पाणं चेव बंभलोए ।
शील ब्रह्मलोक-कल्प (देवलोक) की भाँति उत्तम है ।
१७. सभासु य जहा भवे सुहम्मा ।
जैसे देवेन्द्रों की सभाओं में सर्वश्रेष्ठ है सुधर्मा सभा, वैसे ही श्रेष्ठ है व्रतों में शील व्रत ।
१८. ठिइसु चेव लवसत्तमव्व पवरे ।
जैसे स्थितियों में लवसप्तमा-अनुत्तर विमान की स्थिति प्रधान है, वैसे ही व्रतों में शील की स्थिति प्रधान है ।
१९. दाणाणं चेव अभयदयाणं ।
दानों में अभयदान की तरह शील सभी व्रतों में श्रेष्ठ है ।
२०. किमिराऊ चेव कंबलाणं ।
कम्बलों में उत्तम कृमिरागरक्त कम्बल की तरह ही उत्तम है शील ।
२१. संघयणे चेव वज्जरिसहे ।
संहननों में श्रेष्ठ वज्रऋषभनाराच के समान ही श्रेष्ठ है शील ।

२२. संठाणे चेव समचउरं से।

संस्थानों में समचतुरस्र संस्थान के समान है यह।

२३. झाणेसु य परम सुक्कज्झाणं।

ध्यानो में शुक्लध्यान-सा श्रेष्ठ है यह।

शील व्रत अन्य व्रतों में इसी तरह उत्तम है जैसे कि—

२४. णाणेसु य परम केवलं तु पसिद्धं।

समस्त ज्ञानों में जैसे केवलज्ञान प्रसिद्ध है।

२५. लेसासु य परमसुक्क लेस्सा।

समस्त लेश्याओं में जैसे परम शुक्ल लेश्या है।

२६. तित्थयरे चेव जहा मुणीणं।

समस्त मुनियों में जैसे तीर्थकर भगवंत हैं।

२७. वासेसु जहा महाविदेहे।

सभी क्षेत्रों में जैसे महाविदेह है।

२८. गिरिराया चेव मंदर वरे।

सभी पर्वतों में जैसे गिरिराज सुमेरु पर्वत है।

२९. वणेसु जहा णंदणवणं पवरं।

समस्त वनों में जैसे श्रेष्ठ नन्दनवन है।

३०. दुमेषु जहा जम्बू, सुदंसणा विस्सुयजसा जीए णामेण य अयं दीवो।

सभी वृक्षों में जैसे सुविख्यात सुदर्शन जम्बू वृक्ष है।

३१. तुरगवेई, गयवेई, रहवेई, णरवेई जह वीसुए चेव राया।

जैसे अश्वाधिपति, गजाधिपति, रथाधिपति, नराधिपति (राजा) विख्यात होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्याधिपति भी विख्यात होता है।

३२. रहिए चेव जहा महारह गये।

जैसे रथिकों में महारथी श्रेष्ठ होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत भी सभी व्रतों में सर्वश्रेष्ठ होता है।

वस्तुतः यह शील ही है जो इहलोक में भी और परलोक में भी जीव का हितैषी है, उसके यश का, पुण्य का, निर्जरा का और मुक्ति का हेतु है।

[शील-माहात्म्य]

बंधुओं ! मोक्ष के जिन चार मार्गों का उल्लेख आता है, वे हैं सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र व सम्यक् तप। इनमें सम्यक् चारित्र ही शील रूप है। अन्यत्र जो मोक्ष के चार मार्ग बताये हैं—दान, शील, तप और भावना इनमें शील दूसरे नम्बर पर मोक्ष का मार्ग बताया गया है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में इसे 'अज्जवसाहुणोचरियं, मोक्खमग्गं' कहा गया है। प्रभु महावीर ने कहा है—

पसत्थं सोमं सुभं सिवं सया विसुउं।
सव्व भव्वजणाणु चित्तं निस्संकिंयं निब्भयं ॥

अर्थ यह है कि शील का पालन सदा प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव (आत्म-कल्याणी) है। वह परम विशुद्धि है, आत्मा की पूर्ण निर्मलता है। वह मुमुक्षु आत्माओं की संजीवनी है। वह प्राणी को आत्म-विश्वासी बनाता है। शीलवान या शीलवती नर-नारियों से किसी को कोई भय नहीं रहता, अर्थात् वह सबको अभय प्रदान करता है। दानों में यह अभयदान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शील पालन करने वाले साधक इन्द्रियों के विषयों से अपना मन हटाकर इन्द्रियों पर नियंत्रण कर लेते हैं। कहा भी है—

सद्दे रूवे व गंधे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे काम गुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥

अर्थात् शीलव्रती शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के विषयों की सदैव वर्जना करें। इनका त्याग करें, इन्हें छोड़ दें।

स्थानांगसूत्र ठाणा दूसरे में प्रभु ने स्पष्ट कहा है—“शील व्रत भंग करने की अपेक्षा साधु या साध्वी को वैहायसमरण या गृद्धस्पष्टमरण की अनुमति है।” सूत्र पाठ इस प्रकार है—

कारणे पुण अप्पडिकुट्ठाइं, तं जहा-बेहाणसे चेव गिद्धट्ठे चेव ।

योगिराज भर्तृहरि ने अपने वैराग्यशतक में कहा है—

वरं शृंगोत्संगाद् गिरिशिखरणिः क्वापि विषमे ।
पतित्वाऽयं कायः कठिन दृषदन्ते विगलितः ॥
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्ण दशने ।
वरं वह्नि-पातः तदपि न कृतः सील विलयः ॥

तात्पर्य यह है कि किसी ऊँचे शिखर की सर्वोच्च चोटी पर अत्यंत मुश्किल से चढ़ने के बाद उसे वहाँ से नीचे गिरने के लिए कहा जाए तो यह उसके लिए अत्यंत कठिन कार्य होगा। नीचे गिरने पर हाथ-पैर-दाँत टूट सकते हैं, अंग-भंग हो सकते हैं, व्यक्ति मर भी सकता है।

अपने हाथ को स्वयं ही नागराज के मुँह में विषभर तीक्ष्ण दाँतों के बीच देना पड़े तो शरीर में विष फैल सकता है, मृत्यु तो निश्चित है।

कवि कहता है कि ये सभी कार्य कठिन हैं, मृत्यु की पूर्ण संभावना है पर यदि कभी शील पर संकट आए तो शील की रक्षार्थ व्यक्ति को पर्वत से गिरकर, सर्प से दंश पाकर अग्नि में कूदकर मर जाना श्रेष्ठ है।

शील के विषय में 'विसुद्धिमगं' में बताया है—

सीलगंधा समो गंधो कृतो नामो भविष्यति ।
यो समं अनुवाते च पटिवाते च वायति ॥

(विसुद्धिमगं, परि-१)

अर्थ यह है कि शील की सुगंध के समान दूसरी सुगंध कहाँ होगी? दूसरी सुगंध तो जिधर हवा का रुख होगा उधर ही बहेगी, परन्तु शील की सुगन्ध ऐसी सुगंध है जो विपरीत हवा में भी उसी तरह बहती है, जिस तरह अनुकूल हवा में बहती है।

बौद्धधर्मावलम्बियों के धर्मग्रन्थ 'धम्मपद' में भी इसी बात को कुछ अन्य ढंग से कहा गया है—

चन्दनं नगरं वापि, उष्पलं अथ विस्सकी ।
एतेसं गंध जातानं, सीलगंधो अनुत्तरो ।।

(धम्मपद ४-१२)

इनका कथन है कि अगरु और चन्दन की सौरभ तो बहुत ही अल्प मात्रा में, अल्प समय तक, अल्प क्षेत्र में ही रहती है, पर शील (ब्रह्मचर्य) की सुगंध तो देवलोक तक पहुँच जाती है और देवों के हृदय को भी आकर्षित कर लेती है।

□ शील का प्रभाव

'सिन्दूरप्रकरण' नामक ग्रन्थ के रचयिता ने बताया है कि शील का प्रभाव मानवों व देवों पर तो क्या प्राकृतिक पदार्थों और तिर्यच योनि के जीवों पर भी पड़ता है। वे कहते हैं—

तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोपि सारंगति,
 व्यालोप्यश्वति पर्वतोप्युपलतिक्ष्वेडोपि पीयूषति।
 विघ्नोप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपां—
 नाथोपि स्वगृहाटव्यपि नृणां शीलप्रभावाद् ध्रुवं ॥

अर्थात् शील के प्रभाव से अग्नि भी शीतल जल बन जाती है, सर्प पुष्पहार में बदल जाता है, बाघ-हरिण समान, दुष्ट हाथी शान्त साधारण अश्व की तरह, विशाल पर्वत प्रस्तर-खण्ड सम, विष अमृत-तुल्य, विघ्न महोत्सव रूप, शत्रु मित्रवत्, समुद्र क्रीड़ा सरोवर-सा और अटवी शान्त-स्वगृह के समान बन जाती है।

बंधुओं! **सीताजी** ने अग्नि-प्रवेश किया। पर अग्नि शीतल जल में परिवर्तित हो गई। यह किसके कारण हुआ? शील के कारण! **सुभद्रा** सती पर, उसके शील पर, उसके पत्नी-आचार पर कलंक लगाया गया, परन्तु उस सती ने अपने शील का प्रमाण दिया। शील के प्रभाव से छलनी में पानी ठहरा दिया, कच्चे धागों से पानी कुँ से खींचा गया (ऊपर लाया गया, छलनी में) और उस पानी का छिड़काव किया उस शीलवन्ती ने नगर के बन्द द्वारों पर तो वे द्वार तुरन्त खुल गये जो अब तक किसी के द्वारा खोले नहीं जा सके थे। सुदर्शन ने दृढ़तापूर्वक शील व्रत का पालन किया। बड़ी विषम परिस्थितियों में भी उसने अपनी बुद्धिमत्ता से अपने शील की रक्षा की। उसे शूली पर चढ़ाने की राजाज्ञा हुई, पर शील का कैसा अद्भुत प्रभाव! शूली भी सिंहासन बन गई।

□ शील से सुरक्षा निश्चित

कुछ इसी तरह के भावों को भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' में इन शब्दों में प्रकट किया गया है—

वह्निस्तस्य जलायते जल निधिः कूल्यायते तत्क्षणात्।
 मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगयतिः सद्यः कुरंगयते।
 व्यालो माल्यगुणायते, विषरसः पीयूष वर्षायते,
 यस्यांगेखिललोक वल्लभतरं शीलं समुन्नीलति ॥

भावार्थ यह है कि जो शीलधर्म में दृढ़ है, उसके लिए जलती हुई अग्नि भी तत्क्षण शीतल जल की धारा में परिवर्तित हो जाती है। मेरु पर्वत उसके शीलधर्म के प्रभाव से छोटे-छोटे शिलाखंड में बदल जाता है। भयानक और हिंसक केशरी सिंह उसी समय अश्व की तरह व्यवहार करने लगता है। विषधर फूलों की माला बन जाती है। जहर अमृत बन

जाता है। शीलव्रती नर-नारी के लिए समस्त विश्व के प्रति प्रेम भरा रहता है और सारा विश्व शीलव्रती का आदर, सम्मान करता है।

बन्धुओं! चिन्तन करके देखिए तो आप पायेंगे कि शीलवंत पुरुष और शीलवती नारी यदि अपने व्रत में दृढ़-अटूट हैं तो उनके संकल्प बल की तीव्रता उनके प्रत्येक मनोवांछित पावन कार्य को सिद्ध करते हुए उनके शील की निश्चित सुरक्षा करती है।

□ शीलवती राणकदेवी

सौराष्ट्र के कालड़ी ठिकाणे की एक घटना इतिहास प्रसिद्ध और लोकविश्रुत है। वहाँ एक देवड़ा राजपूत की कन्या थी राणकदेवी। उसका विवाह जूनागढ़ के राजा रावखेंगार के साथ हुआ। दुर्भाग्य कहिए या संयोग कहिए, सिद्धराज की कुदृष्टि उस राणकदेवी पर गई। सुन्दरता की प्रतिमूर्ति और सर्वांग आकृष्ट-व्यक्तित्व वाली उस ललिता-नारी को उसने हस्तगत करना चाहा। माँगने पर, समझाने पर, भय दिखाने पर और प्रलोभन से भी वह नहीं मिली तो उसने जूनागढ़ पर आक्रमण कर दिया। जूनागढ़ का परकोटा अतीव सुदृढ़ था। बारह वर्ष तक सिद्धराज जूनागढ़ के बाहर घेरा डाले रहा, पर जूनागढ़ का बाल भी बाँका नहीं कर सका।

बहुत प्रयत्नों के पश्चात् भेद नीति ने अपना काम किया। रावखेंगार के एक भाणजे को येन-केन-प्रकारेण अपने पक्ष में कर परकोटे को भेदने, अन्दर पहुँचने के गुप्त मार्ग का पता लगा लिया गया। खेंगार हार गया। राणकदेवी को मनाने के अनेक प्रयत्न सिद्धराज ने किये, पर वह सती स्त्री थी। अतः उसने अपने शील पर आँच नहीं आने दी। जब सिद्धराज यहाँ भी सब तरह से असफल हुआ तो उसने उसे जबरन ले जाना चाहा। इस पर सती ने अन्तर्मन को एकाग्र कर स्वमुख से ये उद्गार निकाले—

ऊँचा गढ़ गिरनार, बादल सूँ बातां करे।

हरत नार खेंगार, तूँ गिरनार क्यूँ न गिर पड़े ॥

उसके ऐसा कहते ही गिरनार पर्वत से चट्टानें टूट-टूटकर धड़ाधड़ गिरने लगीं। यह था उस सती के अद्भुत-अटूट शील का प्रभाव !

□ इत्यादिक सतियाँ, गई जमारो जीत

शीलधर्म का दृढ़ता से पालन करने वाली, अपने आचार (शील) में विषम परिस्थितियाँ आने पर भी अचल रहने वाली, कठिन से कठिन बाधाओं—परीषहों—उपसर्गों के उपस्थित होने पर भी चारित्र्य में अविचल रहने वाली ऐसी अनेक महानात्माओं को अपनी भावपूर्ण

विनयांजलि देते हुए आचार्यसम्राट् महान् चर्चावादी, भीष्म-प्रतिज्ञाधारी और दृढ़-संकल्पी एकभवावतारी पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी सुविख्यात रचना 'बड़ी साधु वन्दना' की १०५ व १०६वीं कड़ी में कहा है—

चेड़ानी पुत्री, राखी धर्म नी प्रीत।
 राजीमती, विजया, मृगावती सुविनीत ॥ १०५ ॥
 पद्मावती, मयणरेहा, द्रौपदी, दमयंती, सीत।
 इत्यादिक सतियाँ, गई जमारो जीत ॥ १०६ ॥

□ नारी का उज्ज्वल पक्ष

बंधुओं! भारतीय संस्कृति ने नारी को सदैव पूज्य माना है और “यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः” के अनुसार इस धर्मधरा पर सदैव देवों का रमण होता रहता है, अर्थात् देवोपम नर-नारी भी यहीं बसते हैं।

वस्तुतः नारी प्रेरणा की स्रोत है। वह शक्ति है, समृद्धि है। वही चण्डी है, वही सरस्वती है। जैनागमों में अनेक ऐसे प्रसंग उल्लिखित हैं, जिनमें कहीं गृहस्थों को, कहीं देशविरति साधकों को तो कहीं सर्वविरति साधकों को इस नारी ने सचेत किया है, सन्मार्ग दिखाया है। कहीं माता के रूप में, कहीं बहन के रूप में तो कहीं सहधर्मिणी के रूप में वह पतित होते हुए पुरुष-साधकों की पतितोद्धारिणी बनी है। बाहुबली और ब्राह्मी-सुन्दरी, रथनेमि और राजीमती, अरणक और भद्रा, राजकुमारी भगवती मल्ली और विभिन्न राज्यों के छह यशस्वी राजा, इषुकार राजा और कमलावती रानी, तेतलिपुत्र और पोट्टिला, चूलनीपिता श्रमणोपासक और उसकी माता भद्रा सार्थवाही, सुरादेव श्रमणोपासक और उसकी पत्नी धन्ना, चुल्लशतक श्रमणोपासक और उसकी पत्नी बहुला, श्रमणोपासक शकडाल और उसकी धर्मसहायिका अग्निमित्रा, दो सहोदर भ्राता राजकुमार चन्द्रयश-राजकुमार नमि और उनकी साध्वी माता मदनरेखा, राजा दधिवाहन उसका पुत्र करकण्डू तथा साध्वी पद्मावती (पत्नी-दधिवाहन), नागिला और भवदेव आदि सैकड़ों प्रसंग हैं, जहाँ नारी ने नर को साधना क्षेत्र में जागृत किया है।

□ 'चेड़ा नी पुत्री' (चेटक राजा की सात पुत्रियाँ)

आपने अभी जिन शीलवती सतीवृंद के नाम बड़ी साधु वन्दना की दो कड़ियों में सुने, वे भी नारी रूप में पूज्या, महनीया और प्रेरणा-पुँज थीं। आज भी उनके जीवन-प्रसंग भव्य जीवों को प्रेरणा देते हैं।

सर्वप्रथम उल्लेख आया है—‘चेड़ा नी पुत्री !’ चेड़ा अर्थात् राजा चेटक। वैशाली गणराज्य का महान् शूरवीर, अति प्रभावी और श्रावक व्रतधारी ! प्रभु महावीर का अनन्य उपासक था वह। वैशाली गणतंत्र में उस समय नौ लिच्छवी और नौ मल्ली राजाओं का समूह था, जिसके अध्यक्ष थे राजा चेटक। सात कन्याएँ थीं महाराज चेटक की और वे सभी तत्कालीन शूरवीर व प्रभावी राजाओं के राजघरानों की शोभा बनीं। अनुक्रम से उन सातों राजकुमारियों के नाम इस प्रकार हैं—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चेलना।

(१) प्रभावती वीतभय नगरी के शक्तिशाली एवं गुणवान राजा उदायी को, (२) पद्मावती अंग देश के धर्मिष्ठ, शीलवान राजा दधिवाहन को, (३) मृगावती वत्स देश के शूरवीर महाराज शतानीक को, (४) शिवा उज्जयिनी के नरेश प्रचण्ड शक्तिशाली चण्डप्रद्योत को, (५) ज्येष्ठा भगवान महावीर के भ्राता क्षत्रियकुण्ड नरेश नन्दीवर्धन को, (६) सुज्येष्ठा ने आर्या प्रमुखा चन्दनबाला के निकट प्रव्रज्या अंगीकार की, और (७) चेलना मगधराज इतिहास-विख्यात बिम्बिसार श्रेणिक को ब्याही गई थीं।

‘भारतीय इतिहास—एक दृष्टि’ के लेखक डॉ. ज्योतिप्रसाद के अनुसार इन सात बहनों के दस भ्राता थे, जिनमें सबसे बड़ा सिंहभद्र, वज्जिगण का विख्यात सेनापति था। ‘जातक अट्टकथा’ में जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार उस समय वैशाली गणतंत्र के सात हजार सात सौ सात (७,७०७) राजा सदस्य थे। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ भी वैशाली गणराज्य के सदस्यों में सम्मिलित थे।

□ महाराज चेटक

चेटक या चेड़ा महाराज अपने समय के महान् योद्धा, कुशल शासक और न्याय पक्ष के पूर्ण समर्थक थे। कैसी भी विषमातिविषम परिस्थिति या भयंकर से भयंकर संकट उपस्थित होने पर भी उन्होंने अन्तिम दम तक अन्याय के समक्ष सिर नहीं झुकाया। पर्युषण के अष्ट-दिवसीय पर्व-प्रवचनों में अंतगड़ का विवरण प्रस्तुत करते समय आपने मगधपति कौणिक जो राजा श्रेणिक के पुत्र थे, के विषय में सुना होगा। इनके दस भ्राताओं की मृत्यु पर काली आदि दस ही माताओं ने प्रभु महावीर से दीक्षा धारण की थी। काली आदि दस रानियों के दस पुत्र जिस युद्ध में मारे गये थे, वह युद्ध कौणिक ने अपने नाना चेड़ा के विरुद्ध छेड़ा था। उद्देश्य था—अपने भ्राता हल्ल-विहल्ल से सेचनक हाथी एवं देवनामी अठारह लड़ी का बंकचूल हार प्राप्त करना। पर प्राप्त करें कैसे ? अपने पिता द्वारा प्रदत्त इन चीजों पर भाई कौणिक नृप की कुदृष्टि देख दोनों ने नाना चेड़ा राजा की शरण ली थी। शरणागत की रक्षा तो क्षत्रियों का पहला धर्म और राजाओं का पहला कर्तव्य ठहरा। युद्ध छिड़ गया,

भीषण संग्राम हुआ और यह सब हुआ शरणागत वत्सलता व न्यायप्रियता के कारण। अन्त में वैशाली के पतन से निर्वेद प्राप्त कर राजा चेड़ा ने अनशन किया और समाधिपूर्वक काल कर देवत्व प्राप्त किया।

□ जैन साहित्य और शीलवती सतियाँ

जैन इतिहास में अनेकानेक शीलवती सतियाँ हुईं। सज्जायों, स्तवनों आदि में उन सतियों में से कुछ विशिष्ट सतियों का विशेष उल्लेख आता है। एक जगह अस्सी विशिष्ट सतियों के नामोल्लेख का स्तवन या सज्जाय पढ़ने में आई थी। सतियों की सज्जाय में आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. की 'चौंसठ सती वंदना' नामक रचना जैन समाज में विशिष्ट लोकप्रिय एवं सर्वत्र सम्मानित है। (इस 'चौंसठ सती वंदना' पर डॉ. पद्मचन्द्र जी म. सा. के वि. सं. २०६० के बैंगलोर चातुर्मास में दिये गये प्रवचन अत्यधिक लोकप्रिय हुए।)

इन सज्जायों, स्तवनों के अतिरिक्त जैन इतिहास, जैन भजनों, जैन कथानकों, जैन-प्रवचन-साहित्य तथा जैन श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकावृंद में सर्व प्रसिद्ध, सर्व पूज्य, सर्व मान्य, सर्व स्तुत्य जिन सतियों के विवरण हैं, उनकी संख्या सोलह है। एक भजन की कुछ पंक्तियाँ—

शीतल जिनवर करूँ प्रणाम, सोलह सतियाँ रा लेसूँ नाम।
ब्राह्मी, चंदन, राजीमती, द्रौपदी, कौशल्य्या, मृगावती।
सुलसा, सीता, सुभद्रा जान, शिवा, कुन्ती शील गुणखान।
नल-घरनी दमयंती सती, चेलणा, प्रभावती, पद्मावती।
शीयल गुणे सुहावे सिरी, ऋषभदेव नी धिया-सुन्दरी।
सोलह सतियाँ शील गुणभरी, भवियन प्रणमो भावे करी॥

और भी—

इण शील वरत रो लावो जग में सतियाँ ले गई रे।
कष्ट पड्यां सतियाँ शील राख्यो, नाम अमर कर गई रे॥

संस्कृत भाषा में एक मंगलाचरण-पद में सोलह सतियों के नाम इस प्रकार आये हैं—

ब्राह्मी चंदनबालिका भगवती राजीमती द्रौपदी।
कौशल्य्या च मृगावती च सुलसा, सीता सुभद्रा शिवा।।
कुन्ती शीलवती नलस्यदहिता चूला प्रभावत्यपि।
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिन मुखे, कुर्वन्तुनो मंगलं॥

स्पष्ट है कि ये सभी सतियाँ प्रातः स्मरणीय हैं, मंगलकारी हैं, शिव सुखदायक हैं। इन सोलह सतियों का एक-चौथाई भाग चेड़ा की पुत्रियों के नाम है, अर्थात् सोलह में से चार सतियाँ चेड़ा की पुत्रियाँ हैं—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती तथा शिवा। सुज्येष्ठा ने प्रभु महावीर के पास दीक्षा ली और आर्या चन्दनबाला की शिष्या बनी। महारानी चेलना ने भी संयम-पथ ग्रहण किया और सिद्ध बनीं।

इन सोलह के अतिरिक्त विभिन्न जैन कथा-साहित्य, जैन-भजन, जैन-प्रवचन-साहित्य आदि में भी कहीं ६४, कहीं ८० और कहीं १०८ शीलवती जैन सतियों का भी नामोल्लेख मिलता है।

[महासती प्रभावती]

महाराज चेटक की पुत्री थी प्रभावती। सात बहनें थीं ये। इन सातों की शिक्षा का अति उत्तम प्रबन्ध किया महाराज चेटक ने और नारी-योग्य अनेक कलाओं में प्रवीण बनाया। घर पर भी महाराजा और महारानी इन राजकुमारियों को उत्तम संस्कारों व धार्मिक भावनाओं की शिक्षा दिया करते थे। अतः ये सभी नारी-उचित सभी सद्गुणों से सम्पन्न बन गईं, सुशील बन गईं और विदुषी बन गईं।

□ उदायी से परिणय

विवाह योग्य होने पर महारानी ने महाराज को सचेत किया, योग्य वर शोध करने के लिए। राजा की नजर में वैसे तो अनेक सुन्दर राजा, राजकुमार थे, पर उन सब में उनके मन की दृष्टि जाकर जहाँ जम जाती थी वह नाम था—सिन्धु सौवीर देश वितीभय पाटन के युवा राजा उदायी का। उदायी धर्मनिष्ठ था, प्रभु महावीर का परम भक्त था और विशिष्ट ख्याति प्राप्त भी था। राजा ने विचार किया—‘योग्यं योग्येन योजयेत्।’ जो जिसके योग्य हो, उसी के साथ उसका सम्बन्ध करना चाहिए। राजा का चिन्तन सही था, क्योंकि यदि योग्य सम्बन्ध न बने तो—

कनकभूषण संग्रहणोचितो, यदि मणिस्त्रिपुणी प्रणिधीयते।

न स विरौति न चापि न शोभते, भवति योजयितुर्वचनीयता ॥

अर्थात् सोने के आभूषण में जड़ने योग्य मूल्यवान मणि को यदि रँगों के आभूषण में जड़ दिया जाये तो मणि की चमक-दमक में कोई कमी नहीं आती मगर जड़ने वाले की मूर्खता का लोग वर्णन किये बिना नहीं रहते।

राजा उदायी को योग्य वर समझकर चेड़ा राजा ने दूत भेज दिया। राजा उदायी ने भी उस सम्बन्ध को अपने लिए भाग्यशाली समझा और स्वीकृति दे दी। विवाह की तैयारियाँ हुईं। धूमधाम से विवाह हुआ। वैशाली की राजकुमारी सिन्धु सौवीर की राजरानी बन गई।

□ पुण्यवान को मिलती है सदगृहिणी

राजरानी बन जाने के पश्चात् भी प्रभावती में कोई परिवर्तन नहीं आया। उसके आचार-विचार पूर्ववत् धर्मरुचि से ओत-प्रोत बने रहे। सादा जीवन धर्मनिष्ठ आचार और 'स्व-पर' के लिए सुखदायी शुभ विचार। जीवन व्यतीत होता रहा था—प्रेम-रंग के संग।

प्रभावती के आने के पश्चात् उदायी राजा के राज्य में समृद्धि की वृद्धि हुई, सुख-शान्ति बढ़ी, शासन के स्वरूप में सुचारुता लक्षित हुई। वस्तुतः यह उस सती के सत् का ही प्रताप माना जा सकता है।

सती सुरूपा सुभगा विनीता, प्रेमाभिरामा सरल स्वभावा।

सदा सदाचार-विचार दक्षा, सा प्राप्यते पुण्यवशेन पत्नी ॥

राजा उदायी के भी पूर्वभवों के पुण्य-पुँज का उदय था यह कि उसे ऐसी शीलवती, सतवन्ती पत्नी मिली जैसा कि इस पद में बताया गया—“जिसके जीवन में सतीत्व की उज्ज्वल आभा दमकती हो, जो शरीर से भी सुन्दर हो, जो भाग्यवती हो, जो निष्कपट, सरल स्वभावी हो और जो सदाचारी और उच्च विचारों में दक्ष हो, ऐसी गृहिणी पुण्यवान पुरुष को ही प्राप्त होती है।”

□ राजकुमार अभीचि का जन्म

विवाहित जीवन की सफलता है—संतान-प्राप्ति। महारानी प्रभावती ने भी गर्भ धारण किया और गर्भ-समय पूर्ण होने पर एक सुन्दर राजकुमार को जन्म दिया। राजा उदायी हर्षमग्न हो गये। प्रजा ने बधाइयाँ दीं। पूरे राज्य में राजकुमार का जन्मोत्सव मनाया गया। उदायी ने याचकों को यथेष्ट दान दिया। कुछ बड़ा होने पर बालक का नाम रखा गया अभीचि।

बन्धुओं ! ये वही राजा उदायी और राजकुमार अभीचि हैं, जिनका प्रसंग 'बड़ी साधु वन्दना' की ३५वीं कड़ी में विवेचित किया गया था और उदायी ने दीक्षा लेते समय अपने पुत्र के आत्महित की बात का चिन्तन कर उसे राजा नहीं बनाया था, अपितु अपने यहाँ महलों में बचपन से पल रहे अपने भाणजे केशी को राजसिंहासन पर बिठाया था। बाद में केशी ने धोखे से भिक्षा में विषमय भोजन दिलवाकर मुनि उदायी को मरवाया था। (विस्तार के लिए बड़ी साधु वन्दना-प्रवचन पुस्तक का भाग-२ देखें)

□ रानी प्रभावती को वैराग्योत्पत्ति

अस्तु ! आज के प्रवचन का प्रसंग तो है सती प्रभावती। राजकुमार के जन्म के पश्चात् किसी समय वीतभय नगरी (सिन्धु सौवीर राज्य की राजधानी) में भगवान महावीर का पदार्पण हुआ। प्रभु का पदार्पण सुनकर सभी नगरवासी—प्रजाजन, राजा, राज-परिवार आदि अत्यन्त हर्षित हुए। प्रभु के दर्शन के लिए नगर के नर-नारी अनेक समूहों में जाने लगे। राजा-रानी, अन्य राज-परिवार के लोग, राज्याधिकारी आदि भी प्रभु-दर्शन के लिए गये। सभी ने प्रभु के दर्शन किये, उनकी विधिवत् वन्दना की। प्रभु ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ धर्मोपदेश की वागरणा की। संसार को असार और जीवन को क्षणिक बताया।

उस आत्म-कल्याणी, वैराग्योत्पादिनी जिनवाणी को सुनकर रानी प्रभावती का मन जो संसार के काम-भोगों से, विषय-वासनाओं से पहले ही असम्पृक्त था, विरक्ति के रंग में रंग गया।

□ देव बनकर प्रतिबोध दो तो अनुमति

राजमहलों में आकर पति से दीक्षा की अनुमति माँगी तो उदायी राजा अचकचा गये। उन्हें ऐसी आशा थी भी नहीं। बहुत मना करने, संसार में रहने के लिए मनाने और समझाने पर भी जब उदायी ने देखा कि रानी अपने वैराग्य में दृढ़ है, उनकी दीक्षा-भावना प्रबल है तो उन्होंने आज्ञा से पूर्व रानी के समक्ष एक शर्त पर अनुमति देने का मानस बनाया। उन्होंने रानी को कहा कि एक शर्त पर अनुमति दूँगा। पूछा रानी ने—“बोलिए, आपकी क्या शर्त है? बस, संसार में रोकने के अतिरिक्त कोई भी शर्त रख सकते हैं, आप।”

इस पर राजा उदायी ने कहा—“मेरी भी कई बार संयम धारण करने की अभिलाषा बनती है, पर कुछ कारणों से विवश हूँ। सोचता हूँ—कब श्रमण बन संयम-पथचारी होऊँगा? इस चंचल मन का भी क्या ठिकाना? अतः तुम देव बनने पर वहाँ से आकर मुझे प्रतिबोध देने का वचन दो। बस, यही मेरी शर्त है।”

□ राजरानी से बनी श्रमणी-धर्म-पालिका

सुनकर प्रभावती का अन्तर्मन आह्लादित बन गया। उसने वचन दिया, दीक्षानुमति प्राप्त की और दीक्षार्थ प्रस्थान से पूर्व सभी स्व-परिजनों से आज तक जाने-अनजाने में हुई अपनी भूलों के लिए उसने क्षमायाचना की। पुत्र अभीचि को भी पूर्ण आश्वस्त किया। धैर्य खो रहे महाराज को भी धैर्य बँधाया।

इस प्रकार रानी प्रभावती सभी सांसारिक सम्बन्धों व वस्तुओं का त्याग कर दीक्षा के लिए राजसी ठाट-बाट से प्रभु महावीर के सम्मुख उपस्थित हुई। उदायी राजा ने प्रभु से रानी प्रभावती की अभिलाषा बताकर कहा—“प्रभो ! मैं इन्हें दीक्षार्थ अनुमति देता हूँ। आप इन्हें भिक्षा रूप में स्वीकार करिए।”

रानी प्रभावती ने भी दीक्षाभिलाषा प्रकट की। भगवान महावीर ने तब अपने श्रीमुख से रानी प्रभावती को जैन-भागवती दीक्षा-मंत्र प्रदान किया। कुछ देर पूर्व की महारानी अब महावीर के श्रमणी-संघ की भिक्षुणी ‘महासती प्रभावती’ बन गई।

दीक्षा पश्चात् महासती प्रभावती ने निरतिचार पंच महाव्रतों व अष्ट प्रवचन-माता का पालन करते हुए कठोर तपश्चरण कर अपने कर्मबन्धन को क्षीण बनाना प्रारम्भ किया। वे अब—“अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं” (अर्थात् अपने शरीर पर भी जिन्हें ममत्व नहीं है उन देही अनासक्त साधकों को धन्य है) की प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति बन गई।

□ देवलोक की अधिकारिणी

अन्तिम समय में संधारा धारण कर आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर का त्याग कर वे देवगति की अधिकारिणी बनीं। देवलोक की असंख्य देवोत्पाद-शय्याओं में से एक शय्या पर उनका जीव उत्पन्न हुआ। शय्या के फूलने पर आसपास के देवों को ज्ञान हुआ कि कोई नव देव उत्पन्न हुआ है। अन्तर्मुहूर्त्त में देव-शरीर तरुण हो गया। देव-दूष्य वस्त्रों से आच्छादित हुआ वह देव उठ बैठा। उसने अपने अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव जाना और राजा उदायी को सचेत बनाने के लिए धरती लोक पर जाने को तैयार हुआ। दूसरे देवों ने उन्हें रोका और देवलोक की परम्परानुसार दिव्य-नाटक, गायन-वादन आदि की शुरुआत की।

□ एक देवनाटक दो हजार वर्ष-पर्यन्त

बंधुओं ! नवोत्पन्न देव यदि नाटक के राग-रंग में खो जाते हैं तो नाटक समाप्ति तक देवों के एक प्रहर जितने अनुभूत समय में इस मानव लोक के लगभग दो हजार वर्ष जितना समय व्यतीत हो जाता है। उसके परिवार की जाने कितनी पीढ़ियाँ बीत जाती हैं ? वह देव सजग होता है और अपने रागात्मक सम्बन्धों से बँधे किसी पूर्व पारिवारिक स्नेही को ढूँढ़ना भी चाहता है तो वह जाने किस गति और किस आकार में होता है ? देव के भी अनुराग में तब कमी आ जाती है।

□ नृत्य-नाटक त्याग राजा उदायी को प्रतिबोध !

महासती प्रभावती के देव बने जीव के समक्ष भी नाटकादि प्रारम्भ हुए, पर वह उनमें लुब्ध नहीं बना। तुरन्त चल दिया उस राग-रंग को छोड़कर और कुछ ही क्षणों में पहुँच गया

वीतभय नगर। अपनी शर्त, अपने वचन को निभाने के लिए उसने राजा उदायी को संसार के जंजाल से निकलने और आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होने का प्रतिबोध दिया।

□ दीक्षा-समाधिमरण-मोक्ष

उदायी धर्मिष्ठ तो था ही, भावना भी संयम-पथ ग्रहण करने की थी। प्रतिबोध पाने पर पूर्ण सजग बन संसार से मुँह मोड़, राज्य आदि को त्याग, समस्त सांसारिक मोह से विमुख बन दीक्षा के लिए तैयार हो गया। पुत्र के आत्महित का चिन्तन कर अपने भाणजे केशीकुमार को राज्य का भार सौंपकर उसने मुनि जीवन स्वीकार किया और रत्नत्रयी का आराधन कर, उग्र तपश्चरण कर, कई वर्षों तक संयम का निरतिचार पालन कर संलेखना-संधारापूर्वक समाधिमरणपूर्वक मुक्ति को प्राप्त किया।

□ भावी मोक्षगामी सती प्रभावती

सती प्रभावती का जीव कुछ भव करके अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करेगा और सिद्ध गति में ज्योति में ज्योति बन विराजमान होगा।

[महासती पद्मावती]

महाराज चेड़ा की द्वितीय पुत्री थी—पद्मावती। विवाह-योग्य आयु होने पर चेटक (चेड़ा) राजा ने उसका विवाह अंग देश के अधिपति राजा दधिवाहन से किया। उस समय अंग देश की राजधानी थी—चम्पानगरी। राजा दधिवाहन के पद्मावती के साथ अन्य दो रानियाँ थीं—महारानी धारिणी और महारानी अभया। दधिवाहन एवं धारिणी की अंगजात थी वसुमति अर्थात् चन्दनबाला। राजा दधिवाहन की सहधर्मिणी बनकर पद्मावती भी महारानी बन गई। महाराज ने अपनी महारानी की सुख-सुविधाओं में कभी कोई कमी नहीं आने दी। दोनों का दाम्पत्य जीवन भी अत्यन्त सुखी था, कारण था—आत्म-समर्पण का भाव। महाराज और महारानी, दोनों ही एक-दूसरे के लिए आत्म-समर्पित थे।

□ दोहद की विचित्रता

एक दिन महाराज दधिवाहन को जानकारी मिली कि महारानी पद्मावती गर्भवती हैं। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। गर्भावस्था में महारानी पद्मावती के मन में एक इच्छा जागृत हुई कि “मैं मुकुटादि राजा के समस्त राजचिह्नों को धारण करूँ। महाराज के साथ गज सवारी करूँ, उनके साथ गजारूढ़ हो वनक्रीड़ा करूँ और महाराज मेरे ऊपर चामर ढेरें।” इसे ही पारम्परिक भाषा में दोहद के नाम से पुकारा जाता है। गर्भवती की विचित्र अभिलाषा ही उसका दोहद है। महारानी अपने मन की बात, अपना दोहद महाराज को नहीं बता सकीं। कैसे बतातीं ?

अपने मुँह से एक पतिव्रता, धर्मिष्ठ, शीलवती नारी कैसे पति से कहती कि मैं राजा बनूँ और आप दास बनें फिर हम वनक्रीड़ा करें ?

□ तन एक, मन दो

दोहद की पूर्ति नहीं होने से वे चिन्तित रहने लगीं। किसी पल कामना प्रबल बनती, पर दूसरे ही पल उसे दबा दिया जाता। मन दो भागों में विभक्त बन गया, एक दोहद-पूर्ति चाहने वाला और दूसरा महाराज की प्रतिष्ठा को आँच नहीं आने देने के लिए सजग रहने वाला। मन का संघर्ष भूख-प्यास का भान मिटाने लगा, तन की दुर्बलता बढ़ने लगी, शरीर की कांति क्षीण होने लगी।

□ महाराज का आश्वासन

कुछ दिन तो महाराज देखते रहे, पर जब कई दिनों तक यही परिस्थिति रही तो महाराज ने महारानी पद्मावती को बहुत ही स्नेह से इसका कारण पूछा। महाराज ने अपनी बातों में प्रेम, राग, अनुरक्ति की ऐसी धारा बहाई कि महारानी उनसे अपनी अभिलाषा, अपना दोहद छिपा न सकीं। उन्होंने अपने मन की कामना को उजागर कर ही दिया। महाराज ने महारानी को दोहद पूर्ति का आश्वासन दिया।

□ उत्सुक प्रजाजन

महाराज दधिवाहन अत्यन्त विवेकी, सूझबूझ वाले और सरलता की प्रतिमूर्ति थे। स्वयं उन्होंने महारानी के वनक्रीड़ा की सारी तैयारी करवाई। प्रजा को भी सूचना मिल गई कि महाराज और गर्भवती महारानी की राजसी सवारी निकलेगी। यह भी पता चल गया प्रजाजनों को कि इस बार की राजसवारी में अनोखापन होगा। महारानी तो सिंहासन पर राजा के वेश में होंगी और महाराज अपनी महारानी की अनुरक्ति में उनके ऊपर चामर ढेरेंगे।

पता सभी को था कि यह सब महारानी जी के दोहद की पूर्ति निमित्त हो रहा है, पर फिर भी एक कौतुक तो था ही नगरवासियों के लिए। नारियाँ तो सुन-सुनकर ही अपने-आपको गौरवान्वित मानने लगीं, जैसे वे ही हों महारानी। उनकी उत्सुकता, सवारी को देखने की, पुरुषों से कई गुना अधिक थी।

□ सिंहासन पर महारानी, महाराज बने सेवक !

निश्चित समय पर सवारी राजमहल से निकल राजमार्ग पर पहुँची। गजशाला का उत्तम गजराज आज विशिष्ट रूप से सजा हुआ था। उस सजे गजराज पर रखा हुआ था महाराज का स्वर्ण सिंहासन। स्वर्ण सिंहासन पर आरूढ़ थीं, राजमुकुट और राजा के

चिह्नों को धारण किए महारानी पद्मावती। उनके चेहरे पर एक सलज्ज स्मित रेखा थी। साथ महाराज भी थे, पर आज किसी सेवक की तरह वे अपनी महारानी पर चामर ढेर रहे थे। नारियों ने कहा—“प्रेम हो तो ऐसा हो!” पुरुषों ने कहा—“दोहद भी क्या अनोखी देन है प्रकृति की, देखो क्या से क्या बना दिया हमारे महाराज को।”

□ हस्ति उन्मत्त बना

राजमार्ग पीछे छूट गये, शहर भी पीछे छूट गया और गजराज ने वन में प्रवेश किया। अचानक पवन की मदमाती चाल बदल गई। पहले पवन-वेग तीव्र बना फिर प्रचण्ड बन गया। हाथी ऐसे पवन वेग से उन्मत्त बन बिफर उठा। उसने सूँढ़ उठाकर एक भयानक चिंघाड़ की, एक झपाटे में उसने महावत को उछाल दिया और वन में सरपट भागने लगा। गजराज उन्मत्त बनकर जो भागा तो भागता ही रहा। वन में न जाने किधर, जाने कितनी दूर ले गया वह महाराज और महारानी को ?

□ महारानी की प्राणरक्षा की चिन्ता अधिक

होनहार तो होती ही है और उसके लिए कुछ प्रसंग निमित्त बनते हैं। नाम निमित्त का भले ही आये कि अमुक ने मेरे साथ यह किया या ऐसा घटित हुआ, अतः मेरे साथ यह बीती। बीत रही थी महाराज और महारानी पर। दोनों चिन्तित हुए, घबड़ाहट उनके चेहरों पर स्पष्ट झलकने लगी। स्वयं राजा दधिवाहन अकेला होता तो कूदकर अपने को बचा लेता पर इस समय तो वह अपने प्राणों से अधिक महारानी के प्राणों की रक्षा के लिए चिन्तित था। अचानक दूरी पर विशाल वट-वृक्ष देख तुरन्त बोला—“प्रिये! सामने वट-वृक्ष है। हाथी उधर ही जा रहा है। जैसे ही हाथी उसके नीचे से निकले, हम वट-वृक्ष की डाल पकड़ लटक जायेंगे और हाथी आगे चला जायेगा। प्राण-रक्षा का एक यही उपाय है। कर सकोगी न तुम?”

□ महाराज तो बच गये पर महारानी.....!

महारानी ने स्वीकृति दी तो महाराज बोले—“तैयार हो जाओ। वृक्ष नजदीक आ रहा है।”

वृक्ष निकट आया। हाथी वृक्ष के नीचे से निकला। राजा ने तो वट-वृक्ष की डाल पकड़ ली और लटक गया वह वहाँ, पर रानी डाल नहीं पकड़ सकी। उसका मन पश्चात्ताप कर रहा था। वह इस सारे घटनाचक्र के मूल में अपने को दोषी मान रही थी। तभी यह सब हो गया। एक नया दुर्भाग्य साथ आ लगा। महाराज साथ थे तो साहस था, धैर्य था, विश्वास था,

पर अब वह भी छूट गया और हाथी था कि भागा जा रहा था। अकेली रानी, बीहड़ वन, रात्रि सन्निकट, उस रानी की अवस्था गर्भवती की! महाराज के बिछुड़ जाने से अस्थिर बने मन को किसी तरह सुस्थिर करने का प्रयत्न किया उसने। जाने कब तक भागता रहेगा यह हाथी? कहाँ ले जायेगा ये मुझे? क्या दशा होगी मेरी? क्या हम दोनों बच पायेंगे? क्या मैं पेट में पल रहे अपने शिशु को सुरक्षित जन्म दे पाऊँगी? क्या पुनः कभी महाराज से मेरा मिलाप हो पायेगा.....? जाने कितने-कितने प्रश्न उसे घेरते रहे। रात आ गई और रातभर भागता रहा हाथी। रात चली गई। पूरी रात हाथी पर रखे सिंहासन पर बैठे, दोनों हाथों से सिंहासन को पकड़े रानी सिद्ध-अरिहंत भगवंतों को स्मरण करती रही।

□ हस्ति से मिला छुटकारा

प्रातः रवि-रश्मियों का प्रकाश जब धरती को स्पर्श कर रहा था तो हाथी एक तालाब की ओर बढ़ रहा था। उसकी गति कम हो गई थी। “शायद यह तालाब में नहाना चाहता, पानी पीना चाहता है।”—रानी ने सोचा। वही हुआ। संयोग से हाथी जहाँ सूँड़ में तालाब से पानी भर-भरकर पी रहा था, वहाँ पानी कम था और रानी आसानी से नीचे भी उतर सकती थी, क्योंकि पानी के पास ही टेकरी थी। रानी चुपचाप उतर गई हाथी से। हाथी पानी पीता रहा। रानी को प्रसन्नता हुई कि हाथी से छुटकारा मिला पर ‘भविष्य में क्या होना है?’ इसके लिए वह चिन्तित थी।

□ बीहड़ जंगल में नंगे पैर चलने लगी महारानी

तालाब के किनारे बैठी रही वह, पर वहाँ बैठी-बैठी करती भी क्या? चले बिना कोई ग्राम या नगर तो चलकर उसके पास आने वाला था नहीं। उठी और चलने लगी। कभी पैदल चली नहीं थी, फिर बीहड़, सुनसान, भयानक जंगल। जंगली हिंसक पशुओं की दहाड़। पर भय या घबड़ाहट से काम चलने वाला नहीं था। मार्ग में काँटे थे, कंकड़ थे, स्वयं मार्ग ऊबड़-खाबड़ था। बीहड़ में मार्ग होते ही कहाँ हैं? जानवरों के आने-जाने से पगडण्डियाँ बन जाती हैं। भूले-भटके राहगीरों के लिए वे भी राजपथों से कम नहीं। महारानी उस बीहड़ में उस पगडण्डी पर आगे और आगे बस चली जा रही थीं। सुबह की साँझ होने आ गई। जलाशय बहुत पीछे रह गया। आने वाली रात उसके लिए समस्या ही थी। दिन में प्रकाश का साथ था, पर रात का अँधेरा तो बिना मृत्यु के मृत्यु का रूप था। क्या करेगी वह? महाराज की अमानत यह गर्भवस्थ शिशु! अब कैसे बचा पायेगी वह इसे? व्यक्ति कितना ही डरे, पर दिन को अस्त तो होना ही था और रात को भी आना ही था। हो गया अँधेरा!

□ मानव बस्ती के निकट पहुँचना

महारानी तेज चलने लगीं। मन को साहस बँधाया—“वही तो होगा जो मेरे भाग्य में लिखा होगा।” धुन ही धुन में चली जा रही थी वह कि कुत्तों के भौंकने की आवाज सुनाई दी। उसका भय कुछ कम हुआ। ‘कुत्ते भौंके अर्थात् मनुष्यों की बस्ती निकट है।’—सोचा उसने। अत्यधिक थकी-माँदी थी, पर थकान को भूल बस्ती की ओर बढ़ी, तभी उसके कदम रुक गये। मन ने चेताया—“खतरा भी हो सकता है बस्ती में जाने से। जो भय यहाँ है भले वह बस्ती में नहीं है, पर जो भय बस्ती में है वह अधिक खतरनाक है। कम से कम यहाँ वह भय नहीं है।”

□ मानव को सर्वाधिक भय मानव से ही

बन्धुओं! आप समझ गये होंगे उस भय को। मनुष्य को मनुष्य का सबसे बड़ा भय, मनुष्य को मनुष्य से ज्यादा खतरा। आज मनुष्य से ज्यादा हिंसक पशु इस विश्व में शायद ही कहीं हों। उसमें भी स्त्री हो, जवान हो, सुन्दर हो, मुकुट आदि रत्नजटित स्वर्णाभूषणों सहित हो तो मानवीय खतरा सभी सीमाओं को पार कर जाता है।

□ निद्रा से जगी और जैन-साध्वियों के संग चली

रुक गई महारानी वहीं। अँधेरा था, बैठ गई नीचे। थकान अपार थी, हवा सुहावनी थी, नींद के झोंके आने लगे। महारानी वहीं सो गई। नींद जो आई तो न बीहड़ था, न हिंसक पशु थे, न कोई अन्य कष्ट था। बस, एक ही वस्तु थी—नींद। रात कब बीती, उसे कुछ पता नहीं। सूर्योदय हो गया, पर महारानी अब भी भूमि पर सोई थीं। तभी कुछ पद-ध्वनियों ने उसकी निद्रा को भंग किया। अलसाई आँखों को पूरा खोलने का प्रयत्न किया। देखा—“जैन-साध्वियाँ !” वह हर्षित हुई। उठीं, खड़ी होकर करबद्ध वन्दन किया। साध्वियाँ जंगल से होकर उपाश्रय जा रही थीं। वह भी उनके साथ हो गई।

□ महारानी पद्मावती जैन-उपाश्रय में दीक्षा लेकर श्रमणी बनीं

महारानी थीं तो गर्भवती, पर अभी उनका गर्भ बाहर नहीं दिखता था। उपाश्रय में महासती श्री गुणमाला जी थीं। वे अपनी शिष्या साध्वी वेगवती एवं साध्वी महावती के साथ भगवान महावीर की ३६ हजार साध्वियों की प्रमुखा भगवती श्री चन्दनबाला की आज्ञा से ग्रामानुग्राम दिव्य तीर्थकर वाणी का प्रसार करती हुई संयम-साधना में रत थीं। उनके उपदेश से महारानी पद्मावती को संसार से विरक्ति हो गई। बिना अपने गर्भ की बात को प्रकट किए उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली और महारानी से साध्वी-पद पर विराजमान बन गई।

□ पुत्रोत्पत्ति, चाण्डाल के घर लालन-पालन

कालान्तर में साध्वी पद्मावती के गर्भ-लक्षण प्रकट होने लगे। महाभागा गुणमाला जी ने पद्मावती से पूछताछ की। पद्मावती ने पूर्व घटित सम्पूर्ण प्रसंग सुना दिया। महाभागा गुणमाला ने संघपति को बुलाकर सारी बात कही। संघपति ने प्रच्छन्न रूप से प्रसव की व्यवस्था की। पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र सुन्दर था, तेजस्वी भी था। महासती पद्मावती ने पूर्ण सम-भाव से निहार की तरह उसका प्रसव किया। प्रसव के पश्चात् उसे परित्याग करने की भावना से ऐसी जगह रखा, जहाँ पर आने-जाने वाले लोगों की स्पष्ट नजर पड़ती हो। बालक का घात न हो यह देखना भी जरूरी था, अतः साध्वी जी एक पेड़ की आड़ में खड़ी हो गईं।

बालक रो रहा था। निकटवर्ती श्मशान में काम करने वाले एक चाण्डाल ने उसे देखा और उठाकर ले गया। यह बालक 'करकण्डू' के नाम से पहचाना गया। वह प्रत्येकबुद्ध हुआ। बड़ी साधु वन्दना की गाथा २२ बावीस के प्रवचन में आप इनका प्रसंग सुन चुके हैं। (बड़ी साधु वन्दना प्रवचन भाग (२) का प्रथम प्रवचन देखें।) उस प्रसंग में करकण्डू व उसके पिता अर्थात् महाराज दधिवाहन में युद्ध का डंका बजना, महासती पद्मावती का सोचना कि दोनों पिता-पुत्र हैं पर उन्हें यह नहीं मालूम। ज्ञात होने पर युद्ध बन्द हो सकता है, सैकड़ों, सहस्रों योद्धाओं की प्राण-रक्षा हो सकती है। उसका युद्ध क्षेत्र में जाना, दोनों को समझाना, पिता-पुत्र का गले मिलना, पिता दधिवाहन का भी दीक्षित बनना आदि विवरण आपके समक्ष पूर्व में आ चुका है।

□ महासती पद्मावती द्वारा स्वात्म-कल्याण

युद्ध में अपने पति राजा दधिवाहन व अपने पुत्र करकण्डू को धर्मोपदेश दे, युद्ध बन्द करवाकर महासती पद्मावती ने अपना शेष जीवन जिनशासन की सेवा व आत्म-साधना में व्यतीत किया। ज्ञान-ध्यान, तप-संयम आदि से आत्मा को भावित कर स्वात्मा का कल्याण किया।

[सती मृगावती]

ये भी राजा चेटक की पुत्री थीं। परिणय इनका कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ हुआ था। वह अत्यन्त सुन्दर, पूर्णतः सुशील और धर्मपरायणा थीं। शतानीक ने इनके अनेक अन्य गुणों को देखकर इन्हें अपनी पटरानी बनाया।

□ अंगुष्ठ देखकर सम्पूर्ण चित्र

कौशाम्बी का एक अद्भुत चित्रकार, जो देव-वरदान के कारण किसी के भी शरीर का कोई एक अंग या किसी अंग का कोई हिस्सा देख लेता तो उसी के सहारे वह उसका सम्पूर्ण सांगोपांग चित्र बना लेता था। कई बार राजदरबार में आता था।

कभी इस चित्रकार ने रानी मृगावती का अंगूठा देखा। उसने अपने वरदान की सहायता से अंगूठे को आधार बनाते हुए रानी का पूरा चित्र बना लिया। चित्र देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह रानी का चित्र नहीं है।

□ चित्र देख अवन्तीपति मोहित

चित्रकार ने वह चित्र अवन्तीपति चण्डप्रद्योतन के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। अनेक गुण थे चण्डप्रद्योतन में, पर एक बड़ा अवगुण यह था कि वह नारी-लोलुप था, काम-पिपासु था, सौंदर्योपासक था। मृगावती के चित्र ने उसे मोहित कर लिया। यद्यपि शतानीक रिश्ते में उसका साढ़ू था, पर उसने मृगावती की प्राप्ति के लिए रिश्ते की मर्यादा को खूँटी पर लटका दिया।

□ मृगावती को प्राप्त करने के लिए कौशाम्बी पर आक्रमण

उसे ज्ञान था कि मेरा यह कार्य लोक विरुद्ध तो है ही, मेरे परलोक को भी बिगाड़ने वाला है, कामी, लम्पट पुरुष इन बातों की परवाह नहीं करते। राजा चण्ड ने कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया।

□ कौशाम्बीपति काल-कवलित

शतानीक का छोटा राज्य, छोटी-सी सेना। वह उज्जयिनी की विशाल सेना का सामना भला कैसे करती? करे तो कब तक ठहर पाती? शतानीक ने कौशाम्बी के प्रवेश द्वार बन्द करा दिये। वह अन्दर रहकर युद्ध का सामना करने लगा पर परिणाम कुछ भी नहीं निकला। शतानीक हिम्मत हार गया। वह चिन्ता, भय एवं घबराहट से रुग्ण हुआ और काल-कवलित हो गया।

□ छह मास तक शोक-पालन

उस समय शतानीक का पुत्र उदयन छोटा था। अतः मृगावती ने साहस व बुद्धि से काम लिया। उसने चण्डप्रद्योतन को कहलाया कि मेरे पति मरण-धर्म को प्राप्त हो गये हैं। लौकिक प्रथा के अनुसार मैं छह माह तक शोक-पालन करूँगी। उसके पश्चात् जैसी स्थिति होगी वैसा कार्य करूँगी।

चण्डप्रद्योतन ने सोचा—‘छह मास पलक झपकते व्यतीत हो जायेंगे। उसके बाद तो इसके पास कोई रास्ता ही नहीं रहेगा।’

उसने घेरा उठा लिया। समय व्यतीत हो जाने पर चण्डप्रद्योतन ने अपने सेवकों को कौशाम्बी भेजा और मृगावती को कहलवा दिया कि छह माह हो चुके हैं। अब अपने वचन के अनुसार तुम यहाँ चली आओ।

□ पुनः कौशाम्बी पर आक्रमण

सन्देश सुनकर मृगावती ने कहा—“आप लोग वापस उज्जयिनी जायें और चण्ड से कहें कि मृगावती शील की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग कर देगी, पर पाप-पथ पर कदम नहीं रखेगी। मैं विधवा हूँ, अतः जीवनभर ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी। मेरे लिए इस जगत् के सभी पुरुष पिता अथवा भाई समान हैं। मैं चण्डप्रद्योतन को भी अपना भाई मानती हूँ।”

सेवकों ने उज्जयिनी आकर राजा को मृगावती का कहा संदेश सुना दिया। चण्ड मृगावती के रूप-सौन्दर्य को भूला नहीं था, अतः उसने पुनः विशाल सेना लेकर प्रयाण किया और कौशाम्बी के बाहर घेरा डाल दिया।

□ तीर्थकर वाणी का प्रभाव : रानी मृगावती दीक्षित

संयोग से तभी प्रभु महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कौशाम्बी पधारे। तीर्थकरों का अतिशय होता है कि वे जहाँ विराजते हैं या विचरण करते हैं, वहाँ के पशु-पक्षी, नर-नारी सभी आपसी वैर-विरोध भूल जाते हैं। चण्ड भी भूल गया कि वह मृगावती से युद्ध करने आया है। वह साधारण प्रभु-भक्त की तरह प्रभु-दर्शनार्थ गया। रानी मृगावती भी अपने पुत्र के साथ प्रभु के दर्शनार्थ वहाँ आईं। इन दोनों ने प्रभु का जनकल्याणी उपदेश सुना। मृगावती का हृदय उस उपदेश को सुनकर संसार-विरक्त बन गया। चण्डप्रद्योतन पर भी प्रभु वाणी का प्रभाव पड़ा और उसके मन में आये पाप विचार नष्ट हो गये।

□ शुद्ध संयमाराधना

बन्धुओं! रानी मृगावती दीक्षित बन साध्वी मृगावती हो गईं। चण्डप्रद्योतन ने छोटे से उदयन को कौशाम्बी के राजसिंहासन पर बिठाया। राजतिलक हुआ, तिलकोत्सव हुआ। जब तक चण्ड जीवित रहा, उसने उदयन की हर तरह से सहायता की, उसे पूर्ण संरक्षण प्रदान किया।

सती मृगावती महासती बनकर विचरण करने लगीं। महासती चन्दनबाला की आज्ञा में विचरते हुए वह शुद्ध भाव से कठिन संयम-साधना करते हुए उग्र तपादि करने लगीं।

एक समय फिर कभी प्रभु महावीर का कौशाम्बी पदार्पण हुआ। प्रवर्तिनी साध्वी प्रमुखा महासती चन्दनबाला व महासती मृगावती भी कौशाम्बी पधारीं। दोनों एक उपाश्रय में अपनी शिष्याओं के साथ धर्माराधन करते हुए समय व्यतीत करने लगीं। वे नियत समय पर प्रभु-दर्शन को जातीं और उसका धर्मोपदेश सुन पुनः अपने उपाश्रय में आ जातीं।

□ सती मृगावती को केवल्य-प्राप्ति

एक दिन मृगावती को प्रभु से ज्ञान-चर्चा करते हुए बहुत देर हो गई। समवसरण में सूर्य-विमान की उपस्थिति के कारण उन्हें दिन अस्त होने का भी ध्यान नहीं रहा। वे उपाश्रय पहुँचीं तब तक सूर्यास्त हो गया था, रात आने लगी थी। प्रवर्तिनी चन्दनबाला ने तब उन्हें उपालंभ दिया। मृगावती ने सरल भाव से दोष स्वीकार कर क्षमायाचना की और अपनी इस भूल के लिए मन ही मन पश्चात्ताप किया। शयन का समय हो गया, सभी सतियाँ शयनलीन हो गईं, पर मृगावती की आँखों में नींद नहीं। वे तो पश्चात्ताप में डूबी ही रहीं। घोर पश्चात्ताप करने लगीं वे। ज्यों-ज्यों रात बढ़ती गई, उनके मन में उठने वाले पश्चात्ताप के भाव भी श्रेणी चढ़ने लगे। पश्चात्ताप करते-करते उसी रात उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

□ गुरुणी जी को सर्पदंश से बचाना

रात अँधेरी थी। उपाश्रय में एक लम्बा काला विषधर महासती चन्दनबाला की तरफ बढ़ रहा था। केवलज्ञान के आलोक में मृगावती को घुप्प अँधेरे में भी वह सर्प दिखाई दिया। सर्प की राह में चन्दनबाला का हाथ आने वाला था, चलते हुए सर्प के लिए यह रुकावट थी और शायद तब सर्प उन्हें काट लेता।

बन्धुओं! मृगावती ने सहज भाव से वह हाथ ऊपर उठा लिया। सर्प तो निकल गया, पर गुरुणी जी जाग गये। मृगावती से इस तरह स्पर्श का, हाथ उठाने का, जगाने का कारण पूछा। मृगावती ने साँप की बात सुना दी और निद्रा में विघ्न डालने के लिए क्षमायाचना की।

□ गुरुणी का शिष्या को वन्दन

अब चन्दनबाला के चकित होने का अवसर आया। इतने घोर अंधकार में जब अपना हाथ भी नहीं दिखाई देता, मृगावती को सर्प और मेरा हाथ कैसे दिखाई दिया? पूछा मृगावती से—“क्या किसी ज्ञान की प्राप्ति हुई है?” मृगावती ने सहज भाव से स्वीकृति में सिर हिला दिया। चन्दनबाला ने पूछा—“प्राप्त ज्ञान प्रतिपाति है या अप्रतिपाति?” मृगावती ने कहा—“आपकी कृपा से अप्रतिपाति है।”

महासती चन्दनबाला ने समझ लिया कि इन्हें केवलज्ञान हो चुका है। वे उठीं, उन्होंने मृगावती को वन्दन करना चाहा, पर सती मृगावती ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया।

□ सती मृगावती को मोक्ष-प्राप्ति

केवली-पर्याय में साधना करते हुए आयुष्य पूर्ण होने पर महासती मृगावती ने मोक्ष गति प्राप्त की।

[सती शिवा]

राजा चेटक की पुत्री थीं शिवा। परिणय उसका उज्जयिनी-नरेश चण्डप्रद्योतन के साथ हुआ। रानी शिवा अत्यन्त बुद्धिमती थीं, रूपवती थीं और थीं पतिव्रता। स्वयं राजा चण्डप्रद्योतन अनेक बार गम्भीर समस्या आ जाने पर उनकी सलाह लिया करते थे। चण्डप्रद्योतन ने अनेक अन्य राजकुमारियों से भी विवाह किया था, पर वे सर्वाधिक मान शिवादेवी को देते थे। समय आने पर चण्डप्रद्योतन ने उन्हें अपनी पटरानी घोषित किया।

□ शिवा के सौन्दर्य में भटका महामंत्री का मन

उज्जयिनी के तत्कालीन मंत्री भूदेव को चण्डप्रद्योतन बहुत मानते थे। दोनों में गहरा प्रेम था। राजा को मंत्री पर अटल विश्वास था। अतः भूदेव राजा के साथ रनिवास में भी आया करते थे।

सुन्दरता आकर्षक का केन्द्र-बिन्दु है। स्त्री-सौन्दर्य के आगे तो अच्छे-अच्छे चरित्रवान पुरुषों का मन भी डगमगा जाता है। रानी शिवादेवी के सौन्दर्य ने भूदेव को आकर्षित किया। उसका ईमान, उसका धर्म, उसका चरित्र डगमगा गया। मन में उसके पाप-भावना ने जन्म ले लिया। अवसर देखकर उसने एक दासी को भारी प्रलोभन दिया और अपना पापमय अशुभ सन्देश रानी शिवादेवी तक पहुँचाया।

□ शिवादेवी की फटकार

रानी ने उस दासी को बहुत बुरी तरह डाँटा-फटकारा। उसे आश्चर्य था कि इस दासी की इतनी हिम्मत हुई कैसे?

रानी के तेवर देखकर दासी घबराई। रानी का क्रोध उसका भारी अहित कर सकता है, अनर्थ हो सकता है, मरण भी हो सकता है—इन विचारों से दासी काँप उठी। उसने शिवादेवी से बार-बार क्षमायाचना की और संकल्प लिया कि भविष्य में कभी ऐसा बुरा कार्य नहीं करेगी।

उधर भूदेव तो कामांध बन चुका था। उसे किसी अच्छे अवसर की प्रतीक्षा थी। उसका मन कह रहा था कि 'एक बार हिम्मत कर रानी से एकान्त में मिल लिया जाये तो कार्य सिद्ध हो जायेगा, रानी इनकार नहीं कर सकेगी। क्या कमी है मुझमें? स्वस्थ-सुन्दर शरीर है, शक्तिशाली हूँ, बुद्धिमान हूँ, नीति-निपुण हूँ और सबसे बड़ी बात कि मैं इस राज्य का मंत्री हूँ।'

□ महामंत्री भूदेव द्वारा 'बीमारी' का बहाना

जिस तरह के अवसर की उसे प्रतीक्षा थी, ऐसा अवसर भी उपस्थित हो गया। राजा चण्डप्रद्योतन को राज्य के अति आवश्यक कार्यवश राज्य से बाहर जाना था। मंत्री को साथ चलने की बात कही तो मंत्री ने बीमारी का बहाना कर दिया। उसे तो उज्जयिनी में रहकर अपने काम-विचार को सफल बनाना था।

चण्डप्रद्योतन भला क्यों अविश्वास करता? मंत्री को सचमुच बीमार मानकर वह अनेक अन्य राज्याधिकारियों व सेवकों के साथ राज्य से बाहर चला गया। "राजा चला गया है"—जानकर मंत्री ने सन्तोष की साँस ली।

□ भूदेव का काम निवेदन

दूसरे ही दिन वह रनिवास में पहुँचा और सीधा रानी शिवादेवी के महल में चला गया। रोक-टोक थी नहीं। जानते थे कि मंत्री जी राजा जी के साथ आते रहते हैं। भूदेव मंत्री रानी शिवादेवी से मिला। कुछ देर इधर-उधर की बातें कर उसने रानी के रूप की प्रशंसा के पुल बाँधने शुरू किये और संकेत-संकेत में अपने अशुभ इरादों को प्रकट कर दिया।

□ शिवा की कड़ी फटकार

रानी शिवादेवी तो दृढ़धर्मी और पूर्ण पतिव्रता थीं। मंत्री के मुँह से अपनी प्रशंसा और सांकेतिक अशुभ विचार को समझकर उसे राज्य के मंत्री पर तरस भी आया और क्रोध भी। अपने क्रोध को दबाकर रानी ने भूदेव को उसके अनर्गल प्रलाप एवं अशुभ विचारों के लिए फटकारा। पाप के रास्ते पर चलने से होने वाली बेइज्जती, बदनामी और अशुभ कर्मबन्ध के अशुभ फल का भय दिखाते हुए उसे राजमहल से तुरन्त बाहर निकल जाने को कहा।

□ पापी के पैर कच्चे

कामांध और पापी व्यक्ति के पैर नहीं होते। रानी की फटकार सुन मंत्री तुरन्त महल के बाहर निकल राजभवन के मुख्य द्वार से होते हुए राजपथ पर आ गया। विचार करने लगा—'रानी ने राजा से शिकायत कर दी तो मेरी क्या गति होगी? राजा तो मुझे फाँसी दिलवा देगा। क्या करना चाहिए मुझे?'

□ भयभीत भूदेव की दुरवस्था

भूदेव मंत्री का अन्तर् काँप उठा। भय से चेहरा जर्द हो गया। बड़ी मुश्किल से अपने घर पहुँचा। शरीर जैसे शक्तिहीन बन चुका था। पलँग पर निढाल-सा लेट गया। उसे लगा कि वह बीमार पड़ चुका है, उसके शरीर का खून सूख चुका है, वह पूर्णतः शक्तिहीन और अक्षम बन चुका है।

तभी उसे विचार आया—‘राजा के वापस आने पर रानी ने यदि यह बात प्रकट कर दी तो क्या होगा ? राजा मेरी जो दुर्गति करेगा, वह तो मरण से भी बढ़कर होगी। फिर मैं क्या करूँ ?’

बन्धुओं ! मरने का साहस उसमें था नहीं, राज्य छोड़कर जाना भी उसे असम्भव लग रहा था। उसने सोच लिया—‘अब जैसा होगा, देखा जायेगा।’

□ राजा द्वारा बुलावा, भयभीत मंत्री का बहाना

राजा चण्डप्रद्योतन अपना कार्य सिद्ध कर पुनः उज्जयिनी पहुँचा। राज्यसभा जुड़ी तो ज्ञात हुआ कि मंत्री अनुपस्थित है। बिना मंत्री राजा का मन कैसे लगता ? भेजा सेवक को मंत्री के घर ! कहलवाया कि राज्यसभा में आना है अभी !

घर पर कर्मचारी बुलाने गये तो मंत्री शंकित हो गया। शंकित होना स्वाभाविक था। वैसे ही मारवाड़ में एक कहावत प्रसिद्ध है—“चोर रे मन में चाँदणो।” राजकर्मचारियों से सुना मंत्री ने कि राजा ने तुरन्त बुलाया है। बीमार तो था ही। कह दिया उन्हें कि “मैं बीमार हूँ। चल-फिर नहीं सकता। अतः ठीक होने पर आऊँगा।”

□ रुग्ण मंत्री का स्वास्थ्य पूछने गये राजा और रानी

सेवकों ने आकर राजा को बता दिया। राजा को मंत्री बिना सब सूना-सूना लग रहा था। विचार किया—‘अधिक बीमार है तो मुझे भी देखना चाहिए, वहाँ जाकर सार-सँभाल लेनी चाहिए मंत्रीवर की।’ राजा चण्ड ने अपनी पटरानी से मंत्री के बीमार होने व उसे देखने के लिए स्वयं जाने की बात कही और पूछा—“क्या आप भी चलेंगी मेरे साथ ?”

रानी शिवादेवी ने स्वीकृति दे दी। दोनों गये मंत्री के घर। मंत्री ने सुना कि राजा आये हैं उसके घर। सुनकर ही उसकी सिटी-पिट्टी गुम हो गई। आने वाली स्थिति की कल्पना कर उसका रोम-रोम रोने लगा। भयाधिकता से वह बेजान, निष्प्राण, संज्ञाहीन-सा हो गया। सोच लिया था उसने कि अब तो मैं गया जिन्दगी से।

रानी शिवादेवी ने मंत्री के अशुभ विचार और पापपूर्ण कृत्य की बात अभी राजा से कही नहीं थी। अतः राजा तो पूर्व की भाँति ही मन में मंत्री के प्रति प्रेम व सहानुभूति के भाव लिए था। पहुँचे वे दोनों मंत्री के पास। उसको रुग्ण देखा, पलँग पर सोए देखा तो राजा बड़ा व्यथित हुआ। जाने कैसे उसके हाथ मंत्री के शरीर की ओर बढ़े। उसने मंत्री के सिर पर हाथ फेरा, नब्ज देखी। बीमारी क्या है? उसकी समझ से बाहर की बात थी। वैसे भी मंत्री को बीमारी थी ही क्या? प्रेमाधिकतावश राजा स्वयं अपने हाथों से मंत्री की सेवा-शुश्रूषा में लग गया।

□ मंत्री भूदेव का हृदय-परिवर्तन

मंत्री की सेवा में स्वयं अपने पति को लगे देख रानी शिवा ने भी आगे बढ़कर उस रुग्ण की सेवा शुरू की। मंत्री ने यह देखा तो उसने एक गहरी साँस ली। डाँवाडोल चित्त ठिकाने पर आ गया। वह रानी के विषय में विचार करने लगा—‘ये कितनी महान्, कितनी विशाल हृदया हैं! धिक्कार है मुझे! मैंने ऐसी देवी के साथ इतना अशुभ विचार किया। मैं घोर पापी हूँ, अभागा हूँ, पुण्यहीन हूँ। मुझे इस महामानवी से क्षमा माँगनी चाहिए। मुझे अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए।’

□ रानी शिवा से मंत्री द्वारा क्षमायाचना

बन्धुओं! मंत्री भूदेव से आखिर रहा नहीं गया। वह उठा, पलँग से नीचे उतर रानी शिवादेवी के पैरों में गिर पड़ा और अपने कुकृत्य के लिए क्षमायाचना करने लगा। वह बोला—“मैं पापी हूँ। मैंने आपके प्रति बहुत ही अशुभ व्यवहार किया है। मुझे इसके लिए बहुत दुःख है। मैं पश्चात्ताप की आग में जल रहा हूँ। आप सती हैं, सतवती हैं। मैंने आपको बुरी नजर से देखा, यह मेरा दुर्भाग्य है। मैं स्वयं तो धर्मभ्रष्ट हूँ ही, आपको भी मैं धर्मभ्रष्ट करना चाहता था। मेरी मति बिगड़ गई थी। अपने सत् पर, अपने धर्म पर दृढ़ रहकर आपने मुझे भी बचा लिया। आपका यह अहसान मैं जन्म-जन्मान्तर तक भी नहीं भूल पाऊँगा। हे बहन! इस अधम भाई द्वारा किये गये अपराध के लिए इसे क्षमा प्रदान करें।”

□ शिवा का सन्देश : धर्माचरण करें

रानी शिवादेवी ने मंत्री के शब्दों में सच्चा पश्चात्ताप देखकर कहा—“आप तो मेरे भाई ही थे और भाई ही हैं। अच्छा हुआ आप पाप के गहन गर्त में गिरने से बच गये। अब भी सँभल जाइये। अनमोल इस मानव-जीवन को व्यर्थ मत गँवाइये। शेष रहे जीवन में धर्माचरण में दृढ़ बनिए।”

सुन रहा था चण्डप्रद्योतन। सारा प्रसंग उसकी समझ में आ गया था। जहाँ उसे दुःख हुआ कि मेरे प्रिय मंत्री ने ऐसा कुकृत्य किया, वहीं उसे खुशी भी थी कि अब वह आग से निकले सोने की तरह शुद्ध, शुभ्र बन गया है।

राजा व रानी दोनों चले गये राजमहलों में।

□ नगर में आग : देव-वाणी

इस घटना के कई वर्ष बाद एक दिन नगर में अचानक आग लग गई। आग धीरे-धीरे बढ़ती हुई विकराल रूप लेने लगी। नगर के लोगों, राज्याधिकारियों आदि ने अग्निशमन के अनेक उपाय किये, पर आग बुझने की जगह बढ़ती गई, फैलती गई। सारे प्रयत्नों के निष्फल हो जाने पर राजा, रानी, मंत्री, अधिकारी, श्रेष्ठीजन व नागरिक सभी चिन्तित थे, परेशान थे, व्यथित थे।

तभी आकाशवाणी हुई। सभी ने सुना—“यदि कोई सती स्त्री, शीलवन्ती नारी अपने हाथ में जल लेकर चारों तरफ छिड़के तो यह आग शान्त हो जायेगी।”

□ रानी शिवा के सतीत्व ने की आग से नगर की रक्षा

अनेक सम्भ्रांत घरों की नारियाँ आगे आईं। सबने एक-एक कर अपने-अपने हाथ में जल लेकर आग बुझाने हेतु चारों दिशाओं में छिड़का, पर बन्धुओं ! आग नहीं बुझनी थी, नहीं बुझी।

रानी शिवादेवी ने सम्पूर्ण नगर को कष्ट में देखा तो महल की छत पर चढ़ गई। हाथ में पानी लेकर आग बुझाने हेतु चारों दिशाओं में छिड़का। कुछ ही क्षणों में आग शान्त हो गई। नगर जलने से बच गया। हजारों लोगों के प्राण बचे, लाखों-करोड़ों की सम्पदा बची। नगर के घर, भवन, संस्थान आदि सुरक्षित रह गये।

नगर-जनों में देवी शिवा के शील की प्रशंसा हुई। सभी ने मुक्त कण्ठ से उनके सत्-शील को सराहा। देवलोक के देवों ने भी शिवादेवी की शील की प्रशंसा करते हुए उनका यशगान किया।

□ रानी शिवा दीक्षित : संयम-पालन : मुक्ति

इस घटना के पश्चात् कभी एक दिन भगवान महावीर का उज्जयिनी में पदार्पण हुआ। राजा-रानी तथा अनेक नगर-जन प्रभु-वाणी का अमृतपान करने गये। रानी शिवादेवी का मन प्रभु का उपदेश सुन संसार से विरक्त बन गया। पति आज्ञा लेकर उन्होंने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। श्रमणी बनकर श्रमणीधर्म का उन्होंने अत्यधिक सावधानी से पालन

किया। निर्दोष संयमाराधना एवं कठिन तपश्चरण कर उन्होंने अपने आठों कर्म क्षय कर मोक्ष गति प्राप्त की।

ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा तथा महासती चेलना

[ज्येष्ठा]

बन्धुओं ! राजकुमारी ज्येष्ठा राजा चेड़ा (चेटक) की पाँचवीं कन्या थीं। चेड़ा ने इनका विवाह सिद्धार्थ राजा के बड़े पुत्र तथा भगवान महावीर के बड़े भ्राता नन्दीवर्धन के साथ किया। विवाह के पश्चात् इनके जीवन-प्रसंगों का उल्लेख आगमों में नहीं मिलता।

[सुज्येष्ठा]

महाराज चेटक की छठी पुत्री थीं सुज्येष्ठा। अति सुन्दर, अति मनोरम, अति मनमोहक रूप था इस राजकुमारी का। युवा राजकुमारी अपने पिता की तरह ही जिनधर्म में विशिष्ट दृढ़ रुचि रखने वाली थीं।

□ अपमानित अनुभव किया अपने को अतः..... !

एक बार शौच-धर्म (शरीर शुद्धि में धर्म) मानने वाली एक प्रवर्तिका—गुरुणी का अन्तःपुर में आना हुआ। उसने वहाँ राजकुमारियों—राजरानियों आदि को शुचि-मूल धर्म का उपदेश दिया, पर जिनधर्म में श्रद्धा रखने वाली सुज्येष्ठा ने उस प्रवर्तिका के उपदेश को, उसके शुचि-धर्म मूलक सिद्धान्तों को निस्सार बताते हुए उनका खण्डन किया। राजकुमारी सुज्येष्ठा का कथन सभी को प्रिय व सारगर्भित लगा। प्रवर्तिका जिस उद्देश्य से आई, वह निष्फल रहा तो उसने अपने आपको अपमानित महसूस किया। राजकुमारी के प्रति उसके मन में द्वेषाग्नि भभक उठी। उसने कोई ऐसा उपाय करने का मन में निश्चय किया जिससे राजकुमारी की शादी किसी जिनानुयायी राजकुमार से न होकर, किसी जिनेतर धर्मानुयायी राजा या राजकुमार से हो।

□ वस्त्रफलक पर सुज्येष्ठा का चित्रांकन

अपने निश्चय को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए शौच धर्म प्रवर्तिका ने एक योजना बनाई। योजना के क्रियान्वयन के लिए सबसे पहले उसने आँखें मूँदकर, चित्त को एकाग्र बनाकर मानसपटल में राजकुमारी सुज्येष्ठा के रूप-स्वरूप का खाका बनाया। पूर्ण रूप से उसका एक-एक अंग-प्रत्यंग जब स्मृतिपटल पर आ गया तो एक वस्त्र-खण्ड पर रंगों को आजमाया। रेखाएँ एक के बाद एक खिंचती चली गईं। रेखाचित्र बन गया तो उस चित्रफलक

में सुन्दर-आकर्षक रंग भरे। पूर्ण चित्र निर्मित होने पर अनेक बार, अनेक कोणों से उसे निहारा। पूर्ण संतुष्टि मिलने पर वह राजगृह पहुँची।

□ चित्र देख श्रेणिक मुग्ध

एक दिन वह महाराज श्रेणिक से मिली और एकान्त देखकर अपने झोले से चित्र-फलक निकाल उनके सम्मुख उसे खोल दिया। श्रेणिक उस चित्र की ओर आकृष्ट तो हुआ सो हुआ पर चित्र में विचित्र नारी के रूप ने उसके मन को बेचैन बना दिया। परिचय पूछने पर चित्रांकन करने वाली उस शौच-धर्म प्रवर्तिका ने परिचय बता दिया।

□ श्रेणिक द्वारा चेटक से सुज्येष्ठा की माँग : चेटक का इनकार

श्रेणिक ने अपना एक दूत वैशाली-नरेश के पास भेजा और सुज्येष्ठा की माँग की, पर राजा चेटक इस सम्बन्ध के लिए तैयार नहीं हुआ। चेटक ने दूत के साथ कहलाया— “प्रथम तो हम लोग हैहयवंशी हैं, जबकि राजा श्रेणिक वाधी कुल के हैं। इन विषम कुलों में यह सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। फिर मैं जिनमतानुयायी हूँ, जबकि श्रेणिक अभी जैनधर्म का क, ख भी नहीं जानता। (उस समय राजा श्रेणिक बौद्धधर्मानुयायी था) अतः जाकर मेरी बात अपने राजा को समझा देना।”

□ अभयकुमार ने किया उपाय

दूत से चेटक की अस्वीकृति पाकर श्रेणिक निराश हो गया। बुद्धिनिधान अभयकुमार से अपने पिता की उदासी नहीं देखी गई। कारण का पता लगाकर उसने अपनी चतुरता से राजकुमारी सुज्येष्ठा के पास महाराज श्रेणिक का चित्र भिजवाया और उनकी इतनी प्रशंसा पहुँचाई गई कि सुज्येष्ठा अपना दिल राजा श्रेणिक को दे बैठी। अभयकुमार को ज्ञात हुआ तो उसने एक योजना बनाकर सुज्येष्ठा के पास पहुँचा दी। योजनानुसार मगध के सीमांत प्रदेश से वैशाली के राजमहलों तक एक सुरंग खुदवाकर निश्चित समय पर श्रेणिक को सुरंग की राह आना व सुज्येष्ठा को उसके साथ जाना था। सुज्येष्ठा ने इसकी स्वीकृति दे दी।

□ सुज्येष्ठा के साथ चलना भी भागने को तत्पर

चेड़ा की सातवीं पुत्री चलना और सुज्येष्ठा में आपस में अत्यधिक स्नेह था। सुज्येष्ठा ने अपनी छोटी बहन से राजा श्रेणिक के प्रति मन से समर्पण व उनके साथ जाने की सम्पूर्ण योजना कह दी। इस पर चलना ने कह दिया— “जहाँ आप, वहीं चलना। मैं भी आपके साथ चलूँगी।” सुज्येष्ठा उसे साथ ले जाने के लिए सहमत हो गई।

निश्चित दिन सुरंग में श्रेणिक आये। सुज्येष्ठा ने चेलना से कहा—“तू सुरंग के मुँह पर प्रतीक्षा कर, मैं अपने रत्नाभूषणों की मंजूषा लेकर आ रही हूँ।”

□ चेलना चली गई : सुज्येष्ठा रह गई

सुज्येष्ठा ने बहुत देर कर दी। उधर श्रेणिक के साथ आये अंगरक्षकों ने महाराज से कहा कि देर बहुत हो गई है, अतः क्या घट जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता। भलाई इसी में है कि आप शीघ्र सुरक्षित यहाँ से निकल जायें। तब श्रेणिक चेलना को साथ लेकर चल दिया।

□ बचाओ ! दौड़ो !! कोई है ?

सुज्येष्ठा जब सुरंगद्वार पर पहुँची तो वहाँ कोई नहीं था। उसने समझ लिया कि चेलना श्रेणिक के साथ चली गई है। हताश और निराश बनी सुज्येष्ठा पुनः अपने कमरे में रत्नमंजूषा रखने गई। वापस उसी स्थान पर आकर चिल्लाई—“बचाओ ! दौड़ो !! अरे कोई है ? मेरी बहन को कोई उठा ले जा रहा है।”

चिल्लाहट सुन पूरे महल में हलचल मच गई। राजा चेटक को भी सन्देश मिला। वह भी आया वहाँ। अपने शस्त्र मँगाए और सज्जित हो सुरंग में प्रवेश करने लगे, तभी चेटक के अंगरक्षक, सारथी, अन्य योद्धा भी आये। महाराज को वहीं रोक, उन्होंने अपहरणकर्ता का पीछा किया। काफी दूर आने पर उनका श्रेणिक के अंगरक्षकों (सुलसा के बत्तीस पुत्रों) से सामना हुआ। उन्होंने महाराज को आगे भेज दिया और स्वयं वहीं रुके और चेटक के सैनिकों से डटकर मुकाबला किया।

□ चेलना बन गई मगध की महारानी

बंधुओं ! एक-एक कर वे सभी चेटक के अंगरक्षकों द्वारा मार डाले गये, पर उनका संघर्ष करने का उद्देश्य सफल रहा। चेटक के सारे सिपाही यहाँ उलझ गये। जितने समय तक संघर्ष चला श्रेणिक सुरक्षित मगध सीमा में पहुँच गया। वहाँ ज्ञात हुआ कि यह सुन्दरी राजकुमारी सुज्येष्ठा नहीं, अपितु उसकी छोटी बहिन चेलना है। श्रेणिक ने यह जानकर भी उसकी अपूर्व सुन्दरता को सुज्येष्ठा से अधिक आँकते हुए उससे गांधर्व विवाह कर लिया।

□ सुज्येष्ठा ने श्रमणी बन किया आत्म-कल्याण

सुज्येष्ठा को इस घटना के पश्चात् संसार से विरक्ति हो गई। उसने राजा चेटक की अनुमति लेकर आर्या-प्रमुखा चन्दनबाला से प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

साध्वी सुज्येष्ठा ने अपना शेष जीवन शुद्ध संयमाचार का पालन करते हुए व्यतीत किया। रत्नत्रय की सम्यक् आराधना की। विभिन्न प्रकार के उग्र तपश्चरण किए और इस तरह अपनी आत्मा का कल्याण किया।

□ मतभेद अतः सिद्धान्तों का वाक्युद्ध

बंधुओं! चेलना का विवाह श्रेणिक से हो चुका था। श्रेणिक उस समय बौद्धानुयायी था और चेलना थी प्रभु महावीर की अनन्य उपासिका, जिनमतानुयायी। दोनों अपने-अपने मत में, पक्ष में, धर्म में, मान्यता में, सिद्धान्त में अटल थे। घण्टों बहस होती थी उन दोनों में। श्रेणिक बौद्धों व बौद्ध-भिक्षुओं के पक्ष में अनेक तर्क रखता और जैन मान्यताओं, जैन संतों की खिल्ली उड़ाता। चेलना समभाव से अपने अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हुए जिन सिद्धान्तों की गरिमा का बखान करती।

□ मतभेद रहा पर मनभेद नहीं हुआ

बंधुओं! बहस भले ही प्रतिदिन चलती, घण्टों तक तर्क-वितर्क चलते। पर झुकता कोई नहीं था। इस पर भी दोनों के दाम्पत्य प्रेम में कोई अन्तर नहीं आया, कोई दरार नहीं आई, कोई दीवार खड़ी नहीं हुई। कई बार राजा श्रेणिक ने जैन-संतों के ज्ञान, ध्यान आदि की परीक्षा ली। सभी परीक्षाओं में वे खरे उतरे। अपने बौद्ध गुरुओं की श्रेष्ठता भी उसने चेलना के सामने प्रदर्शित करनी चाही। पर चेलना की सम्यग्दृष्टि और विवेक बुद्धि के कारण बौद्ध गुरु असफल रहे। अब श्रेणिक बार-बार चिन्तन करने लगा—‘तो क्या जैनधर्म सत्य-तथ्य के अधिक निकट और श्रेष्ठ है?’ फिर मन ही मन निर्णय लेता—‘शीघ्रता में किसी प्रकार की सम्मति नहीं बनानी चाहिए।’

□ श्रेणिक और अनाथी मुनि

एक दिन श्रेणिक मण्डिकुक्षि उद्यान में भ्रमण के लिए गया। घूमते हुए श्रेणिक की दृष्टि उसी उद्यान के एक वृक्ष तले ध्यानस्थ मुनि पर पड़ी। जिज्ञासावश वह उनके निकट चला गया। आत्म-समाधि में लीन उस तरुणावस्था के मुनि को वह देखता ही रह गया। आह! कैसी दिव्य शारीरिक कान्ति! कितने सुन्दर अंग-प्रत्यंग!! कैसी भव्य सुकुमारता!!!

सोचा श्रेणिक ने—‘लगता है किसी वैभव सम्पन्न ऐश्वर्यशाली घराने का युवक है यह, पर इस भोग की उम्र में योग लेना आश्चर्य की बात है? कैसा फूल जैसा सुन्दर, सुकुमार

इसका शरीर है। फिर किस कारण से इस स्वर्णिम देह-यष्टि को संयम की ज्वाला में झौंक रहा है।’

श्रेणिक ने मुनि से क्या कहा? मुनि ने उसका क्या समाधान दिया? दोनों में क्या वार्त्तालाप हुआ? यह सब अनाथी मुनि प्रसंग में आप सुन चुके हैं। अतः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं। (बड़ी साधु वन्दना, प्रवचन पुस्तक के भाग-२ में प्रवचन सं. २५ के पृष्ठ ४० से ४५ देखें।)

□ श्रेणिक का हृदय-परिवर्तन : जिनानुयायी बना

बन्धुओं! श्रेणिक ने मुनिवर से अनाथ-सनाथ का रहस्य सुना, समझा उसे और हृदय में उतार लिया। यही क्षण था वह, जिस क्षण में राजा श्रेणिक का अन्तर्मन परिवर्तित हुआ। वह अब बौद्ध-मत से जिन-मत का दृढ़ अनुयायी बन चुका था। ध्यान रखना आप सभी इस बात का कि सोचकर, मनन-चिन्तन द्वारा समझकर, हृदय में धारण किये हुए विचार, संकल्प, व्रत सबल होते हैं, सशक्त होते हैं। आजीवन दृढ़ बने रहते हैं। यही हुआ श्रेणिक के साथ। वे तीर्थंकर महावीर के अनन्य उपासक, जिनधर्म के प्रति सुदृढ़ आस्थावान और सत्यान्वेषक व सत्य ग्रहणकर्त्ता बन गये।

□ महारानी चेलना और उनके पुत्र

महारानी चेलना के चार पुत्र थे। सर्वप्रथम कूणिक जो श्रेणिक राजा का उत्तराधिकारी बना और जो जैनधर्म का अविचल अनुयायी था, रग-रग में जिसके जिनधर्म के प्रति प्रेम की धारा प्रवाहित थी। तीर्थंकर महावीर का ऐसा अनुपम भक्त कि सूर्योदय के बाद जब तक प्रभु के विहार, सुखसाता आदि का सन्देश नहीं मिल जाता, मुँह में अन्न-पानी नहीं डालता था। दूसरा विहल्लकुमार था जिसे राजा श्रेणिक ने मगध राज्य का सर्वश्रेष्ठ हस्ति सेंचनक तथा देवनामी बंकचूल अठारह लड़ी वाला अनुपम हार दिया। सेंचनक हस्ति पर सवार हो, बंकचूल हार धारण कर जब वह राजगृही के राजपथों से निकलता तो लगता था कि देवलोक से देवेन्द्र की सवारी निकल रही है। कालान्तर में इन्हीं दो अमूल्य वस्तुओं के लिए कूणिक ने अपने नाना चेड़ा पर ससैन्य उस समय आक्रमण किया था, जब माँगे जाने पर भी ये दोनों वस्तुएँ कूणिक को नहीं दीं विहल्लकुमार ने और वह अपने नाना चेड़ा राजा की शरण में चला गया था। तीसरे कुमार विहायस का आगमों में कोई विशेष प्रसंग नहीं मिलता। चौथे थे कुमार नन्दीषेण। इनके विषय में पिछले दिनों आपने सुना है, यहीं पर बड़ी साधु वन्दना के प्रवचनों में। कड़ी संख्या ९८ के विवेचन में इनका पूर्ण प्रसंग बताया जा चुका है।

□ प्रभु-दर्शन : निर्वस्त्र मुनि के शीत-परीषह का चिन्तन

हिंसा का पथ त्यागकर महाराज श्रेणिक ने अहिंसा धर्म ग्रहण किया, यह देख महारानी चेलना अत्यन्त संतुष्ट थी। उसने पूर्ण धैर्य एवं शान्ति के साथ अपने प्रत्येक बहुमूल्य जीवन-क्षणों को धर्म साधना में लगाना प्रारम्भ कर दिया।

राजगृही में एक बार प्रभु महावीर का आगमन हुआ। श्रेणिक महाराज, चेलना महारानी तथा राजपरिवार के अनेक सदस्य प्रभु-वन्दन को गये। पौष का महीना। ठिठुराती शीत के दिन। अंग-अंग उस शीत से प्रकम्पित बन जाए ऐसा मौसम। प्रभु-दर्शन कर सभी लौटकर राजमहल जा रहे थे। चेलना रथ में थी। सारथी रथ को सरपट भगाए जा रहा था, तभी चेलना की नजर एक निर्वस्त्र मुनि पर पड़ी। मैदान के मध्य, कहीं कोई ओट नहीं। मुनि ध्यानमग्न, अविचल-अटल। चेलना चकित रह गई। वह तो शीघ्र पहुँचना चाहती थी महल, जिससे गरम-नरम बिस्तर में दो-चार रजाइयाँ डालकर बैठे-सोए, पर ये मुनि ! धन्य हैं इनका परीषह-सहन करने का अतिशय ! कई क्षणों तक वह शीत को भूल अशरीर-भावों में ध्यानस्थ उन मुनि का चिन्तन करती रही।

□ देही-अनासक्त हैं जो साधक, वे धन्य हैं

बंधुओं ! महापुरुषों ने कहा है—अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरन्ति ममाइयं।

अर्थात् अपने शरीर पर भी जिन्हें ममत्व नहीं है, उन देही-अनासक्त साधकों को धन्य है। वस्तुतः वे ही तो सच्चे तपस्वी हैं।

प्रभु महावीर के शिष्यों को जब वे धर्म साधना में रत हों, कलेजे में कँपकँपी पैदा करने वाली शीत होने पर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि हाय ! कैसी शीत है ? इस समय यदि मेरे पास कोई शीत-निवारण का उपाय होता ! शीत रोकने का कोई साधन नहीं मेरे पास। त्वचा की सुरक्षा का कोई उपाय नहीं मेरे पास। क्या करूँ अब मैं ? क्या मैं शीत-निवारण के लिए अग्नि का सेवन कर लूँ, अर्थात् अग्नि जलाकर ताप तप लूँ ?

धन्य हैं वे साधक जो ऐसा नहीं सोचते। शीत ही क्या उष्ण, भूख, प्यास आदि किसी भी परिस्थिति के उपस्थित होने पर वे समभाव में रमण करते हैं, सहनशील बने रहते हैं।

□ “क्या हाल होगा उनका ?”

चेलना उन मुनिवर की सहनशीलता की, उनके भेद-विज्ञान के ज्ञान की, उनके अनासक्त समभाव की चिन्तना करते हुए ही राजमहल पहुँची। सन्ध्या घिर आने तक कितनी ही बार ध्यान में उन मुनिवर का चिन्तन आया। रात्रि में कोमल शय्या पर लेटते हुए भी उन मुनि का

ध्यान आया। आ गई निद्रा। निद्रितावस्था में मखमली रजाई की गरमाहट से निकलकर जो उसका हाथ रजाई से बाहर हुआ तो भयंकर शीत की ठिठुरन अनुभव हुई। तुरन्त उसने अपना हाथ पुनः रजाई में खींच लिया, पर चिन्तन में उसी महापुरुष का विचार उभर आया और मुँह से निकल गया—“धन्य हैं वे ! क्या हाल होता होगा उनका ?”

□ सन्देह का अंकुरण : जला दो रानी का महल

शब्द अस्पष्ट थे, बड़बड़ाहट की ध्वनि थी, शायद अर्द्ध-निद्रा में ही निकले थे ये शब्द, पर संयोग की बात ! श्रेणिक जग रहे थे। सुने ये शब्द ! बन गये मन ही मन शंकाशील ! तो क्या चलना का किसी परपुरुष से लगाव है ? प्रातः आदेश दे दिया मंत्रीवर महामात्य अभय को कि “चेलना का महल जला दिया जाए।” अभय को आदेश देकर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना तुरन्त चल दिये श्रेणिक वहाँ से। अपने प्राणों से प्रिय के प्राण-हनन की आज्ञा तो दी पर कैसे देख सकते थे उसे जलते हुए। चले गये प्रभु महावीर के दर्शनार्थ। वहाँ दर्शन-वन्दन के पश्चात् पूछ लिया प्रभु से कि “ऐसी धर्मनिष्ठ नारी भी क्या इतना गिर सकती है ?”

□ सर्वज्ञ भगवंत द्वारा स्पष्टीकरण से संदेह मिटा

प्रभु तो अन्तर्यामी थे, त्रिकालज्ञ थे, घट-घट के ज्ञाता थे। समझ गये श्रेणिक की भ्रांति को। बोले—“देवानुप्रिय ! तुम्हारी शंका सही नहीं है। चेलना निष्पाप, निष्कलंक, पूर्ण शीलवती है। वह सती है, पतिव्रता है, अटल धर्मनिष्ठ है।” प्रभु ने सम्पूर्ण विवरण सुनाकर राजा श्रेणिक का भ्रम दूर कर दिया।

□ “अभय ! क्या हुआ ?”

श्रेणिक पश्चात्ताप करने लगे कि मुनिवर के लिए चिन्तनशील उस नारी को मैंने दुश्चरित्र समझा। जब उन्हें अपनी भूल का भान हुआ तो गहन चिन्ता ने उन्हें आ घेरा। मैंने कैसा गलत आदेश दे दिया अभय को। उसने यदि आदेश का पालन करने में तत्परता दिखाई तो अनर्थ हो जायेगा। क्षणभर भी विलम्ब किये बिना श्रेणिक राजमहलों की ओर दौड़ चले। अश्व को हवा की गति देते हुए शीघ्र पहुँचे राजमहल। सामने आ रहा था अभय। वह प्रभु के दर्शनार्थ जा रहा था। दोनों का आमना-सामना हुआ। श्रेणिक उतावले-से बोले—“अभय ! क्या हुआ ?”

□ महल तो जल रहा था

अभय ने अश्व घुमाया और जलते हुए महल की ओर संकेत करते हुए कहा—“आप स्वयं देख लीजिए। आपकी आज्ञा-पालन में देरी कैसी ?”

श्रेणिक के मुँह से निकल पड़ा—“पर महारानी चेलन ? वे कहाँ है ?”

अभय मुस्कराया और बोला—“महल में ही।”

□ “चल, हट जा मेरी नजरों से”

राजा श्रेणिक क्रोध से तमतमा गया। अभय की मुस्कराहट किसी विषैले तीर की तरह उनका हृदय वेध गई। गुस्से में बोले—“अरे अधम ! तूने यह क्या किय ? अपनी माता को ही जला दिया। जा, चला जा यहाँ से ! हट जा मेरी नजरों से !

अभय को तो ये शब्द सुनने की उत्कंठा थी ही। श्रेणिक ने कह रखा था उसे कि जिस दिन मैं तुम्हें—“जा, हट जा मेरे सामने से”—कह दूँ तो तुम दीक्षा ले सकते हो। उसने प्रभु महावीर के पास जाकर पंच-महाव्रत रूप श्रमण-धर्म अंगीकार कर लिया।

□ चेलना जीवित : अभय दीक्षित

महाराज श्रेणिक अत्यंत दुःखित मन और गमगीन बने राजमहल पहुँचे। जल रहा था राजमहल। आज्ञा देकर बुझवाया उसे। तभी भीतर से कहीं से—“णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं...” के चिर-परिचित स्वर सुनाई दिये। राजा श्रेणिक सचेत बने। आवाज तो चेलना की है। गए उधर, चेलना ही थी। पता चला कि पुत्र अभय ने माता को पहले ही बाहर निकाल लिया था फिर महल जलवाया था। प्रसन्न हुए, चेहरे से दुःख के बादल छूट गये। तभी संदेश मिला—“अभय ने दीक्षा ले ली है।”

□ महासती चेलना सिद्धगति में

चेलना के पुत्र कूणिक ने जब अपने पिता श्रेणिक को कैद कर लिया और बाद में पुत्र द्वारा मारे जाने की आशंका से श्रेणिक ने आत्महत्या कर ली। कथा भाग में वर्णन मिलता है कि महारानी चेलना विरक्त बन संयमपथ की अनुगामिनी बन गई। श्रमणी-धर्म का निरतिचार पालन करते हुए उत्कृष्ट साधना एवं उग्र तपश्चरण कर उसने आत्मा का कल्याण किया। समाधि संथारापूर्वक अंतिम समय में मरण को महोत्सव बना वे सिद्ध गति की अधिकारिणी बनीं।

आनन्द ही आनन्द !

इत्यादिक सतियाँ गई जमारो जीत-२

(राजीमती, विजया, मयणरेहा, द्रोपदी, दमयन्ती, सीता)

आत्म-बंधुओं !

वीतराग तीर्थकर भगवन्तों की वाणी अक्षय सुख की खानी है, भव्य जीवों को आत्म-ज्ञान प्रदायिनी है और श्रवण के पश्चात् मनन-चिन्तन कर जीवन में उतारने वालों के सर्व कर्मों की नाशिनी है। प्राणीमात्र की ऐसी आत्म-कल्याणी इस वाणी में जन्म-जरा-मरण रूपी संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा पाने के जिन मोक्ष-मार्गों का उल्लेख हुआ है, उनमें से 'शील' का पालन कर मुक्ति प्राप्त करने वाली महानात्माओं का वर्णन आचार्यसम्राट् एकभवावतारी पूज्य श्री जयमल जी म. सा. की बड़ी साधु वन्दना पर चल रहे नियमित प्रवचनों में किया जा रहा है।

□ विज्ञान और आत्म-विज्ञान

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। इस विज्ञान के अध्ययन की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं, पर इस विज्ञान के मूलाधार में जो शाखा है, आज के शिक्षा-जगत् और विज्ञान-जगत् में उसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। आपका प्रश्न होगा कि वह शाखा, वह विज्ञान कौन-सा है? बंधुओं! वह विज्ञान है—आत्म-विज्ञान। बिना आत्मा के विज्ञान का अध्ययन किए मानव ने बाह्य रूप से तो बहुत कुछ पा लिया, पर अन्तर् को खो दिया। विज्ञान के जितने भी साधन मानव की सुख-सुविधाओं के लिए अथवा ज्ञानवृद्धि के लिए वैज्ञानिकों ने बनाये, उन्होंने किसी-न-किसी रूप में मानव की कायिक-वाचिक-मानसिक शक्ति को छीना, क्षीण बनाया है। वाहन बनाकर विज्ञान ने मानव के पैदल चलने की शक्ति छीन ली, केलकुलेटर बनाकर मानव की मौखिक गणना शक्ति को क्षीण बना दिया, पुस्तकें बनाकर मानव की कंठस्थ करने की कला को दबा दिया, ऐसे और भी अनेक उदाहरण हो सकते हैं।

□ विज्ञान से भौतिकता में आसक्ति

आध्यात्मिक ज्ञान और आत्म-विज्ञान की शिक्षा न होने के कारण विज्ञान के इन साधनों को प्राप्त कर मानव आज भौतिकता के प्रति निरन्तर आसक्त और उसके अधीन बनता जा रहा है तथा आध्यात्मिकता से दूर होता जा रहा है। वह भौतिक पदार्थों में सुख की मान्यता वाला बन गया है। यही कारण है कि आत्मा का ज्ञानवृक्ष सूख रहा है, आत्मा की अनंत शक्तियाँ क्षीण हो रही हैं, व्यक्ति आत्म-साधना से निरन्तर विमुख हो रहा है।

□ 'शील'—'आत्म-साधना का एक अंग'

आत्म-साधना का ही एक अंग है—शील। भौतिकता में आसक्ति और शील-पालन, ये दोनों विपरीत ध्रुव हैं, तीन और छह के अंक की तरह हैं। शील व्यक्तिगत रूप से काम-वृत्तियों को मर्यादित व नियन्त्रित करता है, उनका मार्गान्तरण करता है और उन्हें व्यापक प्रेम का रूप देकर प्राणीमात्र के प्रति समर्पण के भाव उत्पन्न करता है।

शील का सामाजिक रूप है—समाज के नियमों का पालन, मर्यादाओं का पालन, सदाचार का पालन।

शील का आध्यात्मिक रूप है—मन एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण, उनका संशोधन, उनकी शक्तियों का ऊर्ध्वीकरण कर स्व में रमणता।

□ इन्द्रियों और मन का नियन्त्रण ही शील है

आत्म-चिन्तन के लिए इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण आवश्यक है, तभी आत्म-ज्ञान की अनुभूति मिल सकती है। इन्द्रियाँ और मन यदि पदार्थ में आसक्त हैं और भौतिक सुख-सुविधाओं की अभिलाषा में दौड़ रहे हैं तो वहाँ शील का रक्षण सम्भव नहीं। सभी इन्द्रियों का तन, मन और वचन से प्रत्येक समय और सर्वत्र संयम रखने का नाम ही 'शील' है।

□ मन-वचन-काया पर नियन्त्रण ही शील है

कायिक अंगों से दुर्विषयों, दुर्व्यसनों व विकारों का सेवन नहीं करना, वचन से दुर्विषयों आदि से सम्बन्धित कोई कथन मुँह से नहीं निकालना और मन से दुर्विषयों आदि के सम्बन्ध में चिन्तन तक न करना ही सम्पूर्ण 'शील' है। मन, वचन और काया में कर्म, क्रिया और कर्ता का सम्बन्ध बताया गया है। अतः सम्पूर्ण शील के लिए मन-वचन-काय इन तीनों योगों पर नियन्त्रण करना चाहिए।

□ शीलवती सतियों का अभिनन्दन

जिन शीलवती गौरवशालिनी आत्माओं ने इन्द्रियों की सर्व दुष्प्रवृत्तियों का निवारण किया, चिन्तन से भी उन प्रवृत्तियों सम्बन्धी विचारों को दूर फेंक दिया, कथनी-करनी-चिन्तनी से एक सूत्र गुंफित होकर आत्म-चिन्तन करते हुए आत्महित की साधना की, उन भवि सती सन्नारियों-श्रमणियों का वर्णन आपने सुना। उसी की शेष कड़ी में आगे महासती विजया, महासती मदनरेखा, महासती द्रौपदी, महासती दमयन्ती और महासती सीता का वर्णन आप सुनेंगे।

चेड़ानी पुत्री, राखी धर्म नी प्रीत।
राजीमती, विजया, मृगावती सुविनीत ॥ १०५ ॥
पद्मावती, मयणरेहा, द्रौपदी, दमयन्ती, सीत।
इत्यादिक सतियाँ, गई जमारो जीत ॥ १०६ ॥

चेड़ा की सात पुत्रियों का प्रसंग आपने पूर्व प्रवचन में सुना। सती मृगावती व सती पद्मावती का वर्णन इनमें आ चुका है। शेष का वर्णन सुनिए—

[महासती राजीमती या राजुल]

□ वंश-परिचय

इस अवसर्पिणी काल के बाईसवें तीर्थंकर प्रभु अरिष्टनेमि यदु वंश में उत्पन्न हुए थे। ये अंधकवृष्णि के पौत्र और समुद्रविजय के पुत्र थे। शौरिपुर नरेश थे महाराज सौरी के पुत्र अंधकवृष्णि। दस पुत्र थे अंधकवृष्णि के—समुद्रविजय, अक्षोभ, स्तमित, सागर, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचंद और वसुदेव।

शौरिपुर नगर के निर्माता महाराज सौरी के दूसरे पुत्र हुए—भोजवृष्णि। भोजवृष्णि को महाराज सौरी ने मथुरा का राज्य दिया। इन्हीं भोजवृष्णि के दो पुत्र थे—उग्रसेन और देवक। उग्रसेन के पुत्रों में कंस प्रमुख था तथा पुत्रियों में सत्यभामा और राजीमती। देवक की पुत्री थी देवकी। देवकी का विवाह अंधकवृष्णि के सबसे छोटे बेटे वसुदेव से हुआ। वसुदेव और देवकी के लाल थे श्रीकृष्ण।

□ अरिष्टनेमि विवाह-वार्त्ता

समुद्रविजय के चार पुत्र हुए—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दूढनेमि। महाराज समुद्रविजय की धर्मशीला महारानी शिवा की रत्न कुक्षि से उत्पन्न अरिष्टनेमि के गर्भ में आने

पर महारानी ने तीर्थकर की माता को दिखने वाले चौदह शुभ स्वप्न देखे। तीर्थकर अरिष्टनेमि जन्म से एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक, सुन्दर लक्षणों से युक्त व शरीर से श्यामवर्ण के कान्तिवान बालक थे। मनोहर मुखाकृति वाले अरिष्टनेमि वज्रऋषभनाराच संहनन शारीरिक संरचना वाले और समचतुरस्र-संस्थान वाले थे।

युवा होने पर महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी एवं अन्य यादव-प्रमुखों ने कुमार अरिष्टनेमि से विवाह करने की बात कही। इस समय तक श्रीकृष्ण ने तीन खंड साधकर वासुदेव की पदवी प्राप्त कर ली थी। जन्म से मति, श्रुत, अवधि-इन तीन ज्ञान के धनी अरिष्टनेमि तो विरक्ति भावों में रमण कर रहे थे। अतः विवाह के प्रति उन्होंने अपनी अनिच्छा व्यक्त की। अनेक बार विवाह के लिए उनसे कहा गया, पर उन्होंने विवाह-चक्र में फँसने से पूर्णतः इनकार ही किया, वे संसार-भ्रमण के कारणरूप नारी-मोह से दूर ही रहना चाहते थे।

□ अरिष्टनेमि ने फूँका पांचजन्य शंख

अरिष्टनेमि अपूर्व पराक्रम के धनी, अद्भुत शौर्य-सम्पन्न और असाधारण रूप से कान्तिवान थे। त्रिखंडाधिपति श्रीकृष्ण चाहते थे कि अरिष्टनेमि का विवाह हो जाए। वैसे तो इसके कारण का आगम में उल्लेख नहीं मिलता, पर एक प्रसंग ऐसा मिलता है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि वासुदेव श्रीकृष्ण को अंतर् में कहीं एक भय, एक भ्रम, एक खटका था कि कहीं मेरे पद, मेरी सत्ता में व्यवधान न खड़ा हो जाये।

बंधुओं ! वह प्रसंग प्रभु अरिष्टनेमि के अतुलित बल-पराक्रम से संबंधित है। एक दिन कुमार अरिष्टनेमि अन्य कई यादव कुमारों के साथ घूमते हुए वासुदेव श्रीकृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गए। उत्सुकतावश वहाँ रखे पांचजन्य शंख की तरफ कुमार ने हाथ बढ़ाया, यह देख आयुधशाला-रक्षक ने कुमार को प्रणति देते हुए विनयपूर्वक कहा—“यद्यपि आप महाराज श्रीकृष्ण के भ्राता हैं, प्रबल पराक्रमी हैं, पर यह शंख आप नहीं पूर सकेंगे। पूरना तो दूर की बात, आप इसे उठा भी लें तो यह आश्चर्य की बात मानी जाएगी।”

मुस्कराए कुमार अरिष्टनेमि। अनायास सहजता से उठाया शंख, रखा होठों के पास और पूर दिया उसे। बंधुओं ! अनंत, अतुलित शक्ति के स्वामी का वह शंख-पूरना, शंख की वह ध्वनि गजब कर गई। पांचजन्य की इस ध्वनि से लवण समुद्र उद्वेलित हो गया, द्वारिका के अनेक भवन कम्पित हो गए। कृष्ण-बलराम आश्चर्य में पड़ गए। कृष्ण कह उठे—“मेरे पांचजन्य को इतने अपरिमित वेग से बजाने वाला कौन है ? क्या कोई चक्रवर्ती प्रकट हो गया है ?”

तभी आयुधशाला के रक्षक ने आकर महाराज कृष्ण को नमन करके कहा—“देव ! कुमार अरिष्टनेमि ने उत्सुकतापूर्वक आपका शंख उठाया और सहज ही पूर दिया।”

□ त्रिखंडाधिपति महाराज श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि : बल-परीक्षा

उसी समय श्रीकृष्ण भी आयुधशाला में आये। कृष्ण महाराज के पूछने पर कुमार अरिष्टनेमि ने शंख बजाने की हामी भरी। इस पर कृष्ण बोले—“भ्रात ! मैं सोचता था, मैं ही यह शंख बजा सकता हूँ। तुमने भी गजब का शंख पूरा, यह देखो अभी तक वातावरण विक्षुब्ध है। खैर ! चलो ! व्यायामशाला में चलकर हम दोनों भाई अपने-अपने बल की परीक्षा करें।”

दोनों व्यायामशाला पहुँचे। कुमार अरिष्टनेमि ने सहज करुणार्द्र भाव से विचार किया—‘मेरे बल से अनभिज्ञ मेरे बड़े भाई कृष्ण को कहीं मेरी भुजाओं, वक्ष व जंघाओं के संघर्ष से मल्लयुद्ध में पीड़ा हुई तो अच्छा नहीं रहेगा।’ वे बोले—“भैया ! बल परीक्षण तो बाहु को झुकाने से भी हो सकता है।”

श्रीकृष्ण ने सहमति प्रकट कर अपनी प्रचण्ड दाहिनी विशाल भुजा फैला दी और कहा—“कुमार ! तुम झुकाओ मेरी भुजा को।”

बिना किसी विशेष प्रयास के सहज ही मैं अरिष्टनेमि ने उस भुजा को पकड़कर झुका दिया।

श्रीकृष्ण ने कुमार से अपनी भुजा फैलाने को कहा। अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा सहज रूप से फैला दी। श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति, पूरा सामर्थ्य, पूरा बल लगा दिया पर वे कुमार की भुजा को नहीं झुका सके।

□ कुमार अरिष्टनेमि ने विवाह की स्वीकृति दी

कुमार का ऐसा बल देख श्रीकृष्ण चकित हुए। वहाँ से अपने अन्तःपुर में जाकर अपनी सभी रानियों से कहा—“आप सभी के देवर युवा हो गए हैं पर विवाह के लिए नहीं मानते। क्या आप सब अपने प्रयत्नों से उन्हें विवाह के लिए मना सकेंगी ?”

रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने कहा—“यह कोई कठिन कार्य नहीं है। हम अपने देवर को विवाह के लिए अवश्य सहमत कर लेंगी।”

वसन्तोत्सव, फाग खेलना, चारुहास, कटाक्ष एवं अनेक अन्य पुरुषचित्त को चलायमान करने वाले मनोरस हाव-भाव से रानियाँ अपने देवर कुमार को आकर्षित नहीं कर सकीं।

एक दिन जब यह कहा गया कि “क्या हमारे देवर जी काम-कला से अनभिज्ञ हैं, नीरस हैं, पौरुष-विहीन हैं?” तो कुमार अरिष्टनेमि को अटपटा लगा। उन्होंने विवाह करना स्वीकार कर लिया।

□ राजीमती का वधू के रूप में प्रस्ताव

महारानी सत्यभामा की बहन महाराज उग्रसेन जी की पुत्री राजकुमारी राजीमती को अनुपम रूप-गुण-सम्पन्न देख उसे अरिष्टनेमि कुमार के अनुरूप माना गया।

अपने श्वसुर महाराज उग्रसेन के पास स्वयं श्रीकृष्ण महाराज गए और अपने भाई अरिष्टनेमि कुमार के लिए राजकुमारी राजीमती की याचना की। महाराज समुद्रविजय एवं महारानी शिवादेवी भी यह सब सुनकर अत्यधिक आनन्दित हुए।

□ कुमार अरिष्टनेमि दूल्हा बने

अरिष्टनेमि की बारात सजाई गई। स्वयं अरिष्टनेमि राजकुमार दूल्हे के वेश में श्रीकृष्ण महाराज के श्रेष्ठ गंध-हस्ति पर आरूढ़ हुए। उनके आगे अनेक यादव कुमार चलने लगे। उस बारात में हजारों राजा थे। हाथी के पीछे समुद्रविजय जी आदि दसों भ्राता जो दशार्ह कहलाते थे, चल रहे थे। बलराम और श्रीकृष्ण थे। बहुमूल्य सुन्दर पालकी और रथों में राजरानियाँ व अन्तःपुर की अन्य सुन्दर रमणियाँ थीं। विविध वाद्य बज रहे थे। बारात इतनी भव्य, विशाल और सुन्दर थी कि हजारों नर-नारी उस बारात को चकित से देख रहे थे।

□ राजीमती का हर्ष

राजकुमारी राजीमती तो उसी दिन से खुशी से फूली नहीं समा रही थी, जिस दिन उसके जीजा श्रीकृष्ण महाराज यह संबंध लेकर आए थे और पिताश्री महाराज उग्रसेन ने इस संबंध को स्वीकार किया था। तब से अब तक उसके पाँव जैसे धरती पर पड़ते ही न थे, वह कल्पनाओं के घोड़ों पर ही सवार रहती थी। आँखों में उसके हजारों-हजार सपने तैरते-से नजर आते थे।

आज भी वह प्रातःकाल से ही अपने अन्तर् में किसी विचित्र हलचल की अनुभूति कर रही थी। सभी आपस में बतिया रहे थे—“आज बारात आएगी, बारात सज रही है, बारात रवाना हो गई है।” समय के साथ-साथ ये सब वाक्य उसे उद्वेलित बना रहे थे। मन होता था उसका कि किसी गवाक्ष में जाकर खड़ी हो जाए और जिस तरफ से बारात आने वाली है, उस ओर निर्निमेष दृष्टि से देखती रहे पर लज्जा, संकोच, शर्म से ऐसा कर नहीं पाती थी।

उसके ये विचार उसकी सहेलियाँ उसके नयनों में पढ़ लेतीं, बार-बार उसके गुलाबी-लाल होते गालों से उसके विचारों को जान लेतीं।

बारात मथुरा की ओर बढ़ रही थी। महाराजा, राजा, राजकुमार, बड़े-बड़े योद्धा, अनेक सैनिक, तरह-तरह के वाद्ययन्त्रों की मधुर ध्वनियाँ, घुँघरुओं की छम-छम, नारियों के मधुर कंठ से निकल रहे मंगल-गीतों की स्वर-लहरी इन सभी का सम्मिलित रूप थी वह बारात।

□ रोम-रोम में झनझनाहट

मथुरा निकट आती जा रही थी। तात्पर्य यह कि बारात मथुरा के निकट होती जा रही थी। बारात से आ रही विभिन्न ध्वनियाँ मथुरा के राजप्रासादों से टकराने लगीं। मेघ-गर्जना से मस्त बने मयूर जिस तरह नाचने लगते हैं, उन ध्वनियों को सुन राजीमती का मन-मयूर भी उसी तरह थिरकने लगा। सभी का ध्यान आती हुई बारात की तरफ था। पुरुष-वर्ग राजप्रासाद के बाहर आ गया था। स्त्री-वर्ग अपने महलों में गवाक्षों की आड़ लिए बारात की ओर दृष्टि जमाए था। एक सखी ने राजीमती का हाथ पकड़ एक सूने-एकांत गवाक्ष की ओर संकेत किया। राजीमती एक क्षण झिझकी पर फिर साहस कर बढ़ गई उधर। उस समय ऐसा लगा जैसे घनघोर घटाओं को भेदकर चंचल-चपला की चमक गवाक्ष पर स्थिर बन गई हो।

बंधुओं! बारात निकट आ रही थी। उस विशाल बारात में एक भव्य हाथी पर दूल्हे के वेश में विराजित अरिष्टनेमि पर राजीमती की चंचल दृष्टि पड़ी और वहीं स्थिर हो गई। साक्षात् कामदेव को ही जैसे देख रही थी वह। उसके सारे शरीर में, शरीर के एक-एक रोम में झनझनाहट होने लगी। प्रिय का ऐसा रूप देखकर वह निहाल हो गई, अपने को धन्य मानने लगी, अपना स्त्री-जन्म सफल गिनने लगी। वह बड़बड़ा उठी—“मेरे प्राणनाथ! निश्चय ही आप त्रैलोक्य में मुकुटमणि नर-रत्न हैं। मेरा अहो भाग्य कि मुझे आपकी चिरसंगिनी बनने का अवसर प्राप्त हो रहा है।”

□ पशु-पक्षियों की चीत्कार

बारात राजप्रासाद के एकदम निकट पहुँचती कि उससे पूर्व ही कुमार अरिष्टनेमि को सहसा मूक पशु-पक्षियों का हृदय-द्रावक करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ा। अवधिज्ञान के धनी जानते थे सब कुछ; फिर भी सारथी (हाथी के महावत) से पूछा—“बंधु! यह किनकी चीत्कार है?”

सारथी ने कहा—“कुमार! यह चीत्कार यहाँ एकत्रित किए गए अनेक बकरों, मेंढों तथा अन्य वन्य पशु-पक्षियों की है।”

कुमार अरिष्टनेमि ने पूछा—“इन्हें यहाँ किसने, किस उद्देश्य से एकत्रित किया है ?”

सारथी बोला—“स्वामी ! इन सभी को आपके विवाहोत्सव में सम्मिलित अतिथियों के सामिष-भोजन निर्मित करने हेतु एकत्रित किया गया है। कटार आदि द्वारा इन सभी को काटा जाएगा, इनके माँस से अनेक व्यञ्जन बनेंगे, जो सामिष-भोजन करने वाले बारातियों को परोसे जायेंगे। कुमार ! ये सभी अपनी धारणा-शक्ति से जान गए हैं कि हमें कत्ल किया जाएगा, हमारे प्राणों का हनन किया जाएगा, हमें मार डाला जाएगा। अतः ये चीत्कार कर रहे हैं, क्रन्दन कर रहे हैं, रुदन मचा रहे हैं। प्राणीमात्र को अपने प्राण परम प्रिय हैं। ये सभी आती हुई आसन्न मृत्यु से अत्यंत भयभीत हैं, कातर हैं, दुःखी हैं।”

□ अरिष्टनेमि ने पशु-पक्षियों को मुक्त कराया

कुमार अरिष्टनेमि तो करुणावतार थे, दयासिंधु थे, अनुकम्पा के भंडार थे। उनके विवाह के निमित्त इतने पशु-पक्षियों की भयंकर हिंसा हो, यह वे कैसे सहन कर सकते थे ? दीनदयाल कुमार अरिष्टनेमि ने सारथी से कहा—“जाओ ! इन बाड़ों के दरवाजे खोल दो, इन पशुओं के बंधन खोल इन्हें बाड़े से बाहर छोड़ दो, इन पक्षियों को पिंजरों से आजाद कर दो।”

द्रवीभूत अरिष्टनेमि के इन शब्दों को सुन सारथी हाथी से उतरा और सारे पशुओं के बंधन खोलकर बाड़े से बाहर निकाल मुक्त कर दिया, पक्षियों को पिंजरों से मुक्त कर दिया।

□ अरिष्टनेमि ने विवाह को अमंगल माना

बंधुओं ! बारात में अनेक राजा-महाराजा, क्षत्रिय-शूरवीर माँसाहारी थे। असंस्कारित होने से उनकी शूरवीरता का उपयोग पाप-कार्यों में हो रहा था। यदि वे संस्कारित होते तो उनकी शूरवीरता धर्मकार्यों में प्रयुक्त होती और कर्म काटने में सहायक बन जाती। अरिष्टनेमि कुमार तो भावी तीर्थंकर थे। पूर्वजन्मों के सुन्दर धार्मिक संस्कारों का अक्षय भंडार उनके साथ था। जिस विवाह कार्य में हिंसा का ऐसा तांडव-नृत्य होता हो, इतने मूक-निर्दोष पशुओं का रसलोलुपता के लिए वध किया जा रहा हो, उनकी दृष्टि में ऐसा विवाह मंगलकारी नहीं, अपितु अमंगलकारी ही हो सकता है। उन्होंने निश्चय किया कि वे यह विवाह नहीं करेंगे। जीवन में कभी विवाह नहीं करेंगे।

□ आनंदित पशु-पक्षी अपने घर लौटे

उधर मुक्त किए गए पशु-पक्षी सभी हर्षनाद करते वन, पर्वतों की ओर चल रहे थे। वे सभी आह्लादित थे, अभिभूत थे। उनके रोम-रोम से अपने अभयदाता के प्रति शुभ भावों का प्रस्फुटन हो रहा था।

□ हर्षित अरिष्टनेमि ने तोरण से हाथी फिराया

दयामूर्ति कुमार अरिष्टनेमि उन सभी को इस तरह हर्षित, आह्लादित और स्नेह विह्वल देख परम शांति का अनुभव कर रहे थे। उन्होंने अपने निकट आए सारथी से हाथी को द्वारिका लौटा ले चलने का कह दिया।

सारथी ने एक क्षण के लिए कुमार के चेहरे पर दृष्टिपात किया और जब देखा उनके परम शांत, परम प्रसन्न, परम दृढ़ भावों को तो हाथी को पुनः द्वारिका के पथ की ओर घुमा दिया।

क्या होने वाला था, पर अचानक क्या से क्या हो गया? सभी महापुरुषों के जीवन में इस तरह का आकस्मिक एक मोड़, एक परिवर्तन, एक मंगलमय शुभारंभ आता है और वे अत्यंत दृढ़ मनोबल के साथ जीवन को कर्म-धारा से मोड़कर धर्म-धारा में ले आते हैं।

□ अरिष्टनेमि प्रभु की मोक्षाभिलाषा

अरिष्टनेमि कुमार का हाथी अब द्वारिका की ओर जा रहा था। हाथी को इस तरह फिरते, द्वारिका की ओर मुड़ते और प्रस्थान करते देख सभी यादवों पर मानो अनभ्र वज्रपात-सा हो गया। माता महारानी शिवादेवी और पिता महाराज समुद्रविजय ने, भ्राता श्रीकृष्ण-बलराम ने एवं अन्य अनेक यादव-प्रमुखों ने अपने वाहन मोड़े। वे अरिष्टनेमि के पास आए, रुके, अरिष्टनेमि की राह रोककर खड़े हो गए, हाथी को फेरने का इस तरह अचानक मंगल-महोत्सव से मुख मोड़ने का कारण जानना चाहते थे वे सभी।

कुमार ने सम्पूर्ण घटना बताकर स्पष्ट कर दिया कि “मैंने उन पशु-पक्षियों को अभय देकर मुक्त कर दिया है और मैं स्वयं भी आप सभी के रिशतों से मुक्त बनकर ऐसी साधना करना चाहता हूँ कि पुनः कभी इन बंधनों में न पडूँ। मेरा मानस दीक्षा लेकर धर्म-साधना करने का है। मैं अहिंसा, संयम और तप के पथ पर चलकर मोक्ष प्राप्त करना चाहता हूँ।”

महारानी माता शिवादेवी ने कहा—“वत्स ! इस तरह तुम लौट जाओगे तो लोग क्या कहेंगे ? कितने राजा, महाराजा, राजकुमार द्वारिका से बारात में साथ आए हैं, क्या ये तरह-तरह की बातें नहीं बनायेंगे ? मेरा क्या होगा ? मैं तुम्हारी माता हूँ। कैसे तुम्हारे बिना सुखी रह सकूँगी ?”

महाराज समुद्रविजय जी बोले—“कुमार ! अभी तुम्हारी आयु ही क्या है ? श्रमण-धर्म पालन कोई हँसी-खेल नहीं है। पहले तुम गृहस्थ-धर्म पालन करो, राजसुख भोगो, यौवन का आनन्द लो फिर चाहो तो दीक्षा ग्रहण कर लेना।”

बंधुओं ! तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन जिस महापुरुष ने ३ भव पहले कर लिया हो, जो इसी भव में तीर्थंकर, अरिहन्त बनने वाला हो, भला वह कैसे बन्धनों में रहता ? उनको तो अहिंसा के विराट् स्वरूप का दिग्दर्शन सभी को कराना था, करा दिया। माता-पिता को अरिष्टनेमि कुमार ने बताया कि “गृहस्थ-धर्म, यह संसार, संसार के समस्त पदार्थ, संसार के सारे रिश्ते क्षणिक, नश्वर एवं कर्मबंध के हेतु हैं। अनादिकाल से संसार-चक्र में परिभ्रमण कर रहा हूँ। मेरा मन अब राज्य, वैभव, भोगों में नहीं रमने वाला। अतः आप मुझे श्रमण-धर्म अंगीकार करने की आज्ञा दीजिए।”

द्वारिका पहुँचकर दीक्षा की तैयारियाँ हुईं। कुमार की दीक्षा का समय आया हुआ जानकर नौ लोकांतिक देवों ने अपने जीतकल्प के अनुसार उस समय आकर कान्त, प्रिय, मनोहर, मधुर, मंजुल और पुनरक्तिरहित वाणी में बार-बार अभिनन्दन करते हुए कहा— “हे नाथ ! आपकी जय हो, हे प्रभु ! अखिल विश्व के समस्त प्राणीजगत् के कल्याण हेतु आप धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें।”

अभिनिष्क्रमण से पूर्व नेमकुमार ने तीर्थंकरों की दीक्षा के कल्पविधान के अनुसार वर्षीदान देना प्रारम्भ किया। वे याचकों को प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राएँ दान करते। अनेक प्रकार के रत्न, मणि, माणिक्य, हीरे, पत्रे, मोती, मूँगा आदि भी दान में देते। एक वर्ष तक यह दान देने का क्रम निरन्तर चला। अमूल्य पत्थरों के अतिरिक्त उन्होंने वर्षभर में कुल तीन अरब, अठासी करोड़ सोनैयों का दान दिया।

तीर्थंकरों के दान के लिए इतना धन कहाँ से आता है ? प्रत्येक तीर्थंकर वर्षीदान करते हैं और एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राएँ याचकों को दान में देते हैं। क्या प्रत्येक तीर्थंकर के पास इतना धन विद्यमान होता है ?

बंधुओं ! उल्लेख मिलता है कि धन-देव कुबेर स्वयं यह धन तीर्थंकर के दान हेतु तीर्थंकर के यहाँ रखवाते हैं। कुबेर यह धन धरती के नीचे से धरती खोदकर निकालते हैं। यह ऐसा धन होता है, जिसका अधिपति, मालिक, स्वामी सात पीढ़ी तक कोई नहीं होता।

□ ‘लौट आओ सांवरिया’—राजीमती का प्रलाप

उधर मथुरा में उग्रसेन जी ने वर और बारात को लौटते देखा तो उनके प्राण कंठ में आ गए, आनन्द और खुशियों को पाला मार गया, सभी विमूढ़ बन गए। राजीमती मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। उसकी आशा-फुलवारी खिलने से पूर्व ही मुरझा गई, कल्पनाओं में तैरते रंगीन सपने बिखर गए, खुशियों का लहराता सरोवर सूख गया। जब होश आया तो प्रलाप करने

लगी, विक्षिप्त की तरह “मेरे प्रियतम कहाँ गए?”, “लौट आओ अब मेरे सांवरिया” आदि शब्द कहने लगी।

□ जैन विरह-साहित्य में राजीमती का विरह

कुछ ही दिनों में यह सन्देश भी मिला कि कुमार दीक्षा लेंगे। यह सुनकर भी राजीमती का अरिष्टनेमि के प्रति प्रीति भाव कम नहीं हुआ। उधर कुमार अरिष्टनेमि तीर्थकर-दीक्षा-कल्प के अनुसार वर्षोदान दे रहे थे, इधर राजीमती रो-रोकर विरह-विलाप, प्रणय-प्रलाप करते हुए एक-एक पल को एक-एक युग की भाँति बिता रही थी। राजीमती का यह विरह-वर्ष मनीषी कवियों, गीतकारों आदि के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। अनेक कवि-कल्पनाओं ने इस विरहिणी के विरह को काव्य-माला में गूँथा है, गीतकारों ने गीतों में उसका गुञ्जन किया है। वस्तुतः जैन विरह-साहित्य में ‘राजीमती-विरह-व्यथा’ पर रचा गया साहित्य एक अनमोल कोष है।

जहाँ नेमि के चरण पड़े, गिरनार की धरती है।
 वो प्रेम-मूर्ति राजुल, उस पथ पर चलती है॥
 उस कोमल काया पर, हल्दी का रंग चढ़ा।
 मेंहदी भी रुचिर राची, गल मंगलसूत्र पड़ा।
 पर माँग न भर पायी, यह बात ही खलती है।

वो प्रेम-मूर्ति..... ॥ १ ॥

सुन पशुओं का क्रन्दन, तुमने तोड़े बन्धन।
 जागा वैराग्य तभी, धारा प्रभु पथ पावन।
 उस परम-विरागी को, चिर प्रीति उमड़ती है।

वो प्रेम-मूर्ति..... ॥ २ ॥

जीवों के प्रति जिसके, चितवन में समता है।
 जो पशुओं की पीड़ा, पल भर में हरता है।
 उसकी विरहिन दासी, पीड़ा से सिसकती है।

वो प्रेम-मूर्ति..... ॥ ३ ॥

राजुल की आँखों से, झर-झर झरता पानी।
 अन्तस् में घाव भरे, प्रभु दरश की दीवानी।
 मन-मन्दिर में जिनकी, तस्वीर उभरती है।

वो प्रेम-मूर्ति..... ॥ ४ ॥

जिस ओर गये थे तुम, वही मेरा ठिकाना है।
 राजुल की यात्रा का, वो पथ अनजाना है।
 लख चरण-चन्द्रप्रभ के, राजुल कब रुकती है।
 वो प्रेम-मूर्ति..... ॥ ५ ॥

बंधुओं ! अपनी दीक्षा से पूर्व जब-जब भी मैं राजीमती के विरह प्रसंग को सुनता तो भावों में अनेक कल्पनाएँ पंख फैलाने लगतीं। पूज्य गुरुदेव श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. से मैंने मन की यह बात कही। उनकी प्रेरणा और सहयोग पाकर प्रयत्न किया 'बारहमासा-विरह-गीत' रचने का। जैसा भी वह बना उसका कथन मैंने अपने इन्हीं 'बड़ी साधु वन्दना' प्रवचनों में, इसकी २४वीं कड़ी—“बलि समुद्रपाल मुनि, राजीमती रहनेम” के अन्तर्गत किया था। (बड़ी साधु वंदना, प्रवचन भाग २ का छट्ठा प्रवचन और कुल प्रवचनों का २७वाँ प्रवचन देखें।)

वर्षा ऋतु थी। श्रावण मास का शुक्ल पक्ष चल रहा था। श्रावण शुक्ला छठ के दिन पूर्वाह्न के समय अरिहन्त अरिष्टनेमि कुमार 'उत्तरकुरा' नामक शिविका में आरूढ़ हुए। एक हजार लोग उस पालकी को उठाकर द्वारिका नगरी के राजमार्गों पर चलने लगे। उस शिविका के साथ मानवों का समूह तो था ही, देव और असुर भी चल रहे थे।

उस अभिनिष्क्रमण यात्रा की शोभा अनुपम थी। अनेक प्रकार के मंगल वाद्यों की ध्वनियों से दसों दिशाएँ गूँज रही थीं। नारियों के समूह मंगल-गीतों के स्वर बिखेर रहे थे। अनेक व्यक्ति इष्ट, मधुर, आनन्दप्रदायिनी वाणी में अर्हत् अरिष्टनेमि कुमार की स्तुति कर रहे थे।

प्रभु की इस अभिनिष्क्रमण यात्रा को हजारों नेत्र देख रहे थे, हजारों मुख प्रशंसा कर रहे थे, हजारों कर (हाथ) जुड़कर उन्हें नमन कर रहे थे। प्रभु भी अपना दाहिना हाथ उठाकर उनका नमन स्वीकार कर रहे थे।

बंधुओं ! इस अभिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षा-यात्रा के साथ जैसे द्वारिका के समस्त समृद्धि-चिह्न चल रहे थे। ऐसी यह ऐश्वर्यशालिनी धर्म-यात्रा द्वारिका के मध्य-पथों से होते हुए रैवतक नामक उद्यान में पहुँची।

भगवान की पालकी वहाँ एक विशाल अशोक वृक्ष के नीचे रखी गई। प्रभु तब पालकी से नीचे उतरे। उन्होंने स्वयं अपने हाथों से अपने सभी मूल्यवान वस्त्र, आभूषण आदि उतारकर दान में दे दिए। स्वयं अपने हाथों से पंचमुष्टि लोच किया। छट्ठ भक्त तप के साथ अरिष्टनेमि कुमार ने एक हजार श्रेष्ठ पुरुषों के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में दीक्षा ग्रहण की। इस तरह वे गृहवास त्यागकर अनगार बन गए।

□ रथनेमि का राजीमती के समक्ष विवाह प्रस्ताव

कुमार अरिष्टनेमि साधनारत बन गए। विरहिणी राजीमती फिर भी 'नेम पिया, नेम पिया' की रट लगाती रही। अरिष्टनेमि कुमार के तोरण पर आकर लौट जाने पर कुमार के छोटे भाई रथनेमि ने राजीमती को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहा। वह स्वयं राजीमती पर मोहित हो चुका था, उसके सौन्दर्य की ओर आकर्षित हो चुका था, उसके रूप-रस पान करने का इच्छुक बन चुका था। वह नित्य नई बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर राजीमती के पास जाने लगा। सहज भाव से राजीमती यह समझकर उन्हें स्वीकार करती रही कि प्रियतम के लघु भ्राता, मेरे देवर आदरभाव से ये सब ला रहे हैं। उसे क्या पता कि रथनेमि के मन में कलुषता है। रथनेमि समझता था कि राजीमती भी मेरी ओर आकृष्ट है। अतः मेरे द्वारा दी गई वस्तुएँ स्वीकार कर रही है। उसकी दुराशा बलवती बन गई।

एक दिन राजीमती से अकेले में रथनेमि ने अपने मन की कालिमा को प्रकट कर ही दिया और उसके समक्ष विवाह के लिए प्रस्ताव रख दिया। वह बोला—“सुन्दरी! अपने अनमोल यौवन और असाधारण रूप-सौन्दर्य को इस तरह व्यर्थ मत गँवाओ। अपनी भोगेच्छाओं और काम-वासनाओं को इस तरह मिट्टी के नीचे दफन मत करो। मैं अरिष्टनेमि का छोटा भाई हूँ। उन्हीं की तरह बलशाली, गुणवान और सुन्दर हूँ। मैं तुम्हें अपनी हृदयेश्वरी बनाना चाहता हूँ, तुम्हें अपनी प्रियतमा बनाना चाहता हूँ, तुमसे विवाह रचाकर अपने राजमहलों में आनंद का उजाला करना चाहता हूँ। क्या तुम मेरी बात से सहमत हो?”

□ भारतीय नारी का आदर्श

राजीमती उसके मुख से विवाह प्रस्ताव सुनकर अवाक् रह गई। उसकी स्मृति में वे सारे उपहार घूमने लगे जो रथनेमि ने दिए थे। अब उसे समझ में आया कि उन सौगातों के पीछे कितना कलुषित मनोरथ था रथनेमि का। उसने अनेक प्रकार से रथनेमि को यह समझाने का प्रयास किया कि वह केवल अरिष्टनेमि की प्रियतमा है। तोरण से उनके लौट जाने पर भी वह उन्हीं को अपना प्राणप्रिय पति समझती है, क्योंकि भारतीय स्त्री हृदय से जिसका भी एक बार वरण कर लेती है फिर वह जीवनभर उसी के नाम के सहारे जी लेती है। अतः रथनेमि तुम्हारी कलुषित मनोभावना तुम्हारे उज्ज्वल हरिवंश के अनुरूप नहीं है। कामान्ध बने रथनेमि पर राजीमती की इन बातों का कोई असर नहीं पड़ा। उसने कहा—“यह सब तुम्हारे विक्षिप्त दिमाग का पागल-प्रलाप है। तुम हृदय से मेरी बात पर विचार करो। मैं आज जा रहा हूँ। कल फिर आऊँगा, तुमसे आशा भरे आश्वासन प्राप्ति के लिए।”

□ एक अनूठा उपाय

बंधुओं ! चला गया रथनेमि, पर राजीमती के लिए एक उलझन छोड़ गया। वह गहरे मानसिक तनाव का अनुभव करने लगी। वह ऐसा कोई रास्ता चाहती थी, सुगम-सहज-सरल उपाय चाहती थी जिससे कलुषित भावों में भटकते कामान्ध रथनेमि को सही मार्ग पर ला सके। घंटों सोच-विचार के पश्चात् उसने एक उपाय निश्चित किया, एक अनूठा निर्णय लिया।

दूसरे दिन रथनेमि आया वहाँ। राजुल ने आज प्रातः खूब दूध पिया था और एक मदनफल मँगाकर अपने पास रख लिया था। मदनफल की विशेषता यह है कि यदि उसे सूँघा जाय तो वमन हो जाता है। रथनेमि के आने पर राजीमती ने दासी को संकेत किया। दासी तुरंत एक स्वर्ण-कटोरा ले आई। राजीमती ने मदनफल हाथ में लेकर उसे सूँघा। कुछ ही क्षणों बाद वमन हुआ। सोने के कटोरे में वमन किया था। वमित पदार्थ भरा स्वर्ण कटोरा रथनेमि को देकर राजीमती ने कहा—“देवर जी ! इसे पी जाओ।”

□ वमित पदार्थ : अग्राह्य, अपेय और अभक्ष्य

रथनेमि प्रेमांध था, पर अभी होश में था। वह उच्च कुल का क्षत्रिय भी था। अतः आवेश में आ गया और आवेश भरे स्वर में कह उठा—“क्या तुमने मुझे कुत्ता या कौआ समझा है ? मुझे वमन किया हुआ पदार्थ पीने का कहते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ? राजीमती ! मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी हो तब भी वह वमित का पान नहीं करेगा। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वमन की गई वस्तु अग्राह्य है, अपेय है, अभक्ष्य है।”

राजीमती ने अपने स्वर को कुछ कठोर बनाते हुए कहा—“जानते हो तो यह क्यों नहीं समझते कि मैं भी तुम्हारे भाई की वमित हूँ। उनके द्वारा वमन की गई हूँ। अतः अभोग्या हूँ। क्या तुम्हें अपनी कलुषित भावना का अहसास नहीं होता ? तुम्हें तो शर्म आनी चाहिए इस तरह की घृणित कामना के लिए। कहाँ तो तुम्हारे दिव्य भ्राता जिन्होंने समस्त कामेच्छाओं का दमन कर, मेरे जैसी नारी को त्याग संयम का पथ ग्रहण किया और कहाँ तुम जो उनके द्वारा त्यागे गए काम-भोगों में विमूढ़ बन ऐसा घृणित प्रस्ताव रख रहे हो, जो निश्चय ही डुबोने वाला है, नरक में ले जाने वाला है। धिक्कारो अपने आपको ! पश्चात्तापपूर्वक आलोचना करो अपने कालुष्य की। जाओ यहाँ से और हो सके तो अपने भाई की तरह महान् बनो, अन्यथा कम से कम अपने कुल की प्रतिष्ठा पर तो आँच मत आने दो।”

□ राजीमती ने रथनेमि के अन्तर् को जागृत किया

राजीमती के चाबुक-जैसे ये वचन रथनेमि को सचेत बना देते हैं। वह अपनी कलुष भावनाओं के लिए अपनी भाभी से क्षमायाचना कर अपने महल में लौट आता है। पश्चात्ताप के भावों से निरन्तर कलुषता को धोता हुआ वह एक दिन विरक्त बन जाता है।

□ राजीमती संयम-साधना के पथ पर

राजीमती ने जब अरिष्टनेमि कुमार के प्रव्रजित होने की बात सुनी तो वह स्तब्ध रह गई। उत्तराध्ययनसूत्र के २२वें 'रहनेमिज्जं' नामक अध्ययन की २८वीं गाथा में प्रभु महावीर ने बताया है कि—

**सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणंदा, सोगेण उ समुच्छिया ॥**

अर्थात् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की बात सुनकर राजकन्या राजीमती हास्यरहित और आनन्दविहीन हो गई। वह शोक से मूर्च्छित, स्तब्ध हो गई।

सुस्थित होने पर राजीमती ने विचार किया—'मुझे भी उनके दिखाए पथ का अनुसरण करते हुए प्रव्रजित हो जाना चाहिए।'

प्रभु अरिष्टनेमि ने दीक्षा के चौपन (५४) दिन पश्चात् जब वे रेवताचल पर्वत पर तैले की तपस्या में थे, तब शुक्लध्यान में प्रवेश कर केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की। उनके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—ये चार घनघाती कर्म नष्ट हो गए। प्रभु के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने का सन्देश पाकर समुद्रविजय आदि दश दशार्ह, श्रीकृष्ण महाराज, अंतःपुर की महारानियाँ, सोलह हजार अधीनस्थ राजा, बलराम, एक करोड़ यादव-कुमार आदि कैवल्य महोत्सव मनाने, प्रभु को वन्दन करने, उनके उपदेश श्रवण करने गए। महाराज उग्रसेन भी प्रभु के केवलज्ञान महोत्सव में सपरिवार, ससैन्य गए। देव रचित समवसरण में विराजमान सर्वज्ञ प्रभु अरिष्टनेमि की प्रथम धर्मदेशना सभी ने सुनी। रथनेमि ने प्रभु के पास अनेक राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की। राजीमती ने भी सात सौ सन्नारियों के साथ संयम-मार्ग का अनुसरण किया। अनेक राजाओं, साधारणजनों तथा महिलाओं ने भी प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा पश्चात् सभी नवदीक्षित साधु-साध्वियों ने ज्ञानार्जन प्रारंभ किया। महासती राजीमती ने सामायिक आदि अंगों का अध्ययन किया। तपश्चरण, विनय, विवेक, त्याग एवं साधना के बल पर महासती राजीमती आत्मकल्याण में रत बन गईं।

□ वासना की एक और उत्ताल तरंग ने रथनेमि को साधना से विचलित बनाया

जिनशासन की प्रभावना एवं आत्म-साधना करते हुए महासती राजीमती किसी दिन रैवतक गिरि पर्वत पर प्रभु के पधारने का सन्देश पाकर उनके दर्शनार्थ अपने साध्वी-समुदाय के साथ रवाना हुई। मार्ग में ही अचानक मौसम में परिवर्तन हो गया। गगन के एक छोर से उड़कर आते हुए बादल सहसा घने होने लगे। कुछ ही देर में गगन घटाटोप हो गया। घनघोर घटाओं के कारण गहन अंधकार का साम्राज्य हो गया। तभी वर्षा प्रारंभ हो गई। रिमझिम बरसती बरसात, घटाटोप गगन में कभी इधर-कभी उधर चमकती चपला। वर्षा तेज होने लगी। वर्षा के साथ हवा में भी तीव्रता व तीखापन आ गया। साध्वी-समुदाय वर्षा की बौछार से बचने के लिए इधर-उधर गुफाओं की ओर चली गईं। महासती राजीमती ने भी एक पर्वत गुफा को निर्जन समझ उसमें शरण ली। अन्दर घोर अंधकार था। कभी बिजली चमकती तो उस विशाल गुफा में पड़े विशाल पत्थर जरूर दिखाई दे जाते। महासती ने स्थान को निर्जन समझ अपने भीगे वस्त्र एक-एक कर उतारे और पास के बड़े पत्थर पर सूखने के लिये फैला दिए।

जिस गुफा को महासती ने जनशून्य समझा था, वस्तुतः उसमें पहले से ही एक पुरुष, एक संत, एक मुनि ध्यानस्थ थे। बंधुओं ! संयोग देखिए वे और कोई नहीं मुनि रथनेमि ही थे। भयंकर मेघ गर्जन और विद्युत्प्रभा से ध्यान भंग हुआ रथनेमि का। एक क्षण के उस गगन-तड़ित् के प्रकाश की चमक में जो कुछ देखा रथनेमि ने तो चमक गए वे, चकित रह गए वे। जिस राजीमती को वे त्याग आए थे, जिस राजीमती के चुभते हुए आत्महितकारी शब्दों ने उनके चेतन को जागृत बनाया था, जिस राजीमती की फटकार सुनकर उन्होंने दीक्षा धारण की थी, वही राजीमती इस समय, इस अंधेरे में, इस जनशून्य-नीरव गुफा में, उमड़ते-घुमड़ते मेघों, बरसती बरसात, चमकती-दमकती चंचल बिजलियों में स्वयं बिजली बन खड़ी थी। अनावृत्त, अंगोपांग पर एक भी चीर नहीं। 'वाह रे मेरे भाग्य।'—रथनेमि सोच रहे थे—'तब अन्तर् की उद्दाम एकमात्र अभिलाषा, काम—भोगेच्छा पूर्ण नहीं हो सकी, पर आज तो लगता है भाग्य साथ दे रहा है।'

बंधुओं! लोकालोक में सर्वाधिक तीव्र गति से चलने, दौड़ने, उड़ने वाला होता है मन। क्षण के, पल के सौंवे भाग में, पलक झपके उतनी-सी अवधि में मन जाने कहाँ तक घूम आता है ? जाने कितने विचारों का आदान-प्रदान कर लेता है ?

एक क्षण के लिए पुनः बिजली चमकी। भरपूर प्रकाश गुफा में प्रवेश कर गया। निर्वस्त्र राजीमती की देह पर अंधेरे में भी दृष्टि गड़ी हुई थी। इस प्रकाश में उसी देह को

स्थिर दृष्टि से देखते हुए काम-वासना की एक जहरीली लहर से रथनेमि का सारा शरीर आलोड़ित हो उठा। भूल गया वह अपना मुनि-श्रमण-निर्ग्रथ का धर्म, भूल गया अपना ज्ञान-ध्यान-तप, भूल गया अपना संयम। वासना के तीव्र प्रवाह ने स्व-पर लगे संयम की मर्यादा को तोड़ दिया। अपने स्थान से ही वासना-विदग्ध स्वर में कह उठा—“आओ राजुल ! मेरे पास आ जाओ ! देखो इस रंगीन मिजाज मौसम को ! देखो इस सुनसान निर्जन स्थान को ! देखो तुम्हारे और हमारे पुनर्मिलन के इस संयोग को !”

□ भयभीत राजीमती से रथनेमि का काम-निवेदन

चौंक पड़ी राजुल, भयभीत हो गई राजुल, भय से पानी-पानी हो गई राजुल। साध्वी थी, सती थी, संयम की राह पर अडिग थी, पर परिस्थिति विचित्र बन गई थी। मानव-स्वर सुनते ही जहाँ खड़ी थी, नीचे उकड़ू आसन से बैठ गई। दोनों प्रलम्ब भुजाओं से अपने निर्वसन अंगों को अधिकतम जितना आवृत्त कर सकती थी, उतना आवृत्त कर लिया। तभी पुनः मानव-शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से अन्तर् में आकर टकराए—“हे भद्रे ! डरने की आवश्यकता नहीं है। मैं रथनेमि हूँ। हे सुन्दरी ! आज यहाँ इस एकान्त में मेरे साथ भोग भोगने में तुम्हें कोई संकोच नहीं करना चाहिए। यहाँ हम-तुम दो ही मानव हैं। कोई अन्य देखने वाला नहीं है। हे भुवन मोहिनी ! दुर्लभ मानव-भव में ऐसा अनुकूल अवसर एकाध बार ही मिलता है। आओ पहले हम दोनों अपनी वासना शांत करें, काम-भोग भोगें। भुक्तभोगी बनने के बाद हम पुनः अपने संयम-पथ पर चल देंगे।”

उत्तराध्ययनसूत्र में ‘रथनेमिज्जं’ नामक अध्ययन में कहा गया है—

रथनेमी अहं भद्रे ! सुरूवे ! चारुभासिणी ।

ममं भयाहि सुयणु, न ते पीला भविस्सई ॥ ३७ ॥

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।

भुक्तभोगी तओ पच्छा, जिण मगं चरिस्समो ॥ ३८ ॥

□ नर उत्तम है तो गिरने से बचाना आसान है

रथनेमि को पहचानकर सती राजीमती का भय कम हुआ। उनके मन ने कहा कि उत्तम कुल के व्यक्ति का आचरण भय करने लायक नहीं है। निश्चय ही रथनेमि असभ्याचरण, बलात् काम-सेवन नहीं करेगा। यह क्षत्रिय है, शूरवीर है पर संयम से डिग गया है, चित्त-भंग हो गया है, स्त्री-परीषह से पराजित हो रहा है। उत्तम कुल के उत्तम नरों को गिरने से बचाना कोई मुश्किल कार्य नहीं है।

□ “अगंधन कुल के हो अतः सँभालो अपने को” —चेताया राजीमती ने

बंधुओं ! मन के इस चिन्तन ने उस सती को धैर्य प्रदान किया। उसने निर्भय होकर अपने वस्त्र उठाए और उन्हें शरीर पर धारण किया तब रथनेमि से स्थिर स्वर में कहा—

“रथनेमि ! तुम भूल रहे हो कि तुम संयमी हो, साधु हो, यहाँ साधना करने—तपश्चरण करने आए हो। संसार के समस्त काम-भोगों का त्याग किया है तुमने। दीक्षा स्वीकार कर मन में पवित्रता का संकल्प लिया है तुमने। याद करो अपने महाव्रतों को, छह काय जीवों के अभयदान व्रत को, ‘त्रिकरण-त्रियोग से सव्वं साव्वज्जं जोगं पचक्खामि’ रूप अपनी प्रतिज्ञा को ! हे मुने सोचो कि तुम कौन हो ?

अहं च भोयरायस्स तं चऽसि अंधगवण्हणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥

(उत्तरा. २२/४४)

—मैं भोजराज की पौत्री हूँ और तुम अंधकवृष्णि के पौत्र हो। अतः अपने (अगंधन जाति के सर्प तुल्य) कुल में हम गंधन जाति के सर्प तुल्य न बनें। तुम अपने चित्त को स्थिर करो और दृढ़ता से महाव्रतों का पालन करो, संयम का आचरण करो।

जइसि रूवेण वेसमणो, लल्लिएण नल कूबरो ।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो ॥

(उत्तरा. २२/४१)

—हे रथनेमि ! मान लो कि तुम रूप में वैश्रमण की भाँति सर्वश्रेष्ठ हो और तुम्हारा लीला-विलास नल कूबेर के समान असाधारण है। इन्हें भी छोड़ो और मान लो कि तुम साक्षात् इन्द्र स्वरूप हो; फिर भी मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करती, तुम्हें नहीं चाहती।

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥

(उत्तरा. २२/४२)

—हे रथनेमि ! तुम असाधारण, उत्तम कुल के कुलीन पुरुष हो। अगंधन जाति के सर्प तुल्य हो। अगंधन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प धूम की ध्वजा वाली अग्नि, जाज्वल्यमान ज्वाला, भयंकर दुष्प्रवेश्य आग में कूदकर जल जाना, मर जाना पसंद कर लेते हैं पर कभी अपने वमन किए (उगले) हुए विष को पुनः नहीं पीते, पुनः पीने की इच्छा नहीं करते।

धिरत्थु तेऽजसोकामी ! जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥

(उत्तरा. २२/४३)

—तुम्हें धिक्कार है रथनेमि ! तुम अपने त्यागे हुए भोगों को पुनः आस्वादन करना चाहते हो। इस तरह अपयश प्राप्त करने से तो तुम्हारा मर जाना ही श्रेयस्कर है।

हे रथनेमि ! चिन्तन करो अपने जीवन का, अपने संयम का, अपने उत्तम कुल का। अपने मन और इन्द्रियों को नियंत्रण में करो। अपनी वासना, भोगेच्छा पर अंकुश लगाओ और अपने आपको अनाचार से विरत बनाकर सदाचरण का सेवन करो।”

□ साधक-श्रमण रथनेमि पुनः संयम में सुस्थिर बने

बंधुओं ! रथनेमि उत्तम कुल के पुरुष थे, सभ्यता और सुसंस्कार उनके रक्त में प्रवाहित थे। अतः जाति, कुल और शील को सुरक्षित बनाने वाली उस महाव्रतों में सुस्थित सती-साध्वी राजीमती के इन सुभाषित आत्मजागृत बनाने वाले वचनों को सुनकर वे पुनः सुधर्म में, महाव्रतों में, संयम में सुस्थित बन गए। वे उसी तरह सुस्थिर, अचंचल बन गए जैसे अंकुश से मदोन्मत्त हाथी वश में हो जाता है। महासती राजीमती ने अपने संयम और तपःतेज के प्रभाव से उन्हें गिरने से, पतित होने से, डूबने से बचा लिया।

□ राजीमती महासती ने तोड़ा जन्म-मरण का घेरा

बंधुओं ! धर्म क्षेत्र में सन्नारी की तेजस्विता का महासती राजीमती ज्वलंत उदाहरण हैं। रथनेमि को धर्म में सुस्थिर कर महासती राजीमती ने अपना शेष संयमी जीवन कषायजयी बनने में समर्पित किया। अप्रमत्त, जितेन्द्रिय, त्रिगुप्तियों से गुप्त बनकर उन्होंने त्रियोगों को वश में किया और एक दिन वे अयोगी बन सिद्ध गति में जा विराजमान हुईं।

[महासती विजया]

कच्छ देश में कौशाम्बी नामक एक नगरी थी। इस नगरी में रहते थे श्रेष्ठि अर्हद्वास। नीति-रीति से व्यापार करते थे वे और पूर्व पुण्यों के प्रभाव से उनका व्यवसाय खूब फ़ैला हुआ था। प्रतिष्ठित पेढी थी, लाभ भी व्यापार में अत्यधिक रहता था। अतः श्रेष्ठि भौतिक दृष्टि से सुसम्पन्न, वैभवशाली थे। धर्म में उनकी निष्ठा थी, सत्य और सन्तोष उनके गुण थे, करुणामय हृदय था उनका। आध्यात्मिक दृष्टि से भी वे सम्पन्न थे।

□ धर्मोपदेश-श्रवण

पत्नी थी अर्हदासी। वस्तुतः वह अर्हत् की दासी ही थी, पूर्ण पतिव्रता और शील सम्पन्न ! एक पुत्र था उनके, नाम था पुत्र का-विजयकुमार। बचपन उसका बाल-क्रीड़ाओं, खेल-कूद, लाड़-प्यार में व्यतीत हुआ। विद्याध्ययन की आयु में पुरुषोचित एवं व्यावसायिक वणिक्-विद्याओं का अध्ययन किया। यौवन की देहरी उल्लाँघते एक दिन माता-पिता के साथ मुनि दर्शनार्थ गये। धर्म-सभा चल रही थी। मुनिवर 'ब्रह्मचर्य' पर उपदेश दे रहे थे। सुना व्याख्यान और ब्रह्मचर्य की महिमा से ऐसे प्रभावित हुए कि ब्रह्मचर्य-व्रत पालन की अभिलाषा मन में जागृत हो उठी।

□ शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन का संकल्प

विचार किया—'पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन तो सम्भव कैसे होगा ? विवाह-योग्य आयु हो रही है मेरी, शादी की जाएगी, पत्नी आएगी। इन हालात में पूर्ण अखण्ड व्रत तो कैसे पालूँगा ?' बहुत सोच-विचार कर उसने मुनिश्री से शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन के शुभ संकल्प को करबद्ध हो, ग्रहण कर लिया।

□ 'विजय-विजया' : परिणय के बन्धन में

कालान्तर में विजयकुमार के माता-पिता श्रेष्ठि अर्हदास व अर्हदासी ने अपने पुत्र का विवाह कच्छ देश के ही सम्पन्न एवं जिनधर्म के पालक श्रेष्ठी धनवाह की सुपुत्री विजयाकुमारी से कर दिया। विजया रूप-सुन्दरी तो थी ही साथ ही गुण-सम्पन्ना भी थी। वह विदुषी थी, गृहकार्य में दक्ष थी, विवेकशीला थी और शीलसम्पन्ना थी। शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि को यह विवाह अत्यन्त धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

□ तीन दिन दूर प्रथम-मिलन

विवाह के पश्चात् दो अनजान युवा-हृदयों का प्रथम मिलन। कैसी रही होगी उन दोनों की वह मिलन-यामिनी ? जरा कल्पना कीजिए। सुहागशय्या पर प्रथम-मिलन की मधुर आकांक्षा में चमकते नयनों के भीतर हजारों सुखद-स्वप्न सँजोए एक सजी-धजी नववधू सिकुड़ी-सिमटी लज्जा की गठरी बनी अनजान युवा-साथी की प्रतीक्षा में बैठी हो और वह अनजान युवक चिन्तित-सा प्रवेश करे वहाँ फिर निकट आकर कहे सुन्दरी से कि अभी तीन दिन प्रतीक्षा करनी होगी हमें, हमारे प्रथम-मिलन के लिए।

प्रथम-मिलन की रात्रि में सुहागशय्या वाले कक्ष में जाने से पूर्व विजयकुमार सोच रहा था—‘कितना अच्छा होता यदि शादी का मुहूर्त तीन दिन बाद का होता ? क्या-क्या आकांक्षाएँ लिए बैठी होगी वहाँ विजया ? कैसे कहूँगा मैं उससे कि तीन दिन प्रतीक्षा करनी है ?’

बंधुओं ! व्रत तो निभाना ही था। मधुर रात में मधुर बातें और उन्हीं बातों में कह दिया विजय ने कि हमारे सुख भरे स्वप्निल दिनों की शुरुआत तो आज से तीन दिन बाद होगी।

□ होते ही कितने हैं तीन दिन ? पलक झपकते बीत जाएँगे

चौंक गई विजया। लज्जा से झुका सिर स्वचालित यन्त्र की तरह ऊपर उठा। बड़ी-बड़ी हरिणी-सी वे आँखें विजय के सुदर्शन चेहरे पर अटक गईं।

जिज्ञासा से उत्सुक बना चेहरा और नयनों के झरोखों में अड़ा-खड़ा प्रश्नवाचक चिह्न का-सा भाव।

विजया के इस चेहरे पर उभर आये प्रश्न का समाधान तो देना ही था, पर एकदम संकल्प की, व्रत की, प्रत्याख्यान की बात क्यों कही जाये ? अतः विजय ने कहा—“प्रतीक्षा की लम्बी घड़ियाँ, पूरे तीन दिन-बहत्तर घण्टे कैसे व्यतीत होंगे ? यही सोच रही हो न प्रिये ! अरे ! क्यों चिन्ता करती हो ? तीन दिन होते ही कितने हैं ? पलक झपकते व्यतीत हो जाएँगे।”

□ कारण क्या ?

समस्या का फिर भी समाधान नहीं था यह। तीन दिन थे प्रतीक्षार्थ पर क्यों करनी है तीन दिन प्रतीक्षा ? उत्तर नदारद था इसका। मुँह खोलना पड़ा उसे, बोलकर कहना पड़ा उसे—“प्रियतम ! आप तीन दिन की बात कर रहे हैं। भारतीय नारी तो तीन दिन क्यों, तीन मास और तीन वर्ष भी व्यतीत कर देगी, फिर भी चेहरे पर सिक्न तक नहीं लाएगी, पर मन की उत्सुकता है यह जो रोके रुक नहीं रही है। आखिर इस प्रतीक्षा का कारण ?”

प्रश्न सुनकर विजय कुछ देर मौन रहा। वह शब्दों को सँजो रहा था शायद कि तभी विजया ने कहा—“शायद आप परेशान हैं, क्या मुझसे कोई भूल हो गई है ?”

□ कारण है शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन का संकल्प

विजय तुरन्त बोला—“नहीं प्रिये, नहीं ! तुमने कोई भूल नहीं की। मैं वस्तुतः परेशान नहीं था, अपितु सोच रहा था कि अपनी बात किन शब्दों में कहूँ। प्रियतमे ! बात यह है कि विवाह से पूर्व किन्हीं मुनिवर का ब्रह्मचर्य-विषय पर उपदेश सुनकर उनसे मैंने यह व्रत ग्रहण किया

था कि आजीवन प्रत्येक माह के शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। आज शुक्ल पक्ष की द्वादशी है। पूर्णिमा तक तीन दिन शेष हैं और यही तीन दिन हमारे मधुर-मिलन में, प्रतीक्षा के दिन हैं।”

“स्वामी...!” कहा विजया ने और जैसे वह जड़ बन गई। उसे इस तरह स्तम्भित देख विजय हँसा और बोला—“बस! घबरा गई तुम? आश्चर्य है, तीन माह और तीन वर्ष भी प्रतीक्षा करके चेहरे पर सिकन न लाने वाली भारतीय नारी ने क्या हालत बना ली है?”

□ यह नारी तो आजीवन ब्रह्मचारिणी बनेगी

इस पर विजया ने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कहा—“स्वामी! यह भारतीय नारी और आपकी यह दासी तो आजीवन ब्रह्मचारिणी बनेगी। इसे भाग्य की विडम्बना कहिए अथवा सौभाग्य कह लीजिए। हम दोनों का मधुर-मिलन अब इस जीवन में सम्भव नहीं है।”

“क्या कह रही हो यह? प्राणप्रिया! कुछ तो विचार कर कथन किया करो। मैं जानता हूँ, इस समय तुम्हें क्रोध आ रहा होगा मुझ पर, लेकिन क्रोध में आकर इतनी बड़ी सजा का निर्णय तो मत करो।”—विजय बोला।

□ पति शुक्ल पक्ष में तो पत्नी कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन के लिए संकल्पित

बंधुओं! इस पर विजया ने अपने पतिदेव से कहा—“मैंने भी शादी से पहले किन्हीं जैन साध्वी से ब्रह्मचर्य की महिमा पर उपदेश सुना और तभी मैंने प्रति माह के कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन का संकल्प ग्रहण कर लिया। अतः अब हमारा विवाह असाधारण परीक्षा का पर्याय बन गया है। दोनों ने खण्ड व्रत ग्रहण किया था, पर संयोग ने उसे चमत्कारिक रूप से पूर्ण, अखण्ड व्रत बना दिया है। आप पालेंगे शुक्ल पक्ष और स्वामी! मैं पालूँगी कृष्ण पक्ष। अतः दोनों मिलकर पालेंगे पूर्ण मास, पूर्ण वर्ष, पूर्ण युग, पूर्ण जीवन।”

□ अब तो आजीवन अखण्ड शील-पालन होगा

विजय ने अपनी सहचरी, सहधर्मिणी के मुख से सुनी यह बात तो गहरी चिन्ता में पड़ गया। व्रत तो व्रत ही था। निभाना था दोनों को। बंधुओं! ‘शील वरत, मोटो वरत!’ बड़ा कठिन है इस शीलव्रत को निभाना। विजय और विजया ने, नव-परिणीत इस प्रणय-जोड़े ने अभिसार की उस प्रथम रात्रि में आजीवन शील निभाने का, ब्रह्मचर्य-पालन का, व्रत में अडिग बने रहने का एक-दूसरे को आश्वासन दिया।

□ हमारा अखण्ड शील-पालन सबके लिए रहस्य ही रहेगा

विजय ने कहा—“प्रिये ! मैं अपने को दुर्बल मानता था, अतः मैंने चाहेते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम नहीं लिया। तुमने मेरे जीवन में आकर मेरे जीवन को परिपूर्ण बना दिया, मेरी आत्मा को, अन्तर्मन को सजग-सशक्त बना दिया। हम दोनों आज से अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे और हमारा यह नियम एक रहस्य ही रहेगा।”

□ मातृ-हृदय ने पुकारा : दूसरी शादी का विजय को इशारा

विजया के भीतर एक मातृ-हृदय भी था। नहीं बन सकेगी वह माँ, पर इस घर को, इस खानदान को, इस वंश को एक दीपक तो चाहिए, वंश-परम्परा को आगे बढ़ाने वाला पुत्र भी तो चाहिए। सास-श्वसुर कितने उत्साह से पौत्र-प्राप्ति के लिए लालायित हो रहे होंगे। विजय ने भी अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया तो पुत्र कैसे होगा इनके ? पौत्र कैसे मिलेगा सास-श्वसुर को ? वंशानुक्रम की गति आगे कैसे बढ़ पाएगी ?

बहुत देर तक चिन्तन कर अत्यन्त धैर्य व शान्ति से विजया ने कहा—“नाथ ! आपने शुक्ल पक्ष का नियम लिया है, अतः आप शुक्ल पक्ष का ही पालन करिए। दूसरा विवाह रचा लीजिए अपना, जिससे मुझे एक बहन, एक सखी मिल जाएगी और इस खानदान को रोशन करने वाला, वंश को आगे चलाने वाला एक पुत्र भी प्राप्त हो सकेगा।”

□ विजय ने नकारा : अखण्ड ब्रह्मचर्य स्वीकारा

विजया की बात सुनकर विजय ने गम्भीरता से सिर हिलाते हुए उसकी बात को नकार दिया। विजय ने विजया को समझाया कि पुत्र होगा ही इसकी कोई गारण्टी नहीं ? पुत्र यदि सपूत नहीं निकले तो खानदान का नाम रोशन कैसे होगा ? मेरे कार्य से भी मेरे खानदान को कीर्ति प्राप्त हो सकती है। सन्तान बिगड़ गई तो बाप-दादाओं का नाम डुबा भी सकती है। अतः मेरे दूसरे विवाह की बात स्वप्न में भी मत सोचना तुम। तुम्हारे साथ मुझे यह उत्तम अवसर प्राप्त हो रहा है, अखण्ड ब्रह्मचर्य-पालन का। मैं इसे व्यर्थ नहीं खोना चाहता।

□ रहस्य जिस दिन प्रकट हो उस दिन ले लेंगे हम दीक्षा

इस पर विजया ने पूछ लिया—“प्राणाधिक ! यदि कभी हमारे रहस्य से परदा उठ गया तो ? माता-पिता को हमारे व्रत की जानकारी मिल गई तो ?”

विजय ने तुरन्त कहा—“धन्य हो जाएगा वह दिन, क्योंकि ऐसा दिन जब भी आएगा, हम दोनों दीक्षा लेकर संयम-पथ के अनुगामी बन जाएँगे। क्यों, तुम भी सहमत हो न ?”

विजया ने स्वीकृति दी और कहा—“यदि कभी ऐसा हो जाये तो हम दोनों का दुर्लभ यह मानवभव सफल बन जाएगा।”

□ विवाह रचाकर भी अविवाहित : साक्षी एक कमरा

बंधुओं! विवाहित वह जोड़ा विवाह करके भी अविवाहित-सा ही रहा। पति-पत्नी थे दुनियाँभर के लिए, पर एक कमरा.....मात्र एक कमरा साक्षी था कि वे पति-पत्नी होकर भी भाई-बहन थे। उस कमरे की चारों दीवारें चकित थीं कि इतने निकट रहकर भी कैसे वे अपने पर नियन्त्रण रख पाते हैं? उस कमरे की छत मुग्ध थी कि कितना दृढ़ संयम है इनके जीवन में? कमरे का फर्श शायद पहली बार यह अनुभूति कर रहा था कि आग के इतना निकट रहकर भी मक्खन नहीं पिघले यह असंभव भी इस विश्व में संभव है।

□ वर्षों तक रहस्य, रहस्य ही रहा

कितने मादक वसंत व्यतीत हो गये? कितनी ठिठुरती सर्दियाँ आकर चली गई? कितने ग्रीष्म, पतझड़, हेमन्त और वर्षा के मौसम आये-गये, पर उस कमरे का फर्श, छत, दीवारों आदि के अतिरिक्त कोई नहीं जान पाया कि वे दोनों विवाहित अखण्ड ब्रह्मचारी हैं। सम्पूर्ण आगमों में, सम्पूर्ण हिन्दू-ग्रन्थों में, विश्व के सम्पूर्ण धर्म-साहित्य में ढूँढ़ने पर भी ऐसा असाधारण, अद्वितीय प्रसंग नहीं मिल सकेगा, जहाँ एक कमरे में कितने ही वर्षों तक निरन्तर रात्रियाँ व्यतीत करने वाला विवाहित दम्पति-युगल पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालक हो।

□ और एक दिन परदा उठ ही गया : जिनदास का स्वप्न

रहस्य तभी तक रहस्य रहता है, जब तक उसका भेद नहीं खुल जाता। विजय सेठ और विजया सेठानी का अखण्ड ब्रह्मचर्य-पालन भी अब तक रहस्य ही था, पर एक दिन कुछ ऐसा प्रसंग बना कि वह रहस्य प्रकट हो गया। जो परदा अब तक गिरा हुआ था, वह उठ गया। बात यह हुई कि अंगदेश की चम्पानगरी के बारह व्रतधारी श्रावक श्रेष्ठी जिनदास को एक अजीब स्वप्न आया। स्वप्न में उसने देखा कि वह चौरासी सहस्र (८४,०००) मुनिराजों का एक साथ अपने हाथों से तपस्या का पारणा करा रहा है।

□ क्या है स्वप्न का फल ?

स्वप्न देखकर जगा तो स्वप्न की स्मृति कर उसके फल पर विचार करने लगा। एक साथ चौरासी हजार साधु! उन सभी को अपने हाथों से पारणा करवाना। यह कैसा स्वप्न? क्या हो सकता है इसका फल? क्या जो कुछ देखा वह व्यर्थ था? नहीं, प्रातःकाल देखा गया स्वप्न व्यर्थ नहीं होता, तो फिर क्या अर्थ है इसका? कौन बताएगा इस स्वप्न का

फल ? किसके पास जाकर पाऊँ अपनी समस्या का समाधान ? चिन्तन में उभरते अनेक प्रश्नों के घेरों में वह उलझता चला गया। दिन पर दिन व्यतीत होने लगे, पर उसे स्वप्नफल नहीं सूझ पड़ा।

□ केवली मुनि से पूछा समाधान

एक बार कोई केवलज्ञानी जैन-मुनि चम्पानगरी में पधारे। सेठ जिनदास की जैन-मुनियों में अगाध श्रद्धा थी। वह नगर के बाहर उद्यान में विराजित सन्तश्री के दर्शनार्थ गया। मुनि भगवंत एवं उनके शिष्य-समुदाय को यथाविधि वन्दन कर उसने मुनि भगवंत से पूछा— “प्रभो ! मैंने कुछ दिन पूर्व एक स्वप्न देखा है। स्वप्न में मैंने देखा है कि मैं चौरासी हजार जैन मुनिराजों को पारणा करा रहा हूँ। भगवन् ! क्या मेरा स्वप्न सत्य सिद्ध होगा ? यदि नहीं, तो भगवन् ! क्या अर्थ है इस स्वप्न का ?”

□ विवाहित दम्पती पर अखण्ड ब्रह्मचारी = ८४,००० साधु

मुनिराज केवलज्ञानी थे, सर्वज्ञ थे, समस्त चराचर के भूत-भविष्य-वर्तमान को हस्तामलकवत् देखते थे। बोले— “इस समय ८४,००० मुनियों का एकल संघाड़ा दुष्प्राप्य है, पर धरती पर ऐसे विवाहित दम्पती को, जिनमें विवाह-समय से ही एक शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत का आराधन कर रहा हो और दूसरा कृष्ण पक्ष में, उन दोनों पति-पत्नी को पारणा करा दो तो स्वप्न सफल बन जाएगा। ऐसे युगल पति-पत्नी ८४,००० श्रमणों के बराबर होते हैं।”

□ वह जोड़ा है—‘विजय और विजया का’

जिनदास ने कहा— “पर भगवन् ! क्या ऐसा जोड़ा धरती पर कहीं मिलेगा ? यह तो असम्भव-सा लगता है। विवाहित हों, पति-पत्नी बनकर जीवन व्यतीत कर रहे हों, पर ब्रह्मचारी हों—क्या ऐसा भी सम्भव है ?”

सर्वज्ञ केवली मुनिवर बोले— “देवानुप्रिय ! कच्छ देश में श्रेष्ठी अर्हदास का पुत्र विजय और उनकी पुत्रवधू विजया—ये दो ऐसे ही ब्रह्मचारी युगल हैं। तुम उनकी भक्ति करो। तुम्हारा स्वप्न फलित हो जाएगा।”

□ जिनदास द्वारा विजय-विजया की स्तुति

श्रेष्ठी जिनदास अंग देश से कच्छ देश गये। श्रेष्ठी अर्हदास से मिले। उनके पुत्र विजय तथा उनकी पुत्रवधू विजया को बुलाया। आने पर खड़े हो करबद्ध उनका स्तुति गान किया।

अंगदेश से सेठ जिनदास हमारे श्रेष्ठी अर्हदास के घर आये हैं, यह सुनकर नगर के अनेक श्रेष्ठी जिनदास से मिलने अर्हदास के घर आये। उस समय भी जिनदास विजय-विजया की स्तुति कर रहे थे। विजय-विजया संकुचित हुए जा रहे थे और सभी आश्चर्य कर रहे थे, क्योंकि उन्हें कोई कारण ऐसा नहीं प्रतीत हो रहा था, जिससे अर्हदास के पुत्र व पुत्रवधू ऐसे स्तुत्य लगे।

□ रहस्य खुलने पर सभी चकित

सबको चकित देखकर श्रेष्ठी जिनदास ने रहस्योद्घाटन करते हुए बताया कि धन्य हैं ये दोनों महाभाग ! अर्हदास श्रेष्ठी के ये पुत्र एवं पुत्रवधू साधारण श्रावक नहीं हैं। ये दोनों तो चौरासी हजार श्रमणों के समान गरिमामण्डित, स्तुत्य व पूज्य हैं। सर्वज्ञ केवली मुनि भगवंत के अनुसार इनकी भक्ति करना और इन्हें भोजन कराने का अर्थ है चौरासी हजार मुनिराजों की भक्ति करना और उनको भोजन कराने का प्रतिलाभ प्राप्त करना। सम्पूर्ण संसार में केवल यही एक युगल है जो विवाह से लेकर आज तक विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं।

जिसने सुना चकित था, विस्मित था, अचम्भित था। वायु-वेग की तरह यह बात पूरे राज्य में प्रसार पा गई। जिनदास ने दोनों पति-पत्नी को आग्रहपूर्वक भोजन कराया और अपने आपको धन्य मानने लगा।

□ विजय व विजया हुए दीक्षित, दोनों को मोक्ष मिला

पति-पत्नी ने रहस्य प्रकट हो जाने पर अपने पूर्व निश्चय के अनुसार संयम-पथ ग्रहण किया। कठोर तपश्चरण, शुद्ध संयम-पालन और रत्नत्रयी के सम्यक् आराधन से उन दोनों ने आयुष्य पूर्ण कर मुक्ति को प्राप्त किया।

कहावत तो यह है कि—‘घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध’ पर एक घर, एक कमरे में रहकर इस दम्पती ने शुद्ध शील का अखण्ड पालन करते हुए नई कहावत बनाई—‘घर के योगी, बन गये सिद्ध।’

[सती मदनरेखा]

□ मणिरथ और युगबाहु

राजा मणिरथ सुदर्शनपुर नगर का नृपति था। युगबाहु मणिरथ राजा का छोटा भाई था और वह सुदर्शनपुर राज्य का युवराज था। दोनों भाइयों में अत्यधिक स्नेह था। युगबाहु

मणिरथ को पितृतुल्य सम्मान देते थे व उनकी प्रत्येक आज्ञा का किसी भी कीमत पर पालन करते थे। मणिरथ राजा भी अपने छोटे भाई युवराज युगबाहु को पुत्रवत् मानते थे और उसकी सुख-सुविधाओं का पूरा ध्यान रखते थे।

□ मदनरेखा : युगबाहु की पत्नी

युगबाहु की पत्नी का नाम था मदनरेखा। यथा नाम तथा गुण। कामदेव-वल्लभ रति-सी कमनीय देहयष्टि ! सुन्दरता में साक्षात् मेनका ! कोमलता में पुष्प-पंखुड़ियों के समान ! सुलक्षणा, सुदर्शनीया और सुशीला। धर्म में जिसकी दृढ़ आस्था। सुन्दरता, यौवन और राजसत्ता-तीनों थे पर मद नहीं था इनका। मन में अहंकार का लेश भी नहीं। पूर्ण पतिव्रता थी वह और थी विवेकवती भी। एक पुत्र था इनके, नाम था चन्द्रयश।

□ मदनरेखा पर मणिरथ की कामदृष्टि

एक दिन मध्याह्न में स्नानादि से निवृत्ति के पश्चात् बाल सुखाने हेतु महल के गवाक्ष में खड़ी थी मदनरेखा। दूर अपने महल में खड़े मणिरथ की दृष्टि पड़ गई अपने लघु भ्राता की पत्नी मदनरेखा पर। दृष्टि वहाँ टिकी तो हटी नहीं। जिस दृष्टि में पुत्री का प्रेम होना चाहिए था उसके प्रति, उसी दृष्टि में वासना का सर्प फुंकार रहा था। जिस मदनरेखा के प्रति आँखों में अमृत-सा संजीवनी भाव होना चाहिए, वहाँ काम का हलाहल तैर रहा था।

□ उपहारों का चला सिलसिला

मदनरेखा की सुन्दरता ने मणिरथ के मन को विचलित कर दिया। उसका चिन्तन था कि ऐसा सुन्दर नारी-रत्न तो मेरे महलों में होना चाहिए। उसने उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए नित्य बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र आदि के उपहार भेजने प्रारम्भ किए। मदनरेखा के मन में कोई पाप नहीं था। वह जानती थी कि मणिरथ युगबाहु के प्रति पुत्रवत् व्यवहार करते हैं। अतः उसने सहज भाव से उन उपहारों को स्वीकार किया। मणिरथ ने इसका अर्थ कुछ और ही लगाया। उसने सोचा—‘मैं राजा हूँ, मेरे पास असीमित शक्ति और वैभव है। युगबाहु की पत्नी भी मेरी तरफ आकृष्ट है।’

युवराज्ञी मदनरेखा जन्म से ही गौरवर्ण, आकर्षक नयन-नक्ष, सुदर्शना थी। यौवन आने पर उसके रूप ने अधिक निखार पा लिया। विवाह के बाद पति-सुख प्राप्त कर वह प्रसन्नता से खिली हुई रहने लगी। अतः उसके चेहरे का लावण्य और अधिक बढ़ गया। इन दिनों वह गर्भवती थी। गर्भवती स्त्री की सुन्दरता कुछ और ही हो जाती है। मदनरेखा का ऐसा ही सौन्दर्य यह अनहोनी कर बैठा।

□ उपहार के साथ सन्देश भी

इस बार बहुमूल्य उपहार सामग्री एक चतुर दूती-दासी के साथ भेजते हुए राजा मणिरथ ने अपनी मन की प्रणय-भावना प्रकट कर देने का भी दासी को संकेत दिया। दूती-दासियाँ इस विशिष्ट कार्य में चतुर होती हैं। कामुक राजाओं के लिए ऐसी दासियों का विशेष महत्त्व होता है।

दासी सुन्दर थी, हँसमुख थी, वाचाल थी। बहुमूल्य उपहार युवराज्ञी मदनरेखा के समक्ष रखकर इधर-उधर की बातें करने लगीं। बातों ही बातों में उसने युवराज्ञी को बताया कि महाराज ने अपना हृदय, अपना सुख-चैन आपकी सुन्दरता को अर्पित कर रखा है, उनके हृदय और उनके नयनों में केवल आप ही आप हैं, वे कहा करते हैं कि ऐसा सौन्दर्य तो पटरानी बनने के योग्य है।

□ युवराज्ञी का चण्डी रूप : दासी तो भागी वहाँ से

इतना सुनना था कि उस पतिव्रता, सती नारी की आँखें रक्तिम हो गईं। कटु स्वर में दासी को डाँटते हुए युवराज्ञी ने कहा—“तेरी इतनी हिम्मत कैसे हुई कि तू इस तरह की बातें मेरे समक्ष करे। प्राण बचाना चाहती है तो निकल जा तुरन्त यहाँ से।”

युवराज्ञी में साक्षात् चण्डी का रूप देख दासी तो भागी वहाँ से और सीधे मणिरथ के महल में जाकर दम लिया। महाराज से कह दिया उसने कि वह नारी तो साक्षात् दुर्गा है, चण्डी है, चामुण्डा है। उसकी तरफ जाना, उससे कुछ कहना खतरे से खाली नहीं है। मैंने तो भागकर अपने प्राण बचाए हैं।

□ काम का नशा सिर चढ़कर बोला

बंधुओं ! कामान्ध पुरुष के लिए हर बात का चिन्तन एकपक्षीय होता है। राजा ने सुनी दासी की बात तो सोचा—‘अरे वाह ! सुन्दरता और वीरता, बड़ा सुन्दर मिश्रण है और यह मिश्रण मदनरेखा में है फिर तो उसका स्थान निश्चय ही मेरे इन महलों में है। मुझे कैसे भी हो, उसे पाना होगा।’

काम-वासना भी एक प्रकार का मादक नशा है और वह नशा ही क्या जो सिर पर चढ़कर नचाए नहीं। नारी का सौन्दर्य जब पुरुष की सुषुप्त काम-वासनाओं को जगाकर रग-रग में अंगारे भर देता है, उसे उद्दीप्त बना देता है तो ऐसे में कामान्ध पुरुष निर्लज्ज बनकर बड़े से बड़ा दुष्कृत्य करने पर उतारू हो जाता है। मन में जब काम-भावना रमण करती है तो अन्तर् के अन्य सारे भाव वहाँ से तिरोहित हो जाते हैं। मणिरथ के मन में भी काम-भाव का

ज्वार उफान ले चुका था, ऐसे में भ्रातृ-प्रेम या नैतिक आचरण अथवा पारिवारिक मर्यादाएँ आदि सभी निष्प्रभावी बन जाएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कहा भी है—

“कामातुराणां न भयं न लज्जा।”

□ कुचक्र : युगबाहु को मरवाने का

राजा मणिरथ का तो केवल एक ही चिन्तन, एक ही लक्ष्य, एक ही उद्देश्य था कि कैसे भी मदनरेखा को प्राप्त करना। कैसे भी उस कमनीय-कांता की सुन्दर देहयष्टि को प्राप्त कर अन्तर् में नृत्य कर रहे वासना-भूत के तूफान को शान्त करना। मन में घुसे वासना रूपी दैत्य ने मणिरथ के विद्रूप भावों को प्रकट होने के लिए विवश-सा कर दिया। उसकी कुचेष्टाओं ने सीमा को लाँघकर भाई को युद्ध में मरवाने का खेल रचाने की योजना बना डाली।

अपनी योजना के अनुसार उसने सीमा पर उत्पात मचा रहे आतताइयों की बात कहकर युवराज युगबाहु को सीमा पर शान्ति स्थापित करने का उत्तरदायित्व सौंपा। सीमा पर शान्ति स्थापित करने का सीधा अर्थ था—सेना लेकर जाना, युद्ध करना और मरना या मारना। मर जाएगा यदि सहोदर युगबाहु तो मदनरेखा विवश बनकर मेरी ही शरण में आएगी। नहीं मरेगा यदि तो वहाँ जाने, युद्ध करने और वापस लौटने में जितना समय लगेगा वह समय मेरे लिए स्वर्णिम अवसर होगा। पति की दूरी से पत्नी के भावों को परिवर्तित करने में अधिक आसानी रहेगी।

□ मदनरेखा के मन का संघर्ष

राजा मणिरथ ने युवराज को सेना के साथ सीमावर्ती इलाकों में शान्ति स्थापना के लिए भेजा। युवराज क्षत्रिय थे, सिंह-सम थे, युद्ध से वे क्या डरते? चेहरे पर प्रसन्नता और अन्तर् में साहस लिए प्रस्थान की तैयारी करने लगे। उस पवित्रात्मा को क्या पता कि योजना के मूल में मेरे अग्रज, पिता-तुल्य राजा मणिरथ का कौन-सा विद्रूप चेहरा क्या खेल खेल रहा है?

इधर मदनरेखा चिन्तित थी। जब से उसे ज्ञात हुआ कि युवराज पतिदेव को सीमा पर युद्ध-निमित्त भेजा जा रहा है, उसे मन ही मन यह आशंका खाने लगी कि हो न हो कुछ गड़बड़ है। जेठजी के इरादों में खतरे की गंध आ रही है, पर कैसे कुछ बताए वह अपने युद्ध के लिए प्रस्थित हो रहे पतिदेव को?

□ प्रशान्त बन विदाई देना

बंधुओं! उस क्षत्रिय-पुत्री को, क्षत्राणी को यह ज्ञात था कि विजय-अभियान के लिए जाते हुए योद्धा को ऐसी बातें अशान्त बना सकती हैं, उसे कमजोर कर सकती हैं, उसकी

एकाग्रता भंग कर सकती हैं। वह नहीं चाहती थी कि अपने सहोदर अग्रज के प्रति उसका युवराज पति कोई कुण्ठा, कोई आक्रोश लेकर युद्ध लड़े। वह यह भी नहीं चाहती थी कि इस समय ऐसी किसी बात को लेकर दोनों भाइयों में आपसी अनबन हो जाये। मन के भीतर तीव्र संघर्ष को वहीं दबा, उस साहसी नारी ने युवराज युगबाहु को प्रसन्न-मुख से विदा दी, मंगल-आरती उतारकर शुभ शकुन देते हुए विदा किया।

खतरा स्पष्ट था उस सती के लिए, संकट निश्चित था उस पतिव्रता के लिए, शील खतरे में पड़ने की पूर्ण सम्भावना थी उसके मन में, पर उसका आत्मबल मजबूत था, मन दृढ़ था, शील-रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करना उसके लिए साधारण बात थी। अतः वह शान्त रही, प्रसन्न दिखाया उसने अपने आपको पतिदेव के युद्ध-प्रस्थान-काल में।

□ युवराज यहाँ नहीं तो उपहार व्यर्थ

युद्ध के लिए युगबाहु के प्रस्थान के पश्चात् राजा मणिरथ पुनः कुचेष्टाओं पर उतर आया। इस बार उसने अत्यन्त बहुमूल्य वस्त्र व आभूषण, सौन्दर्य प्रसाधन, मेवे एवं शृंगार की अनेक अन्य वस्तुएँ दासी के साथ भिजवाईं।

राजा की दासी के हाथों लाई गई उन वस्तुओं को देखते ही युवराज्ञी की भृकुटी चढ़ गई, अन्तर् में ज्वाला सुलग उठी पर उसने अपने आपको सँभाला। इस समय कोई उत्पात खड़ा करना स्वयं उसके लिए अहितकर हो सकता था। उसने दासी से पूछा—“क्या बात है? यह सब किसलिए?”

दासी हँसी और बोली—“आप युवराज्ञी हैं, एक स्त्री का दिल है आपके भीतर, आप स्वयं समझ सकती हैं कि बात क्या है?”

इस पर युवराज्ञी ने कहा—“देख दासी! तुम्हारे युवराज अभी यहाँ नहीं हैं। उनकी अनुपस्थिति में ये सारे वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन मेरे लिए व्यर्थ हैं। तू इन्हें वापस ले जा।”

□ जैसा महाराज चाहते हैं, वैसा ही करें तो बेहतर

दासी उसी तरह हँसती रही और बोली—“युवराज्ञी! मुझे माफ करें। महाराज आपको अपने प्राणों से भी अधिक चाहते हैं। उनका प्रेम इन सारी वस्तुओं में झलक रहा है। मेरी प्रार्थना है कि इस तरह किसी के दिल को तोड़ना ठीक नहीं।”

युवराज्ञी को पुनः क्रोध आ गया। वह बोली—“दासी! तुम सीमा से आगे बढ़ रही हो। तुमसे जैसा कहा गया, तुम वैसा ही करो।”

दासी बोली—“वही तो। जैसा मुझे कहा गया है, मैं वैसा ही कर रही हूँ। आप भी जैसा महाराज चाहते हैं, वैसा ही करें तो बेहतर।”

□ जाती हो यहाँ से या... ?

युवराज्ञी ने कुपित होकर कुछ उग्र स्वर में कहा—“लगता है तुम्हें अपना जीवन प्रिय नहीं है। तुम जानती हो क्षत्राणी एक बार खड्ग हाथ में ले ले तो वह खड्ग बिना किसी का खून पिए वापस म्यान में नहीं जाता। बोलो क्या चाहती हो ? जाती हो यहाँ से या... ?”

युवराज्ञी के आगे कुछ कहने से पूर्व ही दासी उलटे पाँव लौट गई।

□ दुस्साहस की कोई सीमा नहीं होती

राजा मणिरथ ने दासी के मुँह से सारी बातें सुनी तो सोचा—‘सचमुच वह क्षत्राणी है। दासी को मन का भेद कैसे दे सकती है ? समर्पण भी कर देगी तो वह रहस्य ही बना रहना चाहिए। बहुत समझदार है वह। मुझे स्वयं उस सुन्दरी के पास जाना चाहिए।’

बंधुओं ! जैसा कि आपको बताया, काम अन्धा होता है, वासना का भूत नाच रहा हो तो व्यक्ति आगा-पीछा नहीं देखता, ऐसे व्यक्ति के दुस्साहस की कोई सीमा नहीं होती। जहाँ उसे अपना साहस बटोरकर आगे आना चाहिए, वहाँ तो वह जाएगा ही नहीं—मुँह छिपाएगा और गया भी तो पीठ दिखाकर लौट आएगा, पर जहाँ उसे नहीं जाना चाहिए, जिस जगह जाने से बचना चाहिए, जिस कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिए, वहाँ वह आकर्षित होगा। सप्त कुव्यसनों की बात ही लीजिए। सभी जानते हैं कि ये व्यसन सर्वनाशी हैं, तन-मन-धन का व्यर्थ नाश करवाते हैं, प्रतिष्ठा को दाँव पर चढ़ा देते हैं, इहलोक को मिट्टी में मिलाने के साथ परलोक भी बिगाड़ देते हैं, पर फिर भी संस्कारों से रहित व्यक्ति उलझ ही जाते हैं, इन कुव्यसनों में।

□ उलझने के पश्चात् छूटना अति दुष्कर

पर-स्त्री-गमन भी एक बहुत बड़ा कुव्यसन है। जो उलझ जाता है इसमें वह फिर छूट नहीं सकता इस जाल से। दुष्कर है फिर बाहर निकल पाना इस कुव्यसन से। हर व्यक्ति जानता है यह और यह भी जानता है कि सरे बाजार, सौ लोगों के समक्ष सिर पर जूते भी खाने पड़ सकते हैं, पर मक्खी का स्वभाव और कुव्यसनी का स्वभाव एक-सा होता है। मक्खी श्लेष्म पर बैठती ही है और बैठने के बाद मृत्यु ही उसकी गति है। जब तक नहीं मरती, अत्यन्त दुःख पाती है, छटपटाती है, छूटना चाहती है, पर ज्यों-ज्यों प्रयत्न करती है, अधिक फँसती जाती है।

□ मणिरथ मदनरेखा के महल में

बंधुओं ! यही स्थिति थी मणिरथ राजा की। सारे प्रयत्न विफल देख वह स्वयं चोरों की भाँति छिप-छिपकर एक अर्द्ध-रात्रि को मदनरेखा के महलों की तरफ चला गया। उसने खट्-खट् की आवाज की। दासी को द्वार खोलने के लिए कहा तो मदनरेखा जग गई। वह समझ गई कि खतरा सिर पर आ पहुँचा है। तुरन्त अन्य द्वार से निकलकर वह अपनी सासू जी के महल में चली गई। वहाँ सासू ने पूछा आधी रात में आने का कारण ? बंधुओं ! विवेकशीला उस नारी ने तब भी बात को सँभाले रखा। बोली—“शायद जेठजी रास्ता भूलकर मेरे महलों की तरफ आ गये हैं।”

□ रास्ता भूल गया शायद !

मदनरेखा की सासू ने उसे वहीं बिठाया। स्वयं दासी के साथ वहाँ पहुँची, जहाँ मणिरथ खड़ा द्वार खुलवाने के लिए प्रयत्नशील था। अपनी माता को अर्द्ध-रात्रि में उधर आया देख मणिरथ हड़बड़ा गया। उसने राजमाता से कहा—“मातुश्री ! आप..... ? इस समय ? इधर ?” तब राजमाता ने कहा—“बेटे ! यही मैं तुमसे भी पूछना चाहती हूँ। यह तो युगबाहु का महल है।” इस पर झेंपते हुए राजा मणिरथ बोला—“ओह माते ! रास्ता भूल गया शायद।” कहकर वह अपने महल की ओर चल दिया।

□ सीमा विजय कर युगबाहु का पुनः आगमन

उधर सीमान्त क्षेत्र के क्षेत्रपति को पराजित कर, उससे हर्जाना वसूल कर, संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करवाकर युवराज युगबाहु सीमा से वापस अपने नगर की ओर चले। शनैः-शनैः मंजिल के पथ को ससैन्य पार करते हुए, अपने मन में पुनः सभी पारिवारिक सदस्यों से मिलने की आशा सँजोए युगबाहु नगर के बाहर तक आ गये। एक उद्यान में सेना ने पड़ाव डाला। सन्देशवाहक के साथ अपनी जीत और नगर के बाहर उद्यान में आकर ठहरने का सन्देश राजा मणिरथ को भेजा।

□ नगर-प्रवेश कल होगा !

सुना मणिरथ ने, पर उसे कोई हार्दिक खुशी नहीं हुई। उसने जो योजना बनाई, वह असफल हो गई थी। उसका मन उद्विग्न हो गया, अन्तर् में हाहाकार म्रच गया, रोम-रोम में हीन-भाव की उदासीन-उत्तेजना फैल गई। काश ! वह कुछ ज्यादा समय बाद आता। काश ! वह वहीं मर-खप जाता।

मन के इन भावों को मणिरथ ने चेहरे पर नहीं आने दिया। ऊपरी मन से प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोला—“हम जानते थे कि वह जीतकर ही आएगा। भाई हमारा जो है। उससे कहना हम उसकी विजय से बहुत प्रसन्न हैं। रातभर उद्यान में विश्राम करे। कल समारोह के साथ उत्साहपूर्वक उसका विजय-तिलक कर, बधाई के साथ नगर-प्रवेश करवाया जाएगा।”

□ मदनरेखा का उद्यान पहुँचना

दूत चला गया। युगबाहु ने सुना सन्देश तो सहधर्मिणी मदनरेखा को भी अपनी विजय और लौटकर आने, नगर के बाहर उद्यान में पड़ाव, महाराज द्वारा वहीं रात्रि-विश्राम का आदेश व प्रातः समारोह के साथ प्रवेश आदि के समाचार प्रेषित किए। सेवक ने जाकर युवराज्ञी से सारे समाचार कहे। युवराज्ञी मदनरेखा का मन खटक गया। उसे लगा कि नगर के बाहर रोकना भी एक चाल हो सकती है। उसने निर्णय लिया कि वह भी तुरन्त यहाँ से नगर के बाहर उद्यान में जाएगी। दूत को वहीं रोका। दासियों को साथ लिया और अश्वारूढ़ दूत, वह युवराज्ञी, उसकी दासियाँ आदि रथों में नगर के बाहर उस उद्यान में पहुँचीं, जहाँ युवराज का डेरा था। यहाँ आने के पश्चात् यद्यपि युवराज्ञी मदनरेखा का मन कुछ-कुछ शान्त बना, पर कभी-कभी अशान्ति की एक लहर भीतर ही भीतर आकर उसको सिहराती हुई चली जाती थी। अशान्ति का कारण था राजा मणिरथ, उसकी बदनीयत, उसकी कुचेष्टाएँ।

□ मणिरथ द्वारा स्वयं युगबाहु की हत्या का निर्णय

उधर मणिरथ जैसे अग्नि शय्या पर पड़ा तड़फ रहा था। जल रहा था वह वासना की वह्नि में। कामाग्नि की ज्वालाएँ घेरे हुए थीं उसे। कोई उपाय नहीं सूझ रहा था उसे मदनरेखा को पाने का। कितने विचार आये और चले गये पर एक भी उपाय ऐसा नजर नहीं आया जो उसकी प्यास बुझा सके, उसकी वासना तृप्त कर सके, उसकी कामना पूर्ति कर सके। थक-हारकर उसके विचार जिस एक उपाय पर अटक रहे थे, वह उपाय था—‘स्वयं अपने हाथों युगबाहु की हत्या।’ पेट की भूख से वासना की भूख भयंकर होती है। उसने निश्चय किया कि भ्राता युवराज युगबाहु को सदा-सदा के लिए हटाना ही होगा, मौत की नींद सुलाना ही होगा, जो काँटा है, उस काँटे को अपनी तलवार के वार से नष्ट करना ही होगा।

□ युगबाहु मारा गया !

बुरे विचार पालन करने में व्यक्ति देर नहीं लगाता। होना तो यह चाहिए कि व्यक्ति अच्छे विचारों, शुभ-भावों, धर्म-चिन्तनाओं के पालन में विलम्ब न करे, पर सांसारियों की, पापियों की, अधर्मियों की रीति तो उल्टी ही होती है। उस गहन अँधेरी रात में मणिरथ नरेश चला युगबाहु की हत्या करने। हाथ में नंगी तलवार लेकर वह अश्व पर सवार हुआ और अश्व को

सरपट भगाते हुए ले चला उस उद्यान की ओर जहाँ शान्ति के साथ अपना कुछ समय व्यतीत करने की दृष्टि से ठहरे हुए थे युगबाहु और मदनरेखा और सिपाहीगण। दुष्टात्मा मणिरथ को रोकने का प्रयत्न किया युवराज के प्रतिहारी अंगरक्षकों ने, पर जब देखा कि स्वयं महाराज मणिरथ हैं तो जाने दिया अन्दर। तभी ध्यान आया कि हाथ में नंगी तलवार है। दौड़ पड़े वे मणिरथ के पीछे परन्तु तब तक मणिरथ भाई के तम्बू में प्रवेश कर गया था। सीधा पहुँच गया युगबाहु के शयन-कक्ष में। कुछ आहट सुनकर पहले जागी मदनरेखा। किसी अनिष्ट की आशंका से काँप उठी वह। पति को उठाया। युगबाहु उठे तभी मणिरथ ने वहाँ प्रवेश किया। आधी रात का समय, छोटे भाई का शयन-कक्ष, बड़े भाई के हाथ में नंगी तलवार। ये सब देखकर वह चकित बना कुछ विचार कर ही रहा था कि मणिरथ की तलवार विद्युत की तरह चमकी, युगबाहु की गर्दन पर गिरी और उसकी गर्दन धड़ से आधी जुड़ी रहकर लटक गई। कार्य सिद्ध होते ही मणिरथ रक्त-रंजित तलवार लिए भाग निकला वहाँ से।

□ अंगरक्षकों द्वारा पीछा किया जाना

इधर शयन-कक्ष के बाहर खड़े अंगरक्षकों ने मामले की गम्भीरता को समझा। वे दौड़े हुए अपने अश्वों के पास गये। एक ही छलाँग में अश्व पर चढ़ मणिरथ का, अपने ही महाराज का पीछा करने लगे। उनके मन में एक ही विचार था कि यद्यपि हम राज्य की ओर से नियुक्त हैं, पर हमारे स्वामी युवराज हैं। उनका अनिष्ट करने वाले को छोड़ना हमारी कर्तव्यहीनता है। आगे महाराज मणिरथ, पीछे युवराज के अंगरक्षक। अँधेरा था फिर भी घोड़ों की टापों के सहारे अंगरक्षक बढ़ रहे थे।

□ मणिरथ को सर्पदंश

रक्त-रंजित तलवार हाथ में लिए भागते महाराज मणिरथ को अपने पीछे दौड़ते हुए घोड़ों के पैरों की टप...टप...टप... आवाजें सुनाई दीं। उसने अपने अश्व की गति और तेज की। तभी अचानक उसके अश्व का एक पैर उसी राह में चल रहे सर्प की पूँछ पर पड़ा। घायल और क्रोधित सर्प अश्व का पीछा करने लगा। कुछ ही सेकण्डों में पूँछ के बल खड़े होकर उसने राजा मणिरथ के शरीर में दंश दे दिया।

बंधुओं! अति भीषण पाप का फल कभी-कभी इस तरह तुरन्त भी मिल जाता है। प्राणी जो करेगा, जिस भावना से करेगा, उसका वैसा फल उसे भोगना ही होगा—यही महावीर का अटल सिद्धान्त है। कभी प्राणी को अपने किए का फल शीघ्र मिलता है तो कभी देर से। कभी वह फल इसी जन्म में मिल जाता है तो कभी आने वाले किसी जन्म में मिलता है।

□ मरकर चतुर्थ नरक में

उस अति भयंकर विषधर के दंश के पश्चात् कुछ ही समय में सर्प-विष राजा मणिरथ के पूर्ण शरीर में फैल जाता है, पूरा शरीर नीलवर्ण का हो जाता है और वह मर जाता है। वह अश्व से गिर जाता है, समझदार अश्व वहीं खड़ा हिनहिनाने लगता है। अपने पापों के फलस्वरूप मणिरथ मरकर चौथी नरक में जाता है।

पीछे अश्व दौड़ाते आ रहे अंगरक्षक अँधेरे में रुके हुए घोड़े की हिनहिनाट सुन, रुकते हैं। किसी तरह आग जलाकर वह दृश्य देखते हैं और सारा घटनाचक्र समझकर अपने शिविर की ओर चल देते हैं।

□ युगबाहु को मदनरेखा का उद्बोधन ! मरकर देव बनना !

ज्येष्ठ का आना, तलवार चलाना और युगबाहु की गर्दन आधी लटक जाना, उसका धड़ाम से पृथ्वी पर गिरना—यह सब पलक झपकते हो गया। वहाँ की धरती रक्त से रंजित हो गई। युगबाहु धरती पर गिरकर अत्यधिक वेदना से तड़पने लगा।

धड़ से आधे अलग हुए युगबाहु के चेहरे पर अब भी अविश्वास का भाव था। तभी चेहरे में परिवर्तन हुआ और वहाँ क्रोध की परछाईं पड़ने लगी। मदनरेखा ने दम तोड़ते हुए अपने पति का सिर अपनी गोद में रखकर उसे शान्त बनाते हुए कहा—“नाथ! आपका अन्तिम समय है। भाई के प्रति क्रोध और मेरे प्रति मोह के भावों का त्याग कर दीजिए। अपनी गति को सुधारने का प्रयत्न करिए। मन को नियन्त्रित कर शान्त बनाइए और पंच-परमेष्ठि मन्त्र का स्मरण कीजिए।” युगबाहु ने ऐसा ही किया और इस प्रकार अपने को दुर्गति में जाने से बचा लिया। उस परम शीलवती मदनरेखा ने पति की गति को सुधार दिया। वह देवगति का अधिकारी बना।

□ वन में मदनरेखा द्वारा पुत्र-प्रसव

मदनरेखा ने दीर्घदृष्टि से विचार करते हुए वहाँ ठहरना, विपदा को निमन्त्रण देने के समान समझा। वह सुदर्शनपुर त्याग मध्य-रात्रि में ही पूर्व दिशा में वन की ओर चली गई। प्रातःकाल उसने अपने आपको एक सरोवर के निकट पाया। एक तरफ कदली-गृह दिखाई दिया उसे, अतः अपनी थकान दूर करने के उद्देश्य से वह उसके भीतर चली गई। कुछ देर विश्राम कर थकान मिटाई। थकान जब मिटी तो भूख ने बेचैन करना प्रारम्भ किया। उसने इधर-उधर देखा। खाने योग्य परिचित वनफल के वृक्ष देख कुछ वनफल तोड़े और उन्हें खाकर अपनी क्षुधा मिटाई।

रात्रि घिरने लगी तो उसने सागारी संधारे के प्रत्याख्यान लिए और वहीं सो गई। अर्द्ध-रात्रि में उसे प्रसव पीड़ा हुई। उसने इस कठिन समय में पंच-परमेष्ठी मंत्र का जाप प्रारम्भ किया। सूर्योदय-समय से कुछ पूर्व उसने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

□ मदनरेखा फिर संकट में

नवजात शिशु के गले में युवराज युगबाहु का नामांकित पैण्डुलम वाला लॉकेट डालकर युवराज्ञी ने अपना रत्नकम्बल उतारा और पेड़ की डाली पर झूला-सा बनाकर नवजात पुत्र को उसमें लिटा दिया। स्वयं युवराज्ञी सरोवर के किनारे गई और वहाँ बैठकर शरीर-शुद्धि करने लगी। अकस्मात् एक हस्ती उधर आया, उसने मदनरेखा को अपनी सूँड़ में उठाया और आकाश में उछाल दिया। संयोग से ठीक उसी समय वहाँ से एक विद्याधर अपने विमान में नन्दीश्वर द्वीप जा रहा था। उसने उसे ऊपर ही झेलकर पुनः धरती पर गिरने से बचा लिया। प्राण तो बच गये उसके, पर उसका शील पुनः विपदा में पड़ गया। सूँड़ में उठाकर हाथी द्वारा फेंके जाने के समय अत्यधिक भय व घबराहट के कारण वह बेहोश हो गई थी। होश में आई तो विद्याधर ने उसे अपनी पत्नी, प्रियतमा, प्रेयसी बनाने के लिए प्रणय निवेदन किया।

□ रक्षक विद्याधर का प्रणय निवेदन

पुनः अपना सतीत्व-धर्म संकट में पड़ा देख वह भयभीत हुई। भय से भी अधिक चिन्तित थी वह अपने नवजात पुत्र के लिए। उसने साहस बटोरकर कहा—“आप कौन हैं ? मैं कहाँ हूँ ? मेरा पुत्र कहाँ है ?” इस पर विद्याधर ने बताया कि “तुम्हारा पुत्र जो पेड़ की डाल से झूले में लटक रहा था, मिथिलापति पद्मरथ को मिला है और वह उसे अपने साथ राजमहलों में ले गया है। अतः उसकी चिन्ता त्यागो और मेरे साथ चलकर मेरे महलों में सुखभोग करते हुए अपना जीवन आनन्द के साथ व्यतीत करो।”

आश्वस्त मदनरेखा ने तब पुनः प्रश्न किया—“लेकिन आप कौन हैं ?”

विद्याधर ने कहा कि “मैं वैताह्य पर्वत स्थित गान्धार देश के रत्नावह नगर का विद्याधर मणिप्रभ हूँ। विद्याधरों का नरेश हूँ। मेरे पास किसी वस्तु की कमी नहीं है। मेरा ऐश्वर्य देखोगी तो दंग रह जाओगी। मैं तुम्हें अपनी पटरानी बनाऊँगा।”

□ आकाश से गिरकर खजूर में अटकना

मदनरेखा ने सोचा—‘आकाश से गिरी तो खजूर में अटकी। अब किसी तरह इससे अपने शील की रक्षा करनी होगी। इसकी बातों से तो लगता है कि यह कम से कम विमान में कोई गड़बड़ी नहीं करेगा। यदि करेगा तो विमान से गिरकर प्राण त्यागने के अतिरिक्त मेरे

पास अन्य कोई उपाय नहीं है। खैर, जो होगा सो देखा जाएगा।' निश्चिन्त बनकर उसने पूछा—“जा कहाँ रहे हो?” विद्याधर ने बताया कि “मेरे पिता जंघाचारण मुनि से दीक्षित मणिचूड़ नामक अणगार हैं, उन्हें चौथे मनःपर्यायज्ञान की उपलब्धि हुई है। मुझे जानकारी प्राप्त हुई, अतः मैं उनके दर्शन के लिए जा रहा था।”

□ मुनि-दर्शन की अभिलाषा

सती ने सोचा—‘अब मेरे सतीत्व की रक्षा का उपाय हो सकता है।’ उसने प्रसन्न-वदन कहा—“यह बहुत अच्छा है। मुनि-दर्शन की लालसा मेरे दिल में भी बहुत दिनों से है, चलो आज यह इच्छा पूर्ण हो जाएगी।” इधर उसके मुँह से शब्द निकल रहे थे, उधर उसका मन कह रहा था—‘मुनिवर ‘मनःपर्यायज्ञान’ के धनी हैं। अतः मन की सारी बातें जानकर अवश्य ही ऐसा उपदेश देंगे कि इस विद्याधर भाई का मन पावन बन जाएगा।’

□ मनःपर्यवज्ञानी मुनि के दर्शन, उपदेश-श्रवण !

उधर विद्याधर विमान घुमाकर इस सुन्दरी को अपने महलों में छोड़कर तब पुनः पिता मुनिराज के दर्शन हेतु जाने का मानस बना रहा था, पर जैसे ही उसने सुन्दरी को प्रसन्न-वदन देखा और निस्संकोच पिता-मुनिवर के दर्शनों के लिए जाने को उत्सुक देखा तो अपना विमान घुमाने का विचार त्याग दिया। इस तरह विमान पुनः मनःपर्यवज्ञानी मुनिराज के विराजने के स्थल की ओर दौड़ने लगा।

कुछ ही देर में वह स्थान आ गया। दोनों विमान से उतरे। दोनों ने मुनिवर को वन्दन किया और धर्म-सभा में यथास्थान धर्मोपदेश श्रवण करने बैठ गये। मणिप्रभ के पिता मुनि मणिचूड़ ने अपने ज्ञान-चक्षुओं से दोनों के अंतःकरण की भावनाओं को भाँप लिया। पुत्र के हृदय-परिवर्तन के लिए मुनिवर ने संसार की नश्वरता, जीवन की क्षणिकता और काम-भोगों के महाभयंकर दुःखदायी परिणामों पर अत्यंत प्रभावी उपदेश दिया।

□ विद्याधर का हृदय-परिवर्तन

मुनि-उपदेश अत्यन्त हृदयग्राही, तीव्र प्रभावी था। विद्याधर का विचलित मन परिवर्तित हो गया। उसने उसी समय मदनरेखा को बहन कहकर अपने दुष्चिचारों के लिए क्षमायाचना की।

उसी धर्म-सभा में एक तेजस्वी देव ने आकर मदनरेखा को प्रणाम किया फिर मुनिवर को वंदन किया। विद्याधर द्वारा कारण पूछे जाने पर मुनिवर ने बताया कि यह देव अपने पूर्वभव में मदनरेखा का पति युगबाहु था। मरते समय इसके क्रोध और मोहभाव को मदनरेखा

के उपदेश ने नष्ट किया। पंच-परमेष्ठि जाप व समभाव के कारण यह देवगति का अधिकारी बना। अपनी पत्नी के महान् उपकार के कारण उसने पहले इस शीलवती नारी को प्रणति दी है। मुनिवर ने मणिरथ की दुर्गति की घटना भी बताई और बताया कि युगबाहु एवं मदनरेखा का बड़ा बेटा चन्द्रयश अब सुदर्शनपुर का राजा है।

□ मदनरेखा श्रमणी बनी !

तभी देव ने मदनरेखा से कहा—“मैं तुम्हारे उपकार का परम आभारी हूँ। मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहिए, मैं अवश्य आपका कार्य करूँगा।”

मदनरेखा ने कहा—“मेरे भाव श्रमणी बनकर रत्नत्रयी की साधना करने के हैं।”

देव ने उसे अपने विमान में बिठाया और मिथिला नगरी के बाहर विमान से उतरकर मदनरेखा को नगर के एक उपाश्रय के निकट छोड़ दिया। मदनरेखा ने साध्वी जी से दीक्षा-मन्त्र ग्रहण कर श्रमणी-धर्म अंगीकार किया।

उधर जिस नवजात-पुत्र को मदनरेखा ने कदलीगृह में पेड़ की डाल में झूलते छोड़ा था, कुछ देर पश्चात् अपनी प्रकृति के अनुसार वह रोने लगा। उसके रोने की यह आवाज मिथिला नरेश पद्मरथ ने सुनी। वे जंगल में भ्रमणार्थ आये थे, पर उनका अश्व बिदककर भागा और इधर चला आया। पद्मरथ उस नवजात बालक की आवाज सुन आश्चर्य करने लगे। इस बियावान जंगल में, किसी बहुत छोटे शिशु के रोने की आवाज का आना, उनके लिए ही क्या, घटना से अनजान किसी भी व्यक्ति के लिए आश्चर्यजनक ही था।

राजा पद्मरथ आवाज की दिशा में गया। कदलीगृह के निकट पहुँचा तो आवाज उसी तरफ से आ रही थी। घोड़े से उतर कदलीगृह में गया। सचमुच एक सुन्दर तेजस्वी बच्चा था। राजा पद्मरथ फिर बाहर आए। देखा उधर-इधर। कोई दिखाई नहीं दिया। राजा पद्मरथ ने फिर भी वहाँ ठहरकर किसी के आने की प्रतीक्षा की। बड़ी देर तक कोई नहीं आया तो उसने बच्चे को झूले में से उठाया और अश्व पर चढ़कर अपने नगर मिथिला में पहुँच गया। बच्चे को रानी पुष्पमाला की गोद में दिया। पुष्पमाला बच्चे को देख अत्यधिक प्रसन्न हुई। राजा ने बच्चे के मिलने की सारी घटना सुनाई।

बंधुओं! बच्चा राजसी ठाट से पलना चाहिए था, राजसी ठाट से ही पलने लगा। उसके आने के पश्चात् शत्रु स्वतः झुकने लगे। अतः नाम रखा गया ‘नमिकुमार’। युवा होने पर १००८ इक्ष्वाकुवंशी राजकन्याओं के साथ उसका विवाह कराया गया। राज्य-भार सँभालने योग्य होने पर महाराज पद्मरथ ने उसका राज्याभिषेक करवाया और स्वयं मुनि-धर्म में दीक्षित बन संयम-पथ पर अग्रसर हो गये। उधर मणिरथ के मर जाने पर युगबाहु के बड़े पुत्र

चन्द्रयश को सुदर्शनपुर के राजसिंहासन पर बिठाया गया। इस प्रकार दोनों सहोदर दो अलग राज्यों के राजा बन न्याय-नीतिपूर्वक अपने-अपने राज्यों की सुव्यवस्था करने लगे।

एक दिन नमि राजा का सर्वश्रेष्ठ श्वेतवर्ण पट्ट हस्ती मदोन्मत्त होकर बंधन तुड़वा नगर के राजमार्गों पर लोगों को त्रास देते हुए भागने लगा। भागते हुए वह हस्ती जंगल की ओर निकल गया तथा संयोग से सुदर्शनपुर की सीमा में प्रविष्ट हो गया। सीमा-सुरक्षा के लिए नियुक्त सुभटों ने उस हस्ती को पकड़ा और महाराज चन्द्रयश की हस्तिशाला में बाँध दिया। महाराज चन्द्रयश को सूचना मिली। वे आये अपनी हस्तिशाला में और उस विशालकाय श्वेतवर्णी हस्ती को देख बहुत प्रसन्न हुए। गज-विद्या के ज्ञाताओं ने बताया कि वह हस्ती हस्तियोग्य समस्त लक्षणों से सम्पन्न है।

□ हस्ती के लिए दो सहोदर राजा युद्ध को तत्पर

उधर नमि राजा ने हस्ती को ढूँढ़ने के लिए राज्य के गुप्तचर विभाग को लगाया। आठ दिन बाद गुप्तचरों ने सूचना दी कि वह हस्ती सुदर्शनपुर की हस्तिशाला में है। महाराज चन्द्रयश से हस्ती की माँग की गई, पर वह हस्ती नहीं, अपितु हस्ती-रत्न था, उत्तम लक्षणों से युक्त था। अतः महाराज चन्द्रयश ने उसे लौटाने से इनकार कर दिया।

उस हस्ती को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर महाराज नमि ने सुदर्शनपुर पर ससैन्य-आक्रमण कर दिया। चन्द्रयश नरेश भी उतर आया अपनी सैन्य सजाकर युद्ध के लिए।

□ साध्वी मदनरेखा ने कराया युद्ध बंद

साध्वी मदनरेखा ने सुना इस युद्ध के सम्बन्ध में तो वे गुरुवर्या के चरणों में पहुँचीं और बताया कि एक हस्ती के निमित्त सेनाओं को आमने-सामने खड़ा कर युद्ध के लिए तत्पर दोनों राजा वस्तुतः सहोदर हैं और मेरे ही सांसारिक पुत्र हैं। यह बात, यह रहस्य केवल मैं ही जानती हूँ। मैं चाहती हूँ कि यह युद्ध न हो, रक्तपात और हिंसा का तांडव नृत्य अपनी विभीषिका न दिखाए, लाखों योद्धा व्यर्थ के इस युद्ध में न मारे जायें।

गुरुणी ने साध्वी जी की अहिंसा और करुणा भावना की सराहना की और उन्हें युद्ध के मैदान में दोनों राजाओं के पास जाकर रहस्य को प्रकट करते हुए उन्हें यह युद्ध न करने को प्रेरित करने की अनुमति दी। महासती गई युद्ध-स्थल पर। मिली दोनों नरेशों से। प्रकट किया उन पर यह रहस्य कि वे दोनों सहोदर हैं और यह साध्वी उन दोनों की माता हैं। युद्ध टल गया। दोनों सहोदर आपस में गले मिले। साध्वी जी को उन्होंने भावपूर्वक श्रद्धायुत् वन्दन किया।

□ बड़ा भाई दीक्षित : छोटा दो राज्यों का राजा

बड़े भाई चन्द्रयश संसार से विरक्त बन गये। उनका अपना कोई पुत्र नहीं था, पर सहोदर पा लिया था उन्होंने, अतः अपने लघु सहोदर को सुदर्शनपुर का राज्य सौंप दिया और स्वयं पंचमुष्टि लोचकर श्रमण बन गये। आपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप की सम्यक् आराधना की, कैवल्य प्राप्त किया और अंतिम समय में आलोचना कर संथारापूर्वक मोक्ष में जा विराजमान हुए।

नमि महाराज ने बहुत वर्षों तक मिथिला व सुदर्शनपुर के शासन का संचालन किया। एक बार दाह-ज्वर से ग्रसित हुए, एकत्व भावना भाई, प्रत्येकबुद्ध बने, पुत्र को राज्य सौंपकर स्वयं दीक्षित हुए और मोक्ष में जा विराजे। (देखें—बड़ी साधु वन्दना, प्रवचन भाग १, प्रवचन संख्या ९)

□ महासती ने पाया मोक्ष

महासती मदनरेखा ने भी अपना शेष जीवन निरतिचार संयम-पालन व उग्र तपश्चरणपूर्वक व्यतीत किया। अंतिम समय में अपने व्रतों की आलोचना कर संलेखना-संथारापूर्वक आयुष्य पूर्ण किया। अष्ट कर्मों को क्षय कर मोक्ष में जा विराजित हुई।

[सती द्रौपदी]

बड़ी साधु वन्दना, कड़ी ५१ व ५२ का विवेचन करते समय महासती द्रौपदी का जीवन-प्रसंग बताया जा चुका है। (देखिए—बड़ी साधु वन्दना, प्रवचन भाग २ का प्रवचन संख्या ४९)। उन कड़ियों में युधिष्ठिर के जुआ खेलने, दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीरहरण, वनवास के १२ वर्ष व अज्ञातवास का एक वर्ष, महाभारत युद्ध आदि के विवरण नहीं आ पाये थे। अतः उन छूटे हुए प्रसंगों का विवरण आपके सामने रखा जा रहा है।

□ पंच-पांडव पत्नी द्रौपदी दाँव पर

पाँच पांडवों के सौ चचेरे भाई कौरव कहलाते थे। वे सभी धूर्त, धोखेबाज और ठग विद्या में निपुण थे। सौ कौरवों में दुर्योधन सबसे बड़ा था। वह चाहता था कि किसी भी तरह पांडवों का राज्य हम हड़प लें और सुखपूर्वक रहें।

योजना बनाकर एक दिन दुर्योधन ने सरलमना युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए आमंत्रित किया। उस युग में जुआ का निमंत्रण देने व निमंत्रण को स्वीकार कर जुआ खेलने की परम्परा थी। इतिहास साक्षी है कि कुव्यसन सम्बन्धी इन परम्पराओं ने बहुत बड़े-बड़े

उथल-पुथल मचाए हैं। इन्हीं के कारण महायुद्ध भी हुए हैं और उन्नति के शिखर पर बैठे राज्य और राजा पतन के गहरे खड्डे में गिरे हैं। व्यसन चाहे कोई भी हो, यदि दुर्व्यसन है तो इस लोक में भी तन-मन-धन, समय-शक्ति, सम्पत्ति की हानि का कारण बनता है और परलोक में भी गति बिगाड़ता है।

□ जुआ ने सर्वस्व छीन लिया

युधिष्ठिर ने दुर्योधन का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। दोनों जुआ खेलने लगे। युधिष्ठिर ने अपने सारे राज्य को दाँव पर लगा दिया और वे राज्य हार गये। कुछ समय पहले के राजा अब रंक थे।

हारा हुआ जुआरी जीत की आशा में खेल छोड़ नहीं पाता। युधिष्ठिर ने राज्य हारने के बाद अपने चारों भाइयों को दाँव पर लगाया और उन्हें भी जुए में हार गया।

हारने के लिए कुछ न बचा तो उसने अपने आपको भी दाँव पर चढ़ा दिया। हार गये वे स्वयं अपने को भी। अब राजा से रंक बने पांडव, रंक से दास बन गये।

कौरवों के तानों को सुनकर और उनके उकसाने पर युधिष्ठिर ने अन्तिम दाँव के रूप में द्रौपदी को लगाया और उसे भी हार गये।

□ द्रौपदी की दुर्दशा

हस्तिनापुर के सिंहासन पर अब दुर्योधन बैठा था। पाँचों पांडव उस राजसभा में नंगे सिर, अपने सिरों को शर्म से झुकाए खड़े थे। दुर्योधन के आदेश पर उसी समय दुःशासन द्रौपदी के महलों में गया और उसकी चोटी पकड़कर लगभग घसीटते हुए उसे राजसभा में ले आया।

बंधुओं ! जिस सभा में उसे इस तरह घसीटकर लाया गया था, उस सभा में उस समय के महान् दुर्धर योद्धा भीष्म, धुरन्धर राजनीतिज्ञ गुरु द्रोण, महान् नीतिज्ञ एवं स्वभाव से महात्मन् विदुर आदि बैठे थे। अनेक बुजुर्ग यह दृश्य देख रहे थे, पर सभी शांत थे, मौन थे, मूकदर्शक थे।

□ द्रौपदी ने माँगा न्याय !

द्रौपदी यह अत्याचार सहन नहीं कर सकी। उस पांचाली ने शेरनी की तरह गर्जना करते हुए कहा—“मेरे साथ घोर अन्याय हो रहा है और आप इतने गुणी, विद्वान्, नीति-निपुण लोग चुपचाप बैठे तमाशा देख रहे हैं। क्यों आप सब पत्थर की मूर्ति बन गये हैं? क्यों आप लोगों की जबान पर ताला लग गया है? क्या आपके वंश, कुल, राज्य की यही संस्कृति है? एक

अबला नारी और इतना बड़ा यह शक्तिशाली पुरुष-समाज ? शायद सभी की शक्ति अबला पर अन्याय करने के लिए ही शेष रह गई है।”

सिंहासन पर बैठे दुर्योधन ने कहा—“चिल्ला मत द्रौपदी ! इस सभा में तुझे एक रानी की हैसियत से नहीं, अपितु एक दासी की हैसियत से लाया गया है। तेरे पति ने जुए में यह राज्य हारा, अपने भाइयों को हारकर उन्हें दास बनाया, स्वयं अपने आपको हार गया तेरा पति और वह भी हमारा दास बन गया। तुझे भी तेरे पति ने दाँव पर लगा दिया और हार गया। अब तू पाँच पांडवों की पत्नी नहीं सौ कौरवों की दासी है। हाँ ! पूर्व जैसे राजसुख भोगना चाहती है तो मेरे पास आ, मेरी जंघा पर बैठ।”

□ जो स्वयं हार गया, उसका मुझ पर अधिकार कैसे ?

इस पर द्रौपदी ने निर्भीक स्वर में सिद्ध किया कि उसे दाँव पर रखना अवैधानिक था, अतः न्याय-नीति की दृष्टि से वह दासी नहीं मानी जा सकती। उसने कहा—“जब मेरे पति अपने आपको हार चुके थे तो उन्हें मुझे दाँव पर लगाने का कोई अधिकार ही नहीं था।”

भीष्म, विदुर आदि बुजुर्ग द्रौपदी के इस तर्क से सहमत तो थे, क्योंकि सत्य भी यही था, पर वे चुप थे। उन्हें डर था कि दुर्योधन कहीं भरी सभा में उनका भी अपमान न कर दे।

□ सबल से भय ही अन्याय, अनीति को बढ़ावा देता है

आत्मार्थी सज्जनों ! यह डर ही अन्याय, अनीति, अत्याचार का जनक है। व्यक्ति जहाँ डरना चाहिए वहाँ तो निडर बनता है, निश्शंक बनता है और जहाँ नहीं डरना चाहिए वहाँ भयभीत होकर चुप्पी साध जाता है। वह सहन कर लेता है अन्याय-अनीति को, मूकदर्शक बना रह जाता है आँखों के सामने अत्याचार होते देखकर। अरे डरना है तो पाप-कर्म से डरो, चोरी-जारी से डरो, आरंभ-परिग्रह से डरो ! आज समाज में पुंसत्व की घोर कमी अनुभव की जा रही है। दिन-दहाड़े, प्रत्यक्ष, लोगों के समक्ष किसी को भी गोली मार दी जाती है, लूट लिया जाता है, बलात्कार कर दिया जाता है, पर अंदर में जागृति नहीं आती, पुरुषत्व प्रकट नहीं होता, नहीं बढ़ती हृदय की धड़कन, नहीं फड़कती भुजाएँ। कारण क्या ? विचारों में हीन भाव, पुंसत्वहीनता।

□ चीर-हरण आदेश

तभी दुःशासन की ओर संकेत कर दुर्योधन ने कहा—“इनके राजसी चिह्न, वस्त्र उतरवाओ, दास-दासी के योग्य वस्त्र मँगाकर पहनाओ।”

लाये गये पाँच पांडवों के लिए फटे-पुराने उतरे हुए वस्त्र। समय की मार के आगे विवश पांडवों ने सारे राजसी चिह्न व वस्त्र उतारकर वे चिथड़े पहन लिये।

द्रौपदी ने अपने लिए लाए वस्त्र को हाथ से उठाना तो दूर आँख उठाकर भी उस वस्त्र को नहीं देखा।

यह देख दुर्योधन का क्रोध फूट पड़ा। लावा उगलते हुए बोला वह—“अरे दुःशासन ! देखते क्या हो इस द्रौपदी को ? नहीं उतारती अपने वस्त्र यह अपने हाथों से, तो तुम्हें मेरी आज्ञा है, तुम इसके कपड़े यहीं सभा में उतार दो। यह तो निर्वस्त्र ही शोभा देगी हमारे बीच।”

द्रौपदी का खून खौल उठा, पर इससे क्या होता ? पांडव ! पाँच पांडव !! शक्तिशाली पांडव !!! द्रौपदी के पाँच पति !!! विवश थे वे भी, जुए के कारण दासत्व से जकड़े हुए थे वे। पूरी राज्यसभा में कोई भी तो नहीं था जो उस विवश-अबला की रक्षा कर सके।

दुःशासन ने द्रौपदी की साड़ी को, उसके एक पल्लू को पकड़ा और उस अबला को निर्वस्त्र बनाने के लिए साड़ी खींचने लगा।

□ नवकार महामंत्र स्मरण से रक्षा

द्रौपदी ने अब धर्म की शरण ग्रहण की। वह जानती थी कि एक मात्र धर्म ही जीव का सर्वप्रकारेण रक्षक है। उसने मन ही मन नवकार महामंत्र का स्मरण करते हुए आत्मा की अनंत गहराइयों से शासनदेव की प्रार्थना की—“हे शासनदेव ! मेरी रक्षा करिए, इस संकट की घड़ी में मेरे शील को बचाइए।”

सती नारी की अन्तरात्मा से निकली पुकार ने शासनदेव के आसन को हिला दिया। शासनदेव ने अपने ज्ञान के उपयोग से सती को संकट में देखा तो उसकी रक्षा के लिए तत्पर हो गए। आए वे वहाँ लेकिन गुप्त ही रहकर देवमाया से उसके चीर को बढ़ाते गए।

बंधुओं ! वैष्णव कथानक में शासनदेव की जगह श्रीकृष्ण का नामोल्लेख है। द्रौपदी के स्मरण और रक्षा की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने उसका चीर बढ़ाया था। चीर किसी ने भी बढ़ाया हो पर वह चीर बढ़ता रहा। दुःशासन साड़ी खींचता रहा पर साड़ी का वह चीर समाप्त ही नहीं हो रहा था। खींचते-खींचते दुःशासन थक गया, उसकी भुजाएँ जवाब देने लगीं, उसके हाथ शिथिल पड़ गये। चकित था दुःशासन, आश्चर्यान्वित था दुर्योधन और सारे सभासद भी यह चमत्कार देख अचरज कर रहे थे।

सर्वप्रथम भीष्म ने मौन तोड़ते हुए कहा—“सतीत्व का उपहास उड़ाने वालों ! देखा सती के शील का प्रताप।”

इसके बाद तो सभी के मुँह खुल गए। किसी ने सती द्रौपदी की प्रशंसा की और कुछ ने दुर्योधन आदि की भर्त्सना।

कौरवों के पिता अंधे धृतराष्ट्र ने कहा—“मैंने मनोरंजन के लिए जुआ खेलने की अनुमति दी थी, अतः हार-जीत का कोई प्रश्न नहीं उठता। राज्य युधिष्ठिर का था, उसी का रहेगा।”

दुर्योधन को रंग में भंग पड़ता नजर आया। वह जुए में युधिष्ठिर से जीता हुआ राज्य पुनः उन्हें लौटाना नहीं चाहता था, पर विवश था। पिताश्री को वह कैसे कुछ कहता? यहाँ प्रश्न पिता-पुत्र की मर्यादा का था। कहीं एकान्त स्थल होता तो दुर्योधन इस मर्यादा को तोड़ने में भी नहीं चूकता, पर यहाँ तो राजसभा जुटी थी। अनेक गुरुजन यहाँ बैठे थे। यहाँ वह पितृ-मर्यादा का हनन करता तो नगरभर में चर्चा का विषय बन सकता था।

युधिष्ठिर ठहरे सत्यवादी। एक बार जो कह दिया, जो हार गए, उसे वे पुनः ग्रहण कैसे करते? राज्य लेने से स्पष्ट इनकार कर दिया।

बंधुओं ! मामा शकुनि और दुष्ट दुर्योधन की योजना विफल हो रही थी। शकुनि जाल गूँथने में, कपट योजना में अग्रणी था। वह बोला—“युधिष्ठिर का कहा लोहे की लकीर। अब जब वे राज्य वापस नहीं लेंगे तो समस्या को कैसे सुलझाना? मेरे विचार से दुबारा पासे फेंके जाएँ। इस बार कौरव हारे तो उन्हें राज्य छोड़कर बारह वर्ष तक जंगलों में रहना होगा और एक वर्ष का अज्ञातवास करना होगा। अज्ञातवास में पहचान लिए गए, पकड़ लिए गए तो फिर से वही बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करेंगे। संयोग से कौरव पुनः जीतते हैं तो पाण्डवों को यही करना होगा।”

समस्या को सुलझाना था अतः शकुनि का प्रस्ताव मान लिया गया। पुनः दुर्योधन व युधिष्ठिर आमने-सामने बैठे और पुनः पासे फेंके गए।

दुर्योधन सोच रहा था—‘मामा शकुनि के दिमाग की दाद देनी चाहिए। वनवास की शर्त से पाण्डव हस्तिनापुर छोड़ देंगे। ये यहीं रहते तो कभी भी जनमत इनके पक्ष में बन सकता था। पितामह भीष्म और पिता धृतराष्ट्र के मन में इनके प्रति सहज करुणा भाव जग सकता था। कभी ये पाण्डव स्वयं ही हमारे लिए कोई छल-प्रपंच की रचना कर सकते थे।’

□ पांडवों को मिला वनवास व अज्ञातवास

दाँव पुनः शुरू हुआ। युधिष्ठिर इस बार भी पराजित हुए। शर्त के अनुसार वे पाँचों पांडव द्रौपदी के साथ वन में वास करने लगे। जंगल में जंगली जाति के लोगों की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। गुफाओं और झोंपड़ियों में वास करने लगे। जंगल में फल-फूल आदि से पेट भरने लगे। समय अपनी गति से दौड़ता, भागता, आगे खिसकता रहा। बारह वर्ष भी व्यतीत हो गये। अब पांडवों को करना था अज्ञातवास।

वे सभी वेश बदलकर विराट् नगर पहुँचे। युधिष्ठिर वहाँ के राजपुरोहित बने, भीम ने राजमहल के रसोड़े में रसोई बनाने का काम सँभाला, अर्जुन ने बृहन्नला (हिजड़े) के रूप में रनिवास में नृत्य सिखाने के कार्य की नियुक्ति प्राप्त की, नकुल अश्वशाला में और सहदेव गोकुल में नौकरी पाकर क्रमशः घोड़ों व गायों की देख-रेख करने लगे। द्रौपदी ने दासी का रूप धारण किया, नाम रखा अपना सैरन्ध्री और रानी सुदेष्णा की दासी के रूप में रनिवास में रहने लगी।

समय व्यतीत होने लगा। इसी बीच रानी के दुराचारी भाई कीचक ने द्रौपदी को सताना प्रारंभ किया। भीम को ज्ञात हुआ तो एक रात भीम ने कीचक को मौत के घाट उतारकर द्रौपदी के शील की रक्षा की।

□ महाभारत का युद्ध

किसी तरह पांडु-पुत्रों व द्रौपदी ने बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास पूर्ण किया। समय पूर्ण होने पर इन्होंने अपने आपको प्रकट कर दिया और अपना सन्देश भेजकर दुर्योधन से अपने राज्य की माँग की। दुर्योधन भला उन्हें कब राज्य सौंपने वाला था? उसने स्पष्ट इनकार कर दिया कि अब राज्य वापस नहीं दूँगा।

पांडव असमंजस में पड़ गये। वे गये कृष्ण के पास और निवेदन किया उनसे कि वे स्वयं जाकर दुर्योधन से बात करें। उन सभी ने यह भी कहा कि वे वहाँ जो भी निर्णय लेंगे, उन्हें मान्य होगा। इस तरह सभी ने उनको अपने पूर्ण अधिकार देकर वहाँ जाने के लिए सहमत किया।

श्रीकृष्ण महाराज गये दुर्योधन के पास शांतिदूत बनकर। बहुत समझाया उन्होंने दुर्योधन को, पर दुर्योधन राज्य देने के लिए सहमत नहीं हुआ। इस पर श्रीकृष्ण ने युद्ध और हिंसा के मार्ग से बचने के लिए दुर्योधन से कहा—“दुर्योधन ! यदि तुम उनका राज्य उन्हें नहीं

लौटाना चाहते तो इस राज्य के पाँच गाँव ही उन्हें दे दो। वे पाँच हैं, एक-एक गाँव के अधिपति बनकर ही शांति के साथ रह लेंगे, इसके लिए मैं उन्हें तैयार कर लूँगा।”

बात ठीक थी, शांति रखने के लिए इससे अच्छा अन्य कोई विकल्प नहीं था, पर दुर्योधन का दुर्भाग्य कि वह इस प्रस्ताव को भी न मान सका। इसके विपरीत अपने अहंभाव को प्रकट करते हुए बोला—“कृष्ण महाराज ! उन पांडवों को पाँच गाँव तो क्या, सुई की नोक जितनी जमीन भी नहीं मिलेगी।”

दुर्योधन को श्रीकृष्ण नहीं मना सके। राज्य वापस नहीं मिले तो पाँडवों की क्या प्रतिष्ठा रहती ? पर राज्य मिले कैसे ? युद्ध के अलावा अन्य कोई राह नहीं थी। युद्ध की तैयारियाँ प्रारंभ हुईं। पांडव न्याय की राह पर थे। अतः कृष्ण ने उनका साथ दिया। अनेक अन्य राजाओं ने भी न्याय का पक्ष लेते हुए पांडवों की तरफ से युद्ध करने की स्वीकृति दी। दुर्योधन भी युद्ध के लिए सन्नद्ध था।

□ पांडवों की विजय

कुरुक्षेत्र के मैदान में यह युद्ध लड़ा गया। अठारह दिन तक भीषण रक्तपात, घमासान, नर-संहार चलता रहा। अठारह अक्षोहिणी सेना इस ‘महाभारत’ संग्राम में काम आई। पांडव विजयी रहे। महाभयंकर हिंसा के इस ताण्डव के पश्चात् पांडवों को हस्तिनापुर का राज्य मिल पाया। युधिष्ठिर को सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर राज्याभिषेक किया गया। इस तरह द्रौपदी हस्तिनापुर राज्य की पुनः महारानी बन गईं।

□ द्रौपदी द्वारा नारद का अनादर

एक दिन देवर्षि नारद हस्तिनापुर आये। द्रौपदी के अतिरिक्त सबने उनकी यथोचित आवभगत की, उनका सत्कार-सम्मान किया। द्रौपदी ने उन्हें असंयमी, अविरति माना। द्रौपदी के इस अनादर से नारद रुष्ट हो गये। उन्होंने उसे अभिमानिनी समझा, अतः विचार किया कि इसे शिक्षा देनी चाहिए, कुछ ऐसा करना चाहिए कि यह अपने आप पर गर्व कर फिर किसी महात्मा आदि की अवहेलना न करे। उनके मन में अपने अपमान का बदला लेने की भावना भी जन्म ले चुकी थी। वे अवसर की प्रतीक्षा में थे।

□ बदला लेने के लिए नारद पद्मनाभ के पास

एक बार वे धातकीखंड की अमरकंका नगरी पहुँचे। वहाँ का राजा था पद्मनाभ। नारद राजा के महलों में पहुँचे। नारद को आते देख पद्मनाभ राजा ने उनका स्वागत किया, उनको वन्दन-नमन किया। कुशलक्षेम पृच्छ के पश्चात् अनेक बातें हुईं उनमें। बातों ही बातों में

पद्मनाभ राजा, जो अपनी एक से एक सुन्दर सात सौ रानियों का स्वामी था और उनकी सुन्दरता पर विस्मित बना रहता था, नारद से प्रश्न कर बैठा—“हे नारद ऋषि ! आप तो सदैव भू-भ्रमण करते रहते हैं, आपका बड़े-बड़े राजाओं के अन्तःपुर तक में भी प्रवेश है, मेरे अन्तःपुर में एक से एक सुन्दर सात सौ नारियाँ हैं, क्या आपने ऐसा अन्तःपुर, ऐसी सुन्दर नारियाँ कभी कहीं अन्यत्र देखी हैं ?”

□ द्रौपदी की सुन्दरता सुन पद्मनाभ का कामासक्त बनना

पद्मनाभ ने नारद को अपना पूरा अन्तःपुर दिखाया। देखकर पुनः दोनों जब आसन पर बैठे तो नारद हँसे और बोले—“तुम तो कूपमंडूक ही रहे। ये कोई सुन्दरियाँ हैं, अरे ये तो बंदरियाँ हैं, बंदरियाँ ! तुम क्या जानो सुन्दरता क्या चीज है ? जम्बू द्वीप, भरतक्षेत्र में राजा द्रुपद की पुत्री और हस्तिनापुर नगर के पाण्डु राजा की पुत्रवधू पाँच पांडवों की पत्नी द्रौपदी देवी के रूप-सौन्दर्य के आगे तुम्हारा अन्तःपुर पानी भरता है। तुम्हारी कोई भी रानी उस देवी के पैर के अंगुष्ठ के नख जितनी, बल्कि उस नख के सौन्दर्य की सौवी कला (अंश) के समकक्ष भी नहीं है।”

बंधुओं ! कह दिया नारद ने जो कहना था। परिणाम क्या हो सकते हैं, इसे कौन सोचे ? काम था उनका आग लगाना। लगा दी आग पद्मनाभ के मन में और चल दिए वहाँ से। उधर पद्मनाभ तो बावला बन गया। द्रौपदी के रूप की प्रशंसा ने उसके दिल-दिमाग में हलचल मचा दी। अब तो बस एक ही काम रह गया था उसके पास, किसी भी तरह द्रौपदी को भरतक्षेत्र, जम्बू द्वीप से यहाँ लाना। अनेक उपाय सोचे पर उसके वश की बात नहीं थी। कहाँ धातकीखंड और कहाँ जम्बू द्वीप ! बीच में था लवण समुद्र, जिसे पार करना किसी अलौकिक शक्ति के ही वश की बात थी।

□ देव-मित्र का स्मरण

कष्ट के समय देव-स्मरण, इष्ट-स्मरण, प्रभु-स्मरण किया जाता है। कहते भी हैं आप लोग कि—

दुःख में सुमिरण सब करे, सुख में करे न कोड़।
जो सुख में सुमिरण करे, तो दुःख काहे को होड़।

आया कष्ट, उपस्थित था संकट तो पद्मनाभ को अपने मित्र-देवता की स्मृति आई। गया वह तुरंत अपनी पौषधशाला में और तेल के तप की आराधना कर मित्र-देव का स्मरण किया।

भक्ति के वश तो भगवान भी हो जाते हैं, वह तो देव था। तेला तप पूर्ण होते ही वह अपने मित्र राजा की पौषधशाला में उपस्थित हुआ और बोला—“कहो ! मुझे क्यों याद किया गया ?”

पद्मनाभ ने नारद की कही हुई सम्पूर्ण बात बताते हुए द्रौपदी को हस्तिनापुर से यहाँ ले आने का कार्य बताया।

देव बोला—“मित्र ! तुम गलत रास्ते पर जा रहे हो। शक्तिशाली पाँच पांडव उसके पति हैं, फिर वह स्वयं भी पतिव्रता है। पर-पुरुष के साथ काम-भोग सेवन द्रौपदी जैसी सती करे—यह कभी हुआ नहीं और होगा भी नहीं।”

इस पर पद्मनाभ ने कहा—“वह सब तुम मेरे ऊपर छोड़ दो। तुम्हें तो जो कहा गया, केवल उतना कार्य करना है।”

तब देव ने कहा—“तुम्हारा यह कार्य नीति-विरुद्ध है, हम देवता मानव-जाति के हित में इस तरह अनीति के कार्य नहीं किया करते। इस पर भी तुम्हारा यदि इसी कार्य पर अत्यंत आग्रह है तो यह कार्य मैं करूँगा, पर इसके बाद अपने जीवन में तुम मुझे किसी भी अन्य कार्य को करवाने के लिए बाध्य नहीं करोगे।”

राजा पद्मनाभ का तो सम्पूर्ण ध्यान द्रौपदी की सुन्दरता में अटका हुआ था, उसका तो जीवन ही अब द्रौपदी के साथ रमण में था, अन्यथा मरण जैसी स्थिति हो रही थी उसकी। उसने देव की बात स्वीकार करते हुए कहा—“मत करना आज के बाद अन्य मेरा कोई काम पर यह काम तो कर दो।”

□ द्रौपदी का देव द्वारा पद्मनाभ के लिए संहरण

देव ने भी समझ लिया कि मेरा यह मित्र वासना के कीचड़ में इतना गहरा धँस चुका है कि इसे कुछ भी समझाना, शिक्षा देना, सचेत करना व्यर्थ है।

देव अपनी उत्कृष्ट देवगति से लवण समुद्र को उल्लाँघकर हस्तिनापुर गया। द्रौपदी उस समय युधिष्ठिर के महल की छत पर युधिष्ठिर के साथ सुख-निद्रा में सोई हुई थी। देव ने अवस्वापिनी विद्या के प्रयोग से द्रौपदी को अवस्वापिनी-निद्रा में निद्रित कर वहाँ से उठाया और उसे लेकर अमरकंका आ गया। पद्मनाभ की वाटिका में उसे रखकर अवस्वापिनी विद्या का संहरण किया।

तत्पश्चात् देव पद्मनाभ नृप से मिला और उसे बताया कि द्रौपदी को वह ले आया है तथा द्रौपदी इस समय राज्योद्यान में है। इतना कहकर वह देव जहाँ से आया, वहीं वापस लौट गया।

कुछ ही देर पश्चात् द्रौपदी की निद्रा खुली। आँखें खोलकर देखा तो वह जगह उसे अनजान लगी। न वहाँ वह भवन था और न वह वाटिका उसकी अपनी थी। 'शायद किसी देव, दानव, किन्नर, गंधर्व ने मेरा अपहरण, संहरण किया है।'—यह विचारकर वह चिन्तित बन गई।

□ द्रौपदी की शोध, पद्मनाभ से युद्ध व जीत, कुपित कृष्ण द्वारा पांडवों का निष्कासन, पांडवों व द्रौपदी का संयमग्रहण व मुक्ति

बंधुओं ! इसके पश्चात् जो-जो प्रसंग घटित हुए, यथा-पद्मनाभ का द्रौपदी से प्रणय निवेदन, द्रौपदी का छह मास का समय माँगना, पांडवों द्वारा द्रौपदी की खोज, न मिलने पर कुंती का श्रीकृष्ण से निवेदन, श्रीकृष्ण का वचन देना, नारद से संकेत पाकर पांडवों को संदेश भेजकर गंगा तट पर बुलाना, उधर से पाँच पांडवों का सेना लेकर तथा इधर से श्रीकृष्ण, दस दशार्ह आदि का चतुरंगिणी सेना के साथ गंगा तट पर पहुँचना। विशाल नावों से सभी गंगा पार करना और लवण समुद्र के तट पर पहुँचना।

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा तेले की आराधना कर सुस्थित देव का आह्वान करना, उससे लवण समुद्र में अमरकंका तक उनके स्वयं के व पाँच पांडवों के, इस तरह छह रथों के लिए, वहाँ पहुँचने व पुनः आने का मार्ग माँगना, देव का स्वयं द्रौपदी को लेकर आने की बात कहने पर कृष्ण का इनकार करना, सुस्थित का मार्ग प्रदान करना, चतुरंगिणी सेना को वहीं रोककर स्वयं कृष्ण व उनके साथ ही पाँच पांडवों का अपने-अपने रथों में बैठकर अमरकंका पहुँचना, दूत भेजकर पद्मनाभ को समझाना, न मानने पर आग्रहपूर्वक पांडवों का पद्मनाभ से युद्ध करना व हारना, श्रीकृष्ण का पद्मनाभ से युद्ध, आत्म-विश्वास की दृढ़ता के कारण श्रीकृष्ण का जीतना, मरण को नजदीक देख भयभीत पद्मनाभ का द्रौपदी की शरण लेना, द्रौपदी का उसे लेकर श्रीकृष्ण के पास जाना, पैरों में गिरकर पद्मनाभ का क्षमा माँगना, कृष्ण द्वारा क्षमादान, द्रौपदी को लेकर पुनः लवण समुद्र पार करना, गंगा तट पर कृष्ण द्वारा विश्राम, पांडवों द्वारा सारी नावें व सेना आदि लेकर गंगा तट पर आना, श्रीकृष्ण की बल-परीक्षा के विचार से नावें वापस नहीं भेजना, श्रीकृष्ण का चतुर्भुज रूप धारण कर दो हाथों से गंगा तैरना व एक हाथ पर रथ तथा दूसरे पर सारथी को धारण कर गंगा-पार

पहुँचना, श्रीकृष्ण का कुपित होकर पांडवों को त्रिखंड पर्यन्त राज्य से निष्कासित करना, पाण्डु-मथुरा का निर्माण (दक्षिण दिशा के समुद्र तट पर) करके पांडवों का वहीं सुखपूर्वक रहना, श्रीकृष्ण का देहावसान, श्रीकृष्ण-मरण के संदेश से पांडवों का विरक्ति चिन्तन, पांडवों व द्रौपदी का संयमग्रहण, संलेखना-संधारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त कर सभी का मोक्ष गमन आदि वृत्तान्त इससे पूर्व बड़ी साधु वंदना की कड़ी ४९ से ५२ तक के प्रवचन “धन्य पाँचों पांडव, तजी द्रौपदी नार” में आप सुन चुके हैं। (बड़ी साधु वन्दना, भाग २ का प्रवचन ४९)

[सती दमयन्ती]

□ स्वयंवर में नल राजकुमार को मिली दमयन्ती

दमयन्ती कुण्डिलपुर के राजा भीम व रानी पुष्पवती की सुशीला, सुगुणवती सुपुत्री थी। बचपन में माता-पिता ने स्यूचित शिक्षा के साथ उन्हें संस्कार भी दिए। युवावस्था प्राप्त होने पर तत्कालीन प्रथा के अनुसार राजा भीम ने अपनी सुकन्या के विवाह निमित्त स्वयंवर की व्यवस्था की। ‘स्वयंवर’ शब्द में निहित अर्थ के अनुसार इसमें स्वयं कन्या ही अपने योग्य वर का चुनाव करती है।

राजा भीम ने दमयन्ती का स्वयंवर किया तो देश-प्रदेश के अनेक राजाओं व राजकुमारों को इसका निमन्त्रण भेजा। निश्चित तिथि पर कुण्डिलपुर में आये अतिथि राजाओं व राजकुमारों का परिचय एवं उनके सद्गुणों का विवरण राजकुमारी के समक्ष एक-एक कर रखा गया। दमयन्ती ने राजकुमार नल के सद्गुणों से आकृष्ट हो उनके गले में वरमाला डाल दी। राजा भीम ने धूमधाम से अपनी कन्या का विवाह राजकुमार नल के साथ कर दिया। विवाहोपरान्त राजकुमार नल अपनी सद्य परिणीता दमयन्ती को लेकर अपने नगर अयोध्या पहुँचा। नल के माता-पिता, राज्याधिकारियों व प्रजाजनों ने उनका स्वागत किया।

□ राजकुमार नल का राज्याभिषेक

राजकुमार नल और दमयन्ती सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। नल के पिता को कुछ वर्षों बाद वैराग्य हो आया। उन्होंने राजकुमार नल का भव्य महोत्सव के साथ राजतिलक कर उसे राजा बना दिया और स्वयं संसार के भोगोपभोगों, सम्बन्धियों, स्व-परिजनों को छोड़ दीक्षित बन श्रमण-धर्म का पालन करने लगे।

राजा नल अपनी प्रजा से अत्यधिक प्रेम रखता था। उसने अपने राज्य की शासन-व्यवस्था इतनी सुन्दर की कि प्रजा भी उन्हें जी-जान से चाहने लगी। “राजा वही जो प्रजा मन

भाएँ”—नल भी प्रजा में खूब पसंद किया गया। वह सदैव प्रजा के सुख को अपना सुख समझता था और प्रजा के दुःख-दर्द को तुरंत दूर करने के पूर्ण प्रयत्न करता था। धीरे-धीरे राज्य में और राज्य के बाहर, चारों ओर नल का यशोगान प्रसार पाने लगा।

□ कैसे हो नल का पराभव ? कुबेर का दिवास्वप्न

नल का एक लघु सहोदर था—कुबेर! नल की प्रजा में प्रसिद्धि, देश-प्रदेश में फैलता उसका यश कुबेर को खटकता था। वह तो चाहता था कि नल का किसी तरह पराभव हो और अयोध्या के सिंहासन पर वह बैठे। उसकी आँखों में दिन-रात अयोध्या के सिंहासन पर बैठने का दिवास्वप्न घाणी के बैल की तरह घूमता रहता था।

□ कुबेर द्वारा राजा नल को जुए का निमंत्रण : नल हारा

नल को जुआ खेलने का शौक था। कुबेर जानता था कि यही एक रास्ता है नल के पराभव का। जुआ खेलने में कुबेर अत्यंत चतुर था। उसने जुए का पासा फेंकने का इतना अभ्यास कर रखा था कि उसका फेंका हुआ पासा कभी उल्टा नहीं पड़ता था।

एक दिन राज्य हथियाने की योजना के तहत कुबेर ने राजा नल को जुआ खेलने के निमित्त आमंत्रित किया, निमन्त्रण दिया। नल भला क्यों मना करता ? जुआ खेलना उसका शौक जो ठहरा। जुआ खेला गया। दाँव पर राज्य रखा गया। नल हार गया। पलक में परिवर्तन। इसे कहते हैं भाग्य का खेल। हाँ ! भाग्य के इस खेल में है जुए का पूरा मेल।

□ कुबेर बना राजा और राजा नल हुआ वनवासी

कुबेर के हाथ लगा अयोध्या का राज्य। नल के हाथ से राज्य निकल गया। वाह रे ! सर्वग्रासी, सर्वनाशी जुआ ! गुरुदेव आप सभी को सुबुद्धि दे कि आप कभी इस गलत व्यवसन में न फँसें।

राजपाट को छोड़ नल को किसी नगर-बाह्य वन में जाना था। जब वह जाने को तत्पर हो गया तो दमयन्ती ने पूछा—“नाथ ! आप तो जा रहे हैं, मेरा क्या होगा ?”

नल ने कहा—“प्रिये ! भाग्य के खेल विचित्र हैं। मैं जानता था, यह जुआ बुरी लत है, जीत की जगह हार भी हो सकती है, पर फिर भी मन को नियंत्रण में नहीं रख सका। गया राज्य और आ गई फकीरी। मुझे तो इधर-उधर भ्रमण कर अपने भाग्य को आजमाना है। रही बात तुम्हारी, तो प्रिये तुम्हारे लिए इस आपात स्थिति में सबसे उत्तम स्थल है—तुम्हारा पीहर।”

□ दमयन्ती ने साथ रहना पसन्द किया

इस पर दमयन्ती ने कहा—“क्यों ऐसा कह रहे हैं प्राणनाथ ? क्या मैं आपकी जीवनसंगिनी नहीं ? क्या मेरी रगों में क्षत्रिय वंश का, किसी शेरनी का खून नहीं ? क्या मैं आपके साथ रहूँ तो आपके लिए बंधन सिद्ध होऊँगी ? नहीं प्रियवर, नहीं। विश्वास रखिए, कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी मैं आपका सहज साथ छोड़ूँगी नहीं ? यदि आप यह समझते हैं कि फूलों की शय्या पर शयन करने वाली इस नारी को कैसे वन के कठोर, कँकरीले रास्तों पर ले जाऊँ ? तो नाथ ! निश्चय जानिए, हम नारियाँ आपत्ति पड़ने पर कठिन परिस्थितियों से भी संघर्ष कर सकती हैं।”

□ नल व दमयन्ती जंगलों में

नल ने पुनः कई बार समझाया और दमयन्ती को उसके पीहर भेजना चाहा, पर दमयन्ती तो भारतीय ललना थी। वह अड़ी रही, पति के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए, हर विपत्ति में साथ-साथ रहने के लिए।

विवश नल ने उसे भी साथ ले लिया। दोनों नगर से बाहर जंगल में पहुँच गये। जंगल में भी वे चलते रहे। चलते-चलते घना जंगल आ गया। संध्या होने को आ गई। दोनों थक चुके थे। अतः एक सुरक्षित स्थान देख, किसी वृक्ष के नीचे दोनों विश्राम हेतु बैठ गये। बातें करते-करते दमयन्ती की आँखों में नींद झलकने लगी। नल के कहने पर वह सो गई। सोते ही थकान के कारण उसे गहरी नींद आ गई।

□ निद्रालीन दमयन्ती को छोड़ चल पड़ा नल

नल विचार करने लगा—‘यह भाग्य भी क्या-क्या नाच नचाता है ? क्या था मैं और क्या बना दिया मुझे ? मुझे जुआ नहीं खेलना चाहिए था, पर भाग्य में रंक बनना लिखा था तभी तो जुआ खेलने को जी ललचा गया। मेरे कारण महलों में पलने वाली, मखमल की शय्या पर सोने वाली, षट्स व्यंजन का भोजन करने वाली यह राजकुमारी आज इस बियावान जंगल में सो रही है, कंदमूल और जंगली फलों पर पलेगी, काँटों भरे कँकरीले पथों पर चलेगी। मैं तो दुःख पा ही रहा हूँ, पर मेरे कारण यह क्यों दुःख पाये ? मुझे अकेले ही अपने दुर्भाग्य को भोगना चाहिए।’

नल ने दमयन्ती की साड़ी के एक छोर पर लिखा—“प्रिये! बाएँ हाथ की तरफ तुम्हारे पीहर का रास्ता जाता है। जगने पर मुझे अपने पास नहीं पाओगी। अपने पीहर चली जाना। फिर मिलेंगे।”

अब राजा नल को वहाँ से चुपचाप अकेले चल देना था। ऐसे भयंकर जंगल में राजकुमारी को नींद में इस तरह अकेला छोड़कर जाना उसे अच्छा नहीं लग रहा था, पर साथ ले जाने का अर्थ था, उस सुकुमारी राजकन्या को घायल करना, कष्टों के अम्बार के नीचे दबाना। नल ने अपना हृदय मजबूत किया और वहाँ से चल पड़ा।

□ दैवी सहायता : रूप-परिवर्तिनी विद्या

रात्रि गहराने के साथ-साथ नल जंगल में आगे बढ़ता रहा। नल के पिता, जो मरणोपरांत देवलोक में देव रूप में थे, को अपने ज्ञान से ज्ञात हुआ कि नल जंगलों में घूम रहा है। वे उसकी सहायता करने के विचार से उससे मिले। अपना परिचय देकर उन्होंने नल से कहा—“हो सकता है कभी, कहीं, कोई तुम्हें पहचान ले और तुम्हें हानि पहुँचाने का प्रयत्न करे, अतः तुम्हारे जीवन की सुरक्षा के लिए मैं तुम्हें ‘रूप-परिवर्तिनी’ विद्या देता हूँ। इस विद्या के सहारे तुम जैसा चाहोगे, वैसा रूप धारण कर सकोगे।”

‘रूप-परिवर्तिनी’ विद्या पुत्र नल को देकर देव अन्तर्धान हो गया। नल ने मन में विचार किया—‘मुझे कहीं न कहीं नौकरी करनी है, अतः मेरा रूप किसी दास की भाँति दिखना चाहिए।’ देव-प्रदत्त विद्या से उसने अपना रूप बदल लिया। अब वह एक दास ही लग रहा था।

□ मदोन्मत्त हाथी को वश किया

चलते-चलते कई दिन हो गये। जंगल समाप्ति पर आ गया। जंगल से बाहर निकला तो एक सुन्दर से नगर में पहुँच गया। पूछने पर मालूम हुआ कि नगर का नाम सुंसुमार है। अभी वह कुछ करने की सोच ही रहा था कि एक मदोन्मत्त हाथी उसे दिखाई दिया। उसने प्रयत्न करके उस हाथी को वश में कर लिया। हाथी के साथ, उसके पीछे-पीछे जो राजकर्मचारी थे, वे उसे राजा के पास ले गये। राजा ने कहा—“तुमने यह विद्या कहाँ सीखी? क्या तुम हाथियों का मद उतारकर उन्हें वश में करना जानते हो? यदि हाँ, तो तुम कौन हो? अपना परिचय दो।”

□ मनगढ़न्त परिचय देकर राजा का रसोइया बना

राजा नल ने इस समय अपना वास्तविक परिचय देना उचित नहीं समझा। वह बोला—“स्वामी! मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ। पहले राजा नल के राजरसोड़े में सूर्यपाक रसोई बनाता था। अपनी इसी कला में मैं चतुर माना जाता था। यह हाथी कैसे वश में हो गया? इस बात को तो भगवान ही जानते हैं। मुझे तो बस इतना मालूम है कि पागल की तरह

झूमते हाथी से जान-माल की हानि संभव है, यही सोचकर मैं इसके सामने आ गया और वैसा ही करने लगा जैसा राजा नल के हस्तिशाला का अधिकारी करता था। आप मुझ पर प्रसन्न हों तो मुझे अपनी पाकशाला में रसोइया बना दीजिए। मैं आपको सूर्यपाक रसोई बनाकर खिलाऊँगा, जिसका स्वाद अद्भुत होता है।”

उस राजा को क्या पता कि वही राजा नल है। उसने तो उसके कथन पर विश्वास कर अपनी पाकशाला में रसोइया बना दिया।

□ दमयन्ती ने किया सार्थवाह का साथ

उधर रानी दमयन्ती जब जगी तो देखकर हैरान रह गई कि नल वहाँ नहीं है और वह अकेली है। वह उठी, उसने घूम-फिरकर चारों तरफ इधर-उधर देखा, पर नल वहाँ हो तो नजर आये। उसने तेज स्वर में—“स्वामी....! नाथ....! आप कहाँ हो?” आदि आवाजें भी निकालीं, पर जवाब कौन दे? नल तो वहाँ से निकल चुके थे। कितनी ही देर दमयन्ती उसे ढूँढ़ती रही। थक-हारकर वह पुनः उसी वृक्ष के नीचे बैठ गई। अब उसकी नजर साड़ी के छोर पर गई। कुछ लिखा है। पढ़ा उसने। पति के विषय में चिन्ता कुछ कम हुई, पर हृदय में हूक, एक टीस, एक पीड़ा-सी उत्पन्न हो गई कि पुरुष कैसे निष्ठुर होते हैं? इस तरह निद्रा में सोई हुई स्त्री को जंगल में छोड़कर अन्यत्र चले जाना किसी कठोर हृदय का ही काम हो सकता है।

वियोग की विरह-पीड़ा को अन्तर् में दबाकर पतिदेव के आदेशानुसार वह अपने पीहर के रास्ते पर चल पड़ी। रास्ता लम्बा था। जंगल बड़ा सुनसान था। वह स्त्री थी, युवा थी, सुन्दर थी। जंगली जानवरों का तो भय था ही, मनुष्य रूप में पशुओं-सा आचरण करने वाले राक्षसी प्रवृत्ति के लोगों का भी डर था। दमयन्ती में साहस था, सत् था और था आत्मबल। वह अपने सामर्थ्य के अनुसार निरन्तर चलती रही। कुछ घंटों के बाद उसे राह में एक सार्थवाह जाता दिखाई दिया। उसने उसका साथ किया। झुण्ड में व्यक्ति अधिक सुरक्षित रहता है। सार्थवाह का नाम था—धनदेव। उसने दमयन्ती को बताया कि वह अचलपुर में पड़ाव डालेगा। इस समय तक दमयन्ती ने पीहर जाने का विचार त्याग दिया।

□ मौसी की दानशाला में सेविका बन गई दमयन्ती

दमयन्ती उसके साथ-साथ चलती हुई अचलपुर पहुँची। अचलपुर का राजा था—ऋतुपर्ण और उसकी रानी थी—चन्द्रयशा। रानी चन्द्रयशा की किसी दासी ने एक दिन रानी को बताया कि नगर के बाहर एक सार्थ आया हुआ है। उस सार्थ में एक कन्या भी है। वह

अत्यंत चतुर और साहसी है। वह अपना समय व्यतीत करने के लिए कहीं सुरक्षित स्थान पर नौकरी चाहती है।

रानी ने उसे अपने पास बुलाया। दमयन्ती ने देखा चन्द्रयशा को। रिश्ते में वह दमयन्ती की मौसी लगती थी। दमयन्ती ने उसे पहचान लिया, पर चन्द्रयशा उसे नहीं पहचान पाई। दोनों में बातचीत हुई। चन्द्रयशा ने उसे अपनी दानशाला में काम पर लगा दिया। वह भी खुशी-खुशी दानशाला में काम करने लगी और काम से बचे हुए समय में प्रभु-ध्यान, नवकार-मंत्र जाप आदि करने लगी।

□ पिता द्वारा पुत्री की खोज : दमयन्ती पिता के घर

दमयन्ती के पिता राजा भीम के पास जुआ में राज्य हारकर नल-दमयन्ती के राज्य से चले जाने के समाचार पहुँचे। उसने अपने सैकड़ों कर्मचारियों व दूतों को अलग-अलग स्थानों के लिए नल व दमयन्ती की खोज में भेज दिया। कुण्डिलपुर से चले इन कर्मचारियों में से एक कर्मचारी अचलपुर भी पहुँचा। उसने संयोगवश दानशाला में दमयन्ती को काम करते देखा तो कुण्डिलपुर समाचार भेज दिया और रानी चन्द्रयशा से भी कह दिया कि यह राजा भीम की लड़की है, अतः आप उनकी मौसी हैं।

सम्बन्ध ज्ञात होने पर चन्द्रयशा उसे अपने महलों में ले गई। उसने उपालंभ दिया कि “जब तुमने मुझे पहचान लिया तो बताया क्यों नहीं?” दमयन्ती ने कहा—“मौसी! मेरे पति न जाने कहाँ, किस हाल में होंगे? न जाने वे क्या कर रहे होंगे? वे कहीं कष्ट सहें, सेवक का कार्य करें, अपने मालिक के हुक्म का पालन करें और मैं सुखपूर्वक आपके पास महलों में आराम करूँ, ऐसा मैं नहीं चाहती थी, अतः मैंने आपको पहचानकर भी दासी बनकर सेवा में लगे रहना उचित समझा।”

दमयन्ती कुछ दिन ही चन्द्रयशा के महलों में रही होगी कि कुण्डिलपुर से उसके लिए बुलावा आ गया और वह अपने पीहर चली गई।

□ नल के संकेत मिले पर निश्चय नहीं !

एक दिन कुण्डिलपुर में सुंसुमार नगर का कोई व्यापारी आया। उसने बातों ही बातों में वहाँ के किसी व्यापारी से कह दिया कि राजा नल का एक रसोइया हमारे राजा की पाकशाला में है। वह बहुत गुणवान है। वह सूर्यपाक रसोई जानता है। वह हाथी तक को वश में कर सकता है।

व्यापारी ने यह बात राजा भीम तक पहुँचा दी। भीम ने दमयन्ती को बुलाकर सारी बात बताई। दोनों का मन कह रहा था कि वह व्यक्ति नल ही होना चाहिए। इस पर भी दोनों ने एक और परीक्षा करना उचित समझा। नल अश्वचालन कला में बेजोड़ थे। तय हुआ कि अश्वविद्या में उनकी चतुराई को परखकर ही नल के विषय में कुछ तय किया जाये।

□ अश्वचालन-परीक्षा-योजना

राजा भीम ने एक योजना बनाई। योजना के अन्तर्गत उसने सुंसुमार नगर के राजा के पास अपने दूत के साथ दमयन्ती के स्वयंवर का आमन्त्रण भेजा। दूत को अच्छी तरह सिखा दिया गया कि वह स्वयंवर के लिए नियत दिवस से केवल एक दिन पूर्व ही यह आमन्त्रण राजा को दे। यदि वह रसोइया नल होगा तो अवश्य अपने स्वामी को एक दिन में यहाँ ले आएगा।

हुआ भी वही। राजा ऋतुपर्ण निमन्त्रण पाकर स्वयंवर में जाना चाहता था, पर समय इतना कम था कि वहाँ उसका पहुँचना असंभव था। वह उदास हो गया। इधर नल ने दमयन्ती के स्वयंवर की बात सुनी तो चकित रह गया। उसका मन हुआ कि उड़कर गगन-पथ से अभी वहाँ पहुँच जाए। उसने सोचा—‘राजा ऋतुपर्ण के माध्यम से स्वयंवर के समय तो पहुँचा ही जा सकता है।’

उसने ऋतुपर्ण राजा से कहकर उत्तम घोड़ों का एक रथ तैयार करवाया। ऋतुपर्ण को रथ में बिठाकर नल वहाँ से चल दिए। अश्वविद्या में अति निपुण नल ने उसी दिन ऋतुपर्ण राजा को कुण्डिलपुर पहुँचा दिया। राजा भीम और दमयन्ती ने समझ लिया कि ऋतुपर्ण को लाने वाला नल ही है।

□ नल-दमयन्ती-मिलन

नल ने भी अब अपने को प्रकट करना उचित समझा। रूप-परिवर्तनी विद्या के द्वारा उसने अपना असली रूप धारण कर लिया। सुंसुमार नगर के राजा ने अनजान में किये गये अपने व्यवहार के लिए नल से क्षमायाचना की। नल का छोटा भाई कुबेर भी वहाँ पहुँचा। उसने भी भाई से क्षमायाचना कर उसका राज्य उसको लौटा दिया। दमयन्ती वियोग की लम्बी अवधि विरह की अग्नि में जलते हुए बिताकर आज पति को प्राप्त कर अत्यंत प्रसन्न थी।

कुछ दिन भीम के यहाँ रहकर वे दोनों अयोध्या चले गये। राजा नल पुनः शासन करने लगे। नल-दमयन्ती के दिन अब सुखपूर्वक बीतने लगे।

□ पुत्र-प्राप्ति, पुत्र का राज्याभिषेक, दीक्षा, देवगति

उन दोनों के एक पुत्र हुआ—पुष्कर। युवा होने पर पुष्कर को राज्य-भार सौंप दोनों दीक्षित बन गये। शुद्ध संयम आराधना व कठिन तप कर उन्होंने मरण-धर्म को प्राप्त किया। पार्थिव शरीर का त्यागकर सती दमयन्ती ने देवलोक में देव रूप प्राप्त किया।

[सती सीता]

बड़ी साधु वन्दना की २०वीं कड़ी—“इण अवसर्पिणी काल मां, आठ राम गया मोक्ष।” का विवेचन सुनाते समय आठवें बलराम श्री रामचंद्र जी की कथा के साथ सती सीता का जीवन-प्रसंग भी विवेचित किया गया था। (देखिए—बड़ी साधु वन्दना, प्रवचन भाग १ का उन्नीसवाँ प्रवचन)

उस विवेचन में रावण पर आक्रमण कर, लंका को जीतकर अपहृत सीता को पुनः अयोध्या लाने तक का प्रसंग आ गया है।

□ राम द्वारा सीता का परित्याग

बंधुओं ! अयोध्या के सिंहासन पर वासुदेव लक्ष्मण को बिठाया गया। वे अपने भ्राता राम जो बलदेव थे, की सहमति व उनके आदेश के अनुसार शासन संचालित करने लगे।

राम सीता के ही पति नहीं थे, उनके तीन और पत्नियों का उल्लेख ‘त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र’ में मिलता है। उन पत्नियों के नाम थे—श्रीदामा, रतिनिमा और प्रभावती।

लक्ष्मण के अयोध्या-नरेश बनकर शासन सँभालने के पश्चात् सभी के दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो रहे थे। उन्हीं दिनों सीता ने स्वप्न में दो अष्टापद पक्षियों को विमान से गिरकर अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा। प्रातः राम को स्वप्न सुनाया तो राम ने स्वप्न-फल बताते हुए कहा—“देवी ! तुम्हारे दो महावीर पुत्र उत्पन्न होंगे।”

कह गए राम पर महल से बाहर निकले तो विचारों में खोए थे। सीता ने कहा था अष्टापद पक्षी विमान से गिरकर मुख में प्रविष्ट हुए। स्वप्न में उनके विमान से गिरने की बात अशुभ सूचक थी पर क्या होगा यह अशुभ ? चिन्तन की धारा चलती रही लेकिन मंथन के बाद भी नवनीत नहीं निकला, समझ नहीं पाए वे तो सम्पूर्ण आत्मशक्ति का प्रयोग कर उन विचारों को दूर कर दिया।

सीता राम को अत्यंत प्रिय थी। अब गर्भवती होने से उसका मान, आदर, गौरव और अधिक बढ़ गया। सभी प्रसन्न थे इस बात को सुनकर पर सपत्नियाँ, सौतेँ मुरझा गईं। सौतिया

डाह विश्व-प्रसिद्ध है, वही उभर गया। उनके दिलों में जो सीता के प्रति ईर्ष्या की ज्वाला धधक रही थी, उसके गर्भवती बनने के समाचार ने घड़ों घी डालकर उस ज्वाला को और अधिक प्रज्वलित बना दिया। वे तीनों मिलकर रात-दिन कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ने लगीं, जिससे सीता राम एवं अन्यान्य प्रियजनों द्वारा तिरस्कृत बन जाए, जिससे सीता का मान-आदर-गौरव कम ही नहीं बने अपितु कलंकित बन जाए।

एक दिन वे तीनों राम की सपत्नियाँ योजना बनाकर सीता के महल में पहुँचीं और सीता से बोलीं—“बड़ा नाम सुना है लंकापति रावण का। कहते हैं वह बड़ा सुन्दर, हृष्टपुष्ट, शक्तिशाली, सुदर्शनीय था। आपने तो उसे लंका में रहते हुए कई बार देखा होगा। कैसा था वह? आप हमें बताइए न!”

सीता तो अत्यंत सरलमना थीं। सहज भाव से कहा उसने—“बहनों! लंका में इतने दिन व्यतीत करके भी मैंने कभी रावण को आँख उठाकर नहीं देखा।”

“वह तो कितनी ही बार आया होगा आपके पास?” सपत्नियों ने मुस्कराते हुए कहा।

“हाँ! यह तो सही है। कई बार आया वह। जाने कितनी बार? गिनती नहीं की।” सीता ने फिर सरलता से कहा।

“इतनी बार आया तो कभी हाथ या पैर, शरीर का कोई अंग, कोई हिस्सा कभी नजर नहीं आया आपको?” सपत्नियों ने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए पुनः हँसते हुए प्रश्न कर डाला।

“वस्तुतः मेरी नजर नीची ही रहती थी, अतः यदा-कदा उसका पैर नजर आ जाता था।” सीता ने कहा।

“कैसा था पैर उस रावण का?” एक ने कहा।

“वर्णन में मजा नहीं आएगा, हमें तो चित्र बनाकर बताइए न!” दूसरी बोली।

“हाँ! यह ठीक रहेगा। यहीं आँगन पर उसका पैर बनाइए।” तीसरी ने भी उसी स्वर में कह दिया।

सरलमना सीता ने उनकी बात मान ली। उठी वह और नीचे बैठकर आँगन पर ही स्मृति पर दबाव डालकर जैसा-तैसा चित्र खींचने लगी।

राम की तीन सपत्नियों में से एक वहीं सीता के निकट बैठी रही और शेष दो उठकर गईं राम के पास। वे राम को बुलाकर ले आईं सीता के महल में। राम आ गए वहाँ। सीता मगन थी चित्र बनाने में। राम बिलकुल निकट पहुँच गए पर सीता का ध्यान नहीं टूटा।

“यह क्या चित्र बना रही हो प्रियतमे?” राम का प्रश्न था।

“रावण का पैर।” निकल गया सीता के मुँह से।

चकित थे राम—‘अब भी रावण की स्मृति? यह कैसे? क्या सीता.....? नहीं! वह कदापि ऐसा नहीं कर सकती। पर यह रावण का पैर.....?’ विचारमग्न राम बिना कुछ कहे, उल्टे पाँव वहाँ से निकल आए।

बंधुओं! सीता घबरा गई। इस तरह राम का जाना किसी भावी अनिष्ट का सूचक समझ वह गहरी चिन्ता में खो गई।

एक दिन राज्य के कुछ उच्चाधिकारियों ने भी डरते, घबराते, क्षमा माँगते अपनी रिपोर्ट दी कि शहर के लोग महारानी सीता के शील के विषय में शंकित होकर बातें कर रहे हैं।

राम ने तब वेश बदलकर अयोध्या में घूमते हुए सच्चाई जानने का प्रयत्न किया। उन्होंने जो कुछ स्थान-स्थान पर जनता के मुख से सुना उससे तो यही सिद्ध हुआ कि लोग उस सती स्त्री के प्रति, शीलवती सीता के प्रति उसके चरित्र को लेकर शंकित मन हैं।

यह प्रसंग ‘त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र’ में आया है। तुलसीदास जी के रामचरित मानस में इस प्रसंग का उल्लेख कुछ अन्य ढंग से किया गया है। क्या है वहाँ दिया गया विवरण, उसे भी संक्षिप्त में आप सभी जान लीजिए—

अयोध्या के किसी रजक अर्थात् धोबी की पत्नी एक रात देर से घर आई। रजक ने देर से आने का कारण पूछा उससे। धोबिन ने कारण बताया। रजक इस पर भी संतुष्ट नहीं हुआ। उसने तीव्र स्वर में कह दिया—“मुझे राम मत समझ लेना, जिन्होंने रावण के यहाँ ६ माह रहकर आई सीता को स्वीकार कर लिया। भविष्य में इस तरह रात में आई, देर की तो घर से निकाल दूँगा।”

श्री राम के किसी सेवक ने, जो नगर की दैनिक गतिविधियों की सूचना देने वाले अधिकारियों में एक था, यह बात राम तक पहुँचाई।

बंधुओं! बात चाहे कुछ भी हुई हो, इतना निश्चित है कि राम के हृदय में खलबली मच गई। जैनधर्म तो हर दुःख, हर सुख की आधारशिला किए हुए कर्मों के फल को मानता है। अवश्य सीता ने अपने किसी पूर्वभव में किसी पर इस तरह का कलंक लगाया होगा, बस उसी का परिणाम होना चाहिए, इस झूठे कलंक दोषारोपण के पीछे।

राम के मन में लोकोपवाद की यह बात रह-रहकर टीस-सी पैदा कर देती थी। वे मान रहे थे कि सती होते हुए भी इतनी लम्बी अवधि तक रावण के राज्य लंका में रहने के कारण

सीता का सत्, चरित्र पतिव्रत संदेह के घेरे में न होकर भी अपवाद का कारण तो है ही। इस लोक-निन्दा और लोकोपवाद से कैसे बचा जाये ? क्या सोच रहे होंगे अयोध्यावासी ? यह ठीक है कि कोई प्रत्यक्ष अपवाद नहीं करता पर मन के भीतर तो सभी सोच ही रहे होंगे।

राम ने इस विषय पर लक्ष्मण से वार्त्ता की। वासुदेव लक्ष्मण ने स्पष्ट कहा—“भाभी परम सती हैं। इस समय वे गर्भवती भी हैं। उनके चरित्र पर शंका करना अनुचित है।”

इस पर राम ने कहा—“यह सब तो ठीक है। तुम और मैं ऐसा मानते हैं, पर बाहर लोगों में क्या प्रतिक्रिया है ? लोक-निन्दा, कुल-कलंक का कारण बन सकती है। उचित यही होगा कि उसे राज्य से निष्कासित कर दिया जाए।”

लक्ष्मण नहीं माने, पर राम ने निश्चय कर लिया था। अतः वनभ्रमण के बहाने सीता को रथ में बिठाने की योजना बनाई। सारथी को समझा दिया गया कि अमुक स्थान तक पहुँचकर सीता को रथ से उतार देना और वहीं बता देना कि आपको त्याग दिया गया है।

वन के दृश्यों को दिखाने के बहाने राम ने सीता को रथ में बिठाया। सारथी को संकेत किया। रथ चल पड़ा। वन के बहुत भीतर जब रथ पहुँचा तो सारथी ने रथ रोककर बता दिया कि श्री राम ने लोक-निन्दा से बचने के लिए आपको त्याग दिया है। अब यहाँ से आगे क्या करना है ? कहाँ जाना है ? सब कुछ आपको ही तय करना है।

□ राजा वज्रजंघ का जंगल में सीता को देखना !

यह सुनकर सीता को बहुत संताप हुआ। उसका मन-मानस व्यथित हो उठा। वह वहीं बेहोश हो गई। जब वह सजग, सचेत हुई तो न वहाँ सारथी था और न रथ ही।

भयानक वन, अकेली सीता। साथ यदि कोई था तो उसका भाग्य ! सञ्चित पुण्य-पुञ्ज शेष थे, धर्म उसका रक्षक था। अतः कोई उसका क्या बिगाड़ सकता था ? धर्म जिसके पास हो, लाख विपत्तियाँ भी उसका बाल बाँका नहीं कर सकतीं। पूर्व पुण्यों और वर्तमान में धर्म के प्रताप से तभी पुण्डरीकपुर का राजा वज्रजंघ हाथियों को पकड़ने के लिए उस जंगल में आया। इस भयानक जंगल में अकेली सुन्दर स्त्री को देखकर आश्चर्य प्रकट किया और सीता से उसकी इस दशा का सारा विवरण व परिचय जानना चाहा।

□ जिनानुयायी और श्रावक के रूप में वज्रजंघ का परिचय

सीता सकपकाई, कुछ भयभीत भी हुई, संकोच से कुछ बोल भी नहीं सकी। इस पर वज्रजंघ राजा के मंत्री ने सीता को आश्वस्त करते हुए कहा—“देवी ! ये पुण्डरीकपुर के महाराज वज्रजंघ हैं। ये न्याय-नीति के पक्षधर हैं, शीलवंत तथा पर-स्त्री को माता-

बहन समझने वाले हैं। ये जैनधर्म के अनुयायी और व्रतधारी श्रावक हैं। तुम्हें इनसे किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। महाराज जानना चाहते हैं कि तुम कौन हो? कहाँ से आई हो? यहाँ इस भयानक जंगल में तुम कैसे पहुँच गई? आगे तुम्हें कहाँ जाना है? तुम निडर होकर अपनी सारी परिस्थिति इनके सामने रख दो। इससे शायद तुम्हारा कुछ हित हो सके।”

□ आश्वस्त सीता द्वारा स्व-परिचय

मंत्री के इन वचनों को सुनकर सीता आश्वस्त हुई। उसने अपना परिचय दिया और जो कुछ घटित हुआ, वह सारा वृत्तान्त भी उनके सम्मुख रख दिया।

सीता के मुख से उसका परिचय और सम्पूर्ण घटित प्रसंग सुनकर राजा ने कहा— “साधर्मिक के नाते भी और किसी अन्य की विवाहिता स्त्री होने से भी तुम मेरी बहन हो। तुम यदि इस भाई को सेवा का अवसर देना चाहो तो मेरे साथ, मेरे राज्य में चलो। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वहाँ तुम्हारे लिए जीवन जीने, जीवन को सुरक्षित बनाने, धर्म-साधना करने आदि के लिए निश्चित वातावरण बना दिया जाएगा।”

□ साधर्मिक की सेवा बहुत बड़ा धर्म !

आत्म-बंधुओं! ऐश्वर्य सम्पन्न और सत्ताधारी व्यक्ति का इस तरह न्याय-नीति का पालक और धर्मनिष्ठ हो पाना बड़ा कठिन है। वर्तमान समय में भी ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं, पर हजारों-लाखों में एकाध ही। आप यहाँ सुनने आये हैं तो सुनकर कुछ पल्ले भी बाँधिं। साधर्मिक भाई-बहन की सेवा, सहायता करना बहुत बड़ा धर्म है। पर-नारी को माँ-बहन मानने का संकल्प धर्म की आधारशिला है। आज जैन समाज में स्वधर्मी बंधुओं की सहायता के कार्य की जितनी आवश्यकता है, उसका आधा-एक प्रतिशत भी नहीं हो पा रहा है।

प्रत्येक जैन बंधु को यह नियम लेना चाहिए कि वह अपनी आय का एक, दो, तीन या पाँच या उससे अधिक जितनी सामर्थ्य हो, प्रतिशत अंश स्वधर्मी बंधुओं को ऊँचा उठाने में, उनके जीवन-निर्माण में अथवा उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय करेगा।

□ शीलवती सीता ने पुण्डरीकपुर में प्रसव किया

बात चल रही थी सती सीता की। सीता वज्रजंघ के साथ पुण्डरीकपुर चली गई। वहीं रहकर वे प्रभु भजन, महामंत्र जाप और धर्मध्यान में अपना समय व्यतीत करने लगीं। वे गर्भवती थीं, अतः मर्यादित एवं गर्भानुकूल जीवन के नियमों का पालन करती हुई गर्भ-रक्षा, गर्भ-पालन करने लगीं।

गर्भ का समय पूर्ण होने पर उनके प्रसव की उचित व्यवस्था कर दी गई। समय पर सीता के प्रसव हुआ। उसने दो पुत्रों को जन्म दिया।

□ सीता माता के दो पुत्र : लव और कुश

सीता ने एक का नाम रखा—‘लव’ और दूसरे का नाम रखा—‘कुश’। पुण्डरीकपुर में उनका ठाट-बाट से पालन-पोषण होने लगा। बड़े होने पर राजा वज्रजंघ ने उनके शास्त्र-अध्ययन और शास्त्र-संचालन की शिक्षण-व्यवस्था कर दी।

शास्त्र और शास्त्र दोनों में निपुण बनने तथा पुरुष योग्य कलाओं में पारंगत होने में समय लगा। अध्ययन पूर्ण हुआ तो दोनों युवा हो चुके थे।

वज्रजंघ राजा ने अपनी कन्या का विवाह लव के साथ कर दिया। कुश का परिणय पृथ्वीपुर के राजा पृथुराज की कन्या के साथ हुआ।

□ अन्याय के प्रतिकार का निर्णय

विवाह के बाद लव व कुश को पता लगा कि उनके पिता ने लोक-निन्दा के भय से माता सीता को त्यागा है। वे अपने पिता पर अत्यंत कुपित हुए। गर्भवती स्त्री को कोई पति लोक-निन्दा के डर से जंगल में अकेली छोड़ दे, उसका त्याग कर दे, यह उस पति की कायरता है, यह उस पति का एक पतिव्रता सती स्त्री पर अत्याचार है, पुरुष समाज का नारी समाज के प्रति यह घोर अन्याय है। ज्यों-ज्यों वे माता की उस दयनीय दशा और पिता के इस कठोर निर्णय का विचार करते, उनका क्रोध बढ़ता जाता। अंत में उन दोनों ने निर्णय लिया कि अन्याय का प्रतिकार होना चाहिए, अन्यायी को उसके कृत्य की सजा मिलनी चाहिए और यह तभी हो सकता है, जब उन पर आक्रमण कर उन्हें हरा दिया जाये, बंदी बना लिया जाये, माता सीता के चरणों में डाल दिया जाये।

□ अयोध्या पर आक्रमण

दोनों भाइयों ने वज्रजंघ राजा से बात की। राजा वज्रजंघ भी उनके निर्णय से सहमत हो गया और उनका सहयोग करने के लिए तत्पर बन गया। आखिर वज्रजंघ की सेना लेकर लव-कुश ने अयोध्या पर आक्रमण कर दिया।

इस तरह अचानक अयोध्या पर हमले की न राम को आशा थी, न लक्ष्मण को। लक्ष्मण तो वासुदेव थे, त्रिखंडाधिपति थे। किसने ये हिम्मत की? कौन है ऐसा दुस्साहसी?

□ लक्ष्मण का युद्ध-कौशल व्यर्थ

अपनी सेना लेकर उन्हें आक्रमणकारी का सामना करना था। युद्ध हुआ। लव-कुश के युद्ध-चातुर्य और बाणों की प्रखर वर्षा के समक्ष राम-लक्ष्मण की सेना ठहर नहीं पाई। वह मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुई।

लक्ष्मण अयोध्या की सेना के पाँव उखड़ते देख स्वयं युद्ध-क्षेत्र में आये। उन्हें अपने बीच देख सेना को भी साहस बँधा। लक्ष्मण ने बाणों की झड़ी लगाकर शत्रु-सेना को रोकने का पूरा प्रयत्न किया, पर वे असफल रहे।

□ चक्ररत्न द्वारा आज्ञा उल्लंघन : वासुदेव लक्ष्मण चकित

वासुदेव थे लक्ष्मण। अपनी हार देख अत्यंत कुपित हो गये। चक्र को स्मरण किया और उसे आदेश दिया, लव-कुश के सिर काटने का। चक्र आदेश-पालन हेतु लव-कुश के निकट गया पर शिरोच्छेदन के स्थान पर वह उनकी प्रदक्षिणा कर पुनः वासुदेव के निकट आ गया। लक्ष्मण चकित हुए। यह कैसे हुआ? मैं वासुदेव हूँ। चक्र मेरे अधीन है। आज पहली बार इसने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है। क्या शत्रु पक्ष का तेज त्रिखण्डाधिपति से भी बड़ा है?

पूछने पर ज्ञात हो गया कि वे दोनों श्री राम व सीता के पुत्र हैं। सुनकर राम-लक्ष्मण प्रसन्न हुए। वे स्वयं लव-कुश से मिलने गये। अपने पिता और चाचा को आते देख उन्होंने भी शस्त्रास्त्र फेंक दिए। दोनों ने झुककर प्रणाम किया उन्हें।

अब राम ने सीता को पुनः अयोध्या लाने की बात लक्ष्मण से कही। स्वयं लक्ष्मण सीता को लिवाने पुण्डरीकपुर गये। राजा वज्रजंघ ने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। लक्ष्मण सीता से मिले। सीता से पुनः अयोध्या चलने की बात कही।

□ अग्नि-परीक्षा

सीता ने कहा—“लोक-निंदा के भय का क्या होगा? क्या अब लोक-निंदा बंद हो जाएगी। भूल गये क्या तुम्हारे भाई ने मेरा त्याग किया था? लक्ष्मण! मेरा अयोध्या चलना तो तभी संभव है जब मैं समस्त अयोध्यावासियों के समक्ष अपने सतीत्व की परीक्षा दे दूँ।”

सीता के आग्रह पर अग्नि-परीक्षा की व्यवस्था की गई। लकड़ियों को चुनकर उसमें आग लगा दी गई। कुछ ही देर में प्रचण्ड लपटें उठने लगीं। सीता अग्नि के निकट आईं और बोलीं—“अगर मैंने इस जीवन में अपने पति के अतिरिक्त किसी भी पर-पुरुष की चाहना की हो तो हे अग्निदेव! मेरे इस शरीर को भस्मीभूत बना देना।”

□ शील का प्रभाव : अग्नि बन गई पानी

समस्त अयोध्या नगर निवासियों ने देखा, सीता को अग्नि में प्रवेश करते हुए। सीता ने नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर अग्नि में प्रवेश किया। उसके शील, उसके सतीत्व, उसके पतिव्रत धर्म के प्रभाव से वह प्रचंड अग्नि तत्काल शीतल बन गई। अग्नि के स्थान पर वहाँ चारों तरफ पानी ही पानी हो गया। अग्नि ज्वालाएँ सती सीता का एक रोम भी नहीं जला पाईं।

□ दीक्षा : मरणोपरांत इन्द्र पद

सभी ने सती सीता की जयकार से गगन को गुञ्जा दिया। अग्नि-परीक्षा देने के तुरन्त बाद सीता का मन संसार के प्रति विरक्ति से भर गया। उन्होंने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की। वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन किया। अंतिम समय में समाधिपूर्वक शरीर का त्याग किया। उत्कृष्ट शील-पालन एवं धर्म-साधना के कारण सती सीता ने बारहवें देवलोक में इन्द्र का पद प्राप्त किया।

आनन्द ही आनन्द !



शुद्ध पंच महाव्रतधारी

(नमो नमो तिहुं काल)

आत्म-बंधुओं !

प्राणीमात्र के पाप-पंक का प्रक्षालन करने वाली, भव्य प्राणियों को मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर करने वाली, अनादिकाल से संसार-सागर में भटक रही आत्माओं के जन्म-मरण, आधि-व्याधि-उपाधि रूप समस्त दुःखों का हरण करने वाली जिनवाणी का जिन्होंने समस्त चराचर के कल्याणार्थ उद्घाटन किया, ऐसे जिनेश्वर भगवंत हम सभी के परम उपकारी हैं। इस अवसर्पिणी के ऐसे चौबीस जिनेश्वर 'ऋषभादिक महावीर' व उनके जितने भी साधु-साध्वी मोक्ष या देवलोक गए, संयम की साधना कर मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर हुए, उन सभी को एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी 'बड़ी साधु वंदना' में भावभीना नमन, वन्दन किया है, प्रणति दी है।

आचार्यसम्राट् ने चौबीसों तीर्थकर भगवंत के सर्व साधु-साध्वी के अतिरिक्त भी अढ़ाई द्वीप में जो शुद्ध पंच महाव्रतधारी हैं, उन्हें नमन किया है और श्रद्धालु पाठकों को भी प्रेरणा दी है कि वे ऐसे शुद्ध संयम-पालक पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वियों को 'प्रातः-मध्याह्न-सायं' तीनों ही समय वन्दन, नमन करें, स्मरण करें उनका और अपनी प्रणति दें उन्हें।

चौबीसे जिनना, साधु-साध्वी सार।
गया मोक्ष देवलोक, हृदय राखो धार ॥ १०७ ॥
इण अढ़ी दीप मां, घरड़ा तपसी बाल।
शुद्ध पंच महाव्रतधारी, नमो नमो तिहुं काल ॥ १०८ ॥

१०८वीं कड़ी में "इण अढ़ी द्वीप मां"—शब्द आए हैं। धर्म की जागृति इस अढ़ाई द्वीप में ही है। जम्बूद्वीप, धातकीखंड व पुष्करार्थ—इन अढ़ाई द्वीपों में पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं। जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरवत, एक महाविदेह। धातकीखंड में दो भरत, दो ऐरवत और दो महाविदेह। पुष्करार्थ द्वीप में दो भरत, दो ऐरवत और दो महाविदेह। अढ़ाई द्वीप बहुत

लम्बा-चौड़ा है। एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है, चार लाख योजन का धातकीखंड है और आठ लाख योजन का पुष्करार्ध द्वीप है।

किसे कहते हैं कर्मभूमि ? जहाँ मोक्ष-मार्ग के उपदेष्टा तीर्थकर धर्म-प्रवर्तन करें और जहाँ के मानव असि, मसि व कृषि-कर्म द्वारा अपना जीवन-यापन करें, वह कर्मभूमि क्षेत्र कहलाता है।

वैसे तो साधु एवं साध्वी पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्रों में ही होते हैं। पाँच महाविदेह क्षेत्रों में तो सदैव चौथे आरे के जैसा काल, स्वभाव आदि रहता है। बीस विहरमान तीर्थकर सर्वज्ञ वीतरागी भगवंत वहाँ सदैव विचरण करते हैं। जघन्य दो हजार केवली हर समय वहाँ विद्यमान रहकर विहार-विचरण कर धर्म-जागृति करते हैं। ये सभी चातुर्याम रूप-धर्म का पालन करने वाले होते हैं। आचार्यसम्राट् एकभवावतारी पू. श्री जयमल जी म. सा. ने ऐसे सभी विहरमानों एवं साधु-साध्वियों को पूर्व में वन्दन किया है।

पाँच भरत एवं पाँच ऐरवत—इन दस क्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्र के बत्तीस-बत्तीस हजार देश हैं। प्रत्येक क्षेत्र के $31,978\frac{1}{2}$ देश अनार्य, म्लेच्छ हैं, जहाँ कभी धर्म-प्रवृत्ति नहीं होती। शेष प्रत्येक क्षेत्र के $25\frac{1}{2}$ देशों को आर्य क्षेत्र माना गया है। अतः दस क्षेत्रों के 250 देश एवं अन्य 10 देशों के आंशिक क्षेत्रों में धर्म-जागृति होती है, धर्म-प्रवृत्ति होती है पर हर समय वहाँ धर्म-प्रवृत्ति नहीं रहती। इन आर्य क्षेत्रों में दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के एक उत्सर्पिणी या एक अवसर्पिणी में केवल एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ अधिक काल ही धर्म की प्रवृत्ति का रहता है। (देखें—बड़ी साधु वन्दना, भाग 1, प्रवचन संख्या 2 व 3)

इन धर्म की प्रवृत्ति वाले आर्य क्षेत्रों में ही पाँच महाव्रतों (प्रथम ऋषभ प्रभु व अंतिम महावीर प्रभु की अपेक्षा से) का आरोपण होता है।

अढ़ाई द्वीप के कर्मभूमिज क्षेत्र में ऐसे सभी साधु-साध्वी जो शुद्ध महाव्रतों का पालन करते हैं, जो संयम में परिपक्व व अनुभवी हैं अथवा तपस्वी साधु-साध्वी जो शुद्ध महाव्रत पालते हैं या फिर बालायु-अल्पायु के साधु-साध्वी जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की उत्कृष्ट आराधना करते हुए इन महाव्रतों का शुद्धता से पालन करते हैं—कवि शिरोमणि, संत-श्रेष्ठ आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. उन सभी की भाव-स्तुति करते हुए उन्हें श्रद्धायुत प्रणति देते हैं।

बंधुओं ! ऐसे शुद्ध संयम-पालक, महाव्रत आराधक, समिति-गुप्ति धारक मुनि अर्थात् साधु-साध्वी तत्त्वज्ञ होते हैं, समयज्ञ होते हैं, नय-निक्षेप के ज्ञाता होते हैं, अनेकांतवाद के

ध्याता और पोषक होते हैं। जहाँ नय-निक्षेप नहीं, अनेकांत नहीं, समवाय का ध्यान नहीं, वे शुद्ध महाव्रत-पालक नहीं हो सकते।

साधना का परम लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष-गमन का एकमात्र उपाय है—संयम। संयम में भी भाव-संयम। जिन्होंने संयम लिया और शुद्ध भावों से, उत्कृष्ट भावना से साधना-आराधना की, उन्होंने अन्त-समय आलोचना, संलेखना, संथारा कर अष्ट कर्मबंधन की कारा को तोड़ अनंत ज्ञानादि आत्मा के समस्त गुणों को पूर्ण रूप में प्राप्त किया या करेंगे, ऐसे सभी संयम-पथिकों को जिनानुयायी, धर्मनिष्ठ सज्जन नित्य स्मरण करें, उनका गुणगान करें, हृदय में उनको धारण करें, अर्थात् जैसे वे थे, उनमें जो आदर्श-गुण थे, जिनानुयायी भी वैसे ही बनें, उनके उन गुणों-आदर्शों को जीवन-व्यवहार में उतारें, तभी वे उनके समान, उनके तुल्य बन सकेंगे और इस तरह अपने चरम एवं परम लक्ष्य-प्राप्ति की ओर अग्रसर बन सकेंगे।

साधक यदि अनेकांत की जगह एकांत दृष्टि बन जाता है तब उसकी दृष्टि सम्यक्त्व का त्याग कर देती है। ऐसे पाखंडमति अन्य तीर्थिक पाँच समवायों में से किसी एक समवाय को मुख्यता देकर शेष सभी का निषेध कर देते हैं या छिटका देते हैं। आगम सूत्रकृतांग के अनुसार ऐसे ३६३ पाखंड मत मुख्यतया चार वादों पर आधारित थे। ये चार वाद हैं—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद व अज्ञानवाद। ये चारों काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम—इन पाँच समवाय में से किसी एक को ही मानते हैं। शेष का निषेध कर देते हैं।

बंधुओं ! जो क्रियावादी हैं, वे “ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः” नहीं मानकर केवल “क्रियायां-मोक्षः” को मानते हैं। “सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः” का सूत्र उनकी दृष्टि से अमान्य है। वे कहते हैं—जीव को पाप-पुण्य रूप क्रिया लगती रहती है। इस क्रिया के निमित्त से ही जीव इहलोक और परलोक को स्वीकार करता है। इस तरह इनके मत में एकमात्र क्रिया की उपयोगिता है। ये लोग ज्ञान और दर्शन (श्रद्धा) को स्वीकार नहीं करते, इनकी उत्थापना करते हैं। ऐसे क्रियावादी कभी इस चिन्तन में नहीं उतरते कि क्रिया को करने का विधि-विधान उसका सही स्वरूप ज्ञान से ही जाना जा सकता है।

दशवैकालिकसूत्र में आता है—“अन्नाणी किं काही ? किं वा ना हीइछेय-पावगं।” अर्थात् अज्ञानी प्राणी करना चाहे तो भी क्या कर सकता है ? वह श्रेय और प्रेय को, भले और बुरे को, करणीय-अकरणीय को कैसे जानेगा ? क्या तो श्रेय है और किसमें पाप होता है—साधक को यह तो समझना ही चाहिए, पर क्रियावादी इस चिन्तन से मुक्त रहकर अपनी समझ में धर्मक्रिया करते हैं।

ज्ञान नहीं तो क्रिया अंधी है। ज्ञान ही बताता है कि कौन-सी क्रिया कब करने से अभीष्ट सिद्धि होती है। ज्ञान ही बताता है कि किस क्रिया को किस तरह से किया जाए कि सिद्धि-सफलता प्राप्त हो। वस्तुतः—“हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता च अज्ञानिनां क्रिया।” जैसे क्रियाहीन का ज्ञान आहत होकर निष्क्रिय बनता है, वैसे ही ज्ञानहीन की क्रिया भी आहत को प्राप्त कर निष्फल बन जाती है।

□ क्रियावादियों के १८० पाखंड मत (भेद) हैं—

- नौ तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।
- इन नौ के दो-दो भेद। प्रत्येक का स्वतः और प्रत्येक का परतः।
- इन्हीं नौ के और दो-दो भेद। प्रत्येक का नित्य और प्रत्येक का अनित्य।
- इस प्रकार ९ तत्त्व × २ (स्वतः, परतः) × २ (नित्य व अनित्य) = ३६
इन ३६ के प्रत्येक के ५ भेद काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम = १८०

अक्रियावादी मान्यता के अनुसार, “जो जैसा करता है, वह वैसा फल भोगता है।”—यह सिद्धांत सही नहीं है। न कोई पाप होता है, न पुण्य। जैसे दुनिया के समस्त पदार्थ अस्थिर हैं, वैसे ही आत्मा भी अस्थिर है, क्षणिक है, नाशवान है। अतः उसके साथ क्रिया के कारण पाप-पुण्य संभव नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँच मूलभूत तत्त्वों से सभी तत्त्व निर्मित हैं, आत्मा भी इन्हीं तत्त्वों का रूप है। प्राणी जब मरेगा तो आकाश आकाश में, वायु वायु में, जल जल में, पृथ्वी पृथ्वी में और अग्नि अग्नि में विलीन हो जाएगी। जो कुछ हैं पाँच तत्त्व ही हैं। ये ही आत्मा हैं, ये ही परमात्मा हैं। अतः पाप-पुण्य आदि दुर्बुद्धि मानव की कल्पनाएँ हैं, उनका भ्रम है।

बंधुओं ! ऐसी ही मान्यता नास्तिक मान्यता है। विश्व के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्रों में चार्वाक ऐसी ही नास्तिक मान्यता वाला है। उसका सिद्धांत है—जो कुछ है, यही है। परलोक, स्वर्ग, नरक आदि झूठी बातें हैं। अतः निर्भय बनकर मौज मनाओ। वे कहते हैं—**Eat, drink and be merry.** अर्थात् खाओ, पीओ, मौज करो।

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्,
ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

बंधुओं ! यह मान्यता कितनी गलत, सत्य-तथ्य से कितनी दूर है, इस पर जरा चिन्तन करिए। इस मान्यता का अर्थ है लूट, खसोट, चोरी, हत्या, डकैती कुछ भी करो। मरने के

बाद कुछ भी फल इनका मिलने वाला नहीं। अगर ऐसा ही होता है, तो वर्तमान में कोई सुखी और कोई दुःखी क्यों? कोई गरीब तो कोई अमीर क्यों? कोई सत्ता के सर्वोच्च पद पर राजा-महाराजा की तरह क्यों और कोई सड़क का भिखारी, कुत्तों के मुँह से रोटी छीनकर—गंदगी से खाद्य-सामग्री बीनकर खाने वाला क्यों? इस विषमता का कारण क्या? इस विषय पर चिन्तन करें, तो यही कहना पड़ेगा कि प्राणी जैसे कर्म करता है, उसको अपने किए का फल भोगना होता है। स्पष्ट है अक्रियावादियों की एकान्त मान्यता मिथ्या है।

अक्रियावादियों के ८४ प्रकार बताए गए हैं। पाँच कारण समवाय (काल, नियति, पुरुषार्थ, प्रकृति, कर्म) तथा छठवाँ पृथ्वी-अग्नि-वायु-आकाश-जल इन पंच भूतों के यदृच्छा से उत्पन्न संसार। इन छह के स्वाश्रयी तथा पराश्रयी होने से कुल १२ भेद हुए। पाप और पुण्य इन दो को छोड़कर शेष जीवादि सात तत्त्वों पर इन बारह भेदों को आरोपित करने से बारह गुणित सात अर्थात् चौरासी (१२ × ७ = ८४) भेद हुए।

विनयवादी मानते हैं कि नमन, प्रणति, विनय जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुण है। अपनी इस मान्यता को वे अति में ले जाकर एकान्तवादी बन जाते हैं। चाहे कोई भी हो, कैसा भी हो, उसे नमन करना धर्म है, श्रेष्ठ, उत्तम है। वे मानते हैं कि दुनिया में दुष्ट भी हैं और सज्जन भी, पापी भी हैं और धर्मात्मा भी, गुणी भी हैं और अवगुणी भी, पर वे यह भी कहते हैं कि हम क्यों किसी को हीन, निकृष्ट मानें। हमारे लिए तो सभी समान हैं। अतः कोई कैसा भी हो, सभी के साथ हमें समान व्यवहार करना चाहिए।

विनयवादियों के ३२ भेद हैं। वे ८ तरह के विनय को मुख्य मानते हैं—(१) सूर्य का विनय, (२) राजा का विनय, (३) ज्ञानी का विनय, (४) वृद्ध का विनय, (५) माता का विनय, (६) पिता का विनय, (७) गुरु का विनय, और (८) धर्म का विनय।

इन आठ की भलाई का चिन्तन करें, इनकी विनयपूर्वक गुणगान-स्तुति करें, इन्हें काया से नमन करें और बहुमानपूर्वक इनकी भक्ति करें। (८ × ४ = ३२) विनयवाद के ये ३२ भेद हुए।

अज्ञानवादी—जीव, अजीव आदि नौ ही तत्त्वों में प्रत्येक के सात विकल्प बतलाते हैं। जैसे वे कहते हैं—(१) जीव का अस्तित्व है, (२) जीव का अस्तित्व नहीं है, (३) जीव का अस्तित्व है भी और नहीं भी, (४) जीव की अस्तित्व कहना नहीं, (५) जीव की नास्तित्व भी कहना नहीं, (६) अस्तित्व-नास्तित्व दोनों कहना नहीं, (७) जीव के अस्तित्व या नास्तित्व के लिए 'हाँ' भी कहना नहीं।

इसी तरह अजीव, पुण्य, पाप आदि के सात विकल्प वे करते हैं। अतः इनके ये $9 \times 7 = 63$ (नौ गुणित सात अर्थात् त्रेसठ) विकल्प हैं और सांख्य मत, शैव मत, वेद मत व वैष्णव मत। ये ज्ञान और क्रिया की विशेष अपेक्षा न रखते हुए केवल भक्ति को प्रधानता देते हैं। अतः इसी शाखा में आते हैं। इस तरह $63 + 8 = 71$ प्रकार हैं अज्ञानवादियों के।

अज्ञानवादियों का ज्ञान से विरोध है। उनका कहना है कि ज्ञान ही सारे अनर्थों की जड़ है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी व्यक्ति तर्क करते हैं, विवाद खड़ा करते हैं। ज्ञानी अपने ज्ञान के कारण पद-पद पर भयभीत बना रहता है कि कहीं पाप न लग जाए पर यही भय उनके लिए कर्मबंध का कारण बन जाता है। ऐसी मान्यता के लोग आध्यात्मिक ज्ञान, धार्मिक शिक्षण आदि से कोसों दूर रहते हैं। व्याख्यान-वाणी आदि में जाना अच्छा नहीं मानते। ज्ञान होने से अहंकार आ जाता है और अहंकार पतन करवा देता है। अतः अज्ञानी ही रहना चाहिये।

इनकी मान्यता है कि अज्ञान अच्छा है, अज्ञानी बने रहना उत्तम है। अज्ञानी जब कुछ जानेंगे ही नहीं, तो तानेंगे क्या ? वे न पुण्य जानते हैं, न पाप जानते हैं। अतः उन्हें किसी तरह का दोष भी नहीं लगता; पापी वह जो जाने-समझे फिर भी पाप करे। अब प्रश्न यह है कि अज्ञानवादियों ने ये सब बातें सीखीं कहाँ से ? उनके पास यह जानकारी, यह ज्ञान कैसे आया ? ज्ञान के बिना उन्होंने अज्ञान का समर्थन और ज्ञान का विरोध कैसे किया ?

अज्ञानवादी कहते हैं कि हम पुण्य-पाप नहीं जानते। अतः हमें पाप नहीं लगेगा। स्पष्ट है कि वे जानते हैं पुण्य होता है, पाप होता है। वे यह भी जानते हैं कि किन कारणों से पाप होता है। यदि जानते हैं वे यह सब तो ज्ञान है उनके पास, ज्ञानी हैं वे। ज्ञानी होकर ज्ञान का विरोध करना और लोगों को अज्ञानी बने रहने की बात करना तो उचित नहीं है।

‘अज्ञानी को पाप नहीं लगता’—अज्ञानवादियों का यह कथन भी गलत है। बच्चा छोटा है, उसे यह ज्ञात नहीं कि अग्नि में हाथ डालने से हाथ जल जाएगा, दर्द होगा, घाव होगा। वह हाथ डाल देता है धधकती आग में। क्या आग उसे अज्ञानी मानकर उसे छोड़ देगी, नहीं जलाएगी उसको ?

बंधुओं ! ये जितने पाखंडमति हैं, उनकी दृष्टि एकांगी है, उनका मत एकान्तवादी है। वे अल्पज्ञानी हैं और मिथ्यामति होने से अज्ञानी हैं। पाँच समवाय का उन्हें ज्ञान नहीं, नय-निक्षेप का उन्हें ध्यान नहीं, अनेकान्त की दृष्टि उनके पास नहीं। जो मिथ्यामति हैं उनकी पहचान के लिए एवं सत्य, सम्यक् मत या दृष्टि क्या है ? इसे समझने के लिए पाँच समवायों, सात नयों, चार निक्षेपों और अनेकांतवाद का यत्किञ्चित् ज्ञान आवश्यक है।

संसार में जीव जितने भी कार्य सम्पादित करता है अथवा उसके द्वारा जितने-जितने कार्य निष्पादित होते हैं, उन सभी में पाँच समवायों की अनिवार्यतः विद्यमानता रहती है। ये पाँच समवाय हैं—काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम।

ये पाँचों समवाय अपना-अपना काम करते हैं और इन पाँचों के समन्वय से ही संसार की, सांसारिक जीव की प्रत्येक गतिविधि होती है पर अति बुद्धिवादी यह मानव कभी सब कुछ काल के अधीन मान लेता है, तो कोई उसे केवल नियति ही मानता है, जबकि कुछ इसे स्वभावगत, अर्थात् प्रकृत्या मानते हैं और कुछ कर्म को ही सब कुछ मानकर चलते हैं। इसी तरह अन्य कुछ पुरुषार्थ या उद्यम को ही कर्त्ता-धर्त्ता मानकर चल रहे हैं। ये सभी एकान्तवादी हैं।

कालवादी मानता है कि जो कुछ होता है इस संसार में वह सब काल के कारण ही होता है। काल के प्रभाव से युवा बने स्त्री-पुरुष के संसर्ग से स्त्री के गर्भ स्थापित होता है। स्त्री जब वृद्ध हो जाती है तो पुरुष संसर्ग के सद्भाव में भी गर्भ नहीं ठहरता। इसी तरह गर्भ का जीव भी गर्भ में नियत काल तक ही अवस्थित रहता है फिर तो गर्भकाल पूर्ण होने पर उसे संसार में आना ही होता है। नवजात शिशु समय पर ही पैरों पर खड़ा होना, चलना, बोलना आदि सीखता है। योग्य समय आने पर ही उसे विद्यालय में विद्याभ्यास के लिए भेजा जाता है। नियत समय पर ही जीव की इन्द्रियों को उनके विषय की जानकारी होती है।

समय आने पर व्यक्ति जब वृद्ध होता है, तब बाल सफेद हो जाते हैं, दाँत गिर जाते हैं, शारीरिक शक्ति क्षीण बन जाती है, इन्द्रियों की विषय-वासनाएँ शिथिल हो जाती हैं। समय पूर्ण होने पर उसे मृत्यु के मुँह में जाना पड़ता है। इन सभी परिस्थितियों में काल की सत्ता विद्यमान है।

यह केवल त्रस जीवों की ही बात नहीं, स्थावर जीवों की भी यही दशा है। पौधों का, पेड़ों का समय पर अंकुरित होना, पल्लवित होना, पुष्पित होना और समय पर फलित होना काल की सत्ता के ही कारण है। समय आने पर फल पकना, रस पड़ना, फिर अधिक समय हो तो फल का सड़ना प्रारंभ होना—यह सारी प्रक्रिया काल के प्रभाव को दर्शाती है।

सूर्य-चन्द्र कालाधीन हैं। शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुएँ काल प्रभाव से हैं। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श भी काल के अधीन हैं। तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, केवली, साधु, श्रावक भी समय की परिधि के भीतर होते हैं।

बंधुओं ! काल को ही सब कुछ मानने वाले काल-समर्थक कहते हैं कि एकमात्र काल ही समस्त संसार की क्रिया-प्रक्रियाओं का कारण है।

दूसरा समवाय है, स्वभाव। केवल स्वभाव को ही एकांत रूप से मानने वाले कहते हैं कि विश्व में जो कुछ होता है, हो रहा है वह सब यथा स्वभाव है। वनस्पतियों व फलादि में रसोत्पत्ति उसके स्वभाव के कारण है। मछली, मगर आदि जलचर स्व-स्वभाव के कारण जल में रहते हैं। पक्षियों का स्वभाव है गगन विचरण और चूहे-सर्प का स्वभाव है जमीन में बिल बनाकर रहने का। वस्तु का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सभी तो उसकी प्रकृति के अनुसार है।

स्वभाव को ही एकांत रूप से मानने वालों का कहना है कि सब कुछ काल के प्रभाव से है, तो स्त्री के युवा होने पर भी दाढ़ी-मूँछ क्यों नहीं होती? बाँझ के संतान क्यों नहीं होती? हथेली में बाल क्यों नहीं उगते? स्त्री युवा—पुरुष युवा, संसर्ग भी, पर संतान नहीं तो फिर काल का प्रभाव कैसा?

बंधुओं! उनका कहना है कि कान का स्वभाव सुनना है, जीभ का स्वभाव स्वाद लेना है, आँख का स्वभाव देखना है, नाक का स्वभाव सूँघना है। इनमें काल का प्रभाव कैसे घटित किया जा सकता है? जबकि सूर्य का तेज, चन्द्रमा की शीतलता, सिद्धों का अरूपीपन, अभव्य का अनंत संसार-भ्रमण, भव्य की मोक्ष-गमन-योग्यता आदि में स्वभाव ही कारण है।

यह भी एकान्त कथन है। अतः सत्य नहीं है। स्वभाव से ही सब कुछ होता तो व्यक्ति कान होते हुए भी बहरा क्यों होता? बीज का स्वभाव अंकुरित होना है, पर हर बीज अंकुरित नहीं होता। मञ्जरी में फल लगते हैं, पर कई मञ्जरियाँ बिना फल के भी रह जाती हैं और नष्ट हो जाती हैं।

तीसरा समवाय है, नियति। नियति को ही एकान्त रूप से संसार की समस्त हलचलों का कारण मानने वाले कहते हैं कि भवितव्यता ही सब कुछ करती है। होता वही है जो होने वाला होता है, जो होनहार नहीं वह होता भी नहीं। वसन्तऋतु में आम्र वृक्ष पर अनगिनत मञ्जरी लगती हैं, लेकिन सभी मञ्जरियाँ आम नहीं बनतीं। जिन मञ्जरियों का भाग्य नीचे गिरने का होता है, वे गिर जाती हैं। श्रीकृष्ण जानते थे कि द्वारिका नष्ट होगी। उन्होंने कितने प्रयत्न किये द्वारिका बचाने के, पर नहीं बचनी थी। अतः सारे प्रयत्न विफल गए। भस्म होनी थी द्वारिका, अतः वह जलकर नष्ट हो ही गई।

नियतिवादी अपने मत की पुष्टि के लिए एक दृष्टांत अवश्य कहते हैं। किसी पेड़ पर एक पक्षी-युगल बैठा था। उन पर एक बाज मँडरा रहा था। दूर पर एक शिकारी ने पक्षी-युगल को देखा तो शर-संधान किया, अर्थात् धनुष पर बाण से निशाना साधा। तभी शिकारी के पैर में एक सर्प ने दंश मारा। शिकारी मर गया। शिकारी का बाण छूटा, तो सीधा बाज को

लगा। पक्षी-युगल पूर्णतः सुरक्षित रह गया। इस पक्षी-युगल की सुरक्षा का कारण है होनहार, नियति, पक्षी-युगल का भाग्य। रेल-दुर्घटना, वायुयान-दुर्घटना, जहाज-डूबना, भूकम्प, बाढ़, बम-विस्फोट आदि में हजारों-लाखों लोग मर जाते हैं, अनेक घायल होते हैं, पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका बाल भी बाँका नहीं होता। एक व्यक्ति चलते हुए पत्थर की ठोकर खाकर गिरता है और मर जाता है, जबकि अन्य एक व्यक्ति सात मंजिल की बिल्डिंग के ऊपर से गिरकर भी सुरक्षित रह जाता है या मामूली घायल ही होता है। यह सारा खेल नियति का है। अतः काल, स्वभाव, प्रयत्न आदि कुछ नहीं; जो कुछ होता है नियति के कारण होता है।

प्रश्न यह है कि यह भवितव्यता आती कहाँ से है ? सब कुछ समान होने पर भी एक अमीर और एक गरीब क्यों ? वस्तुतः सारे सुख-दुःख नियतिकृत नहीं होते, क्योंकि उन सुख-दुःखों के कारण रूप कर्म का अबाधाकाल समाप्त होने पर वे अवश्य उदय में आते ही हैं, यथा निकाचित। परन्तु कई सुख-दुःख अनियत (नियतिकृत नहीं) होते हैं, वे पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किए हुए होते हैं। अतः अकेले नियति को कारण मानना अज्ञान है।

चौथे समवाय में कर्मवादी कर्म को ही एकमात्र कारण मानते हैं। इस विश्व में कुछ भी करना है या जो कुछ हो रहा है, उसके लिए काल, स्वभाव, नियति आदि को वे कुछ नहीं मानते। वे कहते हैं कि पहले जैसे कर्म व्यक्ति या प्राणी ने किये हैं, वैसा ही फल उसे भोगना होगा। संसार में प्राणी दुःखी या सुखी, अमीर या गरीब, स्वस्थ या अस्वस्थ, विद्वान् या मूर्ख, स्त्री या पुरुष, सुरूप या कुरूप आदि कर्म के ही कारण होता है। संसार की समस्त विषमताएँ कर्मों की विचित्र लीला के कारण हैं। तीर्थंकर भगवंतों तक को कर्म छोड़ते नहीं। प्रभु महावीर के कान में कीले ठोके गए, पैरों पर खीर बनाई गई, प्रभु ऋषभ को १३ महीने १० दिन तक भोजन की अन्तराय रही। चक्रवर्ती था सगर पर उसके साठ हजार पुत्र एक साथ मारे गए। सनत्कुमार चक्री के शरीर में ८०० वर्षों तक कोढ़ जैसी अनेक बीमारियाँ बनी रहीं और वह उनकी वेदना भोगता रहा। नरक में कर्म डालता है, एकेन्द्रिय अवस्था में कर्म ले जाता है, कर्म दूर नहीं हों तो मोक्ष भी नहीं। अतः कर्म सर्वाधिक शक्तिशाली है, वही जगत् नियंता है।

कुछ व्यक्ति कर्म के स्थान पर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता मानते हैं। वे कहते हैं—“एक शक्ति के तीन रूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जग रचता, जग पालन करता, करता है वही संहार।”

केवल कर्म ही सब कुछ है, यह भी संगत नहीं है, क्योंकि ऋतु आने पर सर्दी, गरमी, वर्षा का होना; ऋतु आने पर फल लगना आदि में काल समवाय भी अपना कार्य करता है।

पाँचवें समवाय में आता है पुरुषार्थ, उद्यम, पराक्रम। एकान्त पुरुषार्थ के समर्थकों का कहना है कि उद्यम ही समस्त कार्यों में सिद्धिभूत है। बिना पुरुषार्थ कुछ नहीं हो सकता है। थाली सामने है, षट्स व्यञ्जन हैं, भूख भी है पर हाथ उद्यम करके थाली का भोजन मुँह तक नहीं पहुँचाए, मुँह उसे चबाकर गले में नहीं भेजे, गला उसे नीचे नहीं उतारे, भीतर की मशीनरी यदि उसे ग्रहण नहीं करे, तो वह भोजन कैसे भूख मिटाएगा और कैसे ताकत देगा शरीर को ? पेटभर भोजन प्राप्ति के लिए न जाने कितने पापड़ बेलने पड़ते हैं। भोजन की चीजें कहाँ से आती हैं ? पुरुषार्थ है तो खाद्य-पदार्थ हैं, भोजन है, धन-धान्य है। पढ़ना-लिखना है तो पुरुषार्थ चाहिए। कोई कला, कोई हुनर सीखना है या कोई धंधा, कोई उद्योग स्थापित करना है, तो पुरुषार्थ चाहिए। जमीन जोतकर बीज बोएँगे तो खेती होगी। समुद्र की तह में गोते खाएँगे तो मोती मिलेंगे। बिना हाथ-पैर हिलाए क्या होगा ? कुछ भी नहीं।

आचार्य सिद्धसेन ने अपनी पुस्तक 'सन्मति तर्क' में बताया है कि काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ—ये पाँच ही कारण समवाय हैं। इनके सम्बन्ध में एकान्त कथन मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष कथन ही सम्यक् है, सत्य है।

वस्तुतः जैनदर्शन यह मानता है कि सुख-दुःख रूप यह संसार इन पाँचों समवायों का समन्वित रूप है। कहीं किसी अंश में पुरुषकृत उद्यम अर्थात् पुरुषार्थ से सुख-दुःख प्राप्त होता है, क्योंकि क्रिया से फल मिलता है और क्रिया पुरुषार्थ का ही रूप है, पुरुषार्थ-अधीन है। कहीं पर पुरुषार्थ की भिन्नता के कारण फल भी अलग-अलग मिलता है, तो कहीं ऐसा भी होता है कि दो व्यक्ति एक साथ, एक सरीखा पुरुषार्थ करते हैं पर फल दोनों को ही नहीं मिलता, यह उनके पूर्वार्जित कर्मोदय के अधीन है। ऋतु आने पर फल लगना, फल पकना आदि में कथंचित रूप से काल भी एक कारण है पर सर्वथा वही है, ऐसा नहीं है। कहीं-कहीं स्वभावकृत सृष्टि भी है, यथा—(१) आत्मा का उपयोग रूप तथा असंख्य प्रदेश होना, (२) पुद्गलों का मूर्त होना, (३) धर्मास्ति-अधर्मास्ति का अमूर्त होना एवं गति-स्थिति में सहायक बनना आदि।

पुरुषार्थ करना होगा। परन्तु केवल पुरुषार्थ को ही सब कुछ मान लिया जाए, तो भी बात जमती नहीं। बंधुओं ! आप देखते हैं कि दो व्यक्ति समान काल में समान पुरुषार्थ करते हैं पर फल एक-सा नहीं मिलता।

बंधुओं ! अनादिकाल से पंच कारण समवाय को लेकर विभिन्न मत चले आ रहे हैं। एकान्त मान्यता के कारण आपसी विवाद भी कम नहीं है। वस्तुतः इन पाँचों समवायों का समन्वय ही सृष्टि का पूर्ण स्वरूप है, पूर्णरूपेण सत्य है। प्रभु महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे, अतः उन्होंने नय-निक्षेप को मान्यता देते हुए अनेकांत दृष्टि को सत्य-तथ्यात्मक व परिपूर्ण बतलाया।

नय से अनंत गुणधर्मा वस्तु के किसी एक गुण (धर्म) को मुख्य रूप से स्वीकार किया जाता है और शेष गुणों के प्रति उदासीनता प्रकट की जाती है। नयवाद में विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के वास्तविक अविरोध के मूल की खोज की जाती है और तब उनका समन्वयात्मक रूप प्रकट किया जाता है।

उदाहरण के लिए एक विचार ऐसा है जिसमें 'आत्मा को एक' माना गया है और दूसरी मान्यता के अनुसार 'आत्मा अनेक' हैं, यह कथन किया गया है। ये दोनों कथन एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं।

ऐसी स्थिति में नयशास्त्र ने खोज की कि यह विरोध वास्तविक है या अवास्तविक। खोज करने पर ज्ञात होता है कि विरोध वास्तविक नहीं है। तब नयवाद ने दोनों कथनों की संगति की और बताया कि संख्यात्मक दृष्टि से आत्मा अनेक हैं, पर गुणात्मक अर्थात् शुद्ध चैतन्य गुण की अपेक्षा से वह एक है।

नय सात बताए गए हैं—(१) नैगम नय, (२) संग्रह नय, (३) व्यवहार नय, (४) ऋजुसूत्र नय, (५) शब्द नय, (६) समभिरूढ़ नय, और (७) एवंभूत नय।

(१) नैगम नय—निगम शब्द का अर्थ है जनपद अथवा ग्रामादि। जिस जनपद की जनता में जो शब्द जिस अर्थ के लिये नियत है, वहाँ उस शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानना नैगम नय है। शब्दों के जितने और जैसे अर्थ लोक में माने जाते हैं, उनको मानने की दृष्टि नैगम नय है। नैगम नय की दृष्टि में पदार्थ सामान्य—विशेष और उभयात्मक है। नैगम नय तीनों काल और चारों निक्षेपों को मानता है। नैगम नय धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करता है। संक्षेप में दो पर्यायों की, दो द्रव्यों की तथा द्रव्य और पर्याय की प्रधान एवं गौण भाव से विवक्षा करने वाले नय को नैगम नय कहते हैं।

नैको गमो विकल्पो यस्य स नैगमः।

पृथक्-पृथक् सामान्य विशेषयोर्ग्रहणात्॥

अर्थात् अनेक प्रकार से जो नय किसी वस्तु का स्वरूप निरूपण करता है, जिसमें वस्तु के सामान्य रूप को भी स्वीकार किया जाता है और विशेष रूप को भी।

(२) संग्रह नय—वस्तु के द्रव्यत्व आदि सामान्य धर्मों को ग्रहण करने वाला विचार संग्रह नय है। जैसे जीव के कथन से नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव और सिद्ध सबका ग्रहण हो जाता है। संग्रह नय एक शब्द के द्वारा अनेक पदार्थों को भी ग्रहण करता है। जैसे किसी व्यक्ति ने अपने नौकर से कहा—“दातुन लाओ।” दातुन शब्द को सुनकर वह सेवक केवल दातुन ही नहीं लाता, बल्कि साथ में जीभी, पानी का लोटा, हाथ-मुँह पोंछने का तौलिया आदि सामग्री भी लाता है। यहाँ ‘दातुन’ कहने मात्र से तत्सम्बन्धी सब सामग्री का संग्रह हो गया है।

संग्रहणाति विशेषान् सामान्यतया सत्तायाम्।
क्रोडीकरोति यः सः संग्रहः॥

अर्थात् विभिन्न पदार्थों में जो एक समान विशेषता है, उसे सामान्य रूप से ग्रहण करना संग्रह नय का काम है। जैसे—संसारी, मुक्त, त्रस, स्थावर आदि जो जीव हैं, वे जीवत्व की सामान्य अपेक्षा से एक हैं। संग्रह नय त्रिकाल विषयक है और चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है।

(३) व्यवहार नय—‘वि-विशेषतयेव सामान्यमवरति-मन्यते योऽसि व्यवहारः।’ अर्थात् सामान्य को विशेष रूप से ग्रहण करना व्यवहार नय है। संग्रह नय के द्वारा सामान्य रूप में ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय का काम है। व्यवहार नय वस्तु के बाह्य स्वरूप के गुणों को वस्तु मानता है और सिर्फ विशेषों को ही स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ—जीवत्व-सामान्य को स्वीकार करके संग्रह नय ने एक जीव माना था। व्यवहार नय मानता है कि जो जीव है, वह या तो संसारी है या मुक्त है। संग्रह नय सभी संसारी जीवों को किसी एक गुण-धर्म की अपेक्षा एक मानता है, जबकि व्यवहार नय उनमें भी भेद करता है कि जो संसारी जीव है, वे या तो त्रस हैं या स्थावर। इस प्रकार विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय का काम है। व्यवहार नय भी तीनों कालों को और चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है।

(४) ऋजुसूत्र नय—‘ऋजु—वर्तमानमेव सूत्रयति विकल्पयति यः स ऋजुसूत्रकः।’ यह नय मुख्यतया वर्तमानकाल के पर्याय को ही स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि जो दृष्टिकोण भूतकाल और भविष्यकाल की उपेक्षा करके वर्तमानकालीन पदार्थ की पर्याय मात्र को ही वस्तु मानता है, वह ऋजुसूत्र नय कहलाता है। इस नय के अभिप्राय से समस्त

पदार्थ क्षणविनश्वर हैं, कोई स्थायी रूप से रहने वाले नहीं हैं। यह नय चार निक्षेपों में से केवल भाव निक्षेप को ही स्वीकार करता है।

(५) **शब्द नय**—जो नय अनेक पर्यायवाची शब्दों को समान रूप से स्वीकार करता है, किन्तु पर्यायवाचक शब्दों में काल का, लिंग का, वचन का या उपसर्ग का भेद होने पर अर्थ में भेद मानता है, वह शब्द नय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि एक वस्तु के वाचक अनेक शब्द होते हैं। उनमें कोई शब्द स्त्रीलिंग होता है, कोई पुल्लिंग होता है और कोई नपुंसकलिंग होता है। कोई शब्द एकवचन वाला और कोई बहुवचन वाला होता है। इस प्रकार लिंग, वचन, कारक आदि का भेद शब्दों में भले हो पर उन सबके अर्थ में भेद नहीं है, यह ऋजुसूत्र नय का अभिप्राय है। किन्तु शब्द नय लिंग आदि के भेद से अर्थ में भेद मानता है। हाँ, काल आदि का भेद न हो तो अलग-अलग शब्दों के अलग-अलग अर्थों को यह नय नहीं देखता। उदाहरणार्थ—इन्द्र के अनेक नाम हैं—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, देवराज आदि। इन सब शब्दों में अर्थ की जो विशेषता है, उसकी उपेक्षा करके सबको एकार्थक मानना ही शब्द का अभिप्राय है।

(६) **समभिरूढ़ नय**—पर्यायवाची शब्दों में भी निरुक्ति के भेद से भिन्न अर्थ को मानने वाला नय समभिरूढ़ नय है। शब्द नय तो अर्थ भेद वहीं मानता है जहाँ लिंग आदि का भेद होता है, परन्तु समभिरूढ़ नय की दृष्टि में प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग ही होता है, भले ही वे शब्द पर्यायवाची हों और उनमें लिंगादि का भेद न भी हो। जैसे इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं, अतः शब्द नय की दृष्टि से इनका एक ही अर्थ है, परन्तु समभिरूढ़ नय के मत में इनके अलग-अलग अर्थ हैं। 'इन्द्र' शब्द से ऐश्वर्यशाली का बोध होता है, जबकि 'पुरन्दर' से नगर के 'विनाशक' का बोध है। शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार, अर्थ भेद मानने वाला विचार समभिरूढ़ नय है।

(७) **एवंभूत नय**—पदार्थ जिस समय अपनी अर्थक्रिया में प्रवृत्त हो उसी समय उसे उस शब्द का वाच्य मानना चाहिए—ऐसी निश्चय दृष्टि वाला नय एवंभूत नय है। समभिरूढ़ नय इन्द्रनादि क्रिया के होने या न होने पर भी इन्द्र को 'इन्द्र' शब्द का वाच्य मान लेता है, परन्तु एवंभूत नय इन्द्र को 'इन्द्र' शब्द का वाच्य तभी मानता है, जबकि वह इन्द्रन क्रिया में उपयोगपूर्वक प्रवृत्त हो रहा हो, अन्यथा नहीं। इस नय की दृष्टि में घट तभी घट कहा जा सकता है जब वह घट की अर्थ क्रिया जल-धारण या जलाहरण कर रहा हो। पनिहारी के सिर पर रखा हुआ जल से भरा घट ही इस नय की दृष्टि में घट है। खाली घट,

घट नहीं है। रसोई बनाते समय ही रसोइया कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं। न्यायाधीश जब न्यायालय में कुर्सी पर आसीन होकर न्याय करता है तभी वह न्यायाधीश कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं।

□ व्यवहार नय और निश्चय नय

अध्यात्मशास्त्र में नय के दो भेद प्रसिद्ध हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। जो नय वस्तु के मूल स्वरूप को बतलाता है उसे निश्चय नय कहा जाता है, जो नय दूसरे पदार्थों के निमित्त से वस्तु के स्वरूप को बतलाता है वह व्यवहार नय कहा जाता है। यद्यपि व्यवहार नय वस्तु के स्वरूप को दूसरे रूप में बतलाता है, तथापि वह मिथ्या नहीं है। क्योंकि जिस अपेक्षा से अथवा जिस रूप से वह वस्तु को विषय करता है, वह वस्तु उस रूप में भी उपलब्ध होती है ? जैसे हम कहते हैं 'घी का घड़ा'। इस वाक्य से वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान तो नहीं होता, यह नहीं मालूम पड़ता कि घड़ा मिट्टी का है, पीतल का है या अन्य किसी धातु का है। इसीलिए इसे निश्चय नय नहीं कह सकते, लेकिन उस वाक्य से इतना अवश्य मालूम होता है कि इस घड़े में घी रखा जाता है। जिसमें घी रखा जाता हो उस घड़े को घी का घड़ा कहते हैं। व्यवहार नय से यह कथन सत्य है और इसी आधार पर व्यवहार नय भी सत्य है, मिथ्या नहीं। व्यवहार नय मिथ्या तब होता है जब उसके विषय को अन्यथा मान लिया जाय। यदि कोई 'घी का घड़ा' इस वाक्य का यह अर्थ समझे कि घड़ा घी का बना हुआ है, तो वह सत्य और प्रमाणभूत नहीं होगा। कहीं भी घी से घड़ा बनता नहीं है, बल्कि घड़ा घी का आधार मात्र रहता है। जब तक व्यवहार नय अपने व्यावहारिक सत्य पर स्थिर है तब तक उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

निक्षेप

बंधुओं ! पदार्थ का स्वरूप अपने आप में पूर्ण, मौलिक और अखण्ड है, परन्तु उसको ठीक-ठीक ढंग से समझने के लिए उसके धर्मों और गुणों का विश्लेषण करना आवश्यक है। उसके विभिन्न पहलुओं को बुद्धि द्वारा अलग-अलग करके अंश-अंश के रूप में उसे समझना होता है। उस ज्ञेय पदार्थ के जो अंश-भेद किये जाते हैं, उसे निक्षेप कहते हैं। शब्द के विविध अर्थों में से प्रसंगानुसार अर्थ की अभिव्यक्ति निक्षेप द्वारा होती है। ऐसा करने पर अर्थ का प्रतिपादन किस दृष्टि से किया जा रहा है यह बात समझ में आती है, क्योंकि अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत का विधान करने में निक्षेप ही समर्थ है। निक्षेप से प्रकृत अर्थ का बोध और अप्रकृत अर्थ का निराकरण हो जाता है।

□ निक्षेप के प्रकार

अनुयोगद्वारसूत्र में कहा गया है—

जथ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिखे निरवसेसं।

जथ वि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिखे तथ ॥

अर्थात् जिस शब्द के जितने अर्थ हैं और जितनी तरह से वह जाना जाता है, उतने उसके निक्षेप करने चाहिए। जिस शब्द के विषय में विशेष जानकारी न हो, उसके कम से कम चार निक्षेप-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तो करने ही चाहिए।

शब्द अनेक अर्थों को बतलाता है, ऐसी स्थिति में कहाँ कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है—यह बतलाना निक्षेप का प्रयोजन है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः ।

— तत्त्वार्थ, अ. १, सूत्र ५

जीवादि तत्त्वों का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से न्यास-निक्षेप होता है। अतः निक्षेप के मुख्य रूप से चार प्रकार हैं—(१) नाम निक्षेप, (२) स्थापना निक्षेप, (३) द्रव्य निक्षेप, और (४) भाव निक्षेप।

नाम निक्षेप—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तों की अपेक्षा किये बिना किसी वस्तु या व्यक्ति की इच्छानुसार नाम रख देना नाम निक्षेप है। जैसे किसी बालक का नाम उसके माता-पिता ने 'महावीर' रख दिया। यहाँ महावीर शब्द का जो अर्थ और गुण है, वह अपेक्षित नहीं है, बल्कि यह एक संज्ञा मात्र है। नामकरण केवल वस्तु को पहचानने के लिए संकेत के रूप में किया जाता है। तदनुरूप गुण या धर्म का उसमें पाया जाना आवश्यक नहीं है। यदि उसमें तदनुरूप गुण भी हों, तो गुणों के कारण वह भाव निक्षेप कहलाएगा। नाम निक्षेप में केवल व्यक्ति या पदार्थ की संज्ञा (नाम) अपेक्षित होती है।

स्थापना निक्षेप—किसी वस्तु की किसी अन्य वस्तु में यह परिकल्पना करना कि यह वह है, स्थापना निक्षेप कहा जाता है। ऐसी स्थापना उसी के अनुरूप आकृति में भी की जा सकती है और अनुरूप आकृति के अभाव में भी की जाती है। अनुरूप आकृति में की जाने वाली स्थापना तदाकार स्थापना है। जैसे—हूबहू चित्र या मूर्ति में व्यक्ति की स्थापना। शतरंज के मोहरों में हाथी, घोड़ा, राजा, वजीर की स्थापना अतदाकार स्थापना है, क्योंकि उन मोहरों

में हाथी आदि की आकृति नहीं है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि नाम और स्थापना—दोनों वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं।

द्रव्य निक्षेप—अतीत और अनागत पर्याय को लक्ष्य में रखकर पदार्थ में वैसा व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे—पहले कभी राजा अथवा मन्त्री रहे हुए व्यक्ति को वर्तमान में राजा या मन्त्री कहना। यह अतीत पर्याय की दृष्टि से कहा जाता है। जो भविष्य में वैसा बनेगा—उस भावी पर्याय को दृष्टि में रखकर वर्तमान में वैसा कहना—जैसे युवराज को 'राजा' शब्द से सम्बोधित करना। यह द्रव्य निक्षेप है। अनुपयोग दशा या विपरीत उपयोग दशा को भी द्रव्य कहते हैं। जैसे सामायिक में सम भाव में उपयोग न रखकर भौतिक द्रव्य में उपयोग रखना द्रव्य सामायिक कही जाती है। अप्रधान (गौण) को भी द्रव्य कहा जाता है, जैसे—द्रव्येन्द्रियादि।

भाव निक्षेप—वर्तमान पर्याय की दृष्टि से होने वाला व्यवहार भाव निक्षेप है। जैसे राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ व्यक्ति को राजा कहना। यह निक्षेप अतीत या अनागत पर्याय को स्वीकार नहीं करता। जो पहले राजा था या आगे राजा होगा वह इस भाव निक्षेप की दृष्टि में 'राजा' नहीं कहा जा सकता। जो वर्तमान में सिंहासनारूढ़ होकर राज्य का संचालन कर रहा हो वही 'राजा' है, यह इस निक्षेप की दृष्टि है। उपयोग को भाव कहा जाता है। जैसे उपयोगपूर्वक की गई सामायिक भाव सामायिक है। प्रधान को भी भाव कहा जाता है। जैसे मुख्य रूप से जानने वाली भावेन्द्रियाँ।

तात्पर्य यह है कि निक्षेप के अनुसार किसी भी शब्द को चार रूप से समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ 'राजा' शब्द को लें। किसी भी जड़ या चेतन वस्तु का नाम 'राजा' रख दिया जाय, तो वह नाम राजा है। किसी राजा के चित्र को राजा कहना या किसी शतरंज के मोहरे आदि में राजा की परिकल्पना करना, स्थापना राजा है। जो वर्तमान में राजा नहीं है, परन्तु पहले था या आगे बनेगा उसे राजा कहना द्रव्य राजा है। जो वर्तमान में शासनारूढ़ है, वह भाव राजा है। इस तरह प्रत्येक संज्ञा शब्द के निक्षेप करने चाहिए। प्राचीन ग्रन्थों में किसी भी तत्त्व का वर्णन करते हुए आदि में निक्षेपों को कहने की शैली देखी जाती है। इससे सुगमतापूर्वक वस्तु का स्वरूप समझ में आ जाता है। प्रश्न किया जा सकता है कि नाम, स्थापना और द्रव्य तीनों में वस्तु का गुण या धर्म नहीं पाया जाता है, तो फिर इनमें क्या अन्तर रह जाता है उसका उत्तर इस प्रकार है—

नाम निक्षेप में आदर-अनादर, पूज्य-अपूज्य का भाव नहीं रहता, जबकि स्थापना निक्षेप में वस्तु तत्त्व के अनभिज्ञ व्यक्ति को आदर-अनादर बुद्धि हो सकती है। इन्द्र नाम वाले को

कोई नमस्कार नहीं करता, किन्तु इन्द्र की स्थापना जिसमें की गई हो उनके प्रति आदरभाव रखने का अनभिज्ञ जनों में व्यवहार हो सकता है। नाम और स्थापना निक्षेप, भाव में कभी परिणत नहीं होते, किन्तु द्रव्य निक्षेप भविष्य में भाव निक्षेप में परिणत हो सकता है। जैसे मिट्टी रूप द्रव्य घट जल धारण करने वाले भाव घट में परिणत हो सकता है।

अनेकान्तवाद

चिन्तन-मनन करने की क्षमता के कारण मानव का समस्त प्राणधारियों में विशिष्ट स्थान है। मानव-चिन्तन ही विचारों व विभिन्न दृष्टियों को जन्म देता है। एक ही वस्तु का स्वरूप विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोणों से करते हैं। यही कारण है कि पदार्थ का समग्र स्वरूप हर दृष्टि में अधूरा रह जाता है। होता यह है कि जो व्यक्ति जिस रूप में पदार्थ को देखता व समझता है, उसके लिए वही पदार्थ का समग्र स्वरूप बन जाता है। यह ऐकांतिक दृष्टि है, एकांतवाद है। यह एकान्त दृष्टि परस्पर समन्वय के अभाव को जन्म देती है। समन्वय के इसी अभाव के कारण लोक में संघर्षमय वातावरण बनता है।

बंधुओं ! इस संघर्ष को मिटाने वाला जो वाद है, वहीं अनेकांत है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ठीक ही कहा है—“जिसके आलोक में समस्त पदार्थों का समूह अपनी अनन्त पर्यायों के साथ दर्पण में प्रतिभासित जैसा दृष्टिगोचर होता है तथा जो श्रेष्ठतम शास्त्रों का मूल है, जो जन्मान्धों के हस्ति विषयक ज्ञान, विविध अंगों के स्पर्श से उत्पन्न विरोध की तरह समस्त ऐकान्तिक दृष्टिकोणों, विचारों के दुराग्रह को शमन करने की क्षमता रखता है एवं समस्त वचन-व्यवहारजन्य विरोधाभासों का शमन करने वाला है, ऐसा ‘अनेकान्त’ सदा जयवंत रहे। लोक व्यवहार जिसके बिना सफल नहीं बन सकता, ऐसे लोक के एकमात्र गुरु अनेकांत को मेरा नमन, वन्दन, अभिनंदन है।”

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वहा ण विज्जए।

तस्स भुवणेकगुरुणो णमो अणेगतं वायस्य ॥

(सन्मति तर्क ६८-६९)

बंधुओं ! अनेकान्त किसी पद्धति-विशेष का आग्रह नहीं करता, अपितु सत्य प्राप्ति का आग्रह अवश्य करता है। जैसे जन्मान्ध व्यक्ति हाथी को अलग-अलग अंगों के स्पर्शों के कारण अलग-अलग रूप में जानते हैं। सूँड़ पकड़ने वाला व्यक्ति हाथी को रस्से के समान समझता है, पैर पकड़ने वाला व्यक्ति हाथी को पेड़ के तने या किसी खंभे की तरह मानता है। पेट का स्पर्श करने वाला उसे किसी बड़े ढोल की तरह मानता है, कान पकड़ने वाला उसे

सूप की तरह का बताता है। यदि वे अपने आग्रह पर अड़े रहें कि जैसा मैंने जाना, पाया, वह वैसा ही है और शेष व्यक्ति जैसा बताते हैं वैसा नहीं है। वह मानता है कि मैं सही हूँ, बाकी सब गलत हैं तो विवाद खड़ा हो जायेगा। अपनी-अपनी अपेक्षा से वे असत्य नहीं कह रहे हैं, सत्य ही कह रहे हैं पर पूर्ण सत्य तो किसी का भी नहीं है। पूर्ण सत्य कब होगा ? जब इन सभी जन्मान्धों के विचारों का समन्वय होगा।

बंधुओं ! इस अनेकांत में अपना स्वयं का न तो दुराग्रह है और न कदाग्रह या हठाग्रह। वह तो अपने सत्य से अन्यान्य को परिचित कराता है और दूसरे के कथन में जो सत्य-तथ्य है उसे ग्रहण करता है।

गणधर गौतम स्वामी ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवन् महावीर से प्रश्न किया—“प्रभो ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?” प्रभु ने समाधान दिया—“गौतम, जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। द्रव्य की अपेक्षा से जीव शाश्वत है, क्योंकि जीव-द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता। पर्याय-परिणमन की दृष्टि से जीव अशाश्वत है, क्योंकि उसका पर्याय बदलता रहता है। इस समाधान में एकांत दृष्टि नहीं अनेकान्त दृष्टि है।”

जैनदर्शन का अन्तर्नाद अनेकान्तवाद है। इसकी भित्ति पर ही सारा जैन सिद्धान्त आधारित है। ‘उप्पनेइ वा’, ‘विगमेइ वा’, ‘धुवेइ वा’ इस त्रिपदी को सुनकर महामति गणधर चतुर्दश पूर्वों की रचना कर लेते हैं। इस त्रिपदी में जो तत्त्व समाहित है, वह अनेकान्त है। इस दृष्टि से समस्त जैन वाङ्मय का आधार अनेकान्त है, यह प्रमाणित हो जाता है।

यह एक माना हुआ सत्य है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, उसके असंख्य पहलू हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक शब्द द्वारा किसी एक धर्म के कथन से वस्तु का समग्र स्वरूप प्रतिपादित नहीं होता। तब समग्र स्वरूप के प्रामाणिक प्रतिपादन के लिए एक ही चारा है कि वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से कहा जाय और शेष धर्मों को गौण रूप में स्वीकार किया जाये। इस मुख्य और गौण भाव को अर्पणा और अनर्पणा कह सकते हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

अर्पितानर्पितसिद्धेः। — तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सूत्र ३१

मुख्य और गौण भाव से अथवा अपेक्षा या अनपेक्षा से वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है। अनेकान्त दृष्टि विराट् वस्तु तत्त्व को जानने का वह प्रकार है, जो विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता, उन्हें गौण या अविवक्षित कर देता है। इस तरह अनेकान्त द्वारा पूरी वस्तु का मुख्य गौण भाव से कथन हो जाता है। कोई भी अंश नहीं

छूटता। अनेकान्त दृष्टि से कथन करने की शैली स्याद्वाद कही जाती है। वस्तु में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। उनका समग्र प्रतिपादन शब्द द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए जब उसके साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उससे यह ध्वनित होता है कि यह धर्म वस्तु का कथंचित् धर्म है—इसके अतिरिक्त भी उसमें अन्य अनेक अनन्त धर्म हैं, परन्तु उनकी विवक्षा नहीं की गई है। यदि उस शब्द के साथ 'स्यात्' शब्द नहीं लगाया जाता है तो उसका अर्थ होगा कि वह विवक्षित धर्म ही वस्तु का स्वरूप है, उसमें अन्य धर्म नहीं है। यह कथन सम्यक् नहीं हो सकता। जैसे—यदि केवल 'अस्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ होगा पदार्थ में अस्तित्व ही है। अन्य धर्मों का सद्भाव उससे प्रकट नहीं होता, किन्तु यह वस्तु का अपूर्ण प्रतिपादन होगा। इसके विपरीत यदि 'स्याद् अस्ति' कहा जाये तो उसका अर्थ होगा पदार्थ कथंचित् अस्तित्व वाला है। इससे यह प्रकट होता है कि उसमें रहने वाले नास्तित्व आदि शेष अनन्त धर्मों का भी वहाँ सद्भाव है। अस्तित्व की प्रधान रूप से विवक्षा है और नास्तित्व आदि की गौण रूप से। इस प्रकार स्याद्वाद, वस्तु तत्त्व के सम्यक् प्रतिपादन की निर्दोष शैली है।

अनेकान्त दृष्टि अनेकता में एकता और एकता में अनेकता को लेकर चलती है। यह सब वादों और विवादों को सुलझा देती है। यह सब कदाग्रहों और हठाग्रहों को दूर हटा देती है। यह वह संजीवनी है जो अभिमान एवं कदाग्रह की व्याधियों को नष्ट कर देती है। यह वह अमृत है जो एकान्त के विष को निष्प्रभावी कर देता है। इस अनेकान्त दृष्टि को न केवल शास्त्रों तक सीमित रखना चाहिए, अपितु जीवन-व्यवहार में भी उतारना चाहिए। यदि जीवन-व्यवहार में अनेकान्त दृष्टि आ जाती है तो सर्वत्र शान्ति ही शान्ति प्रतीत होने लगती है। यदि यह अनेकान्त दृष्टि व्यवहार में नहीं आती है तो वहाँ क्लेश, विवाद, संघर्ष और अशान्ति ही मची रहती है। अर्थात् जहाँ अनेकांत नहीं, नय-निक्षेप का ज्ञान नहीं, समवाय का ध्यान नहीं जो पाखंडी एकान्तवादी मिथ्यामती हैं वे शुद्ध महाव्रत पालक नहीं हो सकते।

बंधुओं! प्राणी का चरम और परम लक्ष्य है—मोक्ष और उस मोक्ष का एकमात्र पथ है—संयम। अतः जिन महनीय आत्माओं ने गृह-संसार त्यागकर, माया-मोह छोड़कर संयम-पथ ग्रहण किया, पंच महाव्रत धारण किए, वे तिरण-तारण के जहाज हैं, उनको किया गया वन्दन-नमन उत्कृष्ट भावों से युक्त हो तो कर्मों को काटने वाला बन जाता है। आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के तृतीय पट्टधर पू. आचार्य श्री आसकरण जी म. सा. अपनी 'छोटी साधु वन्दना' में इसी कथन को विस्तार देकर कहते हैं—

साधुजी ने वन्दना नित-नित कीजे,
 प्रातः उगन्ते सूर रे प्राणी।
 नीच गति मां ते नहीं जावे,
 पामे ऋद्धि भरपूर रे प्राणी॥

मोटा ते पंच-महाव्रत पाले,
 छह काया का प्रतिपाल रे प्राणी।
 भ्रमर भिक्षा मुनि सूझती लेवे,
 दोष बयालीस टाल रे प्राणी॥

बंधुओं ! ब्रह्म मुहूर्त में उठते ही पहली वन्दना गुरु-भगवंत को, साधु-निर्ग्रन्थ को, त्यागी-मुनिराज को। फल क्या ? गुरु-वन्दन करने वाला नीच गति में नहीं जाता। उसे मिलेगी, श्रेष्ठ गति; साथ ही वह दरिद्र नहीं बनेगा, भरपूर ऋद्धि भी प्राप्त होगी। देव बनेगा तो महर्द्धिक देव होगा और मानवभव लेगा तो श्रेष्ठी, धनाढ्य, साहूकार बनेगा।

वन्दना कैसे गुरु को की जाए ? कहा है इसमें कि जो पंच महाव्रतों का पालन करते हैं, छह काय जीवों को अभय देकर उनके प्रतिपाल कहलाते हैं और जैसे भ्रमर अनेक फूलों से बिना उन्हें कष्ट दिए, उनका जरा-जरा-सा रस लेता है, वैसे ही गृहस्थों के घरों से कल्पनीय, अचित्त, प्रासुक, एषणीय भिक्षा अल्प मात्रा में ग्रहण करते हैं, बयालीस प्रकार के दोषों को टालकर भिक्षा लेते हैं—मंडल के पाँच दोष टालकर आहार भोगते हैं, ऐसे साधु-मुनिराज हमारे वन्दनीय हैं।

निर्ग्रन्थ-मुनिराजों की प्रथम पहचान के विषय में पाँच महाव्रतों के पालन की बात आगमों में भी मिलती है और आचार्यों, विद्वानों, मनीषियों के ग्रंथों में भी।

प्रथम महाव्रत में निर्ग्रन्थ-मुनिराज “सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं पचक्खामि तिविहं तिविहेणं” पाठ के द्वारा तीन करण (करना नहीं, कराना नहीं, अनुमोदना भी करना नहीं) से व तीन योग (मन, वचन व काया) से त्रस व स्थावर, किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का महाव्रत स्वीकार कर सर्व प्रकारेण प्राणातिपात-पाप से निवृत्त हो जाते हैं। सर्व प्रकारेण हिंसा का त्याग कर देते हैं। ऐसे मुनि जीवनभर षट्काय जीवों को अभय देकर उनके प्रतिपालक बन जाते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय बल-प्राण (कान), चक्षुइन्द्रिय बल-प्राण (आँख), घ्राणेन्द्रिय बल-प्राण (नाक), रसनेन्द्रिय बल-प्राण (जिह्वा), स्पर्शेन्द्रिय बल-प्राण (त्वचा), मन बल-प्राण, वचन बल-प्राण, काय बल-प्राण, श्वासोच्छ्वास बल-प्राण, आयुष्य

बल-प्राण—इन दस प्राणों में से कुछ या पूर्ण रूप से प्राणों को धारण करने वाले प्राण, भूत, सत्त्व और जीव की हिंसा वे न करते हैं, न कराते हैं, न करते हुए को भला जानते हैं, मन-वचन-काया से।

अहिंसा महाव्रत-पालन की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) धरती को बिना रजोहरण से पूंजे (रात्रि में) या बिना देखे (दिवस में) नहीं चलना। इस भावना को 'ईर्या समिति' भावना कहते हैं।

(२) धर्म में रुचि रखने वालों, त्याग-तप करने वालों, पाप-प्रवृत्तियों से दूर रहने वालों या पाप-प्रवृत्तियों से डरने वालों, जो भी पाप-प्रवृत्ति कर रहे हैं, उनकी नासमझी और कठिन दुःख रूप परिणाम को सोचकर उन पर अनुकम्पा करने वालों को अच्छा समझना। यह 'मण परिजाणइ' भावना है। इसमें धर्मी-अधर्मी दोनों पर मुनि समभाव रखता है अर्थात्, एक को अच्छा समझता है और दूसरे पर अनुकम्पा भाव रखता है।

(३) कर्कश, कठोर, छेदकारी, भेदकारी, हिंसाजन्य, दोषयुक्त, अयोग्य और असत्य भाषण नहीं करना। यह 'वय परिजाणइ' भावना है।

(४) भांडे, उपकरण, वस्त्र, पात्र आदि प्रमाणोपेत-परिमित रखना। जो हैं उन्हें यतना से उठाना व रखना। यह कहलाती है 'आदानभंड मात्र निक्षेपणा' समिति भावना।

(५) वस्त्र-पात्र तथा भोजन-पान आदि किसी भी वस्तु को दृष्टि से देखे बिना व रजोहरण से प्रमार्जन किए बिना काम में न लाना। पाट पर बैठना है, पूंजकर बैठें। द्वार खोलना या बंद करना है, अच्छी तरह जीव-जंतु की सँभाल करें, रजोहरण से प्रमार्जन करें। इस भावना का नाम है—'आलोकित पान भोजन' भावना।

महाव्रती मुनियों को अहिंसा महाव्रत की इन पाँचों भावनाओं का पालन करना चाहिए।

दूसरा महाव्रत है—“सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं पचक्खामि तिविहं तिविहेणं” अर्थात् तीन करण, तीन योग से सर्व प्रकारेण असत्य भाषण का त्याग करना। इसका नाम है सत्य महाव्रत। इस महाव्रत की इन पाँच भावनाओं का मुनि को पालन करना आवश्यक है—

(१) मुनि सदैव निर्दोष, मधुर, सत्य बोले। वह कभी कटुक, कठोर, सदोष, छेदकारी, भेदकारी, दिल को दुःखाने वाली भाषा न बोले। ऐसी वाणी वह बोले जो “औरन को शीतल लगे, आपहु शीतल होय”—उसकी वाणी से कोई बुरा न माने। यह सत्य महाव्रत की 'अनुवीचि भाषण' भावना है।

(२) मुनि के जीवन में क्रोधवश झूठ बोलने का प्रसंग उपस्थित हो तो मुनि उस समय क्षमा का चिन्तन कर, क्षमा को धारण करे व मौन रखे। इसे सत्य महाव्रत की 'कोहं परिजाणइ' भावना कहा गया है।

(३) इसी तरह लोभ की स्थिति में झूठ बोलने का अवसर आने पर सन्तोष धारण कर मौन रखना 'लोह परिजाणइ' भावना है।

(४) भय का उदय होने पर भयवश झूठ बोलने का अवसर आए तो मुनि धैर्य धारण कर मौन रखे। यह 'भय परिजाणइ' भावना है।

(५) हास्योदय से हास्य-विनोद के लिए झूठ कहने का अवसर आए तब भी 'मैं मुनि हूँ, असत्य भाषण मेरे लिए कल्पनीय नहीं है'—यह विचार कर मौन रहे। यह सत्य महाव्रत की 'हासं परिजाणइ' भावना है।

तीसरे महाव्रत में साधु-मुनिराज—“सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं पचक्खामि तिविहं तिविहेणं”—कहकर सभी प्रकार के अदत्त-आदान से निवृत्त बन जाते हैं। वे ग्राम, नगर या जंगल में किसी भी स्थान पर अल्पमूल्या-बहुमूल्या, अणु-आकार-स्थूलाकार, सजीव-सचित्त और अजीव-अचित्त में से किसी भी वस्तु को उसके स्वामी के द्वारा दिए बिना अथवा उसकी आज्ञा बिना ग्रहण नहीं करते। इसी का नाम है—अदत्तादान विरमण व्रत।

इस महाव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) निर्दोष स्थानक, मकान या ऐसा ही रहने, ठहरने का कोई अन्य स्थान उसके स्वामी या स्वामी के अधिकृत व्यक्ति नौकर आदि अथवा अन्य अधिकृत व्यक्ति आदि की आज्ञा से ग्रहण करना 'मिउग्गहंजाती' नामक प्रथम भावना है।

(२) गुरु या दीक्षावय में अपने से बड़े मुनि की आज्ञा बिना आहार-वस्त्र आदि का उपभोग नहीं करना। यह 'अणुण्णवियपाणभोयण' नामक दूसरी भावना है।

(३) द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव का ध्यान धरकर उसके अनुसार सदैव गृहस्थ की आज्ञा लेना 'उग्गहंसिउग्गहिंसंति' नामक तृतीय भावना है।

(४) इस महाव्रत की चौथी भावना है—'उग्गहंसिअभिव्खणं'। इसका तात्पर्य है—शिष्य आदि सचित्त, तृण-वस्त्र-पात्र आदि अचित्त और उपकरणादि सहित शिष्य अर्थात् मिश्र आदि—इन तीनों को ग्रहण करने के लिए बारम्बार आज्ञा लेना और मर्यादा के अनुसार इन्हें ग्रहण करना।

(५) संघाड़े में साथ रहने वाले साधुओं के वस्त्र-पात्र आदि आवश्यक होने पर ग्रहण करने हों तो उस साधु-विशेष, जिसकी निश्रा की वह वस्तु है, की आज्ञा लेकर वह वस्तु लेना। यह 'अणुणविय मिउगहंजाती' नामक पाँचवीं भावना है।

आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, पाँचवें उद्देशक में पाँच प्रकार की आज्ञाओं का वर्णन मिलता है। वहाँ सूत्र ८७ में "वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणं एतेसु चेव जाणेज्जा" का अर्थ बताते हुए टीकाकार ने उग्गहं से तात्पर्य लिया अवग्रह अर्थात् आज्ञा लेकर ग्रहण करना। एक अन्य अर्थ उग्गहं का स्थान भी लिया है। आगे टीकाकार ने व्याख्या की है—आज्ञा के अर्थ में पाँच अवग्रह प्रसिद्ध हैं—

- (१) देवेन्द्र अवग्रह : निर्जन वनादि स्थानों में ठहरने के लिए धरती के धणी-देवेन्द्र-शक्रेन्द्र की आज्ञा लेना।
- (२) राज अवग्रह : चक्रवर्ती की आज्ञा लेना।
- (३) गृहपति अवग्रह : गृहपति की आज्ञा लेना।
- (४) शय्यातर अवग्रह : शय्यातर की आज्ञा लेना।
- (५) साधर्मिक अवग्रह : साधर्मिक की आज्ञा लेना।

भगवती १६/२, आचारांगसूत्र ६३५

आवश्यकसूत्र के श्रमण-प्रतिक्रमण में पाँच अदत्त का वर्णन मिलता है—

(१) देव अदत्त, (२) राज अदत्त, (३) गुरु अदत्त, (४) साधर्मिक अदत्त, (५) गाथापति अदत्त।

जहाँ कोई मालिक न हो, यथा निर्जन वन आदि हो तो वहाँ "धरती के धणी शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा है" कहकर ठहरना, स्थान या वस्तु का उपयोग करना चाहिए। यदि मुनि ऐसा नहीं करता तो वह देव अदत्त है। तात्पर्य यह कि मुनि अपने ठहरने के स्थान के लिए मकान के स्वामी, अधिकृत व्यक्ति, राजा या चक्रवर्ती आदि की अथवा शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा लेता है। इसी तरह उपभोग परिभोग योग्य आहार आदि वस्तुओं के लिए गुरु की या दीक्षा-पर्याय में बड़े किसी मुनि की आज्ञा लेता है। सदैव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा के अनुसार किसी गृहस्थ की आज्ञा लेता है। साथ में जो मुनि हैं उनकी वस्तुएँ भी उनकी आज्ञा से उठाता है।

किसी स्थान पर ठहरने के लिए आज्ञा हेतु उसका मालिक या अधिकारी न हो तो राजा, मांडलिक, चक्रवर्ती आदि की आज्ञा मुनि को लेनी चाहिए; अन्यथा राज अदत्त माना जाएगा।

गुरु अथवा अपने से दीक्षावय में ज्येष्ठ मुनियों की आज्ञा उल्लंघन गुरु-अदत्त है।

एक समान समाचारी, जिनके साथ संभोग खुला हो, ऐसे साधु-संत की आज्ञा लेना जहाँ आवश्यक है और नहीं ली जाती आज्ञा तो साधर्मिक अदत्त माना गया है। जैसे किसी स्थान पर पहले से मुनि ठहरे हों, उनके साथ संभोग संबंध होने से अन्य मुनि भी वहाँ आकर ठहरना चाहें तो पहले से ठहरे साधर्मिकों की आज्ञा आवश्यक है।

मुनि कोई भी आवश्यक वस्तु उसके मालिक को पूछकर ले, स्थान के लिए स्थान के मालिक की आज्ञा ले। यदि नहीं लेता है और वस्तु ग्रहण करता है या स्थान में ठहरता है तो वहाँ गाथापति-अदत्त माना जाता है।

यदि मुनि वस्तु या मकान आदि उसके स्वामी या अधिकृत व्यक्ति की आज्ञा बिना ही ग्रहण कर लेता है तो वह स्वामी-अदत्त का दोषी माना जाता है। वन-निर्जन स्थलों में यदि कोई आज्ञा देने वाला न हो तो शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा लेना कल्पता है। किसी जीव के प्राण हरण में हिंसा का दोष तो लगता है साथ ही जीव-अदत्त का भी वह भागी बनता है। जिनेश्वर (तीर्थकर) प्ररूपित वाणी (शास्त्रों) में साधु के लिए जिस आचार का विधान है, उसका उल्लंघन करे तो तीर्थकर-अदत्त का दोषी माना जाता है वह। अपने गुरु की अथवा ज्येष्ठ मुनिजनों की आज्ञा न माने तो गुरु-अदत्त है। 'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं' के त्याग में इन सभी बातों का मुनि को अवश्य ध्यान रखना चाहिए, तभी वह सर्वप्रकारेण अदत्तादान विरमण व्रती कहलाएगा।

चौथा महाव्रत है—'सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं तिविहं तिविहेणं पचक्खामि'— अर्थात् तीन करण, तीन योग से सर्व प्रकार के कुशील, मैथुन का त्याग करना। मुनि पूर्ण रूप से सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। साध्वी के लिए मनुष्य, तिर्यच और देव तथा साधु के लिए मानुषी, तिर्यचणी, देवी के साथ 'मैथुन सेवन करना नहीं, करवाना नहीं, अनुमोदन करना नहीं; मन-वचन-काया से' रूप प्रत्याख्यान इस महाव्रत में स्वीकार किए जाते हैं।

इस महाव्रत के प्रत्याख्यान के पश्चात् महाव्रती निर्ग्रन्थ को इस महाव्रत की ५ भावनाओं का पालन करना चाहिए—(१) वे पुरुष (साधु) हैं तो स्त्री के और स्त्री (साध्वी) हैं तो पुरुष के अंगोपांग, उनके हाव-भाव, हास-विलास, श्रृंगार आदि की कथा न करें;

(२) गुप्त अंगोपांग को विकार की दृष्टि से न देखें, (३) गृहस्थाश्रम में भोगे हुए काम-भोगों का स्मरण न करें, (४) कामोत्तेजक गरिष्ठ व स्वादिष्ट भोजन न करें, अधिक भोजन न करें, (५) ऐसे मकान में साधु न रहें, जहाँ पहले से स्त्री रहती हो और साध्वी ऐसे मकान में न रहे, जहाँ पहले से पुरुष रहता हो। जहाँ नपुंसक रहता हो, वहाँ साधु-साध्वी दोनों ही न रहें।

दशवैकालिकसूत्र के छट्टे अध्ययन में उल्लेख मिलता है—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

(दशवै. ६/१७)

मैथुन का सेवन घोर अधर्म का मूल है। पुरुष-स्त्री के एक बार के संसर्ग में नौ लाख संज्ञी मनुष्यों और असंख्य असंज्ञी जीवों की घात होती है। अतः यह महादोष का स्थान है। एक मैथुन के सेवन से पाँचों महाव्रतों के भंग होने की संभावना विद्यमान रहती है। ऐसा जानकर निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन का सर्वथा त्याग कर देते हैं।

पाँचवाँ महाव्रत है—“सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं पचक्खामि तिविहं तिविहेणं !” जैन साधु के लिए जगह-जगह उल्लेख मिलेगा—“कनक व कामिनी” के त्यागी। कामिनी के त्याग की बात चौथे महाव्रत में आ चुकी है। पाँचवें महाव्रत में साधु ‘कनक’ अर्थात् सर्व प्रकार के परिग्रह-संचय का तीन करण, तीन योग से त्याग करते हैं। जो कुछ भी वे अपने पास रखते हैं, उनमें आसक्ति नहीं रखते। धन-धान्य, खेत-वास्तु, दुष्पद-चतुष्पद, स्वर्ण-रजत या अन्य धातु आदि किसी भी तरह का परिग्रह उनके पास नहीं होता। उनका अपना कुछ भी नहीं है। वस्त्र, पात्र, रजोहरण, कम्बल आदि भी वे संयम-पालनार्थ व लज्जा निवारणार्थ रखते हैं।

जं पि वत्थं वा पायं वा, कंबल पायपुच्छणं ।
तं वि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इह वुत्तं महेसिणा ॥

(दशवै. ६/२०-२१)

दशवैकालिक अध्ययन छट्टे की ही गाथाएँ हैं ये। भगवान महावीर फरमाते हैं कि संयम का पालन करने व लज्जा की रक्षा के लिए साधु-साध्वी जो वस्त्र, पात्र, कम्बल-रजोहरण

आदि रखते हैं; वह परिग्रह रूप नहीं हैं, वह तो धर्मोपकरण हैं, धर्म-साधना के सहायक हैं। अगर कोई साधु उन वस्त्र-पात्रादि में ममत्व, आसक्ति, मूर्च्छाभाव रखे तो वह परिग्रह कहलाएगा। इन धर्मोपकरणों (उपाधि) की तो बात ही क्या, ममत्व यदि है तो शरीर भी परिग्रह है।

पाँचवें महाव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) शब्द, (२) रूप, (३) गंध, (४) रस, और (५) स्पर्श—ये पाँचों मनोज्ञ प्राप्त हो जाएँ तो इन पर राग-भाव, आसक्ति-भाव, ममत्व-भाव नहीं रखना और ये पाँचों यदि अमनोज्ञ प्राप्त हो जाएँ तो द्वेष न करना, अप्रसन्न न होना, नाराज नहीं होना।

बंधुओं ! आचार्यसम्राट् की इस उत्कृष्ट रचना में विनय-भावों का जो श्रेष्ठ रसायन है; वह पाठक को, जापकर्त्ता को भावों की शुभता, विचारों की शुद्धता देकर उसे व्रत-प्रत्याख्यानों की ओर, संवर-सामायिक-प्रतिक्रमण की ओर, श्रावक व्रतों की ओर एवं शनैः-शनैः इससे भी आगे सर्वविरति भाव की ओर ले जाने में सक्षम है। आवश्यकता है केवल थोड़े-से विवेक की। जहाँ भी देव-गुरु-धर्म को अपनाना हो, वहाँ यह विवेक आवश्यक है।

आचार्यसम्राट् ने 'बड़ी साधु वन्दना' के प्रारंभ में "नमूं अनंत चौबीसी" कहकर, देव कैसे हों आपके, यह स्पष्ट कर दिया है। प्रथम छह कड़ियों के पश्चात् सौ कड़ियों में मोक्षगामी और देवलोक में गए साधु-साध्वियों की स्तुति कर हमें बताया है कि हमारे गुरु कैसे हों। रचना की १०८वीं कड़ी में पुनः स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया है कि वे शुद्ध पाँच महाव्रतों के पालक होने चाहिए।

जहाँ तक धर्म को समझने में विवेक का प्रश्न है, उसका समाधान बहुत सरल है। जिन्हें आपने देव माना है उन जिनेश्वर, वीतराग, अरिहन्त, तीर्थकर, सर्वज्ञों ने जो धर्म प्रकाशित किया और जिसे शुद्ध पंच महाव्रतधारी आपके समक्ष समय-समय पर प्रस्तुत करते हैं—बस उस धर्म में दृढ़ श्रद्धा भाव रखिए। यही आत्मा को आध्यात्मिक शिखर पर पहुँचाकर शाश्वत सुखों का आस्वादन कराएगा।

आनन्द ही आनन्द !



एह तिरण नो ठाम

आत्म-बन्धुओं !

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. की अद्भुत आध्यात्मिक सृजना 'बड़ी साधु वन्दना' का विवेचन प्रवचनों के माध्यम से इस चातुर्मास काल में निरन्तर सुन रहे हैं आप। इसकी एक सौ ग्यारह कड़ियों में १०८ कड़ियों पर विवेचन हो चुका है। आपने ध्यान दिया होगा कि यह सम्पूर्ण रचना ही विनय के भावों से ओत-प्रोत है। नमन, वन्दन, स्मरण, गुणकीर्तन ही इस सृजना के ध्येय हैं। वन्दनीय जो भी हैं, उन्हें वन्दन अवश्य किया जाए, यह भारतीय संस्कृति का अपना सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

□ वन्दनीय कैसे बनें ?

नमन-वन्दन विनय का लक्षण है, पर उसे कायरता कहना अविवेक का लक्षण है। भारत की संस्कृति आवश्यकता के समय खड्ग उठाकर अविनीत, अन्यायी, अत्याचारी के दाँत खट्टे करने का, उसे सबक सिखाने का आदेश भी देती है। कहाँ करना नमन, किसे करना वन्दन, कौन है पूजनीय—इसका निर्धारण करने में यदि विवेक बुद्धि का उपयोग किया जाए तो विनय एक गुण है, वंदन-नमन भी शूरवीरता का लक्षण है। सत्पुरुषों के प्रति विनय-भाव रखकर उन्हें नित्य स्मरण करते हुए वन्दन-नमन करना—यह संसार-सागर से पार उतरने की राह है। कारण यह कि ऐसे वन्दनीयों की स्मृति, जाप से कभी न कभी उनकी तरह बनने, उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारने के भाव आते ही हैं। स्पष्ट है यह स्मरण एक दिन स्मरणकर्ता को उन महनीय स्मरणीय पुरुषों की श्रेणी में ले जाएगा और वह स्वयं महनीय, वंदनीय, पूजनीय बन जाएगा।

□ जैन संस्कृति गुण-पूजक

भारत में श्रद्धालु अधिक हैं, उनमें भी अंध श्रद्धालु ज्यादा हैं। अंध श्रद्धालु मानव 'व्यक्ति-पूजक' बन जाता है, जबकि श्रद्धालु, सच्चा श्रद्धालु गुण-पूजक होता है। व्यक्ति की पूजा को भारत की संस्कृति ने हमेशा तिरस्कार की दृष्टि से देखा है। उसने सदैव गुणों की, आदर्शों की पूजा को महत्त्व दिया है। जैन संस्कृति भी इसी मान्यता की पोषक है।

जयगच्छ के आद्य प्रवर्तक एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने 'बड़ी साधु वन्दना' की अब तक की १०८ कड़ियों में गुणियों का गुणगान कर, स्मरणीय पुरुषों का स्मरण कर, पूजनीय पुरुषों को भावयुत वन्दन-नमन कर भारतीय संस्कृति और 'जिन-सिद्धान्तों' का पूर्ण अनुकरण किया है। उनका विनय-भाव वस्तुतः कर्मनिर्जरा का हेतु है। आपको ध्यान होगा—बारह तप-भेदों में जो छह आभ्यंतर तप हैं, उनमें विनय भी तप है और जो सम्यक् तप है, वह पापकर्मों की निर्जरा कराता है। यह एक आगम-सत्य है। इसी आगम-सत्य को काव्य का रूप देते हुए एकभवावतारी आचार्यसम्राट् ने 'बड़ी साधु वन्दना' की अगली कड़ियों में कहा है—

इण यतियों-सतियों ना, लीजे नित प्रति नाम।

शुद्ध मन थी ध्यावो, एह तिरण नो ठाम॥१०९॥

इण यतियों-सतियों सूं, राखो उज्ज्वल भाव।

इम कहे 'ऋषि जयमल', एह तिरण नो दाव॥११०॥

□ एह तिरण नो ठाम/दाव

इन दो कड़ियों में पाठकों, श्रोताओं, श्रद्धालुजनों से एकभवावतारी आचार्यसम्राट् ने अनादिकाल से अनंत भवों में भटकती उनकी जीवात्मा के लिए जन्म-मरण के जंजाल से छूटने का, भव-भ्रमण से मुक्त बनने का, चार गति-चौरासी लक्ष योनि के चक्र में पुनः न फँसने का, सर्वदुःखों से सदा-सदा के लिए छुटकारा पाने का तीर्थकर, सर्वज्ञ कथित सरल उपाय बताते हुए स्पष्ट कहा है—'एह तिरण नो ठाम' और 'एह तिरण नो दाव' अर्थात् यही है भव-सागर से तिरने का स्थान, यही है संसार-समुद्र से पार उतरने का दाव (उपाय-तरीका)।

क्या है वह दाव, वह उपाय, वह तरीका? वही जो स्वयं पूज्यश्री ने अपनाया। महापुरुष पहले प्रयोग करते हैं और आत्मानुभूति से जिस सत्य को जानते हैं, उसी सत्य-तथ्य को जन-जन के सम्मुख रख देते हैं। आचार्यसम्राट् तो युगपुरुष थे। अपने जीवनानुभव, साधनानुभव से उन्होंने जो पाया, निश्चय ही वह आत्मकल्याणकारी अनुभूति ही होगी तभी तो कहा उन्होंने कि जिस तरह मैंने महनीय, वन्दनीय, स्मरणीय, पूजनीय महानात्माओं का स्मरण किया है, आपको भी उसी तरह उनका नाम-स्मरण करना है, गुण-कीर्तन करना है। उनके आदर्शों को जीवन में उतारना है।

□ नाम-स्मरण का उद्देश्य क्या ?

बंधुओं ! आप जो माला फेरते हैं, जाप करते हैं, अखंड-जाप का, नौ लाख आदि जाप का आयोजन करते हैं; उसके पीछे भावना क्या? लक्ष्य, उद्देश्य क्या उस नाम-स्मरण का ?

प्रश्न यह भी किया जा सकता है कि जब जैनागमों और भारत की संस्कृति में नाम या व्यक्ति पूजा का स्थान नहीं तो फिर नाम-स्मरण क्यों, जप-जाप क्यों ? इन सबके पीछे व्यक्ति का ध्येय होता है गुणी से गुणों का स्मरण, भावना रहती है कि उस आदर्श-पुरुष के नाम का जाप कर उसके आदर्शों को ग्रहण करना—उसके आदर्श जीवन का अनुकरण करने के लिए तैयार बनना। एक कवि ने अपनी कविता की चार पंक्तियों में कहा है—

जीवन-चरित महापुरुषों के,
हमें नसीहत करते हैं।
हम भी अपना-अपना जीवन,
स्वच्छ रम्य कर सकते हैं॥

नाम-स्मरण करते-करते मन के पटल पर, स्मृति में और आँखों के समक्ष जिसका नाम-स्मरण किया जा रहा है, उसके जीवन-चरित की विशेषताएँ स्वतः स्मृति में आ जाती हैं और जापकर्ता कभी उस स्थिति में भी पहुँच सकता है जिसमें उन गुणों को ग्रहण करने का भाव क्रियान्वयन का रूप ले लेता है, जो गुण उस महापुरुष के जीवन में होते हैं। परिणाम यह बनता है कि एक दिन स्वयं जापकर्ता भी अपने जीवन को शुभ, स्वच्छ, रमणीय बनाकर महानात्मा बन जाता है।

□ स्मरण-चिन्तन, गुण-ग्रहण

सर्वज्ञों की वाणी में प्रकट इस रहस्य को उस दिव्यात्मा ने जाना, समझा और व्यवहृत कर जन-कल्याण की भावना से उसे श्रद्धालु भक्तों के समक्ष अपनी काव्य-शैली में रख दिया है। संसार-समुद्र से पार उतरने का अत्यंत सरल पथ है—गुणानुवाद करते हुए महापुरुषों का नाम-स्मरण करना !

इसी पथ को अपनाकर एवं महानात्माओं के गुणों को ग्रहण कर अनंत-अनंत आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया। उन्हें तथा मोक्ष-पथ के पथिक बन महापुरुषों के आदर्शों पर चलकर जो देवगति के अधिकारी बने एवं निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त करेंगे; उन सभी को अत्यंत श्रद्धा, अत्यंत विनय भाव से एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी काव्याञ्जलि अर्पित की है।

आपने अभी एकभवावतारी आचार्यसम्राट् द्वारा रचित बड़ी साधु वन्दना की १०९वीं कड़ी सुनी। कड़ी में आया है—“शुद्ध मन थी ध्यावो।” और इससे अगली ११०वीं कड़ी में आया है—“राखो उज्ज्वल भाव।”

बंधुओं ! मैंने पूर्व में बताया था महापुरुषों का स्मरण, ध्यान, जप केवल जिह्वा से हुआ तो हुआ, न हुआ बराबर ही है। मुँह से, जिह्वा से मिठाइयों, पकवानों, खाद्य पदार्थों का नाम लेने, उनका स्मरण करने से पेट नहीं भरता। हाँ, स्वाद की स्मृति से मानस-अनुभूति अधिक हो तो मुँह में पानी आ सकता है, लार टपक सकती है। पेट तो तभी भरेगा जब व्यक्ति भोज्य पदार्थों को हाथ से ग्रहण कर मुँह में रखेगा, चबाएगा, गले से नीचे उतारेगा। मेरा खयाल है आप मेरी बात समझ गए होंगे। मेरा तात्पर्य यह है कि जिनका भी स्मरण करें, ध्यान धरें आप; उनके जीवनादर्शों को भी साथ ही साथ स्मरण करें, उन पर मनन-चिन्तन करें और उन्हें व्यवहृत करें, जीवन में उतारें-ग्रहण करें।

□ राखो उज्ज्वल भाव

इससे एक कदम और आगे बढ़ते हुए कवि सम्राट् ने ध्यान और स्मरण में मन की शुद्धि और भावना की उज्ज्वलता रखने का उल्लेख किया है। हाँ ! पाप और पुण्य का, कर्मबंध और कर्मनिर्जरा का, संसार-भ्रमण और संसार-मुक्ति का—सारा का सारा खेल भाव की धारा का है—“मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो।” स्पष्ट है कि मन ही बंधन में डालने वाला है और मन ही मुक्ति की ओर ले जाने वाला, मुक्त कराने वाला है। जिनवाणी के प्रकाशक आगमों में ऐसे अनेकों प्रसंग आते हैं, जहाँ ‘भाव करें भव पार’ की स्थिति बनती है और अनेकों ऐसे प्रसंग भी आते हैं, जो बताते हैं कि ये “भाव ही डुबोवनहार” हैं।

□ भव और भाव

भव और भाव दोनों शब्द लगभग एक समान प्रतीत होते हैं, केवल एक मात्रा का अन्तर है दोनों में। इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है—भाव ही भव को घटाता है और भाव ही भव को बढ़ाता है। भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः इति भवः संसारः। भव की परिभाषा दी गई है यहाँ। बताया गया है कि कर्म के वशीभूत हुए प्राणी जिसमें जन्म-मरण धारण करते हैं, भ्रमण करते हैं, चक्कर काटते हैं, वह संसार या भव है एवं भाव की परिभाषा देते हुए सूत्रकृतांग के श्रुतस्कंध प्रथम, अध्ययन पन्द्रह की टीका करते हुए टीकाकार ने कहा है—“भावोन्तः करणस्य प्रवृत्तिर्विशेषः।” भव में भ्रमण करने वाले प्राणियों के मन का प्रवृत्ति भाव है। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध की टीका (अ. २३०५) में—“भावश्चित्ताभिप्रायः” लिखकर भाव को चित्त का अभिप्राय बताया है। आवश्यकसूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने भाव या भावना की परिभाषा इस प्रकार दी है—“भाव्यतेऽमनयेति भावना” अर्थात् जिसके द्वारा मन को भावित किया जाय, संस्कारित किया जाए उसे भावना कहते हैं। स्पष्ट है यहाँ भावना का तात्पर्य शुभ भावना से है।

□ आत्म-कल्याण के पथ में शुभ और शुद्ध भाव आवश्यक

ओघ निर्युक्ति में महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है—“जे जत्तिया य हेउ भवस्स ते चेव तत्तिया मुखे।” अर्थात् संसार में जितने कारण, जितने भी निमित्त संसार परिभ्रमण के हैं, वे भी कभी-कभी मुक्ति के निमित्त बन सकते हैं। भाव ही है जो अमृत को जहर बना देता है और भाव ही है जो जहर को अमृत बना देता है।

प्राचीन आचार्यों ने भाव (शुद्ध, निर्मल, उज्ज्वल) को संसार में जन्म का, जरा और मरण का जो प्रवाह है, चक्र है उसके निवारण का कारण मानकर लिखा है—

भवो जन्म-जरा-मृत्युभविस्तस्य निवारणम्।

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने भावना को ‘अनुप्रेक्षा’ नाम देते हुए लिखा है—“स्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा” अर्थात् स्वाख्यात (भलीभाँति जाने व समझे) स्वरूप का बार-बार चिन्तन अनुप्रेक्षा है।

उत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन के २२वें बोल में अनुप्रेक्षा के विषय में गणधर श्री गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया है—“अणुप्पेहाणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?” हे भगवन् ! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रभु महावीर गणधर श्री गौतम स्वामी की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं—

“अणुप्पेहाणं आउयवज्जओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबन्धणबद्धाओ सिद्धिल बन्धणबद्धाओ पकरेइ।”

अर्थात् अनुप्रेक्षा से साधक आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बंधन को शिथिल कर देता है। “दीहकालट्ठियाओ हस्सकालट्ठियाओ पकरेइ।” दीर्घकालीन स्थिति को ह्रस्व (अल्प) कालीन कर लेता है। “तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ।” उनके तीव्र रसानुभाव को मन्द बना देता है। “बहुपएसग्गाओ अप्पएसग्गाओ पकरेइ” बहुकर्म प्रदेशों को अल्प-प्रदेशी कर देता है।

स्पष्ट है अनुप्रेक्षा को केवल शुभ भावना के अन्तर्गत लिया जाता है, जबकि भावना में शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के भाव आ जाते हैं। कभी-कभी अशुभ भावना के कारण जो कर्मबंध हो रहा है, अर्थात् जो कर्मबंध का निमित्त है, भावों के शुभ में परिवर्तन होने से वही निमित्त जीव को अनुप्रेक्षा में पहुँचाकर शुक्लध्यान की धारा से जोड़ देता है, मोक्ष तक पहुँचा देता है।

□ जे आसवा, ते परिस्सवा

आचारांगसूत्र में भगवान महावीर ने कहा—“जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।”

आस्रव जितने भी हैं वे कर्मबंध के हेतु हैं पर भावना बदलते ही वे आस्रव परिस्सव के अर्थात् कर्मनिर्जरा के कारण बन जाते हैं। भावों में मलिनता आने पर संसार मुक्ति के कारण भी कर्मबंध के कारण बन सकते हैं। ओघ निर्युक्ति में वर्णन मिलता है इसका—

जा जयमाणास्स भवे विराहणा सुत्त विहिस मग्गस्स।
सा होई निज्जरं फला, अज्झत्थ विसोहिजुत्तस्स॥

अर्थात् विवेकवान साधक निर्मल भावना (अन्तर विशुद्धि) से यदि युक्त है तो आगमानुसार आचरण करते हुए जीव-विराधना (कभी-कभार होने वाली हिंसा) होने पर भी वह अहिंसक है, कर्मबंध नहीं करता।

राजस्थान में “जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।”—कहावत बहुत प्रचलित है। कहावत के पीछे एक कथा भी प्रसिद्ध है—

दोय जणा बीज बावण ने जाय, मारग में मिलिया मुनिराय।
एक देखने हुआ खुशी, इणरा माथा जिस्या सिट्टा हुसी॥
बीजो मन में करे विचार, मोड़ो मिलियो मारग मझार।
मस्तक मुंड पाग सिर नांही, कड़पा (घास) हुसी पिण सिट्टा नांही॥

जमीन दोनों की उपजाऊ। बीज समान, जोतणी-बावणी भी समान। फसल हुई उत्पन्न। बढ़ी और सिट्टे आने लगे। एक के मन में वे ही भाव पर दूसरे का मन अभी भी विकल्प में, दुर्विचार में। साधु सफाचट सिर, लोच किए अतः फसल सफाचट तो नहीं हो जाएगी। बड़े-बड़े सिट्टे आए दोनों के। मोती-से बाजरी के दाने। पहले वाले ने फसल काटी। घर ले गया। खूब बाजरी हुई। दूसरा फसल काटता उससे पूर्व टिड्डी-दल आ धमका। उसका तो पूरा खेत सफाचट। बाजरी के दाने हाथ नहीं लगे। हाथ लगा केवल घास, डोके, कड़पे।

कथा-प्रसंग

□ जैसी भावना, वैसा फल

बंधुओं ! इसीलिए संस्कृत में भी कहा गया है—“यादृशी भावना यस्य, तादृशी फलं तस्य।” जैसी भावना, वैसा फल मिलता है। अतः अपनी भावना को निर्मल, उज्वल, शुभ रखिए। भावों के तार कहाँ से कहाँ जुड़कर अपना प्रभाव दिखाते हैं, इसकी कल्पना भी

कठिन है। वनस्पतियों पर भी हमारी भावना असर डालती है। दो राजा थे। उनके राज्य आपस में सटे हुए थे। एक राज्य की प्रजा सुखी, शांत, प्रगतिशील थी। वहाँ का राजा भी स्वस्थ और दीर्घायु था। दूसरे राज्य की प्रजा अशांत व दुःखी थी। व्यवस्था में अराजकता थी। वहाँ का कोई भी राजा अधिकतम दस वर्ष ही राज्य कर पाता था, फिर वह मरण-धर्म को प्राप्त कर लेता था।

एक बार दूसरे राज्य के राजा ने अपने मंत्री को पड़ोसी राजा के यहाँ भेजा और पुछवाया कि “आपकी तरह हमारे राज्य की प्रजा भी सुखी व राजा दीर्घजीवी कैसे बने?” इसका समाधान लाने के लिए मंत्री पड़ोसी राज्य में गया। उसने राजा से पूछा—“महाराज ! हमारे राज्य में सदैव अशांति रहती है और कोई भी राजा कभी दस वर्ष से अधिक राज्य नहीं कर पाता। ऐसा क्यों है ? क्या हमारे राजा भी आपकी तरह दीर्घजीवी बन सकते हैं ? क्या हमारे राज्य की प्रजा भी सुखी बन सकती है ?”

राजा ने उसे एक महल में नजरबंद करा दिया और कहलवा दिया उसे कि “जिस दिन इस महल के सामने वाला आम्रवृक्ष मुरझा जाएगा, मैं तुम्हें समाधान दे दूँगा।”

मंत्री महल में कैद बन गया। वह नित्य महल के झरोखे से उस पेड़ को निहारता और सोचता—‘इतना हरा-भरा, इतना विशाल यह वृक्ष कब तक मुरझाएगा ? वर्षों लगेंगे इसमें। तब तक तो मैं यहीं मर जाऊँगा। यह वृक्ष जल्दी-जल्दी मुरझा जाए तो कितना अच्छा हो ?’

बंधुओं ! वह वृक्ष छह मास में मुरझा गया। मंत्री ने महल के पहरेदार के साथ राजा को कहलवाया कि पेड़ सूख गया। राजा आया। देखा उसने पेड़ को और मंत्री से बोला—“जब तक यह पेड़ पुनः हरा-भरा नहीं हो जाता, मैं तुम्हें आजाद नहीं करूँगा।”

मंत्री चिन्ता में पड़ गया। यह कैसा राजा ? पहले तो कहा—“पेड़ मुरझाए तो समाधान दूँगा।” अब कहता है—“यह पेड़ पुनः हरा-भरा होगा, तब तक नहीं छोड़ूँगा।”

अब वह नित्य यही सोचता कि कब यह पेड़ पुनः हरा-भरा हो और कब मुझे आजादी मिले।

चार मास में पेड़ पुनः हरा-भरा हो गया। इस बार राजा ने स्वतः मंत्री को राजदरबार में बुला लिया। मंत्री ने कहा—“महाराज ! अब मेरे प्रश्न का, अपने पड़ोसी राज्य की समस्या का समाधान दीजिए।”

राजा बोला—“समाधान तो तुमने प्रत्यक्ष देख लिया। जैसी भावना, वैसा फल। तुम्हारे राजाओं की भावना प्रजा से अधिकाधिक कर वसूलने, उन्हें कम से कम सुविधाएँ देने की

रहती है। अतः प्रजा अशांत है, दुःखी है। प्रजा का सोच यही रहता है कि ऐसा राजा क्या काम का ? यह मर जाए तो दूसरा राजा शायद हमें सुख दे, शांति दे। यह प्रजा की हाथ ही उसे मार देती है। मेरे यहाँ प्रजा पर अनावश्यक कर नहीं है, उनकी सुविधाओं पर राजकोष से अच्छा पैसा खर्च किया जाता है। अतः प्रजा मेरे (अपने राजा के) जीने की, दीर्घायु होने की कामना करती है।”

बंधुओं ! पड़ोसी राजा ने सुनी यह बात तो उसने प्रजा के कर कम कर दिए और उनकी सुख-सुविधाओं का विशेष ध्यान रखने लगा। कहते हैं प्रजा की भावना में परिवर्तन के कारण वह राजा दीर्घायु हुआ।

□ परिणामों की धारा के परिणामों का अवलोकन : कुछ दृष्टांत

इस अवसर्पिणी काल में प्रथम मोक्षगामिनी माता मरुदेवी ने ‘गज हौदे मुक्ति’ पाई थी। छूट गया उनके जन्म-मरण का चक्र, टूट गए सारे कर्मबंधन—कैसे ? भावों के उत्कृष्ट रसायन से। धर्मध्यान की भावना में लीन बने वे और शुक्लध्यान में पहुँच अनंत-दुःखों रूप इस संसार के सागर को पार कर लिया।

राजर्षि प्रसन्नचंद्र ध्यानलीन थे तभी राज्य पर आक्रमण की बात सुन भावों की धारा में पुत्र-स्मृति की धारा जुड़ गई। सोचने लगे—‘छोटा है, अनुभवहीन है। राज्य कैसे सँभालेगा ? पड़ोस के शत्रु राजा ने हमला कर दिया, अब मेरा बेटा क्या करेगा ?’—वे ध्यान में ही युद्ध की दुनियाँ में पहुँच जाते हैं। सेना उनके साथ, वे सेनापति, राज्य के राजा भी। शत्रु-राजा से वे, शत्रु-राजा की सेना से वे लड़ने लगते हैं। चल पड़ती है भावों में ही उनकी भवानी (तलवार)। शत्रु-सेना रुंड-मुंड होने लगती है। कटते जा रहे हैं सैनिकों के सिर और वे बढ़ते जा रहे हैं आगे। शत्रु-सेना हारने वाली है। दुगुना जोश आता है। ध्यान ही में हाथ तलवार की तरह चलाते हैं। सिर से टकराता है हाथ पर वहाँ मुकुट नहीं है। ध्यान पलटता है, नंगा सिर है, एक भी बाल नहीं। ‘अरे ! मैं तो साधु हूँ। कहाँ सेना और कहाँ युद्ध ? यह मैं क्या सोचने लगा ?’—पश्चात्ताप से भर जाते हैं।

प्रभु महावीर बतलाते हैं कि भावों की इसी धारा में लड़ते हुए ऋषि काल करते तो सातवीं नरक में जाना पड़ता पर भाव धारा बदली, परिणाम ऊर्ध्वगामी हुए और ऊपर चढ़ते गए। इतने उत्कृष्ट भावों में चले गए कि ‘कैवल्य’ मिल गया, वे केवली बन गए। यह है भावों का तमाशा।

तन्दुल मच्छ काल सौरिक कसाई आदि अनेक उद्धरण हैं, जो बताते हैं कि हिंसक परिणामी भाव बने, तीव्र रौद्र के भाव बने तो नरक मिला।

बाहुबली ने श्रमण बनकर उग्र तप किया। कर्म तोड़ने योग्य प्रचुर साधना की पर केवल एक विचार, गर्व का—अभिमान का केवल एक चिन्तन उनके सर्वज्ञपन में बाधक बना हुआ था। जब गर्व हटा, चिन्तन में आया कि 'मेरी साध्वी बहनें ठीक ही तो कह रही हैं, मैं गर्व के गज पर ही तो चढ़ा हुआ हूँ, मुझे इस गर्व-गज से नीचे उतरना ही चाहिए। साधना में क्या मानापमान ? दीक्षा जिन्होंने पहले ली, वे दीक्षावय में तो बड़े ही हैं, तब वंदन करने में हिचकिचाहट क्यों ? चलूँ, उन्हें वन्दना करूँ।' कदम बढ़ाने से पूर्व ही, वहीं केवलज्ञानी बन गए, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। यही तो है भावों का चमत्कार।

□ इण यतियों-सतियों सूं, राखो उज्ज्वल भाव

बंधुओं ! तीर्थकर भगवंतों के जीवन-प्रसंगों को पढ़िए। अधिकांश आत्माओं ने भावों की उच्च श्रेणी व निर्मलता के कारण पूर्वभवों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की है और तीर्थकर गोत्र का उपार्जन भी भावों की उच्चता के कारण ही हुआ है। श्रावक के बारह व्रतों में बारहवाँ 'अतिथि संविभाग व्रत' में साधु-साध्वी जी को निर्दोष दान देना हमेशा कहाँ हो पाता है ? प्रथम तो साधु-साध्वी का आना ही कठिन है। कभी-कभार संयोग बन जाए तो घर में किसी व्यक्ति का आहारदान देने लायक 'सूझता' होना कठिन है, गृहस्थ या श्राविका आहार देने के योग्य सूझते हैं तो वस्तु का निर्दोष मिलना मुश्किल है। कदाचित् तीनों का योग-संयोग भी बैठे तो भावों की निर्मलता, उच्चता, उत्कृष्टता कहाँ से आएगी और यह सब हो गया तो सुबाहुकुमार की तरह सात-आठ भव में मोक्ष सुनिश्चित समझिए।

जो संत हैं, निर्ग्रन्थ साध्वियाँ हैं वे सुपात्र हैं। उनका उज्ज्वल भाव से स्मरण आपको भी सुपात्र बना सकता है। शुद्ध भावों की उच्च श्रेणी आपको भी उच्च स्थान प्रदान कर सकती है। निर्मल भावों से कर्म पुद्गलों के वृंद के वृंद आत्मा से अलग हो सकते हैं। भाव शुद्ध नहीं तो ध्यान का, स्मरण का, जाप का भी उचित फल प्राप्त नहीं होगा। भूमि यदि उर्वरा नहीं तो बीज क्या पनपेगा ? श्रावक के शुद्ध भावों के लिए आवश्यक प्रातःकरणीय कार्यों में एक हैं—तीन मनोरथ का चिन्तन करना। क्यों आवश्यक है ? कारण यही है कि इन मनोरथों का चिन्तन कभी तदनुसार फल भी दे सकता है। जाने कब भाव मात्र और एकमात्र उन मनोरथों में ही मगन बन जाएँ ? हो गया ऐसा तो समझ लीजिए आपका परिश्रम, जप-जाप, मनोरथ-चिन्तन सफल बन गया। "करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान"—आप तो जड़मति नहीं हैं, आप स्वयं चेतन हैं और आपकी मति भी चेतन है। मनोरथ चिन्तन करते-करते आपकी मति-चैतन्यता संसार को असार मान सकती है, आप राग से विराग में प्रवेश कर सकते हैं, बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बन सकते हैं। यह आपकी आपके भावों की, आपके चिन्तन की श्रेष्ठतम सफलता होगी।

पंच महाव्रतधारी शुद्ध संयम-पालकों के प्रति आचार्यसम्राट् एकभवावतारी पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने उज्ज्वल भाव रखने और शुद्ध मन से ध्याने की बात अपनी इन कड़ियों में कहकर स्पष्ट कर दिया कि वस्तुतः चाहे नाम जपना हो, चाहे गुण कीर्तन करना हो, भावना यदि शुद्ध है, निर्मल है तो उसका परिणाम भी शुद्ध, निर्मल, उच्च कोटि का रहेगा।

□ शालिभद्र : संगम

संगम ग्वालों का लड़का था। बाल-वय थी उसकी। जिद्द करके मालिक और सेठों के लड़कों की देखादेखी माँ से खीर बनवाई। गरीब माता ने भी जैसे-तैसे खीर बनाई। परोस दी संगम को। स्वयं चली गई कुँ पर पानी लेने। खाने बैठा संगम। सामने सेठ के घर पंच महाव्रतधारी, शुद्ध संयमी, मासक्षमण का तप किए, पारणे की गोचरी लेने मुनिराज पधारे। बालक के संस्कार शायद पूर्वभव के रहे होंगे, जग गए। भावों में उज्ज्वलता का प्रवेश। शुद्ध-सरल मन। उठा और कहा मुनिराज से कि मेरे घर भी पधारिए। पधारे मुनि। प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय, निर्दोष आहार। देने वाले के भाव शुद्ध, उज्ज्वल, उच्च। परिणाम उस महादान का आप सभी जानते हैं। यह संगम गोभद्र श्रेष्ठी के यहाँ शालिभद्र के रूप में जन्मा। मुनिवर के प्रति उज्ज्वल, शुद्ध श्रद्धान व दान का परिणाम कि अथाह भोग सामग्री और बत्तीस सुन्दर, सुगुणी पत्नियाँ फिर नित्य देवलोक से प्रातः, संध्या व सायं ३३-३३ पेटियाँ वस्त्र, आभूषण, मेवे आदि उतरना। संस्कार और धर्मश्रद्धान पूर्वभव का कि संसार-विरक्ति भी, संयम-पथ भी।

□ श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण महाराज थे त्रिखंडाधिपति। भोग-ऐश्वर्य अपार पर संयम में, संयमी मुनियों में, शुद्ध श्रमण-धर्म में एकनिष्ठ आस्था। नहीं ले सके संयम वे खुद। वासुदेव को नियमा संयम नहीं आता, पर भावना आजीवन कितनी उज्ज्वल, निर्मल, पावन ! करते रहे संयम दलाली। दिलाते रहे अन्यान्यों को दीक्षा। कराते रहे चौराहों पर उद्घोषणाएँ कि “जो भी दीक्षा लेने का अभिलाषी हो, निस्संकोच दीक्षा ले। उसके पीछे उसके परिवार के भरण-पोषण, देख-रेख, चिकित्सा-व्यवस्था आदि समस्त प्रबंध राज्य द्वारा होगा, श्रीकृष्ण महाराज करेंगे।” इन्हीं उच्च भावनाओं से तीर्थकर गोत्र उपार्जन किया उन्होंने।

□ महाराज श्रेणिक

बंधुओं ! मगध नरेश थे श्रेणिक ! राजगृही में निवास था। महावीर के समर्पित श्रद्धालु भक्त थे। मुनिवृंद, पंच महाव्रती शुद्ध संयम-पालकों के प्रति उनके मन में सदैव निर्मल भावों

का संचरण रहता था। श्रेणिक के लिए महावीर प्रभु के समवसरण में एक देव ने कोढ़ी के रूप में आकर कहा था—“चिरकाल तक जीओ।” प्रभु ने बताया कि वह देव था। तुम्हें चिरकाल तक जीने के लिए कहने का तात्पर्य था कि तुम इस समय सुख से जी रहे हो, मरने के बाद नरकगामी होओगे। अतः यहाँ जब तक, जितना अधिक रहोगे, सुख भोग सकोगे। मरने के पश्चात् तो अनंत दुःख ही दुःख हैं।

श्रेणिक ने इस पर नरक से बचने का उपाय प्रभु से पूछा। प्रभु जानते थे कि यह संभव नहीं है। अतः कुछ असंभव कार्य बताए। यथा—कालसौरिक कसाई से हत्याएँ छुड़वाना, दासी कपिला से दान दिलवाना। राजा श्रेणिक ने अनेक प्रयत्न किए पर वह सफल नहीं हुआ। उसकी भावना अब संयम और संयमी-जनों के प्रति और भी शुद्ध, निर्मल, उच्च बन गई। उसने अपने पुत्रों, पौत्रियों व रानियों तथा अन्य अनेकों को दीक्षा की आज्ञा माँगने पर उत्कृष्ट भावों से दीक्षा दिलवाई और दीक्षा-अनुमोदन से महत् पुण्योपार्जन किया। अव्रती होकर भी जिनशासन की महती प्रभावना, निर्ग्रन्थों के प्रति दृढ़ व उत्कृष्ट सेवा श्रद्धा भाव तथा देव-गुरु-धर्म में अटूट आस्था के कारण महाराज श्रेणिक ने तीर्थकर गोत्र का उपार्जन किया।

□ सेठ जीर्ण और पूरण

जिनदत्त सेठ ने क्या किया ? कुछ भी तो नहीं पर भावों में उसके उत्कृष्टता, निर्मलता, उज्वलता। प्रभु वीर का भक्त श्रावक था। भावुक एवं श्रद्धालु। कभी सेठ था पर धन का क्या ? लक्ष्मी तो होती ही चंचल है, आज यहाँ तो कल वहाँ। गई तो राजा को रंक बना दिया, आई तो रंक को राजा बना दिया। सेठ से भी लक्ष्मी रूठ गई। दशा क्षीण होने से घर भी पुराना जीर्ण-शीर्ण हो गया। लोग भी उसे जिनदत्त सेठ के स्थान पर जीर्ण सेठ कहने लगे।

प्रभु भक्त था। अतः महावीर जब-जब वैशाली में पधारते-विराजते वह श्रद्धावश नित्य दर्शन, नमन, वन्दन करने जाता और आहार आदि के लिए भावना भाता। नहीं होते प्रभु वैशाली में तो नित्य उनका स्मरण करता, गुणकीर्तन करता।

एक बार प्रभु ने वैशाली में चातुर्मास किया। जीर्ण सेठ निरन्तर आता, प्रभु वन्दन करता, आहारादि के लिए भावना भाता। निरन्तर चार माह तक वह भावना भाता रहा, प्रतीक्षा भी करता रहा। चातक की तरह प्यास थी उसकी यह कि प्रभु उसके घर आएँ, उसका घर पावन बने, उसके हाथ से आहारादि लें पर उसकी चाहना, उसकी यह भव्य भावना पूर्ण नहीं हो सकी।

चातुर्मासी तप पूर्ण होने पर प्रभु भिक्षार्थ निकले। मन में अभिग्रह धारण कर रखा था। अपने संकल्प के अनुसार, उच्च-निम्न-मध्यम कुलों में गोचरी के लिए भ्रमण करते हुए एक सेठ के घर के द्वार पर रुके। इस सेठ का नाम था पूरण। नया-नया ही वैशाली में आया था। सेठ ने द्वार पर देखा प्रभु को तो लापरवाही से दासी को आदेश दिया—“एक चम्मच कुलत्थ (निम्न कोटि का धान) दे दे।” दासी ने चम्मचभर उबला कुलत्थ बहरा दिया। चार मास से निराहार थे प्रभु। उसी कुलत्थ से उन्होंने पारणा किया। प्रभु के पारणा करने पर अपने कल्प के अनुसार देवों ने ‘अहोदानं !’ कहते हुए पंच-दिव्य की वृष्टि की और देव-दुन्दुभि का निनाद किया। उधर जीर्ण सेठ प्रभु की प्रतीक्षा कर रहा था। उत्कृष्ट भावों के साथ वह प्रभु को पारणा कराना चाहता था, अर्थात् चाहता कि प्रभु पधारें, कुछ लें यहाँ से और पारणा करें। उसके मन के उज्ज्वल भाव उस समय उच्चतम स्थिति में थे। तभी देव-दुन्दुभि का दिव्य घोष सुना उसने। ज्ञात हुआ कि प्रभु ने पारणा कर लिया है। उसकी प्रतीक्षा, प्रतीक्षा ही बनी रह गई। अपनी उज्ज्वल, निर्मल, उत्कृष्ट भावना से उसने बारहवें देवलोक का आयुष्य बंध किया। कहा जाता है कि यदि दो घड़ी देव-दुन्दुभि वह नहीं सुनता तो अपनी पावन, उच्च, उत्कृष्ट भावना के बल पर वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेता।

उधर पंच-दिव्यों में सोनैयों (स्वर्ण-मुद्राओं) की वर्षा भी हुई। पूछा उस पूरण सेठ से लोगों ने कि तुमने प्रभु को आज क्या बहराया ?

पूरण सेठ ने तब भी कपट किया और माया-मृषावाद का सेवन करते हुए कहा—“क्षीर एवं बूरा (दूध व शक्कर) बहराया।”

□ शुद्ध भावना ही संसार-सागर में नौका है

आप कभी पूरण सेठ की तरह मत बनना। पूर्व पुण्य से उसे दान का उत्कृष्ट अवसर तो मिला पर उस अवसर का वह यथोचित लाभ नहीं उठा पाया। आपको जीर्ण सेठ की तरह उज्ज्वल भाव रखने हैं। भावों की उज्ज्वलता ही आपको तार सकेगी, पार उतार सकेगी।

सूत्रकृतांगसूत्र में प्रभु ने फरमाया है—

भावणा जोग सुद्धप्या जले नावा ण आहिया।

नावा व तीर संपन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥

(सूत्रकृतांग १/१५/५)

अर्थात् जिस साधक की अन्तरात्मा भावना-योग से विशुद्ध होती है, वह आत्मा जल स्थित नौका के समान संसार-सागर से तिरकर सब दुःखों से मुक्त हो, परम सुख को प्राप्त करता है।

□ बलिहारी गुरु आपकी

कितने महान् उपकारी थे आचार्यसम्राट् जिन्होंने यह बताया कि “एह तिरण नो ठाम।” हमारे सारे प्रयत्न, धर्माश्रय, धर्मानुष्ठान आदि किसलिए ? संसार-सागर से तिरने के लिए ही हैं न ये। उस महापुरुष ने कितनी सरलता से कितना सरल तरीका बता दिया, इस संसार से तिरने का, इस भव-सागर से पार उतरने का।

शुद्ध श्रद्धान के लिए बताया था आपको कि देव, गुरु और धर्म का चुनाव सही होना चाहिए। देव कौन ? धर्म क्या ? दोनों प्रश्नों के सही-सही उत्तर देने वाले हैं सच्चे गुरु। जो सच्चे गुरु होंगे वे ही तिरने की राह बता सकेंगे। जो स्वयं तिरना जान गए, वे ही सच्चे गुरु होंगे। संत कबीर ने तो गुरु-पद को भगवान से भी पहले बताया है—

गुरु-गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दिया बताय॥

यह बताने वाले संत कबीर तो वर्तमान के हैं पर जैन-आगमों ने तो असंख्य-अनंत वर्षों पूर्व अनादिकाल से यही उद्घोषणा की है—“नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं।” पहला नमन अरिहंत प्रभु को, दूसरा नमन सिद्ध भगवंत को। सिद्ध अष्टकर्म मुक्त होकर ज्योति में ज्योति स्वरूप बन गए। अरिहंत प्रभु ने चार कर्म, घाती कर्म क्षय किए और केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति की। संसार-सागर से तिरने का मार्ग जान लिया उन्होंने। जाना पहले फिर जन-जन के आत्म-कल्याणार्थ उसे भाषित, प्रकाशित किया। “तिन्नाणं तारयाणं” बन गए वे। हमने भी मोक्षमार्ग बतलाने वाले अरिहंत प्रभु को पहले वन्दन किया। हो गया स्पष्ट कि “बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।”

□ दोनों मिलि जब...!

गुरु ने बता दिया कैसा है गोविन्द ? कैसे बनते हैं गोविन्द ? हमारे धर्म की यह विशेषता है कि हम गोविन्द से केवल मिलते ही नहीं हैं, अपितु मिलते ही उन्हीं में मिल जाते हैं, अर्थात् स्वयं गोविन्द बन जाते हैं। बात सरल है, पर यह होगा कब और कैसे होगा ? सब वही स्मरण, जाप, गुण कीर्तन। महापुरुषों के नाम स्मरण से ही यह संभव है। अब नाम स्मरण केवल जिह्वा का काम ही रहा तो स्मरण नहीं हुआ। उसमें मन का जुड़ाव बनेगा तो वह सही मायने में स्मरण होगा। मन यदि शुद्ध हुआ तो स्मरण त्वरित फलदायी बन सकेगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह इन यतियों-सतियों का, शुद्ध संयम-पालक गुरु-भगवन्तों का नाम स्मरण करता रहे, इस भावना के साथ कि हमें भी उसी पथ पर जाना है, वही मार्ग अपनाना है।

□ नाम-स्मरण में सांसारिक कामनाएँ न हों

बंधुओं ! नाम-स्मरण में भी, जप और जाप में भी किसी तरह की सांसारिक कामना नहीं होनी चाहिए। कभी-कभी देखा यह जाता है कि व्यापार-धंधा मंदा है, अतः नवकार मंत्र बोला जा रहा है, पुत्र-प्राप्ति नहीं हुई, अतः तीर्थकर नाम-स्मरण हो रहा है; रोग ठीक नहीं हुआ, अतः नियम से माला फेरी जा रही है। प्रभु-स्मरण को, गुरु-स्मरण को, महापुरुषों के नाम-जप को भौतिक कामना के साथ जोड़ने का अर्थ है—सांसारिक लाभ। सांसारिक लाभ में हो सकता है पुत्र, धन आदि की प्राप्ति हो भी जाए, हो सकता है कि प्राप्ति न हो पर भव-चक्र कम नहीं होगा, संसार नहीं घटेगा यह निश्चित है। आत्म-कल्याण के उद्देश्य से करें यदि धर्माराधन, जप-जाप आदि करें तो कर्मबंधनों से मुक्त बन सकते हैं, मोक्ष मिल सकता है, मुक्तालय में जा सकते हैं।

□ शुभ भावना, अशुभ भावना : दृष्टांत-कथा

भावना शुभ और अशुभ दोनों का परिणाम कई बार प्रत्यक्ष, तत्काल दृष्टिगोचर हो जाता है। जैसे अक्षर और शब्द-संयोजन से उत्पन्न कंपन विशिष्ट दुर्लभ का लभ्य, दुष्प्राप्य को प्राप्य और दुष्कर को सुकर बना सकता है, वैसे ही भावों से उत्पन्न विचार-तरंगों से वातावरण और घटनाएँ प्रभावित होती हैं और कभी-कभी ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं कि साधारण व्यक्तियों के लिए वह प्रभाव चमत्कार से कम नहीं होता।

एक बार अकबर ने बीरबल से प्रश्न किया कि “यह दुनियाँ कैसी है ? यह संसार कैसा है ?”

बीरबल ने कहा—“स्वामी ! यह संसार स्वयं के जैसा है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के स्वयं का जैसा चिन्तन होता है, उसके लिए संसार वैसा ही है।”

अकबर को बीरबल का यह कहना पसन्द नहीं आया। यह कैसा समाधान ? जैसा मैं वैसा संसार, जैसा बीरबल वैसा संसार। एक ही संसार पर सभी के लिए यह संसार उनके स्वयं के अनुसार। बीरबल से अकबर ने कहा—“ऐसा कैसे हो सकता है ? तुम्हारा यह कथन तो एकदम निरर्थक, तथ्यहीन है।”

बीरबल ने कहा—“बात वही है और वैसी ही है, जो मैंने आपसे कही है। कभी इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव भी आप स्वयं कर लेंगे। तब आप मेरी बात को, मेरे कथन को सत्य-तथ्यपूर्ण पाएँगे।”

कुछ दिन पश्चात् अकबर व बीरबल घूमने के लिए निकले। काफी दूर जाने पर सामने से एक हृष्ट-पुष्ट, मोटा-ताजा अच्छे कद का लम्बा-तगड़ा व्यक्ति आता दिखाई दिया।

उसके सिर पर लकड़ी का भारा (गट्ठर) था। अकबर ने दूर से उसे देखकर बीरबल को कहा—“कितना हृष्ट-पुष्ट, तन्दुरुस्त व्यक्ति है। इसको घाणी में पेला जाये तो, इसके शरीर से खून कितना निकलेगा। आम आदमी से चार-पाँच गुणा खून तो निकलेगा ही।”

बीरबल तुरंत वहीं रुक गया। बादशाह अकबर को एक पेड़ के पीछे छिपने के लिए कहा। छिप गए पेड़ के पीछे अकबर। वह व्यक्ति निकट आया। बीरबल ने पूछा—“क्यों भाई, कहाँ जा रहे हो?”

व्यक्ति ने कहा—“देख तो रहे हो। सिर पर लकड़ी का बोझा है। बाजार जाकर बेचूँगा। पैसे आएँगे तब घर में खाना पकेगा।”

बीरबल ने उदास, रोनी सूरत बनाकर कहा—“लेकिन भाई बाजार तो बंद है। बादशाह अकबर का इंतकाल हुआ है अभी। तुम्हारी लकड़ियाँ आज नहीं बिकेंगी।”

व्यक्ति ने सुनी बीरबल की बात तो प्रसन्न हो गया वह। गट्ठर डाला नीचे और नाचने लगा खुशी से। मुँह से कहता गया—“यह अच्छा हुआ, बादशाह अकबर मर गया।”

बीरबल ने उसे नाचने से रोका और पूछा—“अरे भले आदमी! हिन्दुस्तान का बादशाह मर गया और तुम नाच रहे हो। क्या बात है? इतने खुश क्यों हो?”

व्यक्ति बोला—“ऐसा कुछ नहीं है। बस मन में आया तो नाच लिया। वैसे ही इतना बड़ा आदमी, बादशाह भला हमारा क्या भला करने वाला था?”

इतना कहकर उसने लकड़ी का गट्ठर पुनः अपने सिर पर रखा और चल दिया अपनी राह।

उसके ओझल हो जाने पर बादशाह पेड़ के पीछे से निकला। उसके चेहरे पर आश्चर्य था। बीरबल को उसने अजीब नजरों से देखा। वे आँखें पूछ रही थीं कि यह क्या चक्र है?

तभी बीरबल ने बादशाह से आगे बढ़ने का संकेत किया और स्वयं भी आगे कदम बढ़ा दिया। वह कुछ ही दूर गए होंगे कि एक अति कृशकाय अशक्त वृद्धा आती हुई दिखाई दी। उसके भी सिर पर लकड़ियों का गट्ठर था। उसके पैर डगमगा रहे मालूम होते थे। लगता था कि अभी-अभी गिर पड़ेगी वह।

अकबर को दया आ गई उस पर। बोला—“बीरबल! मेरे राज्य में यह क्या हाल? इतनी अशक्त, दुर्बल, बुढ़िया को लकड़ी को बोझ उठाकर लाना पड़ता है। यह तो अच्छा नहीं है। राजधानी चलकर पहला काम यह करना है कि ऐसे अशक्त, दुर्बल, वृद्ध जितने भी नर-नारी हैं, राज्य की ओर से उन्हें मासिक निर्वाह-भत्ता देने की व्यवस्था करनी है। तुम मुझे याद दिलाना।”

बीरबल पुनः रुका। बादशाह को पहले की भाँति एक घने वृक्ष के पीछे छिपने को कहा। बुढ़िया से भी वही प्रश्न किया। बुढ़िया ने लकड़ी बेचने की बात कही तो बीरबल ने अकबर के इंतकाल की बात कह दी। वह बुढ़िया अकबर के मरने की बात सुनकर रोने लगी, दहाड़ें मारने लगी और कहने लगी—“अरे वह क्यों मर गया? अभी उसकी आयु ही क्या थी? सुखी इन्सान को प्रभु कितना जल्दी उठा लेते हैं? काश! उसे मेरी उम्र भी लग जाती।”

बीरबल ने पूछा—“बहुत दुःखी हो! क्या अकबर तुम्हारा कुछ लगता था? कोई पहचान थी उससे?”

बुढ़िया बोली—“अरे नहीं रे। पर मुझे उसका मरना सुहाया नहीं। मन को कष्ट पहुँचा।” और बुढ़िया रोते हुए शहर की तरफ चल दी।

अकबर बाहर आकर प्रश्न भरी निगाहों से बीरबल को ताकने लगा। बीरबल बोला—“मैंने कहा था संसार आपके जैसा है। आपने हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को घाणी में पिलवाकर खून निकालने की बात कही तो वह व्यक्ति, जिसे यह ज्ञात नहीं था कि आपने क्या कहा, फिर भी आपके इंतकाल का सन्देश पाकर नाचने लगा था। जिस बुढ़िया को आपने देखा और सभी वृद्धाओं के लिए अनुकम्पा भाव से पेन्शन जारी करने की बात कही, उस बुढ़िया को भी आपके ऐसे कथन का ज्ञान नहीं था, पर आपके मरण की बात सुन वह दुःखी हो गई।”

यह घटना इस बात का प्रमाण है कि अच्छी भावना का परिणाम सदैव अच्छा ही होगा और भावना यदि निर्मल नहीं है, भावों में गन्दगी, बुराई, किसी का अहित लक्षित होता है तो वहाँ परिणाम भी बुरा ही होना है। सबसे बड़ी बात यह कि भावना का सर्वाधिक लाभ या नुकसान स्वयं भावना करने वाले को होता है।

□ सिद्धि का अमोघ मंत्र—राखो उज्ज्वल भाव !

बंधुओं! आगम में उल्लेख मिलता है कि श्रमणोपासक को, श्रावक-श्राविका को मुनिदर्शन, मुनिवन्दन, मुनिवचन श्रवण की भावना रखनी चाहिए। मुनिराज विराजमान हों यदि उस ग्राम, नगर में तो आहार देने की उत्कट भावना भानी चाहिए। दो प्रहर बीतने तक मुनिराज के पधारने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। हर्षित भाव से आहार देना चाहिए और आहार देने के पश्चात् भी हृदय में प्रसन्नता का ही भाव रहना चाहिए।

स्पष्ट है दान की वस्तु का जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व दान देने वाले की भावना का है। ठीक इसी तरह महनीय पुरुषों, महात्माओं के स्मरण में नाम जपने का जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक भावों का, विचारों की तन्मयता व शुद्धता का है। अपने

वन्दनीय, पूजनीय, स्मरणीय का ध्यान सदैव उज्ज्वल भाव से धरना चाहिए, यही मंत्र है सफलता का, सिद्धि का, गुणियों के गुण-कीर्तन का। इसी मंत्र के अवलंबन से एक दिन ध्याता स्वयं जन-जन का पूजनीय, वन्दनीय, स्मरणीय बनने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। भूल गए इस मंत्र को तो संभूम चक्रवर्ती की तरह डूबना पड़ सकता है।

□ नाम मिटाया, अस्तित्व ही मिट गया : चक्रवर्ती संभूम

चक्रवर्ती सुभूम (संभूम) का प्रसंग ले लीजिए। छह खंड विजय कर भरतक्षेत्र का एकछत्र सम्राट् बन गया। चक्रवर्ती बन गया। चौदह रत्न, नव-निधियाँ प्राप्त हो गईं। सोलह हजार देवता जिसकी सेवा में सदा तत्पर रहने लगे। पर मन तो विचित्र है न ? बस विचित्र विचार आ गया मन में। एक अनोखी चाहत, एक अनूठी कामना। “कुछ ऐसा अद्भुत कर दिखाना जो आज तक किसी ने नहीं किया हो।”—इस अनूठी कामना के पीछे इस संसार में अपना नाम चमकाने, अपनी प्रशंसा अर्जित करने, यश और ख्याति प्राप्त करने की इच्छा थी मन में।

बुलाया सेवक देवताओं को। बोला—“भरतक्षेत्र के छह खंड तो सभी चक्रवर्ती जीतते हैं, मैं लवण-समुद्र पार कर सातवाँ खण्ड भी जीतना चाहता हूँ, सात खंड का अधिपति बनना चाहता हूँ। अतः सभी तैयार रहें। मेरे साथ चलना है सभी को।”

चकित थे देव। यह कैसी अभिलाषा ? क्या ऐसा हो सकता है ? यह तो असंभव है। समझाया चक्री को कि ऐसा संभव नहीं है। एक मर्यादा होती है चक्रवर्ती के राज्य की। उस मर्यादा का, सीमा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। आज तक जितने भी चक्रवर्ती हुए, किसी ने ऐसा दुस्साहस नहीं किया। संभूम चक्री तुरन्त ही बोला—“वे सब तो चकरिया थे, मैं ही असली चक्रवर्ती हूँ। जो किसी ने नहीं किया, वह मैं कर दिखाना चाहता हूँ। तुम हमारे सेवक हो, तुम्हें तो हमारी आज्ञाओं का पालन करना है, बस यही मेरा आदेश है।”

बंधुओं ! “विनाश काले, विपरीत बुद्धि”। संभूम का विनाश उसके सिर पर चढ़कर बोल रहा था। ऐसे समय में अभिमान का पुतला बना व्यक्ति किसी अन्य की बात सुनता ही नहीं और स्वयं उसके सोचने-समझने की शक्ति समाप्त हो जाती है। कहा भी है—“जब नाश मनुज का आता है, पहले विवेक मर जाता है।” यही हो रहा था संभूम के साथ। वह सातवाँ खंड विजय करना चाहता था, लवण-समुद्र के पार जाना चाहता था।

निकल पड़ा एक दिन संभूम अपनी विजय यात्रा पर। अपने लक्ष्मी-कोष से ‘चर्म रत्न’ निकाला। सेना को लेकर समुद्र तट पर आया। चर्म रत्न से एक विशाल जहाज बनाकर अपनी सम्पूर्ण सेना सहित उसमें बैठकर समुद्र में डाल दिया जहाज को। सेवा में तत्पर देवों ने

पुनः बार-बार समझाया कि यह उचित नहीं है, ऐसा संभव नहीं है, आज तक हुआ नहीं यह और होगा भी नहीं। संभूम ने उनकी एक नहीं सुनी। जहाज आगे बढ़ता रहा। बढ़ते-बढ़ते लवण-समुद्र का वह भाग आ गया, जिससे आगे भरतक्षेत्र के व्यक्ति या जहाज जाते नहीं हैं। यहाँ अधीनस्थ, सेवक देवों ने पुनः समझाया और कहा कि “हम नियम से बँधे हैं, हम इस सीमा से आगे नहीं जा सकते।”

बंधुओं ! संभूम ने सोचा धमकी दे रहे हैं ये। शायद कहना चाहते हैं कि हमारी शक्ति के कारण छह खंड जीते गए हैं और हम नहीं रहेंगे तो कैसे जीतेंगे सातवाँ खंड ? अभिमान का जहरीला नाग फन फैलाकर खड़ा हो गया भीतर। विषदंश देते हुए से वचन निकल पड़े—“तुम सब क्या समझते हो ? क्या मैंने तुम्हारे बलबूते पर छह खंड जीते हैं ? भरोसे मत रहना। अपनी भुजाओं के बल से सर्वत्र ही विजय पाई है मैंने। तुम लोग नहीं चलोगे तो क्या मेरा अभियान रुक जाएगा ? नहीं ! चक्रवर्ती संभूम हूँ मैं। देव और देवेन्द्र भी देखें आज कि वह किस तरह सातवें खंड को विजय कर विजय-पताका लहराता हुआ आता है।”

बंधुओं ! नहीं जा सकते थे देव अपने लिए नियत सीमा से आगे। थे तो सेवक चक्रवर्ती के, पर मर्यादा में बँधे थे।

चला संभूम का जहाज। सेना साथ थी पर देवशक्ति ने उसे त्याग दिया था। लवण-समुद्र में वह चर्म-रत्न रूपी जहाज तैर रहा था। उत्ताल तरंगों के थपेड़े खाता, हिचकोले लेता, बढ़ रहा था। कभी इधर झुकता तो कभी उधर। संभूम अपने बल पर गर्व करता हुआ विशाल समुद्र को निहार रहा था। उसे नहीं मालूम था कि दूर खड़ा दुर्भाग्य उस पर हँस रहा है, खिलखिला रहा है और छह खंड के स्वामी की मृत्यु उससे कुछ ही समय की दूरी पर है, कुछ ही फासले पर उसकी प्रतीक्षा कर रही है।

चक्रवर्ती संभूम ने किसी समय अपने एक रसोइए पर किसी कारण से क्रोधित होकर अनेकानेक गरम-गरम सब्जियों व पकवानों से भरा थाल फेंका था। सब्जियाँ इतनी गरम थीं कि उनकी जलन से रसोइए की चीखें निकल गईं। चक्रवर्ती ने गरजकर उसे चुप रहने को कहा तो उसकी घिग्घी बँध गई पर वेदना असह्य थी। वह उफ तक नहीं कर सकता था, पर जलन और वेदना के मारे धरती पर गिरकर तड़फने लगा। मृत्यु सन्निकट हो गई उसके। तभी उसने आँख खोली। सामने ही था चक्रवर्ती संभूम। उसकी तड़फन देखकर हँस रहा था, आनंद ले रहा था। रसोइए के मन में प्रतिहिंसा के भाव जग गए। उसने मन-ही-मन चिन्तन किया कि मैं भी इसे ऐसे ही तड़फाकर मारूँ तो मुझे शांति मिले। इसी चिन्तन में उसने प्राण त्यागे और मरकर देव बना। सम्यक्त्वी देवताओं को अवधिज्ञान और मिथ्यात्वी देवताओं को

विभंगज्ञान (अवधि-अज्ञान) होता है। उस देव ने विभंगज्ञान से अपना पूर्वभव देखा। उसे अपने मारणांतिक कष्ट, असह्य वेदना का स्मरण हो आया। संभूम से बदला लेने की आग उसके हृदय में धधक उठी। देखा ज्ञान के बल से तो संभूम को लवण-समुद्र के बीच अकेला पाया।

बंधुओं ! मिथ्यादृष्टि देव था। बदला लेने की तीव्र भावना उछाल खा रही थी। अवसर बड़ा उपयुक्त था। सारे सेवाकारी देव छोड़कर चले गए थे। बस आश्चर्य यह था कि चर्म रत्न लवण-समुद्र में कैसे कार्य कर रहा है ? छह खंड से बाहर वह क्यों संभूम का मददगार बना हुआ है ? कारण जानने के लिए आया जहाज पर। घूमा इधर-उधर। रहस्य समझ में आ गया। जहाज की बाहरी विशाल अवरोधक दीवारों पर महामंत्र नवकार के पंच परमेष्ठी देवों एवं तीर्थकरों के जन्म संवत्, नाम आदि लिखे हुए थे। मन ही मन एक योजना बनाई और चक्रवर्ती के सम्मुख आकर प्रकट हो गया। बोला—“इस महासमुद्र में आप अकेले ही कैसे ?” अभिमानी चक्री ने गर्व से सिर उठाकर कहा—“मैं अकेला नहीं हूँ। मेरा साहस, मेरा बल, मेरा भाग्य मेरे साथ है। जब तक ये तीनों मेरे साथ हैं, मुझे अन्य किसी साथ की, किसी सहारे की आवश्यकता नहीं है।”

देव ने अपनी योजना के अनुकूल बात सुनकर कहा—“महाराज ! सहारा तो सभी को अपेक्षित होता है। आप इस समुद्र में इस जहाज के अवलम्ब से हैं और यह जहाज जो समुद्र में तैर रहा है वह नवकार महामंत्र के अवलम्ब से तैर रहा है।”

संभूम बोला—“व्यर्थ की बातें करना तुम खूब जानते हो पर शायद तुम मुझे नहीं पहचानते। मैं चक्रवर्ती हूँ, प्रबल बल का धनी और प्रबल पुण्यों का स्वामी। यह जहाज किसी मंत्र के अवलम्ब से नहीं, मेरे पुण्य और भाग्य के सहारे तैर रहा है।”

देव—“हो सकता है आप सही कहते हों पर मेरा कहना भी असत्य नहीं हो सकता है। पंच परमेष्ठी पद वाला यह मंत्र आदि जो जहाज की दीवार पर लिखा है, महान् चमत्कारी है। मेरा अनुमान है कि यही आपके प्राणों का रक्षक है।”

चक्री—“तुम गलत अनुमान लगाते हो। चर्म रत्न रूप जहाज मेरे ही पुण्य प्रताप से तैर रहा है।”

देव—“मैं सोचता हूँ, यह आपका निरा भ्रम है। आप नहीं जानते इस महामंत्र की शक्ति को। यह असंभव को भी संभव बना देने वाला मंत्र है।”

संभूम का क्रोध उफन आया। अभिमानी किसी अन्य की प्रशंसा नहीं सुन सकते, भले ही वह किसी महामंत्र की ही प्रशंसा क्यों न हो ? वह बोल उठा—“तुम निरे मूर्ख हो। मेरे

पुण्य और साहस का अपमान कर रहे हो। ये मंत्र-वंत्र कुछ नहीं हैं, मात्र कुछ अक्षर हैं। ये यहाँ लिखे या न लिखे हों, क्या अन्तर पड़ने वाला है, इनसे ? क्या ये अक्षर नहीं होंगे तो मैं, मेरा जहाज डूब जायेगा ?”—इतना कहकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। वह उस देव की खिल्ली उड़ाना चाहता था पर देव जानता था कि यही खिलखिलाना अभी स्वयं इसकी खिल्ली उड़ाने वाला है।

देव ने उकसाया—“अवश्य डूब जाएगा। कहीं उन्हें मिटा मत देना, नहीं तो सचमुच तुम्हारा जहाज समुद्र के तल में होगा और वहीं तुम्हारी जल-समाधि बन जाएगी।”

संभूम आवेश में उठा। अपने हाथ में कांकणी रत्न लिया। लिखे हुए महामंत्र आदि के निकट गया और कांकणी रत्न हाथ में लेकर जैसे श्यामपट पर टीचर डस्टर फेरता है, इसी तरह दीवारों पर कांकणी रत्न फिराया और दीवारों को साफ कर दिया। उसी समय उस देव का तीव्र अट्टहास सुना संभूम ने। लवण-समुद्र की लहरों को उछलते उठते देखा उसने। अपने जहाज को सागर तल में जाते देखा उसने। वह जान गया कि वह डूब रहा है, जल-समाधि निश्चित है पर वह विवश था। एक ही अवलम्ब था उसका और उसे ही उसने मिटा दिया। घोर अनर्थ कर दिया था उसने। मंत्रराज को मिटाकर, अपना भाग्य मिटा दिया, अपने सारे पुण्य मिटा दिए उसने। निरवलम्ब जहाज डूब गया। संभूम को उस अनंत जलराशि ने निगल लिया।

□ शुद्ध मन थी ध्यावो, राखो उज्ज्वल भाव

पाँच पदों के नामोल्लेख का कैसा महा प्रभाव ! उनकी आशातना, अपमान, अवज्ञा का कैसा घोर दुष्परिणाम ! इसीलिए आप सभी से कहा जा रहा है—महापुरुषों का नाम जपिए, पंच परमेष्ठी का स्मरण करिए, गुरुदेवों के प्रति अपने भावों को निर्मल, उज्ज्वल रखिए।

बंधुओं ! प्रयत्न कीजिए मन के परिणामों को शुभ रखने का। शुद्ध मन से महापुरुषों के प्रति उज्ज्वल भावों को रखते हुए उनका जाप करेंगे और उसी में मन की एकाग्रता बनाएँगे तो एक दिन आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. की तरह एकभवावतारी बन सकेंगे, निकट भवों में मोक्ष के, अव्याबाध सुख के, शाश्वत आनंद के अधिकारी बन सकेंगे।

आनन्द ही आनन्द !



इम कहे ऋषि जयमल-1

आत्म-बन्धुओं !

जैनधर्म वस्तुतः आत्मधर्म है। इस दृष्टि से यह धर्म सृष्टि के साथ-साथ है, अर्थात् सृष्टि अनादि है, तो आत्मा भी अनादि है और आत्मा अनादि है तो आत्मधर्म भी अनादि से है। आत्मा और शरीर ये दो भिन्न तत्त्व हैं। आत्मा चेतन है, जीव है, जबकि शरीर जड़ है, पुद्गल है, अजीव है। इस पर भी एक बात निश्चित है कि आत्मा जब तक अपने शुद्ध स्वरूप में आकर सिद्ध स्थिति नहीं प्राप्त करता, तब तक उसे शरीर का अवलम्ब चाहिए। जब तक आत्मा शरीरावलम्बी है, सांसारिक है तो संसार में भव-भ्रमण करते हुए यह आत्मा जब कभी आत्मा के लिए कार्य करता है, आत्मा का शोधन करता है, आत्मा की शुद्धि के लिए साधना करता है, तो वहाँ आत्मधर्म समुपस्थित हो जाता है, वही वस्तुतः धर्म है। 'जिन' अर्थात् वीतराग, सर्वज्ञ, अरिहन्तों ने उस आत्मधर्म के तत्त्वों को जन-जन के सम्मुख रखा। अतः आत्मधर्म ने 'जैनधर्म' नाम प्राप्त किया।

□ सर्व साधु-साध्वी सार

अनादि काल से अद्यतन प्रवाहित इस धर्म के प्रवर्तमान काल को जैनकाल गणना में अवसर्पिणी काल कहते हैं। अनंत कालचक्र व्यतीत हो चुके हैं अब तक। हर कालचक्र में एक उत्सर्पिणी काल होता है और एक अवसर्पिणी काल। हर अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में चौबीस जिन, अरिहंत, तीर्थंकर, सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु होते हैं, जो समय के प्रवाह में बाधित बने धर्म को पुनः जागृत करते हैं। ऐसी अनंत चौबीसियाँ अब तक हो चुकी हैं। एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी लोक प्रसिद्ध रचना 'बड़ी साधु वन्दना' का प्रारम्भ उन अनंत चौबीसियों को नमन-वन्दन करते हुए इस अवसर्पिणी के ऋषभादिक महावीर को प्रणति देकर किया था। सिद्ध हों या अरिहन्त, आचार्य हों या उपाध्याय, स्थविर हों या गणी, पर मूल में सभी साधु पद में हैं। सिद्ध-भगवंत भी साधु पद से अरिहंत बनकर सिद्ध हुए। अतः ऋषभादिक चौबीस तीर्थंकरों के पश्चात् 'बड़ी साधु वन्दना' में उन सभी

गणधरों, आचार्यों, उपाध्यायों, स्थविरों, मुनियों और महासतियों का स्मरण, गुणगान, वन्दन-नमन उस महापुरुष ने किया है, जो उत्कृष्ट संयम-साधना से आत्मोन्नति के शिखरस्थल पर आरूढ़ हुए। अंत में आचार्यसम्राट् ने ऋषभादिक चौबीस जिनेश्वर के जितने भी साधु-साध्वी हुए उन्हें अपनी प्रणति देकर भावाभिनंदन किया है। यह भी कहा है कि उन्हें तीनों काल में मेरा नमन है, वन्दन है।

□ एह तिरण नो दाव

बंधुओं ! उनका यह नमन-वन्दन, गुण-स्मरण, नाम-स्मरण हमारे लिए एक प्रेरणा का स्रोत है; ऐसा अजस्र स्रोत जो निरंतर हमें सचेत बनाता है कि गुणियों को वन्दन-नमन करें, गुणियों के गुणों का स्मरण करें, उनके प्रति उत्कृष्ट भावना रखें। स्वयं आचार्यसम्राट् ने जन-जन के कल्याण का चिन्तन करते हुए कह दिया इस रचना के अंत में कि उन यतियों, अर्थात् निर्ग्रन्थ शुद्ध संयमी साधकों, महासतियों का सभी सज्जन, सभी भविजन नित्य स्मरण करें, उनका गुणकीर्तन करें, शुद्ध मन से उनका वन्दन-नमन कर उन्हें ध्यावें। ऐसा करने से क्या होगा ? परिणाम का भी उस कवि-कोमल हृदय ने उल्लेख कर दिया है—“एह तिरण नो ठाम” और “एह तिरण नो दाव”।

□ ‘इम कहे ऋषि जयमल’

जन-जन के आत्म-कल्याण का चिन्तन कर जिसने यह सब इतनी सरलता से, इतने सरस रूप में कहा, वे कौन थे ? क्या परिचय है उनका ? क्या जीवनादर्श थे उनके ? आप सभी यह जानने के लिए अवश्य उत्सुक होंगे। उत्कृष्ट वैराग्य से छलकता, शुद्ध संयम-पालन से रवि-रश्मियों-सा दीप्तमान, आत्मा के गुणों के उद्घाटन से जन्म-मरण के बंधनों को क्षीण, क्षीणतर बनाता हुआ ऊर्ध्वमान उनका जीवन आज के हम संत-सती वर्ग के लिए अनुकरणीय और आप श्रावक-श्राविकाओं के लिए गुण-ग्रहणीय है। जीवन-गाथा प्रारम्भ करने से पूर्व अंतिम तीन कड़ियाँ ‘बड़ी साधु वन्दना’ की बोल रहा हूँ। आप सभी भी सस्वर उच्चारण करेंगे इन कड़ियों का—

इण यतियों-सतियों ना, लीजे नित प्रति नाम।

शुद्ध मन थी ध्यावो, एह तिरण नो ठाम॥१०९॥

इण यतियों-सतियों सूं, राखो उज्ज्वल भाव।

‘इम कहे ऋषि जयमल’, एह तिरण नो दाव॥११०॥

संवत् अठारा ने, वर्ष साते सिरदार।
गढ़ जालौर मांही, एह कह्यो अधिकार ॥ १११ ॥

(इतिश्री बड़ी साधु वन्दना सम्पूर्णम्)

□ उनके आदर्शों पर चलें हम

बंधुओं ! यशस्वी, संयमी, गुणी पुरुषों की जीवनगाथा का कथन, पठन, श्रवण सदैव शिक्षाप्रद होता है, आत्महितकारी होता है। इनका कथन-पठन-श्रवण जीवन में ऐसा परिवर्तनकारी होता है कि जीवन सुखद, शांत, निरामय बनने लग जाता है।

आज हम एक महान् पुरुष के जीवन-प्रसंगों का स्मरण करने जा रहे हैं। उनका आदर्श जीवन, उनका संयम, उनकी दृढ़ता, उनका खरापन, उनकी सहजता, उनका तपःतेज आदि गुण आपको और हमें प्रेरित करें और ऐसा बनायें कि हम सभी अपने-अपने पथ पर दृढ़ता से निरन्तर आगे बढ़ते रहें। आपके जीवन की चलती हुई धारा की दिशा उनकी जीवन-गाथा सुनकर अन्तर्मुखी बने, संसार-विरक्ति की ओर मुड़े, अंधकारमय या अल्प-प्रकाशित आपके जीवन-पथ को उस आदर्श जीवन की कोई एक उज्ज्वल किरण पूर्ण आलोकित करे—बस यही अभिलाषा है। ऐसा हो सका यदि तो निश्चय ही यह जन्म, यह जीवन, यह धर्मकथा श्रवण सफलीभूत होगा।

□ अवतरण काल (आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी का)

बंधुओं ! जन्म-मरण के चक्र को तोड़ने के लिए, अष्टकर्मकारा से मुक्ति के लिए, संसार-सागर को तैरकर किनारे पर पहुँचाने के लिए, जीवन के चरम व परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जिस महापुरुष ने संसार के समस्त रागमय सम्बन्धों को त्यागा, मोह-माया के बंधन को छोड़ा, काम-भोग व सुख-ऐश्वर्य से भर यौवन में मुँह मोड़ा उन महापुरुष का अवतरण ईसवी सन् की १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और विक्रम संवत् की १८वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था।

□ त्रस्त था जन-जीवन

भारत में तब यवन साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। जन-जीवन पूरी तरह त्रस्त था, अस्त-व्यस्त था, ध्वस्त था। शासक वर्ग 'सुरा, सुन्दरी और संगीत' की त्रिवेणी में मदमस्त बना आकण्ठ डूबा हुआ था। मुगल शासकों के राज्याधिकारी प्रजा पर अत्याचार का कहर बरसाकर शासकों के लिए लय-ताल की, नर्तकियों व गणिकाओं की व्यवस्था करता था और उन्हें मदिरा के नशे में बेभान कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में, अपना घर भरने में,

अपना रुतबा जमाने में होड़ लगा रहा था। आम जनता में घोर निराशा का भयावह अंधकार व्याप्त था।

□ भयंकर अराजकता व्याप्त थी

मुगल शासकों के अधीनस्थ राजा-महाराजा, ठाकुर-जमींदार इस आपा-धापी की दशा में अपनी-अपनी गोटी फिट करने की चालें चल रहे थे। इन लोगों में आए दिन पारस्परिक युद्ध होते रहते थे। सभी अपनी जमींदारी की सीमा में वृद्धि करना चाहते थे। इस भयंकर अराजकता ने जनता के सुख-चैन को छीन लिया था। चारों तरफ लूट-मार, हाय-त्राय, अशांति का वातावरण था।

□ धर्म के ठेकेदार भी कर्तव्य-पथ से च्युत थे

राजनीति की इस उथल-पुथल में सामाजिक जीवन भी डौंवाडोल हो रहा था और धार्मिक क्षेत्र में भी इस आँधी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। इस युग का जिनोपासक यति वर्ग भी अपने कर्तव्य-पथ से च्युत बन चुका था, शिथिलाचारी बन चुका था, संयम के नाम पर संसार चलाया जाने लगा था। धन, ऐश्वर्य, भोग आदि की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इस वर्ग ने बाह्याडम्बर का अवलम्ब लेकर, जनरंजन का ध्येय बनाकर, जनता को धर्म के नाम पर ठगना और गुमराह करना प्रारंभ कर दिया था। ऐसी विषमता की भयंकर विभीषिका के समय जन-साधारण का, धर्म और समाज का एवं शासक वर्ग का उद्धार करने के लिए इस महानात्मा ने जन्म धारण किया था।

□ अद्भुत प्रसंग जय-जन्म का

ग्राम लाम्बिया राजस्थान के मरुधरा प्रदेश में जोधपुर राज्यान्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण रियासत थी। यहाँ के कामदार श्री मोहनदास मेहता और उनकी पत्नी महिमादेवी। विक्रम संवत् १७६५ का समय। भाद्रपद मास। शुक्ल पक्ष। त्रयोदश तिथि। महिमादेवी के गर्भ से पुण्यवंत जीव जन्मा। पुण्यवंत इसलिए कह रहा हूँ कि गर्भ-धारण के समय माता ने स्वप्न में पूर्ण चंद्र किरण से केसरी सिंह को निकलकर अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा। चंद्र भी शुभ, सिंह भी शुभ। स्वप्न-फल के अनुसार आने वाला जीव भाग्यशाली, यशस्वी, जनप्रिय ही होना चाहिए। राज-ज्योतिषी ने यही फलादेश कहा।

धीरे-धीरे गर्भकाल व्यतीत होने लगा। एक दिन प्रसव पीड़ा बढ़ने लगी। महिमादेवी को तब प्रसव के लिए एक अलग कक्ष में सुला दिया गया। स्वयं मोहनदास जी इस कक्ष के बाहर चहल-कदमी कर रहे थे। उनके चेहरे पर गंभीर तनाव और चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट

नजर आ रही थीं। जब तक प्रसव हो नहीं जाता, सब कुछ शांतिपूर्वक-सानंद सम्पन्न नहीं होता, तब तक गृह स्वामी का तनाव में बने रहना, चिन्तित होना स्वाभाविक ही था।

चहल-कदमी करते चिन्तित-मुख मेहता जी ने तभी अपनी हवेली के बाहर से ग्रामवासियों का कोलाहल सुना—

“डाकू आए हैं।”

“डाका पड़ा है।”

“मेहता जी हमें बचाइए।”

ऐसी ही अनेक आवाजें आ रही थीं। एक व्यक्ति को अंदर बुलाकर पूछा मेहता जी ने—“क्या बात है ?” उसने जो बताया उसका सार यह था कि “डाकूओं ने लाम्बिया ग्राम के गुजरवाड़े की ओर से हमला किया है और वे गाँव के गौधन को लूट ले जाना चाहते हैं।”

मेहता जी चकित थे। डाकूओं ने इतनी हिम्मत कैसे की ? क्या वे मेरी तलवार भवानी की भयंकरता भूल गए, मेरी युद्ध-कुशलता विस्मृत कर बैठे ? पर ऐसा कैसे हो सकता है ? लगता है उन्होंने मेरी इस समय की विषम परिस्थिति का लाभ उठाने की सोची है। पर उन्हें पता कैसे लगा मेरी इस समय की दुविधापूर्ण स्थिति का ? निश्चय ही किसी घर के भेदी ने लंका को ढहाने का कार्य किया है। चलता हूँ, देखूँ मेरे रहते डाकू ग्राम का गौधन कैसे लूट ले जाते हैं ?

□ विजयी बनकर आइए

बढ़ा उनका हाथ अपनी प्रिय दुर्गा भवानी की तरफ ! खूँटी से उतारकर हाथ में ली और चले बाहर की ओर। एक कदम बढ़ाया पर दूसरा कदम बढ़ा नहीं सके। रुक गए वहीं और देखने लगे उस कक्ष की ओर जहाँ प्रसव-पीड़िता महिमादेवी संतानोत्पत्ति की प्रतीक्षा में थीं।

भीतर से सुन रही थीं महिमादेवी। कदमों की स्थिर आवाज को सुन समझ गई कि मेरे ही कारण बढ़ते हुए कदम निश्चल बन गए हैं। निश्चय ही पारिवारिक कर्तव्य और ग्राम धर्म के मध्य द्वन्द्व चल रहा होगा। असमंजस की स्थिति में हो गए होंगे कि ग्राम की रक्षा करूँ या पत्नी के प्रति गृहस्थ धर्म का निर्वहन करूँ ? मैं इनसे कहूँ तो क्या ?

तभी गर्भस्थ पुण्यवन्त जीव के प्रभाव से अन्तर्आत्मा से आवाज उठी—‘प्रसव तो होगा ही, ये वहाँ जाएँगे तो भी होगा पर यदि ये नहीं गए तो सारा लांछन मुझ पर लगेगा। पूरा गाँव कहेगा कि पत्नी के कारण रुके। लांछन आने वाली संतति पर भी लगेगा कि ऐसी

सन्तान गर्भ में आई, जन्म के साथ ही डाकू ग्राम का गौधन लूट ले गये। नहीं ! इस तरह के लांछन में जीना कैसे हो सकेगा ? पतिदेव को युद्ध के लिए जाना ही होगा, ग्राम रक्षा करनी ही होगी।’

महिमादेवी ने साहस करके कहा—“नाथ ! रुक क्यों गए ? ग्राम पर विपत्ति का समय है। विपत्ति को दूर करना आपका कर्तव्य है। खुशी से जाइए और विजयी बनकर आइए। मेरी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं।”

सहगामिनी के उत्साह दिलाने पर गए मेहता जी उन डाकूओं से दो-दो हाथ करने। डाकूओं ने देखा उनको आते हुए तो उनके होश गुम हो गए। विश्वास नहीं था उन्हें कि ऐसे समय वे अपनी पत्नी को इस स्थिति में छोड़कर यहाँ आ जाएँगे। मेहता जी को अश्व पर सवार नंगी तलवार हाथ में लिए गुजरवाड़े की ओर जाते देख ग्राम के अनेकानेक व्यक्ति भी अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर उनके पीछे-पीछे दौड़े।

हैरान थे डाकू ! चकित थे डाकू !! हतोत्साह हो गए थे डाकू !!! इस पर भी वे पीठ दिखाकर भागे नहीं। जी-जान से मेहता जी के समक्ष आ डटे। मेहता जी ने बिजली की तरह डाकूओं पर पलपलाट करती तीक्ष्ण धार वाली भयंकर भवानी अपनी तलवार के वार प्रारंभ किए। तलवार कब आती, कब वार करती, कब वापस जाती—कुछ भी जान नहीं पड़ता था। विद्युत्-वेग था उनके वारों में। घमासान युद्ध छिड़ गया। ग्राम वाले मेहता जी के साथ एक ओर तो डाकू दूसरी ओर। वह दिन था भाद्रपद शुक्ला द्वादशी का।

□ नहीं बच सकूँगा अब, पर अचानक.....

द्वादशी को पूरे दिन और पूरी रात युद्ध चला। त्रयोदशी को भी दिन-रात घमासान चलता रहा। कई लोग मरे, कई घायल हुए। डाकू आज बड़ी हिम्मत से लड़ रहे थे। एक क्षण तो ऐसा भी आया जब मेहता जी को लगा—‘नहीं बच सकूँगा अब ! शहीद होना ही लिखा है भाग्य में। घर में संतान आने वाली है, पर शायद ही देख सकूँ उसे।’

मेहता जी इसी तरह के विचारों में युद्ध में जूझ रहे थे कि एक सवार अश्व दौड़ाता उनके निकट आया और बोला—“हुजूर ! बधाई ! पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ है।”

सुनकर मेहता जी प्रसन्नता से भर गए। शक्ति, स्फूर्ति जो शिथिल बन रही थी, अचानक द्विगुणित हो गई। तभी ऐसा लगा जैसे कोई अदृश्य शक्ति उनके बदन में प्रवेश कर गई हो। उनकी तलवार शत गुणा वेग व ताकत से चलने लगी। डाकू पुनः विस्मय के भँवर में फँस गए। मेहता जी के रूप में उन्हें अपना साक्षात् काल सिर पर घूमता नजर आया। दामिनी की

दमक व चपला की चमक-सी मेहता जी की तलवार बन गई। लगा मेहता जी अकेले नहीं हैं, लगा एक मेहता नहीं, अनेक मेहता युद्ध कर रहे हैं। डाकू अधिक देर उनके शौर्य, उनके साहस, उनके युद्ध-कौशल के आगे टिक नहीं सके। वे भाग खड़े हुए। त्रयोदशी की वह रात्रि उनकी जय-रात्रि बन गई।

□ यह जीत किसकी ?

खुशी में झूमते ग्रामवासी मोहनदास जी मेहता की जय-जयकार करने लगे। मेहता जी सोच रहे थे—‘क्या हो गया अचानक ? मैं तो सोच रहा था कि मृत्यु निश्चित है। एकदम यह परिवर्तन कैसे ? निश्चय ही आने वाले नवीन जीव के पुण्य-पुञ्ज से ही यह संभव हुआ है, यह जीत उस नवागंतुक शिशु की है।’—यही सब सोचते हुए मेहता जी जय-जयकारों के बीच से अश्व दौड़ाते हुए अपनी हवेली पहुँच गए।

हवेली में बधाई देने के लिए राज्याधिकारी, राजकर्मचारी, व्यापारीगण, ग्राम के प्रतिष्ठित जन व सामान्य-जन आने लगे थे। मेहता जी की देह पर काफी घाव लगे थे, उन पर दवा आदि लगवाकर बैठक में आए। महिमादेवी के कक्ष के बाहर दाईं ने मुस्कराकर अभिवादन किया। मेहता जी समझ गए—बधाई दे रही है, पुरस्कार माँग रही है। कंठहार उतारकर दिया उसे। बैठक में आकर बैठे और ग्रामवासियों की बधाइयाँ स्वीकार करने लगे। अचानक उस अश्व सवार का ध्यान आया जिसने युद्ध के मैदान में उनके पास आकर पुत्र-जन्म की सूचना दी थी। पूछताछ कर बुलाया उसे और इतना धन पुरस्कार में दिया कि वह निहाल हो गया।

सद्य प्रसूत अद्यतन अनाम उस महान् पुण्यवान जीव की यह पहली जय थी, जय का सारा श्रेय उसको मिला था, ठीक उसी तरह जैसे किसी नव-वधू के गृह प्रवेश के साथ घर में, व्यापार में कोई बड़ा लाभ हो तो कहा जाता है—“नई बहू का पगफेरा तो बढ़िया हुआ।”

□ स्मृतियाँ पुरानी

नाम रखना था बालक का। मोहनदास जी ने ग्राम-ज्योतिषी को बुलवाया। उनके आने तक वे पिछली बातें याद करने लगे—

आज से लगभग नव-मास पूर्व एक सुबह महिमादेवी के प्रसन्न, खिले, प्रफुल्लित चेहरे को देखकर मोहनदास जी ने पूछा था प्रसन्नता का कारण। तब महिमादेवी ने स्वप्न में पूर्ण चन्द्रमा में से केशरी सिंह की आकृति को अपने मुँह में प्रवेश करने की बात बताई थी। ज्योतिषी महाराज ने तभी कहा था—कोई पुण्यशाली जीव कुक्षि में अवतरित हुआ है।

□ फिर एक दिन

होली व्यतीत हो चुकी थी। तभी एक दिन महिमादेवी को दोहद उत्पन्न हुआ था कि नदी में स्नान करना और निकट के वन-उपवन में भ्रमण।

गर्भस्थ बालक के पुण्य-प्रताप से तब मेड़ता के निकट जोजरी की शाखा 'तपधारी' नदी में अकाल के दिनों बाढ़ आने की सूचना मिली।

गाड़ियाँ जुतवाई गईं। गए वे महिमादेवी व पारिवारिक जनों के साथ मेड़ता। 'तपधारी' में स्नान किया था महिमादेवी ने, आसपास बाग-बगियाएँ थीं। जी-भरकर भ्रमण किया था वहाँ महिमादेवी ने।

□ नामकरण : जयमल !

मेहता जी इन सब बातों को याद कर ही रहे थे कि ज्योतिषी के आने का सन्देश मिला। बुलाया उन्हें अन्दर। समय, तिथि, नक्षत्र आदि देखकर ज्योतिषी ने कहा—“बालक अति पुण्यवान है, जय-विजय का प्रतीक है।” मेहता जी को तभी याद आया—जिस समय बालक का जन्म हुआ, उसी समय डाकुओं पर उन्हें जय मिली थी। तुरंत बोल उठे—“‘जयमल’ नाम कैसा रहेगा?” सभी को स्वीकार्य देख बालक का नाम रखा गया—‘जयमल’।

बंधुओं ! उस 'जयमल' ने अपने नाम की सार्थकता के लिए जीवनभर 'मल' से अर्थात् 'कर्म-मल' से 'धर्म-मल' (धर्मपथ में आई शिथिलता) से और 'समाज-मल' (कुव्यसन-कुरीतियों) से संघर्ष कर उन पर जय प्राप्त की।

□ शिशु को घर पर मिलते हैं संस्कार

माता अपने शिशु की प्रथम शिक्षिका है और माता से उत्तम कोई शिक्षक इस विश्व में हो नहीं सकता। विश्वभर के महापुरुषों की जीवनियाँ एक-एक कर पढ़ जाइए, आपको इस कथन की सार्थकता का पता लग जाएगा। महिमादेवी स्वयं एक सुसंस्कार-सम्पन्न, धर्मनिष्ठ और साहसी महिला थीं। अपने बच्चों में भी वह स्व-जाति, स्व-राष्ट्र, स्व-धर्म के प्रति प्रेम व समर्पण के संस्कार भरना चाहती थीं। जयमल से बड़ा एक और पुत्र था उनके, उसका नाम था रिडमल, अर्थात् ऋद्धिमल !

□ बालक 'जय' की शिक्षा बनाम आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ

बालक जयमल माता-पिता के साथ बड़े भ्राता का भी दुलारा था। इन सभी से प्रारंभिक शिक्षा (शब्दोच्चारण व शिष्टाचार) तथा संस्कार सीखे उसने। कुछ बड़ा होने पर गाँव की

‘गुरांसा की पौशाल’ में भेजा गया जयमल को। गुरांसा ने जयमल को ‘स्वर, व्यंजन व अंक माला’ का ज्ञान देना प्रारम्भ किया। तभी बालक जयमल ने गुरांसा से कहा—“यह तो मुझे याद है।” और उसने अ से अं अः तक स्वर और क से ज्ञ तक व्यंजन, १ से १०० तक गिनती व सारे पहाड़े बोलकर सुना दिये। सभी आश्चर्यचकित पूछने लगे—“ये कहाँ सीखे।” तो बालक ने कहा—“रिडू भैया घर में बोलता है, मैं सुनता हूँ तो मुझे याद हो गया।” गुरांसा सोचने लगे—‘कुशाग्र बुद्धि वाला होनहार है।’ अनेक जिज्ञासाओं की गुरांसा से पृच्छा करता वह बालक और गुरांसा उसकी जिज्ञासाओं का संतोषजनक समाधान कर देते थे। गुरांसा चकित थे, यह देखकर कि बालक की अधिकांश जिज्ञासाएँ अध्यात्म संबंधी होती थीं। कुछ सोचकर गुरांसा ने उसे अध्यात्म-विद्या का ज्ञान देना प्रारंभ कर दिया।

□ राजदरबार में ‘जय’ !

अध्यात्म-विद्या सीखते-सीखते बालक जय में गंभीरता आने लगी। एक दिन गुरांसा ने यह बात मोहनदास जी से भी कही। मोहनदास जी ने भी तरुणाई की ओर बढ़ रहे बालक जय के स्वभाव में कुछ परिवर्तन का अनुभव किया। गुरांसा ने बताया था कि “यह बालक विरक्त बन सकता है, सांसारिक बंधनों से बाहर निकल सकता है, साधु बन सकता है।” मेहता जी चिन्तित हुए। वे राजनीति के दाँव-पेचों के अच्छे खिलाड़ी थे पर वैराग्य, संयम, प्रत्याख्यान, व्रत आदि से अनभिज्ञ थे। उस समय के अधिकांश ओसवाल जो राज-दीवान, राज-कामदार, राज-कोठारी आदि थे, वे वैष्णवधर्म की परम्पराओं का पालन करते थे, पूजा-पाठ करते थे, मन्दिर आदि जाते थे, आरती करते व कराते थे। कहीं यह साधु न बन जाए, घर छोड़कर न चला जाए। अतः मेहता जी ने उन्हें अपने साथ राजदरबार में ले जाना प्रारंभ कर दिया और यदा-कदा उसे राजदरबार के रीति-रिवाज, वहाँ की भाषा और राज-काज के दाँव-पेच आदि बताने-सिखाने लगे।

□ घर-गृहस्थी की जिम्मेदारियों में भाग

रिडमल की सगाई की जा चुकी थी। पुत्र-वधू को गहने चढ़ाने, कपड़े भेजने, मिठाई भेजने जैसे कार्यक्रमों में भी उन्होंने जयमल को भेजा। इस सबके पीछे उनकी एक ही चाह, एक ही कामना कार्य कर रही थी कि जयमल का मन संसार में रँग जाए।

रिडमल का लगन हुआ तो जयमल को ही अनेक रीति-रिवाजों में आगे किया गया। शादी हो गई तो भाभी विनयदेवी घर आ गई।

□ आढ़त व किराणे की दुकान

इधर आए दिन राजनीति में चलती उथल-पुथल को देख दीर्घ दृष्टि मेहता जी ने रिडमल को एक किराणे व आढ़त की दुकान लाम्बिया में ही लगवा दी। जयमल जी को भी कई बार दुकान का काम करना पड़ता। धीरे-धीरे सारी खरीददारी का काम वे करने लगे। खरीद-कार्य में वे इतने पटु बन गए कि अन्य ग्रामों के खरीददार जयमल जी की सलाह लेने लगे।

□ “जय युवक ही नहीं, खरा हीरा है”

एक बार जयमल जी नागौर गए, दुकान के लिए किराणा सामान की खरीददारी करनी थी। उस दिन नागौर के बाजार में शेरसिंह की रीयां के कुछ व्यापारी भी खरीददारी करने आए हुए थे। इन व्यापारियों की मुलाकात जयमल जी से हो गई। उनकी व्यापारिक धारणा में पटुता देख वे चकित थे। अनेक अन्य ग्राम के व्यापारी जयमल जी से सहज व्यापारिक धारणा पूछते और वे सहज ही मुस्कराते, अभिवादन करते, कुशलता से अपनी बात कह देते थे। रीयां के व्यापारियों ने जयमल जी के बारे में बाजार के प्रतिष्ठित व्यापारियों से जानकारी ली। अपने गाँव जाकर ग्राम के कामदार मेहता शिवकरण जी को उन्होंने जयमल जी के विषय में जितना जान पाए थे, बताया और साथ ही कह दिया—“कामदार साहब ! बाईसा लक्ष्मी के लिए इससे उत्तम वर मिलना मुश्किल है। वह युवक खरा हीरा है। आप हमारी बात पर विचार अवश्य करें।”

□ सगाई और विवाह

मेहता शिवकरण जी अपनी सुपुत्री युवा लक्ष्मी के लिए योग्य वर की तलाश में कई दिनों से थे। जयमल जी के विषय में सुनकर उन्होंने उस तरफ के अपने परिचितों से उनके बारे में पुछवाया। जो कुछ सुना, वह आशा से अधिक था। पत्नी से सलाह ली और भेज दी मँगनी की चिट्ठी। मोहनदास जी ने भी रिश्ता बराबर का समझ, लड़की के बारे में जानकारी कर, पत्नी महिमा को बता, उनकी स्वीकृति पाकर इस रिश्ते की स्वीकृति भिजवा दी। दोनों की सगाई कर दी गई। विवाह का लग्न भी शीघ्र निकला था। बहुत धूमधाम से बारात चढ़ी। जयमल जी दूल्हा बन बारातियों के साथ ‘लाछं दे’ (लक्ष्मीदेवी) को ब्याहने शेरसिंह जी की रीयां गए।

शिवकरण जी मूथा की एक ही कन्या थी यह। जोरदार आगत-स्वागत किया बारात का। खूब मनवार की। विभिन्न पकवान एवं व्यंजन करके खिलाए। बड़ी धूमधाम के साथ

विवाह सम्पन्न किया गया। तीन दिन तक बारात को रोका। विदा के समय राजघराने के हिसाब से कन्या को ढेर सारा प्रीतिदान दिया।

रीयां में तीन दिन बिताकर बाराती व वर-वधू लाम्बिया आ गये। मोहनदास जी ने पूरे गाँव को न्यौता देकर पाँच पकवान का भोज दिया। भोज के बाद वधू को पुनः उसके पीहर रीयां भेज दिया गया। यही परम्परा थी उस समय। जब तक मुकलावा (द्विरागमन या गौना) न हो, वर-वधू की मिलन-रात्रि नहीं होती थी।

□ द्विरागमन का निमंत्रण

समय पंख लगाकर उड़ने लगा। ज्येष्ठ-आषाढ़ की भयंकर ग्रीष्म और श्रावण-भाद्रपद की वर्षा-झड़ी के पश्चात् आश्विन का दशहरा और कार्तिक की दीपावली भी व्यतीत हो गई। तभी एक दिन मुकलावे के लिए रीयां से सन्देश प्राप्त हुआ। जयमल जी को श्वसुर-गेह भेजने के लिए दिन तय किया जाने लगा। परम्परा यह भी थी कि वर श्वसुर-गेह में मास-दो मास रहे। रखते थे कन्या-पक्ष वाले। लाड़ लड़ाते थे, खातिरदारी करते थे जैवाईराज की। सोचा यह गया कि ज्यादा दिन रहना पड़ सकता है। अतः घर और दुकान के लिए आवश्यक खरीददारी कर ली जाए।

□ खरीददारी करने मेड़ता पहुँचे जय

जरूरत के सामान की सूची बना ली गई। जयमल जी को सूची देकर बैलगाड़ी से मेड़ता के लिए रवाना कर दिया गया। जयमल जी के कुछ मित्रों को भी दुकानदारी की वस्तुएँ खरीदनी थीं। अतः वे भी जयमल जी के साथ ही अपनी-अपनी बैलगाड़ियाँ जोतकर मेड़ता के लिए चल दिए। पहुँच गए मेड़ता। वि. सं. १७८८^१ की कार्तिक पूर्णिमा का दिन था यह।

□ बाजार बंद थे, जय पहुँच गए स्थानक भवन

अबूझ पहेली है यह जीवन। कब क्या घटित हो जाए? कोई कह नहीं सकता! भविष्य के गर्भ में किस अनहोनी का होना लिखा है? केवलज्ञानी ही बता सकते हैं। मेड़ता का बाजार बंद था। चौमासी पर्व था और चातुर्मास समापन का अवसर था। सभी व्यापारी (महाजन) व अन्य श्रद्धालु क्षमाश्रमण आचार्य श्री भूधर जी म. सा. का प्रवचन सुनने गए

१. उस समय क्षेत्रीय संवत् अलग-अलग प्रचलित थे। अतः क्षेत्रीय संवत् १७८७ का भी उल्लेख मिलता है। वि. सं. तो १७८८ ही था।

थे। जयमलजी को जब यह ज्ञात हुआ तो वे भी अपनी मित्र-मंडली के साथ जैन-स्थानक-भवन में पहुँच गए।

□ जय धारा के साथ मुड़ने वाले नहीं, धारा को अपने साथ मोड़ने वालों में थे

चल रहा था प्रवचन। विषय था—‘ब्रह्मचर्य’। कथा थी—सेठ सुदर्शन की। मेड़ता नगर की धर्मप्रिय जनता धर्मविभूति आचार्य श्री भूधर जी म. सा. की अमृतवाणी का एकाग्र हो रसास्वादन कर रही थी। जयमल जी के लिए यह पहला अवसर था जैन संतों के श्रीमुख से प्रवचन-श्रवण का, जिनवाणी-पान का। मित्रों ने तो भ्रमण करने, रमणीक स्थान देखने आदि के लिए कहा था। पर जय को तो जीतना था सांसारिक मोह, राग, आकर्षण, आसक्ति को। जैनाचार्य के प्रवचन सुनने का चुनाव कर मित्रों को भी साथ ले जाना स्थानक में, यह भी एक बड़ी विजय है। आजकल के मित्र कहाँ मानते हैं ? ले जाते हैं सिनेमा, पिकनिक आदि में घसीटकर। जयमल जैसे तो बहुत बिरले ही मिलते हैं इस काल में, जो धारा को अपने साथ मोड़ सकें। यहाँ तो लगभग सभी धारा के साथ बहने वाले मिलेंगे।

□ कथा सेठ सुदर्शन की

चम्पापुरी नामक नगरी में राजा दधिवाहन राज्य करता था। उसकी रानी का नाम था अभया।

चम्पापुरी नगरी में सुदर्शन नाम का एक नगरसेठ रहता था। वह धनाढ्य एवं सुप्रतिष्ठित व्यक्ति था। उसकी पत्नी का नाम था मनोरमा। श्रेष्ठी के चार पुत्र थे।

नगरसेठ सुदर्शन का राज-सभा में आना-जाना था। वह राजा दधिवाहन का कृपापात्र था। राजपुरोहित कपिल से उसकी मित्रता हो गई।

राज-सभा समाप्त होने पर कपिल सुदर्शन श्रेष्ठी के घर चला जाता। सुदर्शन धनाढ्य होने के साथ धर्मिष्ठ भी था। वह जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों का ज्ञाता था। श्रावक के बारह व्रतों का ज्ञान कर उसने उन्हें धारण किया था। उसकी दृष्टि अनेकान्तवादी थी। स्वभाव से वह सरल और सौम्य था। राजपुरोहित कपिल को वह जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि तत्त्वों की जानकारी देता और उन पर चर्चा करता रहता था। धर्म के अनेक तत्त्वों पर भी उनमें गंभीर आदान-प्रदान चलता था। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत आदि विषयों पर दोनों का वार्त्तालाप कितनी ही बार समय की सीमा को पार कर जाता था, अतः कई बार कपिल घर देर से पहुँच पाता था।

एक बार कपिल की पत्नी कपिला ने देर से आने पर उपालंभ देते हुए कहा—“बात क्या है ? देख रही हूँ, इधर आप कितनी ही बार बड़ी विलम्ब से इस दासी की सुध लेते हैं। कहीं कोई अन्य रूपसी तो हृदय में नहीं उतर गई है, जहाँ जाकर आनंद मनाते और मौज-मस्ती करते हुए समय का ध्यान ही नहीं रहता।”

राज-पुरोहित कपिल ने कहा—“देवी ! यह तुम्हारा भ्रम है। क्या तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है ? मेरे देर से आने का कारण है सेठ सुदर्शन। वह दृढधर्मी तथा तत्त्वज्ञ व्यक्ति है। धर्म-अधर्म, जीव-अजीव, पाप-पुण्य आदि के सम्बन्ध में जब चर्चा होती है तो वह अत्यन्त रुचिकर और उपयोगी जानकारी देता है। स्वयं उनके धर्म में जो व्रत, नियम आदि हैं, कभी-कभी उन पर गंभीर चर्चाएँ होती हैं। श्रेष्ठी सुदर्शन अनेक व्रतों और नियमों को पालन करने वाला, सदाचारी और ज्ञानी व्यक्ति है। अन्दर से वह जितना सुन्दर, सरल, कोमल है, उससे तो यही कहा जा सकता है कि वह अपने नाम के अनुरूप ही सुदर्शन है। शरीर और आकृति भी उसकी लाखों में एक है। भरा-पूरा बदन, माँसल अवयव, गोल चेहरा, सुडौल शरीर, गौर-वर्ण इतना सुन्दर लगता है जैसे कामदेव, देवेन्द्र स्वयं धरा पर आ गये हैं। अन्दर और बाहर, दोनों सुदर्शन। यथा नाम, तथा गुण।”

कपिला ने कहा—“अब रहने दो। डींगें हाँक रहे हो। ऐसा भी कोई रूप होता है।”

कपिल बोला—“डींगें नहीं हाँक रहा हूँ, सत्य कह रहा हूँ। कभी बुलाऊँगा अपने घर, देख लेना तब और तभी कहना कि मैं सत्य कह रहा था।”

यह कहकर कपिल तो चला गया अपने कक्ष में पर कपिला विचारों में खो गई—‘यदि वह सचमुच ऐसा है तो रमण करने योग्य है, कामभोग का आनंद उसके साथ लेना चाहिए। दुर्लभ मानव जीवन मिला है। कितनी ही योनियों में भटकने के बाद मिलने वाले इस दुर्लभ मानव जीवन की सफलता किसमें ? आनन्द, कामभोग, ऐश, विषयसुख आदि में।’

बंधुओं ! यही अन्तर है मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीव में। सम्यग्दृष्टि जीव इस दुर्लभ मानव-भव को पाकर चिन्तन करता है—अनंत जन्म-मरण के बाद, चौरासी लक्ष योनियों में भटकने के पश्चात् मिली है यह दुर्लभ-देही। देवता भी जिसको पाने के लिए तरसते हैं। क्यों तरसते हैं ? वे जानते हैं कि केवल मानव-भव में ही धर्माराधन किया जा सकता है। मनुष्य ही अहिंसा, संयम, तप का आचरण कर सकता है। अतः वे अपना जीवन सद्गुणों के सौरभ से भरने में पुरुषार्थ करते हैं। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव आत्म-पोषण के स्थान पर शरीर-पोषण को ही जीवन का ध्येय बना लेते हैं। उनकी दृष्टि शरीर-सुख और अपने

स्वार्थों की पूर्ति तक ही सीमित बन जाती है। जीवन का केवल एक लक्ष्य लेकर चलते हैं। वे—खाओ, पीओ, मौज करो (Eat, drink and be merry), धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य की बात वे नहीं मानते। पुनर्जन्म एवं 'जो जैसा करेगा, उसे वैसा ही भोगना होगा'—यह उनकी थ्योरी (Theory) में नहीं होता। चार्वाक और नास्तिकवाद की भाँति वे बस यही चाहते हैं कि "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्, यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्।" अर्थात् ऋण करके भी घी पीओ पर जब तक जीओ, सुख से जीओ। तात्पर्य यह कि जो कुछ है यही जीवन है। न इससे पहले जीवन था, न इसके पश्चात् जीवन होगा।

सुन्दरी नारी कपिला भी पथभ्रष्ट थी। हृदय उसका भोग, काम, विषय, वासनाओं में ही आसक्त रहता था। उस कलुषित-हृदया नारी के मन में सुदर्शनीय सुदर्शन के साथ विषय-सुख भोगने की कामना तीव्र बन चुकी थी और वह इस कुकर्म को क्रियान्वित करने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगी थी।

एक दिन कपिल पुरोहित को आवश्यक राज्य-कार्य से चम्पानगरी से बाहर किसी अन्य नगर के लिए जाना पड़ा। उसको वहाँ दो-तीन दिन भी लग सकते थे। अवसर उपयुक्त था। कुटिल कपिला ने कपटपूर्वक सुदर्शन को अपने घर बुलाने का निर्णय कर एक विश्वस्त दासी को समझाया कि उसे क्या करना है, क्या कहना है ? सिखा-पढ़कर भेजा उसे सुदर्शन श्रेष्ठी की दुकान पर।

दासी गई, वहाँ सेठ के पूछने पर उसने कहा—“मैं राजपुरोहित कपिल जी के घर की दासी हूँ। मेरे मालिक अचानक अत्यधिक अस्वस्थ हो गए हैं। वे बार-बार आप ही को स्मरण कर रहे हैं। स्वामिनी ने मुझे आदेश दिया है कि मैं आपको लेकर आऊँ।”

अपने मित्र को अस्वस्थ समझ सुदर्शन दासी के साथ जाता है अपने मित्र के घर। दासी संकेत से सेठ को ऊपर जाने को कहती है। सेठ सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँच जाता है। तभी सजी-धजी सोलह शृंगार किये कपिला एक कमरे से बाहर निकलती है और कहती है—“आइए सेठजी ! अन्दर पधारिए !”

सेठ कमरे में प्रवेश कर इधर-उधर देखता है। उसे कहीं भी कपिल नजर नहीं आता। सुदर्शन पूछता है—“कपिल कहाँ है ?”

इस पर कपिला कहती है—“कपिल ने नहीं, आपको इस कपिला ने बुलावा भेजा है।”

सेठ ने पूछा—“क्यों बुलाया है मुझे यहाँ ? कहाँ गया है मेरा बंधु कपिल ?”

मुस्कराकर कपिला बोली—“क्या कपिल-कपिल की रट लगा रखी है ? आपके सामने एक नारी सोलह शृंगार करके खड़ी है। क्या उस पर ध्यान नहीं जाता आपका ?”

सेठ चुप रहा मन में सोच रहा था—‘बुरा फँसा आज।’

उधर सेठ को चुप देख कपिला ने उन्हें सीधा काम-भोग का आमंत्रण दिया। तरह-तरह के हाव-भाव, कटाक्ष आदि करके सेठ को बहकाना चाहा। इस पर भी सेठ नहीं बोला तो उस काम-पिपासु नारी ने धमकाया—“मेरा कहना नहीं मानोगे तो मैं लोगों को यहाँ इकट्ठा करके तुम्हें बदनाम कर दूँगी। कहूँगी कि यह सेठ अपने मित्र को अनुपस्थित जानकर मेरी इज्जत लूटने आया है।” सेठ फिर भी मौन रहा। वह जानता था कि यह नारी ऐसा कर सकती है पर वह क्या करता। कामाभिभूत उस नारी ने जब देखा कि यह सेठ तो मेरे यौवन, मेरे बदन, मेरे सौन्दर्य में अनुरक्त बन ही नहीं रहा है तब उसने उसे धमकाने, डराने का निश्चय किया। खूँटी पर टँगी हुई तलवार एक झटके से उतारकर उसे म्यान से बाहर किया। रणचण्डी-सा विकराल रूप धारण कर उसने गरजते लहजे में कहा—“सेठ ! लगता है तुम ऐसे नहीं मानोगे। यदि तुमने मेरी कामना पूर्ति की बात को स्वीकार नहीं किया, मेरे तन की प्यास बुझाने को तत्पर नहीं हुए तो मैं तुम्हारा सिर खून की प्यासी इस तलवार से एक क्षण में उड़ा दूँगी। बोलो, क्या कहते हो तुम ? क्या असमय में मरना पसंद करोगे ?”

सेठ ने विचार किया—‘धर्म के लिए, शील की रक्षा के लिए, व्रत अखंडित रखने के लिए प्राण देना कोई बड़ी बात नहीं है। यह मृत्यु मेरे लिए श्रेयस्कर है परन्तु अपने मित्र की अनुपस्थिति में उसके घर में इस तरह मारे जाने पर लोग क्या कहेंगे ? वह स्थिति मेरे लिए लोक-निन्दा का कारण बन जायेगी। लोग वास्तविकता को तो जान नहीं सकेंगे। अतः मेरे धर्म, मेरे शील पर उँगली उठायेंगे ही। क्या यह ठीक रहेगा ? यह मैं कहाँ फँस गया ? मैंने धर्म में अपने को आगे नहीं बढ़ाया। यदि मैंने अपने श्रावक व्रतों के अन्तर्गत मर्यादा ले ली होती। किसी अन्य के घर न जाने का संकल्प कर लिया होता तो मेरी आज यह दशा नहीं होती। धन्य हैं वे व्यक्ति जो धर्म की शरण लेकर अधिकाधिक मर्यादा में रहने का संकल्प करते हैं। गृहस्थ धर्म से भी आगे बढ़ जाता तब तो निश्चय ही समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता। धन्य हैं निर्ग्रन्थ-मुनिराज जो अहोरात्र धर्मजागरणा में व्यतीत कर आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होते हैं।’

सेठ को इस विषम संकट की स्थिति से बचने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। ऐसे समय में उसने धर्म की शरण को ही एक मात्र आधार माना। उसने नवकार मंत्र की शरण ग्रहण करते हुए पंच-परमेष्ठी का स्मरण किया। निश्चय ही जो धर्म की शरण में आता है, धर्म उसको शरण प्रदान करता है, उसकी रक्षा करता है, उसके पतन को बचाता है। बड़ी शक्ति है धर्म में। पंच-परमेष्ठी पदों के स्मरण, नवकार की शरण से बढ़कर शरण क्या हो

सकता है ? असीमित-अक्षय शक्ति का स्रोत है नवकार मंत्र। सेठ ने शरण ली, स्मरण किया पंच-परमेष्ठी देव का। कुछ ही क्षणोपरान्त उसकी आत्मा में गूँज उठा उस विकट-विषम संकट से बचने का उपाय। 'कपट करके बुलाया था मित्र-पत्नी ने अपने घर में। कपट के साथ कपट करने से ही कपट कटकर ढेर हो सकता था।'

ध्यान से बाहर आकर सेठ ने अपने मुँदे हुए नयन खोले। सामने खड़ी थी मित्र की पत्नी। हाथ में तलवार लिए उस चंडी की ओर देखा उसने। मुस्कराया उसे देखकर।

पुरोहित-पत्नी का मन खिल उठा। सुदर्शन सेठ को मुस्कराते देख उसने समझा कि 'बर्फ पिघल रही है, अब यह मेरी कामना पूरी कर देगा। डर के आगे, मार के आगे भूत भी भाग जाते हैं।'

सेठ सुदर्शन ने कपट से कपट को काटने के लिए मुस्कराते हुए एक कदम कपिला की तरफ बढ़ाया और बोला—“आप अति सुन्दर हैं। शायद विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी। रंभा, मेनका-सी अप्सराएँ भी यदि आपके निकट खड़ी हों तो आपकी सुन्दरता के सामने मात खा जाएँ। दासियाँ लगेंगी वे आपकी। मानव तो क्या, देवता भी एक बार आपके रूप-सौन्दर्य को देख लें तो ललचाए बिना न रहें। इतना होने पर भी मैं तो आपके किसी काम का नहीं। मैं पौरुषहीन हूँ, नपुंसक हूँ। नारी को भोगने, उससे रमण करने में असमर्थ हूँ।”

सुनते ही कपिला के मन-मस्तिष्क में सन्नाटा-सा व्याप्त हो गया। रग-रग में झन्नाटा छा गया। वह क्रोध, आवेश और लाचारी के मिले-जुले भावों के साथ जोर से चिल्लाकर कह उठी—“जाओ यहाँ से, निकल जाओ तुरन्त, पीछे मुड़कर भी मेरी तरफ देखना मत।”

यही सुनना चाहता था सुदर्शन। अपने कपट का यही परिणाम उसने सोचा था। रास्ता रोके हुए थी इतनी देर कपिला पर अब वह हट गई वहाँ से। सुदर्शन गंभीरता लाते हुए निकला घर से, उस भवन से, उस वासना की लावाग्नि रूप लाक्षागृह से बाहर। तभी उसे सुनाई पड़ा, कपिला कह रही थी—“सेठ ! भूलकर भी इस घटना का जिक्र किसी के समक्ष मत करना।”

“ठीक है पर आप भी इसका ध्यान रखना। मैं क्या हूँ ?—यह जो आप जानती हैं, किसी अन्य से मत कहना। जैसी आपकी प्रतिष्ठा, वैसी ही मेरी प्रतिष्ठा को जानना।”

सेठ स्थिर गति से पंच-परमेष्ठी का स्मरण करते हुए घर आ गया।

उसने घर आते ही यह संकल्प लिया कि 'आज के पश्चात् किसी गृहस्थ के घर बिना वहाँ की स्थिति की जानकारी प्राप्त किए नहीं जाऊँगा।'

वह सोच रहा था कि 'गृहस्थ धर्म पालन करते हुए मैं उस दिन को धन्य मानूँगा, जिस दिन गृहस्थी और संसार के संबंधों से विरक्त बन संयम के पथ पर चरण बढ़ा सकूँगा।'

बंधुओं ! किसी तरह असत्य का सहारा लेकर ही सही पर उस शीलव्रती ने अपने शील की, ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा तो कर ही ली। जो असत्य का दोष लगा उसका शुद्धिकरण प्रायश्चित्त से कर लिया।

वसन्त ऋतु आई। राज्य में वसन्तोत्सव बहुत ही धूमधाम से मनाया जाता था। वसन्तोत्सव के दिन नर-नारी, आबाल-वृद्ध नगरी के बाहर उद्यान में चले जाते थे। नगरी के भीतर कोई भी नहीं रहता था, केवल राज्य की ओर से नियुक्त पहरेदार ही पहरा देते थे।

सुदर्शन सेठ धर्मानुरागी थे अतः राजाज्ञा लेकर इन दिनों पौषध व्रत किया करते थे और अपनी पौषधशाला में रहकर धर्म-जागरण में समय व्यतीत करते थे। उनकी पत्नी मनोरमा रथ में सवार होकर जाती थी तथा उसके चारों पुत्र अश्वारूढ़ बन पालकी के चारों तरफ चला करते थे।

इस बार मनोरमा व उसके पुत्र आए। रानी अभया ने दूर से सेठानी का रथ व उसके पुत्रों को देखा। रानी के साथ पुरोहित-पत्नी कपिला थी। कपिला के पूछने पर रानी ने संकेत करते हुए बताया—“उस रथ में सेठ सुदर्शन की पत्नी है और ये अश्व पर सवार सुदर्शन के चार सुन्दर युवा पुत्र हैं।”

रानी का कथन सुनकर कपिला हँस पड़ी। रानी ने हँसने का कारण पूछा। कपिला ने कहा—“ये पुत्र इस सुन्दरी सेठानी के भले ही हों पर सेठजी के नहीं हैं। वह सेठ तो पुरुषों में है ही नहीं, पौरुषहीन है वह।”

कपिला यह कहते हुए कुछ उत्तेजित बन गई। रानी अभया उसके चेहरे को पढ़ रही थी। गंभीर होकर रानी ने पूछा—“तुम यह कैसे जानती हो?”

बंधुओं ! क्या बताती वह और कैसे बताती ? चुप रह गई। रानी ने फिर पूछा तो कपिला बोली—“बस यही मत पूछिये, हम तो हम ही हैं, हमें किस बात का पता नहीं है?”

रानी ने उसे बहलाया, इस पर भी कपिला बताने को तत्पर नहीं हुई तो उसे धमकाया। अभया रानी की धमकी से डरकर पुरोहित पत्नी ने सारी घटना उसे सुना दी।

घटना सुनकर रानी को हँसी आ गई। वह समझ गई कि सेठ ने किसी तरह अपने को बचाया है और इसे मूर्ख बनाया है। उसने कपिला से कहा—“तू मूर्खा है। सेठ ने तुझे झूठ बोलकर ठग लिया है। तुम भी धोखा खा गई। न तो सेठ पौरुषहीन है और न मनोरमा

दुश्चरित्र। तुम देख नहीं रही इन चारों बच्चों की आकृति ? अपने पिता की आकृति से कितनी मिल रही है ?”

बंधुओं ! सुन रहे हैं जयमल जी यह प्रसंग, आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के श्रीमुख से। मानव-मन की विचित्रताओं और नारी हृदय के रहस्यों की अनेक परतें स्पष्ट होती जा रही हैं उनके मन-मानस में। उत्सुकता बनी हुई है कि क्या होता है आगे ? सेठ सुदर्शन की चालाकी और परस्त्री के प्रति विवर्जन की उसकी भावना ने जयमल जी के हृदय को प्रभावित किया है। वे ध्यान से आगे का कथा-भाग सुनने लगते हैं—

रानीजी की बात सुनकर कपिला कहती है—“ठीक है, मैं तो मूर्ख बनी और ठगी गई, पर यह तो स्पष्ट ही है कि श्रेष्ठी सुदर्शन को कोई भी स्त्री वश में नहीं कर सकती, उसे विचलित नहीं कर सकती।”

रानी अभया ने कहा—“नहीं, मैं यह नहीं मानती। चतुर नारी अपनी सुन्दरता, भाव-भंगिमा और मोहाकर्षण में कैसे भी चतुर से चतुर मनुष्य को उलझा सकती है। नारी के चरित्र में क्या कुछ अच्छाई-बुराई है, इसे बेचारा आदमी तो क्या, देवता भी नहीं जान सकते।”

बंधुओं ! संस्कृत में एक कहावत पढ़ी है—“**पुरुषस्य भाग्यं, त्रिया चरित्रं, देवो न जानाति कुतो मनुष्याः।**” आप पुरुष हैं और इधर ये देवियाँ बैठी हैं। आप अपने आप को इस कहावत पर तौलने का प्रयत्न कीजिए। अपने अनुभव से इसकी सत्यता-असत्यता की परख कीजिए। वैसे मैं तो केवल यह बता सकता हूँ कि कथा-साहित्य और आगम-साहित्य में भी इस कथन की सत्यता के प्रमाण हैं।

आचार्य श्री भूधर जी म. सा. प्रवचन सभा में सेठ सुदर्शन की यह कथा सुना रहे हैं और जयमल जी बहुत ही ध्यान से एकचित्त बन इस प्रसंग को सुन रहे हैं।

रानी का कथन सुनकर कपिला ने कहा—“शायद आप ठीक ही कहती होंगी पर मैं यह तो सम्पूर्ण विश्वास के साथ कहूँगी कि सेठ सुदर्शन के विषय में नारी-चरित्र संबंधी सारे कथन व्यर्थ सिद्ध हो सकते हैं।”

कपिला की यह बात रानी को अखर गई। उसका अन्दर का त्रिया-चरित्र शब्दों के आकार में प्रकट होने के लिए मचल उठा। उसने कह दिया—“यह बात है तो मैं तुम्हें बतलाऊँगी कि नारी-चरित्र क्या है ? अगले वसन्तोत्सव तक सेठ सुदर्शन नारी-आकर्षण में विमोहित बनकर रहेगा।”

कपिला सुनकर प्रसन्न हुई। अच्छा लगा उसे कि मेरी कमजोरी से अब मुझे डरने की जरूरत नहीं रहेगी। स्वयं रानी साहिबा की कमजोरी मेरे पास उजागर हो चुकी है।

उधर जयमल जी कथा सुनकर चिन्तन में उतर गये। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि कपिला ने यह कैसा खेल खेला है? स्वयं वह सुदर्शन को नहीं पिघला सकी, यह बात उजागर हो गई तो उसने रानी अभया की भावनाओं को भड़का दिया। स्वयं प्राप्त नहीं कर सकी सुदर्शन को तो मनोरमा को दुश्चरित्र मान लिया। काम-वासना और विषय-भोगी जीव अपनी तरह अन्यान्य को भी उसी में फँसाना-फाँसना चाहते हैं।

रानी अभया वर्षभर योजनाएँ बनाती रही और उन पर विचार करती रही। इस अवधि में उसने अपने विश्वासपात्र सेवकों को महल के ऐसे स्थलों पर लगवा दिया जो महल तक पहुँचने के रास्तों में आते थे। स्वयं को रुग्ण बताकर, कामदेव की पूजा के बहाने पालकी में, पर्दों के भीतर नित्य कामदेव की एक आदमकद मूर्ति उद्यान से महलों में मँगावाती व तीन घंटे बाद पुनः भिजवाती।

वर्षभर बाद पुनः वसन्तोत्सव आया। रानी भी गई वसन्तोत्सव मनाने नगरी के बाहर उद्यान में। कुछ देर रुकी होगी वह और पेट दर्द, तीव्र पीड़ा का बहाना बनाया। राजा को बताया गया कि कामदेव की पूजा नहीं की, यही कारण हो सकता है। रानी को पुनः महलों में भेज दिया गया। रानी ने तुरंत योजना के अनुसार पालकी श्रेष्ठी सुदर्शन की पौषधशाला में भिजवाई। रानी के सेवक ध्यानस्थ सुदर्शन को महलों में ले आए।

इधर रानी ने अपना पूर्ण श्रृंगार किया। सजधजकर तैयार हो जाने पर उसने सेठ को ध्यान से बाहर लाने का आदेश दिया। सेठ जब ध्यान से बाहर आये तो रानी अभया ने अपना वाणी विलास प्रारंभ किया। सेठ को कामासक्त बनाने के लिए उसने बंकिम एवं विलासी भंगिमा बनाकर विभिन्न काम-मुद्राओं से अपनी ओर आकर्षित करना चाहा। उसने उससे इस मिलन को दोनों का सौभाग्य बताते हुए तन की प्यास बुझाने का संकेत किया। रानी ने कहा—“यदि तुम मेरी बात मान लेते हो तो मैं तुम्हें निहाल कर दूँगी। तुम आजीवन सुख पाओगे। राजा की कृपा हर पल तुम पर बनी रहेगी।”

सुदर्शन सारी स्थिति समझ गया। वह चकित था कि राजरानी को यह क्या हो गया है? उसने समझ लिया कि उपसर्ग विकट है। वह मौन, ध्यानलीन बनकर विकट उपसर्ग से निकलने का उपाय सोचने लगा।

उसे मौन देख कामासक्त रानी अभया ने अपना आँचल खिसकाकर गिरा दिया और कहा—“यह देव-दुर्लभ नारी-सौन्दर्य आज तुम्हारे संसर्ग का अभिलाषी है। तुम यदि यह

सोचते हो कि मेरे मोह-जाल से बच सकोगे तो यह किसी भी तरह संभव नहीं है। अतः तुम्हारे वज्र-पुरुषत्व को एकाकार बनाओ।”

सुदर्शन ने ध्यान पूर्ण कर अपनी आँखें खोलीं और बोला—“राजमाता अभया को यह श्रेष्ठी सुदर्शन अपनी माता के समान मानता है। इस पुत्र को आप जो भी पुत्रोचित आदेश दें, मैं पालन के लिए सदैव तत्पर हूँ पर आपका यह आदेश, आपकी यह कामना-पूर्ति इस सुदर्शन के वश की बात नहीं है। आप जानती हैं कि मैं पौषधव्रत में हूँ। वैसे भी मैं श्रावक-व्रती हूँ अतः स्वपत्नी-व्रतधारक हूँ। मुझे क्षमा करें।”

रानी अभया तो विषयोन्मत्त बनी हुई थी। सुदर्शन का कथन उसके मद को ठोकर मारने जैसा था। सत्ता-सम्पन्न थी वह। बिफर गई, क्रोध का उफान आ गया वहाँ। बोली—“ये सारे बहाने मेरे समक्ष नहीं चलेंगे। सीधी तरह मान जाओ मेरी बात, वरना जीवनभर पछताना पड़ेगा। मानोगे मेरी बात तो मैं राजा को विष देकर मार दूँगी और तुम्हें राजा बना दूँगी।”

रानी ने सोचा धमकी असर कर जायेगी, नहीं तो प्रलोभन तो अपना काम करेगा ही। कम नहीं था प्रलोभन। राज्य का राजा बनाने की बात थी पर सेठ तो दृढ़व्रती एवं महान् आत्मशक्ति-सम्पन्न था। उसने सोचा—‘धन्य है इस त्रिया-चरित्र को। आज राजा को विष दे रही है कल मुझे भी मार सकती है।’ वह बोला—“राजमाता ! मेरा व्रत अटल है। मैं अपने व्रतों की मर्यादा किसी भी कीमत पर नहीं तोड़ सकता।”

सुदर्शन की वाणी में जो दृढ़ता थी उससे कुछ पलों के लिए रानी असमंजस में पड़ गई। उसने सोचा—‘यह तो बुरा हुआ। बात बाहर चली गई तो मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिल जायेगी। कपिला की चुनौती का क्या होगा ? मुझे मुँह नीचा करना पड़ेगा। राजा तक बात गई तो मौत निश्चित है। बड़ा ही भयानक परिणाम सामने आयेगा।’

रानी ने अपना अंतिम अस्त्र काम में लेते हुए सुदर्शन से कहा—“घायल शेरनी कभी अपने शिकार को नहीं छोड़ती। लगता है तुम मरना ही चाहते हो। अभी भी समय है। मेरी बात मान जाओ। असमय ही अपनी मौत को आमंत्रण मत दो।”

सुदर्शन चुप रहा। वह समझ गया कि रानी क्या करने वाली है ? नवकार मंत्र का स्मरण कर उसने उपसर्ग नहीं मिटने तक सागारी संथारा ग्रहण कर लिया और ध्यान में स्थित हो पंच-परमेष्ठी का स्मरण करने लगा।

रानी विवश थी। सेठ को बदनाम कर उस पर झूठा आरोप लगाने के अतिरिक्त अपने बचाव का उसे कोई अन्य उपाय नहीं दिखाई दिया। उसने अपने बाल बिखेर लिए,

कपड़े फाड़ लिए, शरीर को कई स्थानों पर अपने ही नाखूनों से खरोंच लिया और चिल्लाई—
“अरे कोई है, मेरी रक्षा करो, मेरी लाज बचाओ, यह दुष्ट मेरा शील भंग करना चाहता है।
पकड़ो इस पापी को।”

आए सैनिक पर सेठ को ध्यानलीन देख उसे पकड़ने का साहस नहीं कर सके।
रानी ने धमकाया, डराया, मौत की सजा का भय दिखाया। विवश सैनिकों को पकड़ना पड़ा
उन्हें।

सुदर्शन पकड़ लिया गया। उसे बन्दी बनाकर राज्य के कारागृह में डाल दिया। वह रात्रि
व्यतीत हुई। दूसरे दिन राज-दरबार में लाया गया सुदर्शन को। सेठ सुदर्शन को इस तरह
बन्दी बनाया गया देख सभी सभासद कानाफूसी करने लगे। रानी ने राजा को पहले ही झूठे
आँसू बहाकर, नाटकीय अंदाज में पूरी तरह बहका दिया था। उस पर अभियोग लगाया
गया। राजा ने सुदर्शन से पूछा—“बोलो, सच क्या है? क्यों आए तुम महलों में?”

बंधुओं! राजा मन में यह तो जानता ही होगा कि सुदर्शन ऐसा नहीं कर सकता। पर प्रश्न
तो रानी अभया का था? यदि सुदर्शन ऐसा नहीं कर सकता तो बात क्या है? राजा जानने
का इच्छुक था।

उधर सुदर्शन सोच रहा था कि ‘यह बड़ी विकट परिस्थिति है। यदि मैं सच कहूँगा तो न
राजा मानेंगे, न सभासद मानेंगे और न प्रजा मानेंगी। सभी मुझे ही असत्यभाषी कहेंगे।
घटनाक्रम में रानी की करतूतों को सुन राजा भी क्रोधित ही होगा।’ वह चुप्पी साध गया।

राजा ने सुदर्शन को दोषी मानकर शूली पर चढ़ाने की सजा दी।

नगरी के लोग तरह-तरह की बातें करने लगे। कुछ ने सुदर्शन को ढोंगी धर्मात्मा और
मायाचारी कहा तो कुछ ने दबे स्वरों में उसे निर्दोष मानते हुए कहा—“कहीं न कहीं घोटाला
है पर दाल में काला कहाँ है, यह कैसे मालूम किया जाए?” कुछ ने राजा के निर्णय को
पक्षपातपूर्ण बताया। जितने मुँह उतनी बातें।

उधर श्रेष्ठी की सहधर्मिणी मनोरमा व उसके पुत्रों ने भी सारी घटना और राजा के
फैसले को सुना पर सभी शांत रहे। दौड़-भाग नहीं की। सिफारिश नहीं पहुँचाई राजा के
पास। अपितु स्वयं सेठानी ने व उसके चारों पुत्रों ने भी सागारी संथारा ले लिया। वे सब भी
पंच-परमेष्ठी के ध्यान में लग गये। कल्पना कीजिए आज के जमाने में ऐसी घटना घटित
हुई होती तो पत्नी और बच्चे किस-किस देवी-देवता की मनौती नहीं मानते, नोटों के
ब्रीफकेस लिए कहाँ-कहाँ नहीं घूमते?

बंधुओं ! आचार्यश्री ने उपस्थित जनसमूह को बताया कि उधर सुदर्शन को शूली पर चढ़ाया गया इधर सिंहासन पर बैठने से पूर्व “नमो बंधयारिं” कहकर ब्रह्मचर्य व्रतधारियों को नमन करने वाले देवेन्द्र का सिंहासन एक शीलव्रती पर आए घोर संकट से चलायमान हो गया। “धर्मो रक्षति रक्षितः”। देवेन्द्र ने अवधिज्ञान से पता लगाया और देवमाया से शूली को सिंहासन में बदल दिया।

बंधुओं ! शूली स्थल के चारों ओर उमड़े हुए जन सैलाब की आँखें एक क्षण के लिए चूंधिया गईं। दूसरे ही क्षण आँखें खुलीं तो आकाश में तीव्र प्रकाश-पुञ्ज देखा गया। शूली सुनहरे बादलों से दिखाई नहीं दे रही थी। बादल हटे तो शूली की नोंक पर रत्नजड़ित स्वर्ण-सिंहासन था और उस पर आसीन था सुदर्शन सेठ। आकाश से पुष्पों की वृष्टि हुई। देवों ने देवदुन्दुभि बजाते हुए घोष किया—“अहो शीलं ! अहो शीलं !!” आकाशवाणी हुई—“श्रेष्ठी सुदर्शन निर्दोष हैं।” जनसमूह ने सुदर्शन की जय-जयकार की। कल जो उसे मायाचारी, धर्म का ढोंगी कह रहे थे, वे ही अब कहने लगे—“हमने तो पहले ही कहा था, सेठ ऐसा नहीं है।” राजा ने सुना यह तो दौड़ता हुआ पहुँचा वहाँ। उसने सुदर्शन से क्षमायाचना की और नगरी में चलने के लिए कहा।

सुदर्शन ने शर्त रखी—“रानी अभया और उसकी दासी को माफ करने की। किसी को भी इस घटना के लिए सजा नहीं देने की।” राजा ने इसे स्वीकार किया, यद्यपि यह बात उसकी कल्पना से परे थी। नगरी में प्रवेश करने पर ज्ञात हुआ कि रानी अभया ने महल की छत से गिरकर आत्महत्या कर ली है।

मनोरमा व उसके पुत्रों ने सुना। वस्तुतः पत्नी व पुत्रों की शुभ कामनाओं, उनके धैर्य, उनके पंच-परमेष्ठी स्मरण ने पति-रक्षा में पूर्ण सहयोग दिया। सेठ ने जहाँ धर्म पर दृढ़ रहकर, जान की बाजी लगाकर शील और सदाचार की दिव्य-ज्योति जलाई, वहीं सेठानी ने हृदय की अनंत आस्थाओं के साथ पति-कल्याण की कामना का घृत डालकर उस ज्योति को प्रज्वलित, प्रदीप्त किया।

श्रावकोत्तम, दृढ़ शीलव्रती सुदर्शन सेठ ने कई वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन करते हुए उच्चतम सामाजिक प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा एवं गौरव के साथ आनंदमय जीवन व्यतीत किया।

कालान्तर में धर्मघोष आचार्य चम्पानगरी पधारे। सेठ सुदर्शन ने उनका प्रवचनामृत सुना। संसार की समस्त जिम्मेदारियाँ पुत्रों को सौंप वे श्रमण धर्म अंगीकार कर संयम-पथ के

पथिक बन गए। शुद्ध निरतिचार संयम का पालन कर सम्यक् प्रकार से ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना द्वारा आत्मा को भावित बना सुदर्शन मुनि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

बंधुओं ! मेड़ता के स्थानक में यह प्रसंग आचार्य श्री भूधर जी सुना रहे थे और श्रोतागण तथा जयमल जी सुन रहे थे। यहाँ आप सभी सुन रहे हैं। सुनना केवल सुनने तक ही सीमित रह जाये तो वह सुनना पूर्णरूपेण फलदायी नहीं होता। सुनकर मनन-चिन्तन द्वारा बात अन्तर् में उतरे, जीवन-व्यवहार में झलके तो सुनना-सुनाना सफल है। जीवन में यदि परिवर्तन आता है कुछ, तो सुनने का आनंद कुछ और है। पर वह परिवर्तन सब में आ नहीं पाता। हजारों-लाखों में विरला कोई एक ऐसा महाभाग्यशाली होता है। आचार्य श्री भूधर जी की सभा में ऐसे महाभाग्यशाली थे जयमल जी।

□ जय-चिन्तन : 'यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन किया जाए तो ?'

जयमल जी ने सुनी ब्रह्मचर्य की महत्ता, सुनी सेठ सुदर्शन की शील प्रभाव की कथा। सोचने लगे—'स्व-स्त्री की मर्यादा में रहकर पर-स्त्री के प्रलोभन और धमकियों से अविचलित व्यक्ति के ब्रह्मचर्य-पालन की दृढ़ता से शूली का सिंहासन बन गया !

आंशिक त्याग-प्रत्याख्यान की मर्यादा में रहने का भी ऐसा श्रेष्ठ फल है तो फिर संपूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालन का फल तो निश्चय ही अष्ट कर्मों की शूली को मुक्ति का सिंहासन बना देगा।'

□ दृढ़ आस्था प्रथम प्रवचन में ही

बंधुओं ! अति दुर्लभ है यह मानव-जीवन, मनुष्य-देही, नर-भव ! उससे भी दुर्लभ है मानव बनकर श्रुतवाणी का संयोग प्राप्त करना। ये दोनों मिल जाएँ यदि, जैसे कि आपको मिल गया है मानव-भव भी और श्रुतवाणी संयोग भी, पर उस यथार्थ वाणी पर पूर्ण प्रतीति, दृढ़ आस्था, समर्पित श्रद्धा महादुर्लभ है। इन सबकी प्राप्ति हो जाए तो दुर्लभातिदुर्लभ है—संयम में पराक्रम फोड़ना। धन्य हैं जयमल जी, जिन्हें प्रथम श्रुतवाणी-श्रवण के संयोग से ही अन्तर् में दृढ़ आस्था उत्पन्न हो गई।

□ आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन का संकल्प माँगा जय ने

जयमल जी गहन चिन्तन में उतर गए—'यदि मैं सम्पूर्ण रूप से जीवनभर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर स्व-स्त्री का भी त्याग कर दूँ तो निश्चय ही इस शूली को तो क्या, आठ-आठ कर्म शूलों को हमेशा के लिए मिटाकर मोक्षरूपी सिंहासन प्राप्त कर सकता हूँ।'

चिन्तन और मनन के मंथन से मक्खन निकल आया था। वह बाईस वर्षीय नवयुवक उन सैकड़ों नर-नारियों की सभा के मध्य खड़ा हो करबद्ध कह उठा—“गुरुदेव ! मैं आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ। कृपया, मुझे संकल्प करवा दीजिए।”

□ सभी चकित बन गए

आचार्य श्री भूधर जी म. सा. की नजरें उस युवक पर ठहर गईं, सभी संतों ने उस जागृतात्मा को निहारा, नर-नारी समूह की नजरों में भी उसी युवक की छवि का प्रतिबिम्ब बना हुआ था। सभी चकित—“यह अवस्था और ब्रह्मचर्य ? जीवनभर के लिये ! मर्यादित नहीं, अखंडित ! कैसा दुष्कर संकल्प ? अब इसे कौन समझाए कि यह असिधारा व्रत है। सरल है तलवार की धार पर चलना, पर कठिन है ब्रह्मचर्य पालना।” अनेक लोग, अनेक चिन्तन।

□ आचार्यश्री से निवेदन : संकल्प न दिलाएँ

किसी ने निकट बैठे व्यक्ति से कहा—“है कौन यह ? किसका पुत्र है ? कहाँ का रहने वाला है ?”

दूसरे ने तभी कहा—“इस आयु में ऐसे संकल्प ग्रहण कराने से पूर्व माता-पिता की अनुमति लेनी चाहिए।”

तीसरे ने कहा—“आकर्षक युवक है, अब तक शादी हो चुकी होगी। विवाहित है, तो पत्नी की भी अनुमति होनी चाहिए।”

कुछ श्रोताओं ने आचार्य श्री भूधर जी म. सा. से निवेदन किया कि इस युवक को ब्रह्मचर्य का संकल्प न दिलाएँ। ये लांबिया के कामदार मोहनदास जी मेहता के नवविवाहित पुत्र हैं। रीयां कामदार शिवकरण जी मेहता की पुत्री से इनका विवाह हुआ है। अभी मुकलावा भी नहीं हुआ है। छह माह ही हुए हैं शादी किए। भावुकता में खड़े हो गए हैं ये।

□ जय का दृढ़ संकल्प ग्रहण

सुन रहा था युवक जयमल। जिसका नाम ही जय हो वह भला इन टीका-टिप्पणी करने वालों से क्या हारता ? उसकी धीर-गम्भीर गर्जना सभी ने सुनी—“मैं अपनी आत्मा के हितार्थ अरिहंत, सिद्ध, भगवंत एवं गुरुदेवों की साक्षी से यह संकल्प लेता हूँ कि आज से संसार में मुझसे बड़ी स्त्रियाँ मेरे लिए मातृवत् हैं और समान वय वाली अथवा आयु में छोटी युवा-बाला स्त्री-कन्याएँ मेरे लिए भगिनीवत् हैं। मेरी स्वयं की विवाहिता भी इनमें सम्मिलित है। मेरा

यह अटल संकल्प है और अन्तर् को पूर्ण अवलोकन कर मैंने यह कुशील त्याग का संकल्प देव-गुरु-धर्म एवं श्रीसंघ के समक्ष ग्रहण किया है।”

दुष्कर, अतिदुष्कर माना गया है ब्रह्मचर्य पालन, कामभोग पर नियंत्रण, वासना पर अंकुश। बाह्य दृष्टिगोचर होने वाले सहस्रों शत्रुओं पर विजय पाना सरल है, पर अपने अन्तर् में पल रहे शत्रुओं को जीतना, आस्तीन में पल रहे साँपों के जहरीले दाँत तोड़ना आसान नहीं।

जो आसान नहीं उसे भी जो आसान बना दे, उसी में जीवन की जय है, विजय है।

जयमल जी ने कुशील पर, मैथुन पर, अब्रह्म पर विजय प्राप्त कर अपने जय नाम को यहाँ भी सार्थक सिद्ध किया।

□ भोग पर योग ने विजय पाई

बंधुओं! मात्र बाईस वर्ष की आयु। यौवन का छलछलाता हुआ लबालब भरा जाम। राग-रंग में डूबने के मधुमास जैसा समय। कामभोगों में रमण के लिए झूमता, लहराता, इठलाता सागर की उत्ताल तरंगों-सा वह जीवन का चढ़ाव। विवाहित पत्नी द्विरागमन के लिए जिनकी अपलक प्रतीक्षारत। कितने रंग-बिरंगे मादक स्वप्न उस नव-विवाहिता अक्षत नवयौवना की आँखों में ! इधर समान वय वाले मित्रों के मध्य अब तक आयु के एक-एक अंश निर्बाध व्यतीत कर रहे, सामान की खरीददारी को आए हुए और कुछ ही दिनों बाद प्रतीक्षारत पत्नी को लिवा लाने के लिए श्वसुर गृह जाने को तत्पर, लेकिन वाह रे श्रुतवाणी-संयोग ! वाह रे जिनवाणी का हृदय-तत्त्व-स्पर्श ! सब कुछ परिवर्तित । भोग पर योग की विजय ! भौतिकता पर अध्यात्म की विजय !

□ मित्र जय को घर ले जाना चाहते थे

मित्रों को आशा नहीं थी कि इस तरह यह सब अचानक घटित हो जायेगा। प्रत्याख्यान मुनिराज ने नहीं दिलाए थे, अतः वे सब सोच रहे थे कि दूध का उफान है, जो उतर जायेगा। अब वे उस 'जय' को वहाँ से हटाने, अपने साथ ले जाने के लिए उतावले बन रहे थे। वह स्थानक से बाहर उनके साथ चले तो कुछ बात बने। व्याख्यान समाप्त हुआ, सामूहिक प्रत्याख्यान हुए, सामूहिक वन्दना हुई और पूज्य क्षमाश्रमण आचार्य श्री भूधर जी म. सा. ने सभी का मंगल हो, एतदर्थ मंगल-पाठ सुनाया। मंगल-पाठ सुन सभी श्रोता अपने-अपने घर जाने लगे। एक मित्र ने जय से कहा—“चलो अब यहाँ से। चलकर खरीददारी करनी है, फिर लाम्बिया के लिए प्रस्थान करना है।”

जयमल जी ने कोई जवाब नहीं दिया। उन्होंने एक बार कहने वाले की ओर नजर डाली, एक नजर शेष मित्रों पर भी डाली और मौन हो गए। काया स्थिर, वाणी पर स्वानुशासन, लेकिन मन.....! मन में चिन्तन चालू था।

□ जय घर जाना नहीं चाहता था

विचार कर रहे थे जयमल जी कि 'जिस ब्रह्मचर्य व्रत का मैंने संकल्प लिया है, घर-परिवार के मध्य रहते पूर्ण रूप से पालन नहीं हो सकता। माता महिमा दे कहेंगी—“आणा लेने जाओ।” भाभी विनयदेवी भी कहेंगी—“ससुराल जाकर बहू को ले आओ।” कैसे होगा यह सब? अब जब मुझे आजीवन त्रिकरण व त्रियोग से ब्रह्मचारी रहना है तो घर जाकर क्या करना। नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन तो तभी हो सकेगा, जब मैं सदैव इन्हीं धर्म-पथ-प्रदर्शक, आत्म-जागृति देने वाले गुरुदेव के पास रहूँ।’

□ मैंने तो खरीददारी कर ली है

तभी मित्र सूरतराम ने कहा—“जय ! सोच क्या रहे हो ? चलना नहीं बाजार ? माल नहीं खरीदना ? देरी हो जायेगी।”

इस पर जयमल जी ने कहा—“मित्रों ! मैंने तो माल खरीद लिया है। आज मेरे लिए यह धर्मस्थानक बाजार बन गया, गुरुदेव दुकानदार बन गए और मैं बन गया इनका ग्राहक। जिस आत्मोद्धारक माल की खरीददारी आज मैंने की है, उसे खरीदने के पश्चात् अन्य किसी माल की मुझे जरूरत नहीं है। तुम सभी जाओ, खरीददारी करो।”

एक अन्य मित्र ने पूछ लिया—“फिर तुम क्या करोगे यहाँ?”

जयमल जी ने कहा—“मैं गुरुदेव और मुनिमंडल के पास बैठकर ज्ञान-चर्चा करूँगा।”

□ “मैं मुनि बनूँगा”—कह दिया जय ने

इस बात को सुनकर सूरतराम ने कहा—“यह नहीं होगा ! तुम हमारे साथ माल खरीदने आए हो। तुम्हारे बिना हम भी माल नहीं खरीदेंगे। चलो लाम्बिया चलते हैं, उठो अब यहाँ से। घर तो चलोगे न ?”

जयमल जी ने तब दृढ़ता से कहा—“मेरा घर अब यहीं, इन्हीं गुरुदेवश्री के पास है। तुम सभी लाम्बिया चले जाओ। मेरे भाव घर चलने के नहीं हैं।”

इस पर सभी चकित बन गए। सूरतराम ने कहा—“क्या बहकी-बहकी बातें कर रहा है, घर तो चलना ही पड़ेगा न ? माता-पिता, भाई-भाभी सभी तो प्रतीक्षा कर रहे होंगे तुम्हारी। फिर तुम्हें वहाँ से ससुराल भी तो जाना है।”

जयमल जी ने सोचा कि 'यदि लाम्बिया चला गया इनके साथ तो मामला लम्बा हो जायेगा। वे जानते थे कि वहाँ माँ की ममता, पिता का प्यार, भाई-भाभी का स्नेह मेरे आत्म-कल्याण के मार्ग में बाधक बन जायेगा। संयम-पथ पर अग्रसर होने में सभी अवरोध पैदा करेंगे।'

गम्भीरता से जयमल जी ने कहा—“मित्रों ! मेरे भाव ऊर्ध्वगामी हैं। अभी मैंने स्त्री मात्र के प्रति राग भाव को त्यागा है। अब मैं समस्त सांसारिक बंधनों को त्यागना चाहता हूँ। मेरे मन में संसार के प्रति विरक्ति हो गई है। मैंने इन गुरुदेव की तरह मुनि बनकर आत्मरमण करते हुए आत्मोद्धार करने का निश्चय किया है। मैं अब यहीं रहूँगा। तुम जाओ।”

□ मित्र स्तब्ध ! परिवार में खलबली !!

स्तब्ध रह गए मित्रगण ! उनके तो जैसे होश ही उड़ गये। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। सभी एक-दूसरे को देखने लगे। घबराहट होनी स्वाभाविक थी। तभी सूरतराम ने सँभलकर अपने मित्रों से कहा—“तुम सभी यहीं ठहरो, मैं लाम्बिया जाकर सूचना देता हूँ।”

तीव्र गति से दौड़ने वाली ऊँटनी पर सवार हो, उसे दौड़ाते हुए सूरतराम चला लाम्बिया की ओर।

लाम्बिया पहुँचते ही सूरतराम ने कामदार मोहनदास जी को जो कुछ मेड़ता में घटा, विस्तार से कह सुनाया। मेड़ता से उसे अकेला आया देख रिडमल भी दुकान छोड़ (बढ़ाकर) घर आ गया। महिमादेवी ने भी कुछ अनहोनी अनुभव कर कान खड़े कर दिए। मिनटों में नहीं कहना चाहिए, सैकण्डों में बात गाँवभर में फैल गई।

तुरन्त रथ व बैलगाड़ियाँ जोते गए। मोहनदास जी, महिमादेवी, रिडमल जी व विनयदेवी चल दिए मेड़ता के लिए। एक सन्देशवाहक सवार के साथ शेरसिंह जी की रीयाँ भी सन्देश भेज दिया, जिससे शिवकरण जी लांछादे आदि परिजनों को साथ लेकर मेड़ता पहुँच जाएँ।

□ इधर अकेला जय, उधर छह महारथी

पहुँचे सभी मेड़ता। एक तरफ अकेला जय और दूसरी तरफ अनेक महारथी, जागतिक संघर्षों के अनुभवी दुर्द्धर्ष योद्धा। जय इस संसार के मोह-माया रूप पाल के उस पार जाने का इच्छुक था, ममत्व के घेरे से निकलने का अभिलाषी था, जबकि मोहनदास जी, महिमादेवी, रिडमल, विनयदेवी, शिवकरण जी आदि उसे संसार की मोह-माया कीचड़ में ही रखना चाह रहे थे। किसी ने जय को उसकी जवानी का वास्ता दिया और लांछादे पत्नी की याद

दिला मुकलावे की बात कही तो किसी ने माता-पिता के प्रति कर्तव्यों का लम्बा-चौड़ा वास्ता दिया, नारी के अमोघ-अस्त्र अँसुअन-धार का प्रहार भी किया गया।

□ जिया कब तक उलझेगा, संकल्प-विकल्पों में

प्रबल होता है मोह, सर्वाधिक ममत्व में उलझाने वाला होता है मोहनीय, पर उनके लिए जो संकल्प-विकल्पों में उलझे रहते हैं, दृढ़ आत्म-बल नहीं होता जिनका। व्यक्ति एक बार संकल्प से विकल्प में गया तो समझ लीजिए वह मोह-माया के झंझावात में उलझ गया।

जयमल संकल्प के धनी, धुन के पक्के और दृढ़ आत्मबली थे। उनके चिन्तन ने उन्हें संसार की असारता, जीवन की क्षणभंगुरता और पर्यायों (पदार्थों) की नश्वरता का ज्ञान दे दिया था। जिन-जिन पारिवारिक महारथियों ने उनको संयम लेने के संकल्प से विचलित करना चाहा, उन सभी को एक-एक कर अपने अकाट्य तर्कों से एवं यथार्थ का भान दिलाकर शांत बना दिया। सभी अवाक् तो बन गए; फिर भी उन सबका ऐसा मोह था जयमल के प्रति कि वे दीक्षा की अनुमति देने को तैयार नहीं हुए।

□ थारो जाइजो रे सितियानाश : आखे नी अठियानाश

माता महिमादेवी के ममत्व ने भूधर जी म. सा. जैसे आत्मार्थी संत को भी हल्के शब्दों से सम्बोधित करने पर विवश बना दिया। लेकिन वे तो थे ही आत्मार्थी क्षमाश्रमण। आशु कवि श्रुताचार्य स्वामीप्रवर गुरुदेव श्री चौथमल जी म. सा. ने प्राचीन हस्तलिखित पत्रावली के आधार पर अपनी रचना पूज्य गुणमाला में लिखा है—

जयमल जी की माता जाके, भूधर जी ने इण पर भाखे ।
थारो जाइजो रे सितियानाश, जयमल जी ने क्रोड शाबास ॥
जोवन में तजियो घर वास,
जयमल जी ने क्रोड शाबास ॥

बोल्या पूज भूधर सुण बाई ! बाकी एक रख्यो थे काई ।
आखे नी अठिया (अष्टकर्म) नाश,
जयमल जी ने क्रोड शाबास ॥ जोवन में.....

राख उड़िया ! (राकुडिया-एक मारवाड़ी अपशब्द) मिष्करा ! मोड़ा !
देतो फिरे दुनिया ने गोडा,
खोज जाइजो थारो खास ॥ जयमल जी.....

माता का मन कह रहा था कि आचार्य श्री भूधर जी ने मेरे जवान पुत्र को बहकाया है। ममत्व से बँधी माता ने पुत्र-मोह में मोहान्ध बनकर कह दिया—“मेरे पुत्र को जिसने भी बहाकाया है, दीक्षा के लिए सिखाया है, संयम लेने की पट्टी पढ़ाई है; भगवान करे उसका सत्यानाश हो जाए।”

आचार्य श्री भूधर जी ने एक माता के मुँह से निकले ये वचन सुने, तो समझ गये कि माता की ममता ने जोर मारा है। उन्होंने मुस्कराकर कहा—“बाई ! कर्म आठ होते हैं। संयम ग्रहण करने का उद्देश्य ही है इन आठों कर्मों का नाश करना। तुम आशीष ही दे रही हो तो कंजूसी क्यों कर रही हो ? एक कर्म बाकी क्यों रख दिया ? सात कर्मों के नाश (सत्यानाश) का आशीर्वाद देने के स्थान पर आठों कर्मों के नाश होने का (अठियानाश) आशीर्वाद दो, जिससे मेरी आत्मा का कल्याण हो सके।”

आचार्य श्री भूधर जी को मुस्कराते देखकर माता महिमादे के अन्तर् में आवेश आ गया। उनके द्वारा कही गई “आठ कर्मों के नाश का आशीर्वाद देने” की बात ने उनके क्रोध को और बढ़ा दिया। उन माँ ने आचार्य श्री भूधर जी म. सा. को कह दिया—“राकुड़िया ! मिस्करा ! मोड़ा ! काम ही क्या है तुम्हारा ? जहाँ जाते हो बच्चों को बरगला देते हो ? दुनियाभर की माताओं को, बच्चों के सम्बन्धियों को गोड़े देते फिरते हो अर्थात् धोखा देते रहते हो। भगवान करे तुम्हारा खोज जाए, खोज भी विशेष रूप से जाए।”

पूज्य श्री भूधर जी म. सा. ने उस अपशब्द को सुनकर कहा—“बहिन, अब तूने बहुत ही अच्छा आशीर्वाद दिया। तूने कहा—राख उड़िया ! सो बात सत्य है, पहले मुझे भी बहुत ही आवेश (क्रोध) आता था, परन्तु परमोपकारी पूज्य श्री धन्नो जी म. सा. की असीम कृपा हो गयी कि उस रीस को जलाकर राख बना दिया। फिर मन में विचार किया कि इस राख पर किसी ने अमृत छिड़क दिया, तो पुनः जीवंत हो जायेगा। इस तरह के विचार से उस राख को उड़ा दिया। अतः मैं राख उड़िया ही हूँ।

तुमने एक और नया आशीर्वाद दे दिया कि ‘खोज जाइजो’ (पैरों का निशान) खोज मिट जायेंगे, तो अच्छा होगा कर्म शत्रु पैरों के निशान से पीछा नहीं कर पायेंगे, उनकी पकड़ से दूर रहूँगा।”

इधर जयमल ने जब अनुभव किया कि इन लोगों का अप्रशस्त राग-भाव, प्रबल मोह का आकर्षण मेरी दीक्षानुमति में बाधक है तो दृढ़ता के साथ सभी को सम्बोधित कर वे कह उठे—“आप सभी अब मेरी बात सुनें। यदि आप मुझे दीक्षा की आज्ञा प्रदान नहीं करते हैं तो दीक्षानुमति के प्राप्त होने तक मैं चारों आहार का त्याग करता हूँ।”

□ मोह ने हार मानी : दीक्षानुमति प्राप्त

बंधुओं ! कैसे अडिग, अडोल थे वे दृढ़ संकल्प के धनी जयमल जी। गुरुदेव पूज्य भूधर जी ने ब्रह्मचर्य का संकल्प नहीं दिलाया तो स्वयं चतुर्विध संघ की साक्षी से संकल्पित बन गए और अब यह संकल्प ! अन्न-जल त्याग और मौन ! धन्य है उस महापुरुष को।

अंतस में एक ही चिन्तन-चक्र घूम रहा था—

किसके माता-पिता सुत नारी ? स्वार्थ की है दुनियाँ सारी।
मती करो कोई सोच, लोच की मनसा म्हारी रे.....
बड़े जयमल जसधारी ॥

जेता जीव जगत् में सारा, तात मात भाई सब प्यारा।
हुआ अनंती बार नार जिण नहीं रही न्यारी रे.....
बड़े जयमल जसधारी ॥

॥ दोहा ॥

दूजी बातें मत करो, मैं तो ले ली मौन।
'नाथ' शिष्य 'चौथू' कहे, ऐसो जग में कौन ॥

मोह हार गया बंधुओं ! वह मौन से हारा या युवा जयमल के संकल्प से हारा अथवा उसकी दृढ़ इच्छा-शक्ति के आगे हारा। कैसे हारा ? यह हमारा ध्यातव्य नहीं, बस इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि मोह हार गया। सभी पारिवारिक जन हार गए। उन्हें दीक्षानुमति देनी पड़ी। जीता 'जय' ही। जीतना उसे ही था, एक उज्ज्वल भविष्य उसकी प्रतीक्षा जो कर रहा था।

□ प्रेयार्थी से श्रेयार्थी बने

अनुमति मिली तो युवक जयमल का मन-मयूर नृत्य कर उठा। मार्गशीर्ष वदि प्रतिपदा विक्रम संवत् १७८८ का दिन था वह। आज्ञा मिलने के पश्चात् जयमल जी बन गए दीक्षार्थी। अब तक प्रेयार्थी थे, पर अब वे हो गए श्रेयार्थी।

बंधुओं ! शुक्ल चतुर्दशी की रात्रि में लाम्बिया से मेड़ता चले थे। पूर्णिमा की प्रातः प्रवचन सुन अखंड ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत ले लिया। प्रतिपदा के आधे दिन तक पारिवारिक जनों से वार्त्ता चलती रही। अन्न-जल त्याग एवं मौन के दृढ़ संकल्प को देख पारिवारिक जनों ने अनुमति दे दी तो वे आचार्य श्री भूधर जी के पास आये और बोले—“गुरुदेव ! आज्ञा

मिल चुकी है। अब तो कृपा करें मुझ पर। शीघ्र दीक्षा-मंत्र प्रदान कर इन चरणों की शरण में ले लो मुझे।”

जयमल जी ने सोचा था कि बस शीघ्रातिशीघ्र साधु वाला बाना (वेश) धारण करके दीक्षा मंत्र ले लूँगा और हो जायेगी अभी ही दीक्षा पर ऐसा सम्भव नहीं था। जिनधर्म का विधान, श्रमणाचार का कल्प दीक्षा-प्राप्ति में बाधक था। आचार्य श्री भूधर जी ने शांत पर मधुर स्वर में कहा—“वत्स ! आज तो संध्या हो गई। सूर्यास्त होने के पश्चात् प्रायः दीक्षा नहीं दी जाती है। तुम आज रात्रि में धर्म-जागरणा करते हुए समय व्यतीत करो। कल प्रातः ही निर्णय हो जायेगा।”

प्रतिक्रमण के पश्चात् धर्मचर्चा में जैनधर्म में तप-विगय, त्याग आदि चर्चा भी जयमल जी ने सुनी। प्रहर रात्रि व्यतीत होने पर अनमने से जयमल जी उठे वहाँ से। रात्रि में वहीं धर्म-चिन्तन व ध्यान में लीन रहे। दूसरे दिन अभी पूर्व दिशा में सूर्य की सुनहरी किरणों ने धरती के कण-कण को अपने स्नेहिल स्पर्श से जागृति का सन्देश दिया ही था कि जयमल जी पहुँच गए पुनः गुरु-चरणों में। बोले—“गुरुदेव ! चरण सेवक उपस्थित है, कृपया दीक्षा प्रदान करें।”

आचार्य श्री भूधर जी म. सा. ने कहा—“वत्स ! तुम्हारी भावना बहुत उत्कृष्ट है पर जिन-दीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि दीक्षार्थी दीक्षा से पूर्व श्रमण-प्रतिक्रमण सूत्र कंठस्थ करे। जब तक श्रमण-प्रतिक्रमण कंठस्थ नहीं होता, तब तक दीक्षा-मंत्र नहीं दिया जा सकता।”

जयमल जी ने पूछा—“गुरुवर ! यह सूत्र कितना बड़ा है ? कितने समय में याद किया जा सकता है ?”

आचार्य श्री भूधर जी बोले—“देवानुप्रिय ! यह सूत्र प्राकृत व हिन्दी भाषा में है। अनेक पाठ कंठस्थ करने पड़ेंगे। अनेक व्यक्ति एक-दो माह में कंठस्थ कर लेते हैं, पर यदि स्मरण-शक्ति किसी की मंद हो तो समय अधिक भी लग सकता है और कोई तीव्र स्मरण-शक्ति का धनी हो तो कम समय में भी कंठस्थ कर सकता है। हम लोग दोनों समय प्रतिक्रमण करते हैं जिसमें ४५-५० मिनट लगते हैं।”

जयमल जी खड़े थे। गुरुदेव की बात सुनकर बोले—“अच्छी बात है गुरुवर ! जब तक मुझे श्रमण-प्रतिक्रमण सूत्र कंठस्थ नहीं हो जाता, मुझे नीचे बैठने के सौगन (प्रत्याख्यान) करवा दीजिए।”

□ कैसा दृढ़ संकल्पी युवक है यह !

आचार्यश्री अचंभित हो गए जयमल जी की बात सुनकर। पूनम को पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत की भीष्म प्रतिज्ञा, एकम को दीक्षा आज्ञा न मिले तब तक अन्न-जल का त्याग व मौन व्रत का संकल्प और अब दूज को यह तीसरा संकल्प ! कैसा दृढ़ संकल्पी युवक है यह ! कोई विकल्प नहीं इसके अन्तर् में। दीक्षित बनकर अंत तक इसी तरह दृढ़-संकल्पित रहा तो निश्चय ही जिनशासन की महती प्रभावना करेगा। लगता है यह अपने कुल का, माता-पिता का, परिवार का नाम तो उज्ज्वल करेगा ही, जिनशासन को भी देदीप्यमान करेगा और स्वयं भी जिनशासन का तेजस्वी नक्षत्र बनेगा।

□ मात्र तीन घण्टे में प्रतिक्रमण कण्ठस्थ

उधर जयमल जी एक पाँव पर अप्रमत्त खड़े-खड़े श्रमण-प्रतिक्रमण के सूत्र-पाठ कंठस्थ कर रहे थे। गुरुदेव से एक पाठ लेते, कंठस्थ कर सुनाते और दूसरा पाठ ले लेते। विनीत स्वभाव, सुदृढ़ संकल्प, गुरु कृपा ऐसी बनी कि जो कार्य अनेक दिनों में भी पूर्ण नहीं होता, वह जयमल जी ने मात्र तीन घण्टे में पूर्ण कर लिया। अभूतपूर्व एकाग्रता, विचक्षण प्रतिभा और अत्यंत तीव्र स्मरण-शक्ति से केवल एक प्रहर, मात्र तीन घंटे में एक पाँव पर खड़े-खड़े उन्होंने प्रतिक्रमण कंठस्थ कर सुना दिया।

ऐसी तीव्र लगन, ऐसी चमत्कारिक स्मरण-शक्ति, ऐसी असाधारण ग्राह्य बुद्धि और धारणा शक्ति ! जिसने भी देखा, सुना वह तो चकित रह गया। सभी प्रभावित थे, आकर्षित थे उस युवक की ओर। आचार्यश्री ने निश्चय किया कि सुयोग्य पात्र है, उत्कृष्ट भाव हैं, परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन गई हैं। अतः इसे तुरन्त ही दीक्षित कर लेना चाहिए।

उन्होंने मेड़ता संघ के प्रतिनिधि श्रावकों को बुलाकर उनके समक्ष अपनी मनोकामना रख दी। 'आज ही दीक्षा सम्पन्न कर ली जाए'—सभी की इसमें सहमति थी।

शेरसिंह जी रीयां के मूथा शिवकरण जी कामदार आदि तो जा चुके थे, पर लाम्बिया वाले मेहता मोहनदास जी, महिमादेवी, रिडमल, विनयदेवी व अन्य अनेक प्रतिष्ठित ऐसे लोग जो अपने काम-धंधे से आए थे, अभी वहीं थे। उनको सन्देश भेज दिया गया।

अल्प समय में समारोह की उत्साहपूर्वक तैयारियाँ की गईं। लाम्बिया ग्राम वालों के अतिरिक्त जहाँ-जहाँ, जिन-जिन गाँवों, लोगों तक बात पहुँची, वे मेड़ता की ओर गतिमान हो गए। दीक्षा-जुलूस निकला। पूरा मेड़ता ही जैसे उस जुलूस में उमड़ पड़ा। ज्यों-ज्यों जुलूस आगे बढ़ा, लोग बढ़ते गए। आसपास के ग्रामों के लोग आते गए और जुलूस में सम्मिलित

होते गए। आगे नगाड़ा-निशान फिर ढोल-थाली, उसके बाद परम्परागत वाद्य। पुरुष वर्ग वाद्य के पीछे था। पुरुष वर्ग के मध्य सजे हुए एक रथ में दूल्हे की तरह सजाकर आत्मारथी जयमल जी को बिठाया गया। उनके स्वजन उनके निकट बैठे थे। वे सभी हाथ जोड़कर पथ के दोनों ओर खड़े लोगों का अभिवादन स्वीकार कर रहे थे। पुरुषों में गगनभेदी जयनिनाद हो रहे थे, तो औरतों में दीक्षागीत, वैराग्य-भजन गाए जा रहे थे।

□ संकल्प की दृढ़ता से मिला दीक्षा मंत्र

मेड़ता ग्राम के बाहर वट-वृक्ष के नीचे दीक्षास्थल रखा गया। जुलूस वहाँ पहुँचकर धर्मसभा में परिवर्तित हो गया। जयमल जी को एक तरफ ले जाया गया। गृहस्थी के, दीक्षार्थी वाले, दूल्हे जैसे समस्त वस्त्राभूषण उन्होंने अपने हाथ से उतारकर मुनि-वेश धारण कर लिया। शिखा रखते हुए शेष केश राशि नाई ने साफ कर दी। जलाभिषेक कर मातुश्री महिमादेवी ने उनके शीश पर कुंकुम-केसर से स्वस्तिक अंकित किया और श्वेत वस्त्रों पर केसर के कुछ छींटे डाले। जयमल जी मुनिवेश में आचार्यश्री के सम्मुख पहुँचे। आचार्यश्री एवं उपस्थित सभी संत व सतीवृंद को सविधि वन्दना की। आचार्य श्री भूधर जी ने जयमल जी के पारिवारिक लोगों की आज्ञा लेकर जयमल जी को जीवन-पर्यन्त के लिये सर्व-सावद्य-योगों के तीन करण-तीन योग से त्याग रूप प्रत्याख्यान देकर वि. सं. १७८८, मिंगसर, वदि २ को दीक्षा मंत्र प्रदान किया। यही थी जयमल जी की छोटी दीक्षा, अर्थात् सामायिक-चारित्र में प्रवेश, संयम-पथ पर प्रथम चरण। विधि सहित दीक्षा समाप्ति पर 'आचार्य श्री भूधर जी म. सा. की जय', 'नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. की जय' के निनादों से दसों दिशाएँ गूँज उठीं।

□ कर्म जंजीरों को तोड़कर प्राप्त करना मुक्तालय

दीक्षा ग्रहण करने का उनका मुख्य लक्ष्य था कर्म जंजीरों को तोड़कर मुक्तालय को प्राप्त करना, क्षणिक सुखों से मुक्त बन शाश्वत सुखों को प्राप्त करना, जन्म-जरा-मरण के दुःखों से परे होकर मोक्ष प्राप्त करना। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के मार्ग में अप्रमत्त रहने का दृढ़ संकल्प ग्रहण कर लिया। श्रमण जीवन की दहलीज पर कदम रखते ही नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. अपने स्थान पर खड़े हो गए और करबद्ध होकर बोले—“गुरुदेव ! आपकी आज्ञा मिले तो मैं आपका गुरुछत्र रहे तब तक निरन्तर एकान्तर-तप (एक दिन उपवास, एक दिन पारणा) करना चाहता हूँ तथा पारणे के दिन यदि द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी—ये पाँच बड़ी तिथियाँ

आ जाएँ तो उस दिन पारणे में पाँचों विगयों (घी, दूध, दही, तेल और मीठा) का त्याग करना चाहता हूँ।”

आचार्य श्री भूधर जी म. सा. ने उन्हें देखा। अडिग निश्चय था नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. के चेहरे पर। आचार्यश्री ने उन्हें प्रत्याख्यान करवा दिए।

लोगों के मुँह से निकल पड़ा—“धन्य हैं नवदीक्षित युवा बाल ब्रह्मचारी ये दृढ़ संकल्प के धनी मुनि श्री जयमल जी म. सा.।”

नवदीक्षित मुनिश्री के पारिवारिक जनों ने भी इस अवसर पर अपने आपको आत्मधर्म से जोड़ते हुए कुछ न कुछ प्रत्याख्यान ग्रहण किए। महाभाग्यशाली पिता श्री मोहनदास जी तथा पुण्यशालिनी महनीया माताश्री महिमादेवी ने चार स्कंध धारण किए। नवदीक्षित मुनिश्री के सांसारिक भ्राता श्री रिडमल ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। श्रीमती विनयदेवी ने भी श्राविका धर्म को धारण किया। उपस्थित श्रद्धालु भक्तों में से अनेक गुरुभक्तों ने विभिन्न प्रत्याख्यान की भेंट इस पावन अवसर पर गुरुदेवश्री के पावन-चरणों में समर्पित की।

आपको भी उस महासाधक का जीवन चरित सुनने के बाद त्याग की भेंट अर्पित करनी है। आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना है। (पाँच जोड़ों ने सपत्नीक आजीवन कुशील सेवन का त्याग कर ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया।)

वैसे मेरे जीवन की अनुभूति रही है कि जब भी उस महासाधक का स्मरण किया जाता है, उस दिन प्रवचन में शील व्रत के प्रत्याख्यान होते ही हैं। मैंने दक्षिण प्रवास के पिछले तीन वर्षों में इस अनुभूति के आधार पर करीबन २०० से अधिक शील व्रत के सजोड़े प्रत्याख्यान जय-प्रवचन के प्रभाव से दिला दिये हैं। यह सब उस युग पुरुष एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. के नाम-स्मरण, गुण-स्मरण का ही प्रभाव है। वैसे घड़ी में समय भी काफी हो गया है। आगे अवसर की अनुकूलता पर उस महनीय चर्चा चक्रवर्ती घोर तपस्वी भीष्म प्रतिज्ञाधारी एकभवावतारी के जीवन-चरित को सुनने का लाभ प्राप्त होगा।

आनन्द ही आनन्द !

इम कहे ऋषि जयमल-2

कहं नु कुज्जा सामणं, जो कामे न निवारए।
पए-पए विसीयन्तो, संकपस्स वसं गओ॥

—दशवैकालिक २/१

आत्म-बन्धुओं !

आगमकारों ने साधक को आत्म-जागृति के लिए प्रेरित करते हुए उद्बोधन दिया कि “हे साधक ! तू अपने संकल्प में तभी सुदृढ़ रह सकेगा, जब तेरे उस संकल्प में कोई अन्य विकल्प उद्भूत नहीं होगा। यदि तू संकल्प-विकल्पों में ही भटकता रहा, कामनाओं-वासनाओं में ही उलझा रहा, इच्छाओं-आकांक्षाओं का दास ही बना रहा; नहीं निवारण किया इनका, संवरण नहीं कर सका इनको तो तू श्रमणधर्म का क्या पालन कर सकेगा ?” तात्पर्य यह कि सांसारिक कामनाओं में ही यदि साधक का मन डोलता रहा तो वह साधना नहीं कर सकेगा। साधना चाहे श्रमणधर्म की हो, चाहे श्रावकधर्म की—संकल्प की दृढ़ता दोनों में आवश्यक है। संकल्प शुभ होना चाहिए। अशुभ संकल्प है यदि और साधक अशुभ, अकल्पनीय संकल्पाधीन बन जाता है, कामनाओं पर नियन्त्रण के स्थान पर उन्हीं में तन्मय बन जाता है तो वह संकल्प आत्मा को भव-भ्रमण के चक्र में फँसा देता है।

जीवन के दो मार्ग हैं—एक संसार का मार्ग और दूसरा मोक्ष का मार्ग। हम मोक्ष का लक्ष्य लेकर संकल्प की बात यहाँ कर रहे हैं। वैसे संसार के मार्ग में भी किसी कार्य में सफलता प्राप्त करनी है तो संकल्प की दृढ़ता आवश्यक है। संकल्प में दृढ़ता नहीं तो लक्ष्य-वेध नहीं, सफलता नहीं, मंजिल नहीं। कई गृहस्थ, श्रावक, साधक आदि ऐसे भी मिल सकते हैं, जिनका अभी तक लक्ष्य निश्चित नहीं। मनीषी आचार्यों ने कहा है कि लक्ष्यविहीन जीवन कोई जीवन नहीं है। वह जीवन पशु-जीवन से भी गया-बीता है, हीन कोटि का है, निम्न श्रेणी का है। उनका जीवन खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, पेट भरने, संतति के पालन-पोषण करने में ही खप जाता है। ऐसे लक्ष्यहीन व्यक्ति को जीवनभर भटकना पड़ता है। केवल एक जीवन ही नहीं, भव-भव तक, अनेक जीवन तक वह भटकता रहता है।

बंधुओं ! संकल्प शुभ बनाइए, अशुभ संकल्प नहीं। धर्म-पथ पर बढ़ने का संकल्प लीजिए, अधर्म-पथ का नहीं। अधर्म-पथ पर हैं यदि आप तो संकल्प यह करिए कि हम यह पथ त्याग देंगे। जो भी संकल्प अशुभ में परिवर्तित होता है तो सम्यक्त्व जा सकता है, मिथ्यात्व में गिर सकता है व्यक्ति। शुभ संकल्प में दृढ़ता रखी जाए तो सफलता भी, यश भी और कर्म-निर्जरा भी सम्भव है। संकल्प यदि धर्ममय हो, आत्मकल्याणी हो तो वहाँ रखी गई दृढ़ता भव-सागर से पार उतारने में सक्षम है।

श्रामण्यधर्म के लिए तो प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि जो श्रमण द्रव्य रूप से तप-संयम में या रत्नत्रय रूप धर्म के आराधन में पुरुषार्थ करते हुए विकल्पों में खो जाता है, तो वह श्रमणभाव खो देता है। विकल्पों के अधीन बना वह संसारियों के समक्ष या अन्य दैविक शक्तियों के समक्ष दीनतापूर्वक सांसारिक कामनाओं की याचना करता है, वह श्रमण कभी कषायों एवं नोकषायों को शमित नहीं कर सकता, जबकि प्रत्येक श्रमण के लिए इनका शमन आवश्यक है। ऐसा श्रमण फिर धर्मध्यान के स्थान पर आर्त्तध्यानी और रौद्रध्यानी बनकर आर्त्त-रौद्र में गिर जाता है, वह इष्ट-अनिष्ट में समभाव नहीं रख पाता, मन को प्रतिक्षण पापमय बनाता है, सुमन (शुभ मन) नहीं रख पाता। ऐसा व्यक्ति श्रामण्य-साधना का आनंद, आत्मा की स्वाधीनता का सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

‘संयुक्त निकाय’ ग्रंथ में भी यही बात कही गई है—“दुष्करं दुत्तितिरवञ्च अव्यत्तेन हि सामण्णं। बहूहि तत्थ सम्बाधा, यत्थ वालो विसीदतीति। कतिहं चरेय्य सामण्णं, चित्तं चे न निवारणं। पदे-पदे विसीदेय्य संकप्पानं वसानुगो ति।” —संयुक्त निकाय १/२/७

बंधुओं ! इसमें कहा गया है कि श्रामण्य अव्यक्त होने से दुष्कर, दुःसह लगता है और जब उसके पालन में बहुत बाधाएँ आ खड़ी होती हैं तो अज्ञानी (बाल) जन अत्यंत विषाद को प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति अपने चित्त से काम-भोगों का निवारण नहीं कर सकता, वह कितने दिनों तक श्रामण्य-भाव को पालेगा ! (अर्थात् अधिक दिन नहीं पाल सकेगा), क्योंकि ऐसा व्यक्ति अशुभ संकल्पों के वशीभूत होकर पद-पद पर खेदखिन्न होता रहेगा।

अतः प्रत्येक साधक का, चाहे वह श्रमण हो या श्रावक और प्रत्येक व्यक्ति का संकल्प शुभ होना चाहिए, मंगलमय-धर्ममय-आत्मकल्याणी होना चाहिए। शुभ संकल्प होने के साथ ही उस संकल्प में दृढ़ता आवश्यक है। विकल्प यदि प्रारंभ हो गए तो गिरना पड़ सकता है। दृढ़ आत्मबली महानात्माएँ शुभ संकल्प में स्थिर बनी रहती हैं। अतः उनका आत्मोत्थान निश्चित है। शुभ का शुभ फल भी तय है और मोक्ष या मोक्ष की निकटता भी अवश्यंभावी है।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. भी जीवन के प्रारंभ से ही शुभ संकल्पों के राजपथ पर विचरण करने वाले थे। यौवन में विवाह किया, पर द्विरागमन से पूर्व ही ब्रह्मचर्य पर प्रवचन सुनकर, सेठ सुदर्शन की कथा श्रवण कर आजीवन ब्रह्मचारी बन गए। संकल्प ग्रहण किया कि इस लोक में आयु में मुझसे बड़ी नारियों को मैं अपनी माता गिनाँगा और विवाहित पत्नी सहित आयु में समस्त छोटी नारियों को बहन मानूँगा। संकल्प शुभ था। उस शुभ संकल्प को दृढ़तापूर्वक पालनार्थ दीक्षा लेकर संयम-मार्ग अंगीकार करने का एक और आत्मकल्याणी संकल्प लिया। संकल्प पर दृढ़ता इतनी कि माता-पिता, भाई-भाभी, पत्नी सभी को उनकी दृढ़ता के समक्ष हार माननी पड़ी। संयम-पथ पर कदम रखा तो तुरंत, संयम-ग्रहण करते ही एक आत्मकल्याणी, पूर्व संचित अशुभ कर्मबंधनों को तोड़ने वाला संकल्प ग्रहण किया—“जब तक गुरु का छत्र रहेगा, तब तक मैं एकान्तर तप करूँगा और पारणे में पाँचों बड़ी तिथियों के दिन विगय-सेवन भी नहीं करूँगा।”

अन्तरात्मा के सद्गुणों को प्रकट करने के संकल्प के प्रतीक जैन मुनियों के धवल-उज्ज्वल वस्त्रों को धारण किए मुनि जयमल जी अत्यंत सुदर्शनीय प्रतीत होते थे। वैसे ही वे गौरवर्ण के थे, उन्नत भाल (ललाटस्थल) था उनका, विशाल भुजाएँ, लम्बे हाथ, सुविस्तीर्ण वक्षस्थल आदि के कारण शारीरिक कान्ति तो चुम्बकीय थी ही। क्षमाश्रमण आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के साथ पद-विहार करना था उन्हें। जैन साधु पाद विहारी ही होते हैं। प्रभु महावीर की आज्ञा में विचरण करने वाले मुनि कभी भी वाहन का प्रयोग नहीं करते। दो पद (पाँव/चरण) ही उनके वाहन होते हैं। संयम-पर्यन्त वे पाद-त्राण (जूते आदि) पैर-रक्षक साधन भी धारण नहीं करते। उनका विहार नग्न-पदों से ही होता है। पथ ऊँचा-नीचा, रेतीला-पथरीला, ऊबड़-खाबड़, कँकरीला-कँटीला चाहे जैसा हो, जैन मुनि के लिए नंगे पाँव विहार का ही विधान है। विहार शीतकाल में हो तो नग्न पाँव ठिठुर सकते हैं और ग्रीष्म में विहार हो तो धरती की तपन मुनि-चरणों को संतप्त बना सकती है, जला सकती है, पर जैन मुनि इन परीषहों को समभाव से सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते हैं।

दीक्षा मध्याह्न काल अभिजित नक्षत्र विजय मुहूर्त में सम्पन्न हुई थी। दीक्षा सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात् मेड़ता से क्षमाश्रमण आचार्यसम्राट् पूज्य श्री भूधर जी म. सा. ने अपने शिष्य समुदाय सहित मेड़ता से विहार किया। सभी मुनिजनों के साथ नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी भी चल दिए आगे की मंजिल के लिए। शेष सभी मुनि अनुभवी थे, अभ्यस्त थे और पारंगत हों, यह भी संभव था। पर नवदीक्षित मुनि का तो यह प्रथम साक्षात्कार था मुनिचर्या से। साहसी थे वे, घबराना या निराश-हताश होना तो सीखा ही नहीं था।

बंधुओं ! संकल्प की दृढ़ता और सत्साहस सफलता के आधार-स्तंभ हैं। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर अपनी काव्य-शैली में कहते हैं—

खम ठोक ठेलता है जब नर,
पर्वत के जाते पाँव उखड़।
मानव जब जोर लगाता है,
पत्थर पानी बन जाता है॥

मुनि श्री जयमल जी ऐसे ही साहसी मानव थे, महामानव बनने की राह पर उनके चरण पड़ चुके थे। बढ़ना था उन्हें आगे उसी पथ पर। मेड़ता की धर्मप्रिय जनता और मोहनदास जी मेहता, महिमादेवी आदि परिजन विदाई-जुदाई के गमगीन क्षणों में थे। उधर संतों ने विहार के लिए अपना-अपना सामान लेकर कदम बढ़ाए, उधर जनमेदिनी ने जय-जयकार से गगन को गुँजाया।

विहार हुआ। प्रथम दिन था मुनि जयमल जी के विहार का। प्रकृति ने भी उस पुण्य-पुञ्ज का रिमझिम वर्षा द्वारा स्वागत किया। किसी ढाणी में रुके। घर थे महाजनों के। श्रद्धालु भक्तगण आदि भी परिचित थे जैनसंतों के आचार-विचार से। आते ही रहते थे भूधर जी म. सा. इस पथ से। अतः किसी प्रकार की दिक्कत नहीं हुई। एक दिन के बाद दूसरा दिन और फिर तीसरा; नए-नए स्थानों के नए-नए अनुभव हो रहे थे, मुनि श्री जयमल जी को।

मेड़ता परगने में आया हुआ बिखरणिया अधिक बड़ा ग्राम नहीं था, पर निवासी वहाँ के अत्यंत श्रद्धालु व धर्मनिष्ठ थे। यहाँ मुखिया श्रावकों ने क्षमाश्रमण आचार्य श्री भूधर जी म. सा. से नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. की बड़ी दीक्षा का लाभ इस क्षेत्र को देने की विनती की। भावों की उत्कृष्टता को देख क्षमाश्रमण ने उनकी प्रार्थना को स्वीकृति दे दी। मिगसर वदी नवमी का शुभ दिन तय हुआ। छोटी दीक्षा होने के ठीक एक सप्ताह पश्चात् आ रही थी यह नवमी। बड़ी दीक्षा की सूचना लाम्बिया व आसपास के गाँवों में भिजवा दी गई।

छोटे-छोटे ग्राम, ढाणी आदि में धर्म-प्रचार करते, सत्य धर्म का सन्देश देते आचार्य भगवन् बिखरणिया ग्राम पधारे। ग्रामवासियों को पहले से ही ध्यान था गुरुदेव के पधारने का। अतः अनेक नर-नारी उनके समक्ष ग्राम के बाहर तक उन्हें लिवाने, उन्हें वन्दन-अभिनन्दन कर उनका स्वागत करने गए। जैन श्रावक-श्राविकाओं के लिए गुरुदेवों का उनके ग्राम-शहर में आना अत्यंत आनन्द, आह्लाद का अवसर होता है। पूर्व में सन्देश हो जाए तो उनका कर्तव्य है कि वे उन्हें लेने हेतु उनके समक्ष ग्राम के बाहर या शहर में हों तो यथाशक्ति दूरी तय कर उनके सम्मुख जाएँ। जहाँ से संत विदाई ले रहे हैं, विहार कर रहे हैं,

उस स्थान के श्रावक-श्राविकाओं का कर्तव्य है कि वे उन्हें अपने ग्राम से बाहर तक यथाशक्ति उनके साथ अवश्य जाएँ। ग्रामों में अभी तक यह प्रथा, यह परम्परा है। शहरों में भी कुछ हद तक है, पर कम होती जा रही है। महानगरों की सुनता हूँ तो बात ही कुछ निराली है। वहाँ तो अर्थोपार्जन ही एक मात्र ध्येय है। इसमें दक्षिण के महानगर, प्रान्त, ग्राम सभी अपवाद हैं। वहाँ तो आज भी यह व्यवस्था है, भक्ति है कि श्रावक एक गाँव से दूसरे गाँव तक पहुँचाने के लिए पैदल साथ-साथ सेवा में रहते हैं।

इस मध्य मुनि श्री जयमल जी के आगम अध्ययन का कार्य प्रारंभ हो गया था। पंडित श्री नारायणदास जी म. सा. अत्यंत विद्वान् संत, संस्कृत-प्राकृत के कुशल ज्ञाता और जैन आगमज्ञान के अथाह भंडार थे। नवदीक्षित मुनिश्री की प्रतिभा से प्रभावित होकर पंडित श्री नारायणदास जी म. सा. ने आचार्य भगवन् की आज्ञा से विद्याध्ययन कराना प्रारंभ कर दिया था तथा वे उनकी प्रगति से संतुष्ट थे। कई बार आचार्यश्री भी मुनि श्री जयमल जी म. सा. से उनके अध्ययन के विषय में जानकारी लेकर उनसे प्रश्नोत्तर कर लेते थे।

मिगसर वदी नवमी के दिन आचार्यश्री एवं सभी संत ग्राम के बाहर स्थित एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे पधार गए। वृक्ष सैकड़ों वर्ष पुराना था, अति विशाल था। उस वट-वृक्ष की छाया तले सैकड़ों व्यक्ति बैठ सकते थे। ग्राम के महाजन परिवार के नर-नारी, जैनेत्तर परिवारों के श्रद्धालु भक्त, आसपास के गाँवों के गुरुभक्त आ चुके थे। लाम्बियां से नवदीक्षित मुनिश्री के सभी पारिवारिक सदस्य भी आ गए।

बड़ी दीक्षा कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। बड़ी दीक्षा का अर्थ है साधु-जीवनचर्या की पूर्ण जानकारी लेकर स्वेच्छा से श्रमणचर्या के लिए प्रतिबद्ध होना। इसमें अत्यंत श्रद्धापूर्वक पाँच महाव्रत एवं छठा रात्रि-भोजन त्याग व्रत जीवन पर्यंत तक के लिए तीन करण, तीन योग से धारण किया जाता है।

पंच महाव्रत ग्रहण करने, आठ प्रवचन माता के पालन का संकल्प लेने और छह काया के पूर्ण रक्षण के लिए मन-वचन-काया से प्रतिबद्ध होने पर मुनि श्री जयमल जी म. सा. साधर्मिक मुनियों के साथ बैठकर गोचरी करने के अधिकारी बन गए, सामायिक चारित्र से उनका प्रवेश 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' में हो गया।

इस पावन अवसर पर अनेक श्रद्धालु भक्तों ने विभिन्न व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण किए। आचार्य भगवन् के मंगल पाठ के साथ ही यह कार्यक्रम हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न हुआ। बड़ी दीक्षा के इस कार्यक्रम के समापन होने पर उपस्थित सभी श्रद्धालुओं जिनमें अनेक आसपास के गाँवों से भी आए थे, को मिश्री और गोला (सूखे नारियल के गोटे) की प्रभावना वितरित की गई।

सभी ने एक स्वर से आकाश को जयनाद से गुँजाते हुए आचार्य श्री भूधर जी म. सा. की, मुनि श्री जीवणदास जी म. सा. की, मुनि श्री नारायणदास जी म. सा. की, मुनि श्री रघुनाथ जी म. सा. की, मुनि श्री जेतसी जी म. सा. की, मुनि श्री लाल जी म. सा. की जयकार की। अन्य संत-मंडल की जयकार के साथ ही नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. की जय दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई।

बिखरणिया से आगे विहार-काल में मुनि श्री जयमल जी म. सा. का आगम-अध्ययन चलता रहा। उन्होंने पंडित मुनि श्री नारायणदास जी से व्याकरण ज्ञान भी प्राप्त किया। इसी विहार-काल में मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने कप्पिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वह्निदशा—ये पाँच उपांगसूत्र केवल एक प्रहर में कंठस्थ किए।

पुष्कर में प्रथम बार मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी काव्य-रचना को शब्द देकर प्रस्फुटित किया। उनकी प्रथम काव्य-रचना यह थी—

नमो सिद्ध निरंजनं, नमूं श्री सत-गुरु-पाय ।
धन वाणी गुरु-राज की, सुनतां पातक जाय ॥

आचार्य श्री भूधर जी ने सुना तो बोले—“धन वाणी गुरु-राज” की जगह “धन वाणी जिनराज” अच्छा रहेगा।

इसके बाद मुनिश्री जी ने अपना काव्य सुनाना फिर प्रारम्भ किया—

वीर नमूं शासन धणी, सर्वहित बंधव साम ।
मुक्ति नगर का दायका, मंगलिक है तसु नाम ॥
ज्ञानों में ‘केवल’ बड़ा, गणधर गौतम सार ।
दानों मांहि ‘अभय’ बड़ा, मंत्रों में नवकार ॥
गुरु बड़े संसार में, किया बड़ा उपकार ।
ज्ञान-दीप घट में किया, तिमिर हरण सुखकार ॥

पुष्कर से विहार कर अजमेर, ब्यावर (पुराना), सैंदड़ा होते हुए आचार्यश्री अपने संतों के साथ हरिपुर-रायपुर (मारवाड़) पधारे। यहीं प्रथम बार नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने गुरु-आज्ञा से प्रवचन दिया। उनका प्रथम प्रवचन ‘मंगल चार’ पर था, जिसमें ‘अरिहंत, सिद्ध, साधु व धर्म’ इन चार मंगल पर विशिष्ट विवेचन मुनिश्री ने प्रस्तुत किया।

□ दीक्षा का प्रथम चातुर्मास सोजत शहर में

क्षमाश्रमण आचार्यसम्राट् पूज्य श्री भूधर जी म. सा. की दीक्षा पूर्व कर्मस्थली सोजत रही थी तो मुनि श्री रघुनाथ जी म. सा. की जन्मस्थली भी सोजत ही थी। सोजत ग्रामवासियों का

अत्यधिक आग्रह चल रहा था कि इस वर्ष का चातुर्मास पूज्य गुरुदेवश्री का सोजत हो। जब से सोजत वालों ने सुना-देखा कि धनाढ्य परिवार का युवक जयमल जिसने एक प्रवचन सुनकर छह माह की परिणीता का त्याग कर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया और मात्र तीन घण्टे में एक पाँव पर खड़े-खड़े प्रतिक्रमण सूत्र कण्ठस्थ कर दीक्षा अंगीकार कर ली, तब से तो उनके भाव और भी प्रबल बन गये इस वर्ष चातुर्मास करवाने के। समय-समय पर सोजत संघ गुरुदेवश्री की सेवा में विनती प्रस्तुत करता। उत्कृष्ट भाव और भाव में त्याग वैराग्य का चाव जानकर आचार्यसम्राट् पूज्य श्री भूधर जी म. सा. ने सुखे समाधे सोजत चातुर्मास की स्वीकृति प्रदान की।

□ दीक्षा के प्रथम वर्ष में सात अंगसूत्र कण्ठस्थ

नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. का दीक्षा के पश्चात् प्रथम चातुर्मास था। ज्ञान-ध्यान सीखने की उत्कृष्ट लगन थी। आचार्यश्री ने अंगसूत्रों को कण्ठस्थ करने के लिए विशेष प्रेरणा प्रदान की थी। मुनि श्री नारायणदास जी म. सा. के निर्देशन में अध्ययन का कार्य सुचारु रूप से चल रहा था। मुनि श्री नारायणदास जी म. सा. भी नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी की तीव्र बुद्धि, विनीत स्वभाव और उत्कृष्ट वैराग्य भाव आदि सद्गुणों की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते थे। एक पाठ (गाथा) को एक बार उच्चारण करवाया जाता। दूसरी बार में तो उन्हें कण्ठस्थ याद ही हो जाता। नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने दीक्षा लेने के प्रथम वर्ष में आचारांग, सूत्रकृतांग आदि सात अंगसूत्र कण्ठस्थ करके सुना दिये।

जब भी उन्हें समय मिलता, आगमानुसार काव्य-रचना की नव सृजन प्रारम्भ हो जाती। एक बार सोजत में लाम्बियां से मुनि श्री जयमल जी म. सा. के संसार-पक्षीय परिजन दर्शनार्थ सेवार्थ उपस्थित हुए। माता-पिता, भाई-भाभी के साथ लांछदे (जयमल जी की संसार-पक्षीय पत्नी) भी आई थी। उसे देख नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने व्यवहार पक्ष की सहचारिणी लक्ष्मीदेवी (लांछदे) को अध्यात्म पक्ष में भी आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए द्रौपदी चरित्र की काव्य सृजना प्रारम्भ की।

□ आध्यात्मिक प्रवचनों की लगी झड़ियाँ

नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. के त्याग वैराग्य से परिपूर्ण आध्यात्मिक प्रवचनों को सुन श्रोतागण त्याग की झड़ियाँ लगा देते। व्याख्यान के प्रभाव से लांछदे के मन में भी दीक्षा लेने का सुदृढ़ विचार उत्पन्न हो गया। लेकिन बोलकर कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाई। दो-तीन दिनों के बाद परिजन लाम्बियां पुनः लौट गये। लांछदे मन-ही-मन सोच रही

थी कि मेरा भी वह दिन धन्य होगा, जिस दिन में भी राजुल की भाँति अपने पति के पदचिह्नों पर चलकर जन्म-मरण की श्रृंखला से मुक्त बनूँगी।

सोजत चातुर्मास नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। यहाँ आपने सात अंगसूत्रों को कण्ठस्थ करने के साथ व्याकरण आदि का भी विशेष अध्ययन मुनि श्री नारायणदास जी म. सा. से किया। प्रवचन कला में भी अब वे निष्णात बन चुके थे। उनका विनीत स्वभाव, उत्कृष्ट क्रिया सभी के लिए अनुमोदनीय थी।

सोजत चातुर्मास पूर्ण कर आचार्यसम्राट् पूज्य श्री भूधर जी म. सा. अपने शिष्य-समुदाय सहित आसपास के क्षेत्रों को फरसते हुए साँडियां, चण्डावल, पीपलिया, झूँठा, रायपुर आदि गाँवों में जिनशासन की ज्योति जगाते हुए कालू-केकीन की तरफ विहार किया। राजकीय कार्य के लिए आने-जाने वाले मुसाफिरों से आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के कालू पधारने के समाचार सुन कामदार मोहनदास जी मेहता अत्यन्त हर्षित हुए एवं महिमादेवी, रिडमल जी, विनयदेवी तथा लाम्बियां के बहुत-से लोग भी गाड़ियों में बैठकर कालू पहुँचे। संयोग से प्रवचन चल रहा था और प्रवचन दे रहे थे नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा.। विषय था—दान-शील-तप-भावना। आश्चर्य से विमुग्ध बने मोहनदास जी व उनके पारिवारिक जन व लाम्बियांवासी सुनने लगे उस अमृतोपम वाणी को, कितने मधुर, शांत, धीर, गंभीर दिखाई दे रहे थे मुनि श्री जयमल जी म. सा.। प्रवचन देते समय उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि ये जो इतना प्रभावपूर्ण व्याख्यान दे रहे हैं, वे ही जयमल जी हैं।

माता महिमादे और पिता मोहनदास जी मेहता के हर्ष का कोई पार नहीं था। बार-बार उनका अन्तर् मानस कहता—हमने दीक्षा की आज्ञा प्रदान करके कोई गलती नहीं की है, अपितु यदि आज्ञा नहीं देते तो हमसे बहुत बड़ा अपराध हो जाता। मेहता जी को याद आता है जयमल का जन्म-प्रसंग, किस प्रकार रणभूमि में पराजय के मुँह में पहुँचकर भी मैंने, बालक 'जय' के बधाई समाचार सुनने मात्र से ही अदृश्य शक्ति को प्राप्त करके रण में 'जय' को प्राप्त किया।

□ यह पुण्य-पुञ्ज जय अवश्य प्राप्त करेगा

बार-बार नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. की तरफ देखते और मेहता जी चिन्तन करते यह पुण्य-पुञ्ज आठ कर्मों के मल को मिटाकर जन्म-मरण पर 'जय' अवश्य प्राप्त करेगा।

लाम्बियां वालों ने गुरुदेवश्री के सम्मुख लाम्बियां पधारकर धर्म जागृति की विनती रखी। उन्हें साधु भाषा में स्वीकृति मिली। विहार कर आचार्यश्री लाम्बिया पधारे। मुनि

श्री जयमल जी ने स्वरचित द्रौपदी-चरित्र सुनाना प्रारंभ किया। द्रौपदी की दीक्षा का प्रसंग चला तो सुनकर लांछादेवी ने भी दीक्षा लेने का विचार प्रकट कर दिया। इसका बीजारोपण तो सोजत में ही हो चुका था, भाव आज और उत्कृष्ट हो गये। संयोग से विहार करते हुए महासती श्री बाला जी अपनी शिष्याओं सहित वहाँ पधारीं। बड़ी धूमधाम से लांछादेवी एवं उनके साथ उनकी चार सखियों की कुल पाँच दीक्षाएँ सम्पन्न हुईं। लाम्बियां ग्राम में पहली बार ये जैन भागवती दीक्षाएँ थीं।

लाम्बियां से संतगण मेड़ता पधारे। नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने आध्यात्मिक लक्ष्य में मिली सफलता के भावों को 'आध्यात्मिक छत्तीसी' नामक काव्य में सँजोया। संतों का विहार अब जोधपुर की ओर होना था। इंदावड़, गंगराणा, खवासपुरा, हरिडाणा, रणसीगांव, खेजड़ला आदि क्षेत्रों में जिनशासन की प्रभावना करते हुए पीपाड़ पधारे।

□ पीपाड़ में धर्म-क्रांति का प्रथम चरण

बंधुओं! उस समय मारवाड़ व गुजरात के अधिकांश क्षेत्रों में धर्म की बड़ी विचित्र स्थिति थी। एक तरफ मूर्ति के उपासक भोलेभाले लोगों को धर्म के नाम पर मन्दिर, मूर्ति, पूजा, आरती, घी की बोली, चढ़ावा आदि की ओर आकृष्ट कर रहे थे तो दूसरी ओर यति वर्ग धर्म के नाम पर लोगों की ठगाई कर रहा था। प्रकांड विद्वान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने जैनग्रंथ सभा, अहमदाबाद से प्रकाशित 'सम्बोध प्रकरण, पृष्ठ १३-१४' में स्पष्ट कहा है—

चेइयमढ़ाइवासं पूयारंभाई निच्चवासित्तं।
 देवाइ दव्व भोगं जिणहर सालाइ करणं च ॥
 मय किच्च जिणपूया परूवणं मय धणाणं जिणदरणे।
 गिहिपुरओ अंगाइ पवयण कहणं धणट्ठाए ॥

अर्थात् संयम के असि पथ पर जिनको चलना चाहिए, वे जैन साधु अब चैत्य और मठ में निवास करने लगे हैं; पूजा के लिए आरती करते हैं और मन्दिर, उपाश्रय आदि चलाते हैं। वे साधु मन्दिर के देव-द्रव्य और देव-भोग आदि का उपयोग करते हैं।

बंधुओं! शिथिलाचारी ऐसे अनेक साधु शास्त्र-रहस्य का प्रकटीकरण नहीं करते थे, मुहूर्त आदि निकालते और फलाफल बताते थे। रंगीन और धुले-उजले वस्त्र पहनते थे। गृहस्थ जनों का लाया आहार करते थे, पौष्टिक सुस्वादु आहार करते थे, तेल-मर्दन और स्नान भी करते थे, कहीं-कहीं स्त्री-संसर्ग भी होता था। मन्त्र-तन्त्र-वैद्यकी आदि करते थे। ऐसे लोगों और सच्चे साधुओं में भेद का विवाद उभरने पर उन्होंने मुनि-वेश में परिवर्तन कर

अपने आप के परिचयार्थ लिंग (चिह्न) रूप में सिर पर लाल पोतिया (साफा) बाँधना प्रारंभ किया। ये पोतिया-बंध साधु कहलाते थे। इन्होंने प्रचार किया कि इस कराल काल अर्थात् पंचम आरे में भगवान महावीर का शासन चल ही नहीं सकता, सच्चा साधुत्व हो ही नहीं सकता, मोक्ष किसी को मिल नहीं सकता।

इन लोगों ने जन-साधारण के लिए शास्त्र-पठन निषिद्ध कर रखा था, अनेक भ्रांत धारणाएँ समाज में फैला रखी थीं। राजस्थान के अनेक क्षेत्रों में उस समय इन पोतिया-बंध शिथिलाचारी यतियों का सविशेष प्रभाव था। पीपाड़ में भी जैन-मतावलम्बी पोतिया-बंध यतियों के उपासक थे।

आचार्य श्री भूधर जी म. सा. ने पीपाड़ में मुनि श्री जयमल जी म. सा. को प्रासुक पानी लाने के लिए भेजा। नवदीक्षित मुनि श्री जयमल जी म. सा. प्रासुक पानी की गवेषणा कर रहे थे, मार्ग में पोतिया-बंध यतियों का राता-उपासरा (यह उपाश्रय आज भी पीपाड़ में विद्यमान है और राता-उपासरा के नाम से विख्यात है) पड़ता था। मुनिश्री उसके निकट से निकले तो अन्दर किसी 'पोतिया-बंध' यति का प्रवचन चल रहा था। मुनिश्री के कानों में भगवतीसूत्र की गाथा सुनाई पड़ी। वे रुककर सुनने लगे। प्रवचन में पोतिया-बंध यति ने कहा कि इस पाँचवें आरे में शुद्ध साधुपन नहीं है। भगवान महावीर का शासन तो प्रभु निर्वाण के कुछ वर्षों बाद ही समाप्त हो गया।

मुनि श्री जयमल जी म. सा. इस तरह का आगम-विरुद्ध कथन नहीं सुन सके। चले गए उपाश्रय में और बोले—“क्यों प्रभु-वचनों की विराधना कर रहे हो? प्रभु महावीर ने तो पाँचवें आरे के अन्तिम दिवस तक चारों तीर्थों की विद्यमानता बताई है। अतः स्वतः ही सिद्ध हो गया कि शुद्ध साधुत्व वर्तमान में है।” ‘पोतिया-बंध’ यति क्रोधित हो गये और बोले—“तुम ढोंगी हो। शुद्ध संयम पाल नहीं सकते इस आरे में; फिर भी तुम अपने को शुद्ध संयमी बताते फिरते हो। आगम में कहीं भी पाँचवें आरे में शुद्ध संयम-पालन का वर्णन नहीं आता।”

मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने शांत स्वर में कहा—“अभी आप किस सूत्र की वाचना दे रहे थे?”

पोतिया-बंध यति बोले—“भगवती जी की। हम तो प्रतिदिन आगम-वाचन करते हैं। कहीं भी ‘शुद्ध-संयम इस आरे में विद्यमान रहेगा’—ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। आपने कोई नए सूत्र बना लिए क्या?”

मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने पुनः स्थिर व शांत स्वर में कहा—“आप जो सूत्र पढ़ रहे हैं, यदि उसी में इस आरे में शुद्ध संयम होने की बात मैं सिद्ध कर दूँ तो.....?”

बंधुओं ! इस पर वहाँ बैठे हुए संघपति ने उठकर कहा—“मुनिवर ! यदि आप ऐसी बात आगम से सिद्ध कर दें तो हम आपके अनुयायी बन जायेंगे।”

मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने भगवतीसूत्र के बीसवें शतक का आठवाँ उद्देशक निकालने के लिए कहा। ‘पोतिया-बंध’ ने निकाला भगवती जी का वह प्रकरण। पढ़ने लगे। पढ़ते-पढ़ते एक स्थान पर आकर स्वर में विराम आ गया, हाथ में कम्पन होने लगा।

उन्हें इस तरह मौन होते देख संघपति ने कहा—“हाँ यति जी ! आगे पढ़िए आप।”

मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने कहा—“वह नहीं पढ़ सकते।” स्वयं मुनिश्री ने उसके हाथों से सूत्र लेकर पढ़ना प्रारंभ किया। वहाँ भगवान महावीर का स्पष्ट उल्लेख था कि “जंबूद्वीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुपियाणं केवलियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्संति।”

“गोयमा ! जंबूद्वीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एक्कवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसज्जिस्संति।”
—भगवती जी २०/८/१२

गणधर श्री गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया—“भगवन् ! जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में आप देवानुप्रिय का तीर्थ कितने काल तक अविच्छिन्न रहेगा ?”

प्रभु महावीर ने गौतम गणधर को समाधान देते हुए कहा—“हे गौतम ! जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में मेरा शासन (तीर्थ) इक्कीस हजार वर्ष तक अविच्छिन्न रहेगा। अर्थात् पाँचवें आरे की समाप्ति पर्यन्त सद्धर्म रूप तीर्थ के चारों तीर्थ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) शुद्ध धर्म का पालन करने वाले रहेंगे।”

□ एक श्रमण, एक श्रमणी, एक श्रावक, एक श्राविका, एकभवावतारी...

बंधुओं ! एक घंटे तक सवाल-जवाब चले। मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि पोतिया-बंध शिथिलाचारी हैं, जिन-आज्ञा के विराधक हैं। संघपति ने उसी समय पोतिया-बंधों से कह दिया—“आज से आप हमारे गुरु नहीं और संघ के पूज्य नहीं।” ‘वोसिरामि’ कहकर उनकी श्रद्धा को टुकरा दिया। संघपति ने शुद्ध श्रद्धा दिलाने की प्रार्थना की तो मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने कहा कि “श्रद्धा तो आचार्य श्री भूधर जी म. सा. से ग्रहण कीजिये।” संघपति ने कहा—“आप साथ चलकर हमारी सिफारिश कीजिये।”

मुनि श्री जयमल जी म. सा. के साथ उसी समय संघपति व विशाल संख्या में श्रावक-श्राविकाएँ उपाश्रय से बाहर आ गए और जहाँ उनके गुरु आचार्य श्री भूधर जी म. सा. विराजमान थे, मुनिश्री के पीछे-पीछे उधर ही चल दिए।

आचार्यश्री के समक्ष मुनि श्री जयमल जी जब पहुँचे तो बोले—“गुरुदेव ! आज स्थूल गोचरी के स्थान पर धर्म के श्रद्धावानों को गोचरी में लाया हूँ।”

आचार्यश्री को वन्दना कर संघपति ने उन्हें पूरी घटना सुनाई। गाँव में भी उक्त घटना की चर्चा सभी जगह होने लगी। अनेक लोग कुतूहलवश उपाश्रय में चले आए। सभी ने आचार्यश्री व संत वृंद की वन्दना की। व्याख्यान तो प्रातः में हो चुका था, पर विशेष प्रसंग उपस्थित देख आचार्यश्री ने संक्षिप्त प्रवचन देकर सभी को ‘आत्म-धर्म’ का सार बताया।

पीपाड़ संघ के सभी नए श्रावकों ने आचार्यश्री से शुद्ध समकित को धारण कर गुरु आमना ग्रहण की और उन्हें गुरुभाव से पुनः वन्दन कर उनके श्रीमुख से मंगल-पाठ सुना।

सभी के जाने पर आचार्यश्री बोले—“मुनि जयमल जी ! आज की तुम्हारी यह सत्य धर्म की मधुकरी श्रेष्ठ रही। मेरा आशीर्वाद है कि तुम इसी तरह धर्म का प्रभाव बढ़ाते रहो।” मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने भी संकल्प लिया कि वे आज के बाद आडम्बर व शिथिलाचार को मिटाकर सत्य जिनधर्म का डंका बजाएँगे।

बंधुओं ! इस तरह पीपाड़ में और पीपाड़ के बाद जहाँ-जहाँ भी विहार-विचरण हुआ, उन क्षेत्रों में मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने यतियों और शिथिलाचारियों के प्रभाव को मिटाया। सभी के सम्मुख आगमोक्त प्रमाण देते हुए उनके कथन को मिथ्या सिद्ध कर शुद्ध श्रमण व शुद्ध श्रावक के आचार-धर्म का सत्य-संदेश फैलाया। यतियों और शिथिलाचारियों के गढ़ जैसलमेर, बीकानेर, नागौर, सिरोही जैसे दुर्गम क्षेत्र को भी आपने अपने पावन-पाद-पद्मों से स्पर्शित कर सत्य जिनधर्म का प्रचार किया। जैसलमेर, बीकानेर, नागौर, लाडनूं, सांचोर आदि अनेक क्षेत्रों में भी इन यतियों का अत्यधिक प्रभाव था। मुनि श्री जयमल जी ने वहाँ भी सत्य श्रमण-धर्म व शुद्ध श्रावक-धर्म का प्रचार कर वहाँ के श्रावकों व श्राविकाओं को सत्य-धर्म में श्रद्धान्वित बनाया।^१

पीपाड़ में आचार्य भूधर के युवा संत मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने पोतिया-बंध यति शिथिलाचारियों को सत्य-धर्म की पहचान कराकर उन्हें सन्मार्ग दिखाया और शुद्ध श्रमण समाचारी व शुद्ध श्रावकाचार का दिग्दर्शन कराकर उस समय फैली शिथिलता, रूढ़िवादिता,

१. नागौर, जैसलमेर, लाडनूं, सांचोर आदि क्षेत्रों में यतियों से पूज्य श्री जयमल जी म. सा. की चर्चा का विस्तृत वर्णन ‘जयध्वज सचित्र, भाग-२’ डॉ. पदमचन्द्र जी म. सा. द्वारा संपादित अवश्य पढ़ें।

आडम्बर आदि को दूर भगाया। इस धर्म-क्रांति की बात सुन जोधपुर के तत्कालीन महाराजा अभयसिंह जी ने अपने दीवान रतनसिंह जी भण्डारी को पूज्यश्री की सेवा में भेजकर जोधपुर पधारने की विनती करवाई। युवा मुनि श्री जयमल जी म. सा. को साथ लाने का विशेष निवेदन कराया।

□ बुचकला के ठाकुर बने मद्य-माँस के त्यागी

पीपाड़ से आचार्य श्री भूधर जी म. सा. ने जोधपुर की दिशा में विहार किया। बुचकला में मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रभावी जिनोपदेश को श्रवण कर वहाँ के ठाकुर ने जीवनभर के लिए तीन संकल्प ग्रहण किए—(१) निरपराध व निरीह पशु-पक्षियों का शिकार नहीं करूँगा। (२) अब से कभी भी मद्यपान सेवन नहीं करूँगा। (३) जीवन पर्यंत किसी भी तरह के माँस का भक्षण नहीं करूँगा।

बंधुओं ! यहीं मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने विचार किया—‘यदि आज का शासक वर्ग अपनी जीवन-शैली में परिवर्तन कर उसे व्यसनरहित बना लेते हैं तो शासन के अधिकारियों व प्रजा पर भी उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। संतों का कार्य स्व-कल्याण के साथ जन-कल्याण भी है। अतः मेरा कर्तव्य है कि मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, समाज के साथ शासक वर्ग को जुआ, शिकार, माँस-भक्षण, मद्यपान, वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन जैसे कुव्यसनो से छुटकारा दिलाने में प्रयत्नशील बनूँ।’—यह चिंतन कर उन्होंने मन-ही-मन इस बात का दृढ़ संकल्प ग्रहण किया और अपने संयमी जीवन में अनेक ठाकुरों, जमींदारों, राजा-महाराजाओं को प्रतिबोध देकर, प्रभावित करके उनके दुर्व्यसन छुड़वाए।

□ जोधपुर-नरेश ने की चातुर्मास विनती

बीसलपुर, डांगियावास, बनाड़ होते हुए आचार्य श्री भूधर जी म. सा., मुनि श्री जीवनदास जी म. सा., मुनि श्री नारायणदास जी म. सा., मुनि श्री जेतसी जी म. सा. एवं मुनि श्री जयमल जी म. सा. आदि ठाणा सहित गुरु भगवन्त जोधपुर पधारे। जोधपुर-नरेश अभयसिंह जी तथा अनेक राज्याधिकारी, श्रेष्ठजन, श्रावक-श्राविकाओं आदि ने मुनि श्री जयमल जी म. सा. के मुखारविंद से निकले जिन-वचनों को श्रवण कर अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति की। जोधपुर दरबार ने भूधर जी म. सा. से इस वर्ष का चातुर्मास जोधपुर करने की भाव भरी विनती की। पूज्य भूधर जी म. सा. ने “जैसी क्षेत्र फरसना” कहकर टाल दिया।

महाराजा अभयसिंह जी ने पर-स्त्रीगमन, शिकार, सुरापान आदि व्यसनो के त्याग मुनिश्री जयमल जी के प्रवचनमृतों से प्रभावित होकर लिये। जोधपुर दरबार की विनती से

मेहरानगढ़ दुर्ग में भी विशेष प्रवचन का आयोजन रखा गया, जहाँ महारानियों ने सप्त व्यसनों का त्याग लिया।

□ सिवानंची जगाई धर्म की अनूठी ज्योत

जोधपुर मास कल्प स्थिरता के बाद विहार गढ़सिवाणा की तरफ हुआ। सिवाणा क्षेत्र में यतियों का जोर था। मुनि श्री जयमल जी ने यहाँ भी यतियों से चर्चा करके स्थानकवासी धर्म की ध्वजा फहराई।

मुनिवृन्द वहाँ से विहार कर मध्यवर्ती क्षेत्रों में श्रुतवाणी का प्रसार करते हुए बालोतरा पधारे। जहाँ जालोर संघ की भावभीनी विनती पर जालोर चातुर्मास हेतु पूज्यश्री ने स्वीकृति सुखे समाधे प्रदान की। जालोर क्षेत्र के लोग धर्मध्यान का अच्छा लाभ ले रहे थे। अतः आचार्य श्री भूधर जी म. सा. आदि ठाणा ५ ने इस वर्ष का चातुर्मास जालोर किया। शेष संतों का चातुर्मास अन्य क्षेत्रों में करवाया। जालोर चातुर्मास में मुनि श्री जयमल जी म. सा. के त्याग-वैराग्यमय प्रवचनों से दो दीक्षाएँ हुई तथा चातुर्मास के पश्चात् सात दीक्षाएँ हुई। इस वर्ष मुनि श्री जयमल जी ने एक मासखमण तप व चार अट्टाई तप किये तथा सम्पूर्ण ३२ अंगसूत्रों को कण्ठस्थ करके सुना दिये।

यहाँ अभूतपूर्व धर्म-प्रभावना कर चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् भीनभाल, जसवंतपुरा, सांचोर, राणीबाड़ा, मढ़ाल, देवदर, अणादर, चिनोट आदि क्षेत्रों में जिन-धर्म-सिद्धांतों की अमृत-वर्षा करते हुए सभी मुनि सिरोही पधारे। सिरोही-नरेश मानसिंह जी की पुत्री जोधपुर के महाराणा को दी गई थी। अतः सिरोही एक सशक्त राज्य बन गया था। यहाँ मास-कल्प तक रहे। मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रवचनों से सिरोही-नरेश मानसिंह ने मद्य-माँस का त्याग किया तथा अनेक अन्य राज्याधिकारियों ने भी कुव्यसनों के त्याग किये। यहाँ से धर्मवीर-क्रांतिकारी लोकाशाह की जन्मभूमि अरठवाड़ा होते हुए एरनपुरा, सादड़ी, अजमेर, किशनगढ़, जयपुर आदि ग्राम-नगर स्पर्शते, धर्म-प्रभावना करते अलवर, कोटा, बूंदी, मथुरा, वृन्दावन, आगरा होते हुए आचार्य श्री भूधर जी म. सा., जीवण जी म. सा. एवं मुनि श्री जयमल जी म. सा. ठाणा ३ दिल्ली पधारे तथा शेष सन्तों को मारवाड़ में ही विचरण करने की आज्ञा दी।

□ दिल्ली में दिया नृपतियों को उपदेश

दिल्ली में मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रभावी प्रवचनों की धूम मच गई। दूर-दूर के क्षेत्रों में उनकी चर्चा फैलती गई। जोधपुर के महाराजा अभयसिंह जी उस समय दिल्ली में ही

थे। गुरुवर का आगमन सुन वे गुरु-दर्शनार्थ गए तो राजपूताने के बड़े-बड़े सात नरेश^१ उनके साथ हो लिये। सभी ने मुनिवृंद के दर्शन किए। ज्योतिर्धर नक्षत्र की भाँति मुनि श्री जयमल जी म. सा. के जनकल्याणी व आत्मोद्धारक प्रवचन सुन सभी अत्यंत हर्षित हुए। प्रवचन-श्रवण के कारण देर से दिल्ली-दरबार में पहुँचे। बादशाह इन सभी की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। विलम्ब से आने का कारण पूछा तो ज्ञात हुआ कोई पहुँचे हुए सिद्ध-महात्मा, आला दर्जे (उच्च कोटि) के जैन सन्त आए हुए हैं। शाहजादा आकर्षित हुए। बादशाह से आज्ञा लेकर दूसरे दिन नरेशों के साथ वे भी मुनि-दर्शन को गए और वीतराग-वाणी का श्रवण किया। हिंसा और माँस-भक्षण सम्बन्धी अनेक प्रश्न शाहजादा ने किए और मुनिश्री जयमल जी ने उन सभी का अकाट्य, सतार्किक, मुस्लिम पवित्र ग्रंथ कुरान के उद्धरण देकर समाधान किया और सिद्ध किया कि दुनियाँ का कोई भी धर्म-हिंसा को धर्म-कार्य नहीं बताता, अपितु स्पष्टतः हिंसा का निषेध करता है। तब दिल्ली के शाहजादा ने संकल्प ग्रहण किया—

निरपराध प्राणी प्रते, हूं न उठासूं हाथ।
कर शुं दीन-दुखीन को, स्वयं न्यायमति नाथ ॥

—पूज्य जय गुणमाला, पृ. ४३

आज से मैं किसी भी निरपराध जीव के ऊपर हाथ नहीं उठाऊँगा, अर्थात् हिंसा नहीं करूँगा। दीन-हीन दुःखियों का न्याय मुल्ला-मौलवियों से नहीं करवाकर स्वयं ही निष्पक्ष न्याय करूँगा। प्रजा में धार्मिक मतभेद नहीं रखते हुए हिन्दू-मुसलमानों को समान भाव से देखूँगा।

□ जौहरी सेठ सूरजमल बने प्रथम जय शिष्य

दिल्ली में लोगों की धर्म-जागृति देख, उनकी महती विनती और श्रद्धा-भाव को सन्मान देते हुए वि. सं. १७९१ का चातुर्मास दिल्ली में किया। बादशाह सम्राट्, शाहजादा, बेगमें तथा अनेक राजा-महाराजा-महाराणा उनके प्रवचनों का लाभ वहाँ लेते थे। यहीं जौहरी सेठ श्री सूरजमल जी के अंतरंग में मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रवचन के प्रभाव से वैराग्य की किरण फूटी और उन्होंने आचार्यश्री के श्रीमुख से दीक्षा-मंत्र ग्रहण किया। उनको मुनि श्री जयमल जी म. सा. का प्रथम शिष्य घोषित किया गया।

१. (१) जोधपुर महाराजा अभयसिंह जी, (२) जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह जी, (३) नागौर महाराजा बखतसिंह जी, (४) सिरौही-नरेश मानसिंह जी, (५) बीकानेर-नरेश जोरावरसिंह जी, (६) किशनगढ़-नरेश मानसिंह जी, (७) शाहपुरा-नरेश भारतसिंह जी।

दिल्ली चातुर्मास समापन होने पर आचार्यश्री आदि ठाणा पंजाब गए जहाँ पर मुनि श्री जयमल जी के प्रवचनामृतों से ५ युवकों ने अल्प उम्र में ही आजीवन सजोड़े ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। पंजाब में धर्म की ज्योति जगाकर चूरू, फतेहपुर होते हुए पुनः मारवाड़ में पदार्पण किया। संवत् १७९२ व १७९३ के चातुर्मास क्रमशः मेड़ता व जोधपुर में हुए।

वि. सं. १७९४ में आचार्य श्री भूधर जी म. सा., मुनि श्री जयमल जी म. सा. आदि ठाणा ४ से नागौर चातुर्मास किया तथा शेष सन्तों को दो-दो, तीन-तीन के संघाड़े बनाकर अन्यान्य क्षेत्रों में धर्म-गंगा प्रवाहित करने के लिए चातुर्मास हेतु भेजा।

नागौर चातुर्मास में श्रावक-श्राविकाओं ने धर्मध्यान, जप-तप का खूब लाभ उठाया। चातुर्मास समाप्ति पर आचार्यश्री ने आसपास के क्षेत्रों की ओर विहार किया। मुनि श्री जयमल जी म. सा. को आचार्य भगवन् ने जैसलमेर की ओर विहार करने व वहाँ जाकर धर्म-ज्योति जगाने का आदेश दिया। सं. १७९४ को पू. नारायणदास जी म. सा., श्री रघुनाथ जी म. सा. ठाणा ३ का चातुर्मास पीपाड़ था, मुनि श्री सूरजमल जी उनके साथ थे। उसी चातुर्मास में निरन्तर २२ दिनों तक वर्षा के कारण संत गोचरी नहीं ला सके थे। मुनि श्री रघुनाथ जी म. सा. तथा मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रथम शिष्य मुनि श्री सूरजमल जी म. सा. भी उग्र तपस्वी थे। मुनि श्री सूरजमल जी म. सा. तप के कारण अत्यंत कृश हो गए। समाचार नागौर पहुँचे तो वहाँ से मुनि श्री जेतशी जी को सेवार्थ पीपाड़ भेजा गया। मुनि श्री सूरजमल जी ने अपना अंतिम समय निकट समझ संधारे की प्रार्थना की। इसी चातुर्मास में आसोज वद दूज, वि. सं. १७९४ को संधारा-संलेखना कर लिया, जो आठवें दिन आसोज वद ९ को समाधिमरण के साथ पूर्ण हुआ।

□ जय बने दीक्षादान-दानेश्वर

मुनि श्री जयमल जी म. सा. नागौर चातुर्मास के पश्चात् गुरु आज्ञा से मथाणिया, तिंवरी, खींचन, फलौदी होते हुए पोकरण पधारे। मुनि श्री के प्रवचनों से प्रभावित हो पोकरण-ठाकुर देवीसिंह जी ने शिकार खेलने, मद्यपान करने व माँस-भक्षण करने के प्रत्याख्यान लेकर जीवनभर के लिए इन कुव्यसनों का त्याग कर दिया। मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रवचनामृतों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि खींचन में दो, मथाणिया में दो, तिंवरी में दो, खींचन में पाँच, पोकरण में दो तथा पाँच युवकों ने फलौदी में बोध पाकर संयम ग्रहण किया। इन क्षेत्रों को सर्वप्रथम मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने ही शुद्ध संयमी साधुओं के विचरण योग्य बनाया। इससे पहले यहाँ यतियों का अत्यधिक जोर था। मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने यतियों को चर्चाओं में परास्त किया।

बंधुओं ! आप सभी को यह बताना आवश्यक है कि उन दिनों तिंवरी-मथानियां से आगे जैसलमेर का रास्ता बालू रेती के ऊँचे-ऊँचे टीलों से अटा पड़ा था, दिन में भयंकर गरमी और रात्रि में भयंकर शीत रहता था, विहार-पथ के क्षेत्र शुद्ध श्रमणचर्या से अनजान थे। अतः गोचरी-पानी की अत्यंत कष्टप्रद स्थिति थी। दिन में चमकते रेत-कण दूर से जल की चमक-से लगते थे। यही भ्रान्ति 'मृगतृष्णा' के नाम से प्रसिद्ध थी।

ऐसे दुस्तर पथ को पार करते हुए अनेक परीषह सहन करते हुए मुनिश्री जयमल जी म. सा. आदि ठाणा २१ का संघाड़ा जैसलमेर की ओर बढ़ रहा था।

मुनिधर्म में निर्जरार्थ उपसर्ग-परीषह को सहन करना प्रथम कर्तव्य है। शुद्ध सत्यधर्म उत्थानार्थ यतियों से चर्चा करने का संकल्प ले मुनि श्री जयमल जी म. सा. गुरु-आज्ञा से जैसलमेर के दुष्कर पथ पर समभावपूर्वक शिष्य-समुदाय सहित बढ़ रहे थे। सत्यधर्म का शंखनाद करना था वहाँ उन्हें। बड़ा रेतीला, मृगमरीचिका वाला, ऊँचे-ऊँचे रेत के धोरों वाला प्रदेश जैसलमेर। एक-एक बालिशत पैर गड़ जाते थे चलते समय, पर संकल्प के धनी पथ की भयंकरतम बाधाओं से भी भयरहित आगे बढ़ने वाले होते हैं और पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ठीक वैसे ही थे। था उनमें विशिष्ट आत्मबल, साधना का तेज। संयम की आभा से भव्य प्राणी सहज ही आकर्षित बन जाते।

वे महापुरुष बढ़ चले जैसलमेर के घोर रेतीले पथ पर। पथ कितना ही कष्टदायी था, पर परिणाम की आशा अत्यंत सुखद थी। जहाँ धर्महित, जिनशासन-प्रभावना और सत्यधर्म का शंखनाद करना हो, वहाँ भयंकर-से-भयंकर कष्ट, परीषह, उपसर्ग भी संकल्प-धनी दृढ़ संयमी को भयभीत नहीं बना सकते।

मुनिश्री के पहुँचने से बहुत पहले जैसलमेर में सन्देश पहुँच गया कि भ्रम-भंजक, चर्चा-चक्रवर्ती, युगपुरुष आ रहा है। काँप उठे शिथिलाचारियों के दिल। तुरंत सभी यति वर्ग एकत्रित हुए। निर्णय लिया गया कि रास्ते में ही हमारे उस शूल को नष्ट करवा दिया जाए, मौत के मुँह में पहुँचा दिया जाए। दूसरा कोई रास्ता उन्हें नजर नहीं आता था। उनकी तो बस एक ही चाह थी—जयमल ऋषि के चरण यहाँ नहीं पड़ने चाहिए; अन्यथा यह क्षेत्र तो पावन बन जाएगा, पर हम सभी का चलता हुआ ठग-विद्या का धंधा ठप्प हो जाएगा।

□ जय-जैसलमेर-धर्मोद्योत से यति समूह बना द्वेषान्ध

बंधुओं ! जैनागमों में १० प्रकार की हिंसा में अंतिम और सबसे भयंकर हिंसा है—'जीवियाओववरोविया'। प्राणी को, विशेष रूप से त्रस जीव को, उसमें भी मानव को और फिर मानवों में भी संयमी-त्यागी-मुनिश्रेष्ठ को जीवनरहित बनाना कितना भयंकर महापाप

है। पर जो अनीति पर उतर आते हैं, अन्याय और अनीति को अन्तर् में पालते हैं, वे भला इन सब बातों की क्यों परवाह करें? यति-समूह द्वेषांध था। उनके चर्म-चक्षु खुले थे, पर विवेक-चक्षु बन्द हो गए थे। योजना बनी मुनि श्री जयमल जी म. सा. को रास्ते में ही प्राणरहित बनाने की और क्रियान्विति के लिए भाड़े के क्रूर व्यक्तियों को कार्य सुपुर्द कर दिया गया।

मुनि श्री जयमल जी म. सा. 'धर मंझलां, धर कूंचां' बढ़ रहे थे, जैसलमेर की ओर। विहार धीमा था, चलने की गति धीमी थी, रेत के टीलों के कारण पैर गहरे गड़-गड़ जाते थे, पर मन मजबूत था, आत्मबल प्रबल था, संकल्प में दृढ़ता थी। राह में चलने की परेशानी के अतिरिक्त भूख-प्यास का घोर परीषह था, ठहरने के स्थान का भी परीषह ही था। अतः गरमी और सर्दी दोनों परीषह भी आ रहे थे। दिन में भयंकर गरमी, आँधियाँ, उड़ती हुई धूल का आँखों में गिरना। रात्रि में शीत। ज्यों-ज्यों रात उतरती, त्यों-त्यों शीत बढ़ती, फिर चारों ओर खुला। जगह कभी मिलती, कभी नहीं। कभी पेड़ के नीचे विश्राम, तो कभी कच्चे झोंपड़ों में विश्राम।

उन दिनों कच्चे झोंपड़े ही अधिक थे। कहते हैं कि तब झोंपड़े या मकान कच्चे होते थे, पर श्रावक पक्के। और आज स्थानक-भवन, धर्माराधन-स्थल पक्के, मजबूत पर श्रावक...? (श्रोताओं में से आवाज-कच्चे!) यह मैं नहीं कह रहा! मैं तो पक्का ही कहूँगा। मैंने देखा है पर्युषण के दिनों में श्रावक-श्राविकाओं का धर्म-रंग। संवत्सरी की बात बताता हूँ। इधर इस स्थानक-भवन में मच्छरों की भरमार और उधर यहाँ के सैकड़ों युवाओं ने पहली बार अष्टप्रहरी प्रतिपूर्ण-पौषध किया यहाँ। कहते हैं आगम में कि पौषध में धर्म-जागरण होनी चाहिए। मच्छरों ने उन युवकों को सोने नहीं दिया तो वे धर्म-जागरण में रात्रि व्यतीत करने लगे। सुन रखा है इन्होंने जय-प्रसंग कि पचास वर्ष तक लेटकर शयन नहीं किया आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने। याद किया उस प्रसंग को।

रात व्यतीत हुई, प्रातः प्रतिक्रमण किया, प्रत्याख्यान लिए, गुरुवंदन किया और बोले वे युवा—“गुरुदेव! आप धन्य हैं! आपके साथ ही अन्य मुनिजन भी धन्य हैं। कितना घोर परीषह, कष्ट सहते हैं आप? एक दिन का हमारा पौषध और आप तो नित्य संयम-साधना में रहते हैं। हमने जो अनुभव किया इस एक रात के पौषध में तो आश्चर्य होता है कि इस परिस्थिति में भी आप सबके चेहरे ऐसे खिले हुए। न कहीं खेद, न कोई व्यथा।”

इन युवाओं को मैंने मन-ही-मन धन्य कहा। इन्हें देखकर ही मैं कहता हूँ कि आज का श्रावक, युवावर्ग कच्चा नहीं है। व्रतों में, धर्म में, वह तो उपाश्रय से भी अधिक पक्का है,

पर चाहिए इनको कोई उचित ढंग से राह बताने वाला, प्रेरणा प्रदान करने वाला, उत्साह दिलाने वाला।

मैं कह रहा था कि विहार-पथ में बनी हुई झोंपड़ियाँ कच्चे मकानों में से कोई भग्न, जीर्ण-शीर्ण कमरा मिल जाता था रात्रि विश्राम के लिए या फिर मिल जाती थी घास-फूस निर्मित झोंपड़ी पूज्य श्री जयमल जी म. सा. को। ऐसे ही एक दिन वे किसी घास-फूस से निर्मित कच्चे झोंपड़े में रात्रि-विश्राम के लिए ठहरे। उन्हें मारने वालों ने पहले मंत्र-तंत्र विद्या को आजमाया, पर उनकी उत्कृष्ट साधना के आगे मारक यंत्र-मंत्र सारे ही व्यर्थ हो गए, तब एक दिन.....! घास-फूस के झोंपड़े में.....संतों को ठहरना पड़ा। अवसर देख यतियों के उन भाड़े के व्यक्तियों ने.....रात्रि का समय था। मुनि श्री जयमल जी म. सा. ध्यान-स्वाध्याय लीन विराजमान थे। शेष संत शय्यासन पर निद्रा के लिए प्रतीक्षित थे। कुछ निद्रा में भी होंगे। मुनिश्री की धर्म जागरणा चल रही थी। समय व्यतीत होता गया। अर्द्ध-रात्रि। सुनसान वातावरण। ऐसी निस्तब्धता में जरा-सी हलचल भी बहुत स्पष्ट भाषित होती है। शून्यता को ध्वनि-तरंगें अधिक तीव्र गति से भेदती चली जाती हैं। ध्यानावस्थित मुनि श्री जयमल जी म. सा. का ध्यान यत्किञ्चित् भी बाधित नहीं हुआ। तभी बहुत-सी पद-चापें सुनाई पड़ीं। ध्यान दिया, मानव-पद चापें। ऐसा लगा जैसे सचेत-सजग कुछ मानव अत्यंत सतर्कता से चल रहे हैं। कुछ पलक शांति में रहे फिर दौड़ती पद-चापें।

□ पुण्यवन्त नर होय जो, मार सके नहीं कोय

ध्यानावस्थित मुनिश्री का ध्यान भंग हो गया। आँखें खोलकर देखा इधर-उधर। झोंपड़ी, जिसमें स्वयं वे एवं मुनिगण ठहरे हुए थे, उसमें आग जलती दिखाई दे रही थी। एक क्षण में बात समझ में आ गई कि यह आग लगाई गई थी। लगाने वाले भाग चुके थे। आग बढ़ रही थी। काँटों की बाड़, घास-फूस की दीवारें। आग ने तेजी पकड़ी। ज्वालाएँ उठने लगीं। मुनिश्री ने बढ़ती आग की उष्णता अपने आप तक पहुँचती महसूस की।

मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने जिधर संत निद्रामग्न थे, उधर नजर डाली। अभी तक तो सभी निद्रामग्न थे। मुनिवर ने विचार किया। इस मनुष्य कृत उपसर्ग में धर्म-जागरणा ही एक मात्र श्रेष्ठ उपाय है। गणनायक के कर्तव्य का चिन्तन करते हुए साथी सन्तों के आत्म-विकास व आत्म-कल्याण का चिन्तन करने लगे। उनकी आँखों के सामने स्कंधक मुनि का प्रसंग तैरने लगा। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि अपने शिष्यों को समझाऊँगा— यह शरीर नश्वर है। अनेक जन्मों में अग्नि की भेंट चढ़ चुका है, किन्तु आत्मा को वह अग्नि जला नहीं सकी। मारणान्तिक उपसर्ग में जो साधक समभाव रख लेता है, वह सकाम

निर्जरा करता हुआ स्कंधक के शिष्यों की भाँति मोक्ष के सुख प्राप्त कर लेता है। आचार्य स्कंधक के पाँच सौ शिष्य घाणे (तेल निकालने का देशी यंत्र) में पील दिए गए। आचार्य स्कंधक को उन सभी के आत्मकल्याण का विचार उत्कृष्ट भावों के साथ आया हुआ था। अतः वे वहीं खड़े-खड़े निरन्तर अपने प्रत्येक शिष्य को बारी-बारी समभाव से वेदना सहन करने, मंत्री पालक पर क्रोध न करने, भावों में शुभता-शुद्धता-उत्कृष्टता लाने को कहते रहे, प्रेरणा देते रहे, उपदेश देते रहे। उनकी प्रेरणा व उपदेश से वे सभी शिष्य समभाव में स्थिर बने रहे। गुरु ने उन्हें साधक से विराधक नहीं बनने दिया। मोक्ष नगरी में पहुँचा दिया।

मुनि श्री जयमल जी म. सा. के मस्तिष्क में एक क्षण के लिए वह घटना जैसे साकार हो गई। उन्होंने अपने सभी साथी-संतों को जगाया, यथास्थिति से अवगत कराया। सामने आग की लपटें व साक्षात् मौत को देखकर किसी भी शिष्य में घबराहट के कोई चिह्न नहीं उभरे। मुनिश्री ने अपने सभी शिष्यों को और अधिक आत्मस्थ भाव में रमण करवाने के लिए शांत एवं स्थिर स्वर में कहा—“भव्यों ! साधना में ऐसी कसौटियाँ ही साधक के आत्मबल को बढ़ाती हैं। शरीर मरणधर्मा है, आत्मा तो इस आग में तपकर कुन्दन ही बनेगी। चाहिए मन में अतुल शांति, अपार सहनशीलता और गहन समभाव। हम लोगों की साधना में अंतिम समय की आलोचना, संलेखना, संथारा अति महत्त्वपूर्ण है। यह संथारा साधना को पूर्ण सिद्धि के अंतिम बिन्दु तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। अतः हम सभी इस परीक्षा की घड़ी में सागारी संथारा ग्रहण कर लें तो उत्तम रहेगा।

बंधुओं ! सभी के लिए मारणांतिक उपसर्ग था और वह भी ऐसे समय जब मुनि श्री जयमल जी म. सा. अपने गुरुदेव क्षमाश्रमण आचार्यश्री भूधर जी म. सा. की आज्ञा से जैसलमेर में जय-पताका फहराने जा रहे थे। संयम-जीवन का यह सबसे बड़ा प्रथम उपसर्ग था, जब गुरु आज्ञा से उन्होंने अलग संघाड़े के साथ विहार किया था। संघाड़े के शीर्ष पर थे इस समय वे। सारे उत्तरदायित्व इस समय इस संघाड़े के लिए उनके कंधे पर। धर्म के प्रति अटूट श्रद्धावान उस महनीय आत्मा ने इस परिस्थिति में भी धैर्य का साथ नहीं छोड़ा, असहज नहीं बने, साथी-मुनिराजों के धैर्य को भी बढ़ाने का प्रयत्न किया और उसमें पूर्ण सफल रहे।

मुनिश्री एवं सभी संतों ने सागारी-संथारे के प्रत्याख्यान लिए और आत्मा को आत्मा में सुस्थित करने के लिए चित्त की एकाग्रता के साथ ध्यानस्थ बन गए।

बंधुओं ! दृढधर्मी व्यक्तियों के लिए धर्मकार्य हेतु प्राणोत्सर्ग एक त्योहार के समान है। उपसर्ग के कारण वे सभी साधक तैयार हो गए अपने मरण को, महोत्सव का रूप देने के लिए।

उधर आसपास के झोंपड़ों में रहने वाले कृषक-वर्ग में से कोई कृषक लघु-शंका के लिए झोंपड़े से बाहर आया। देखा उसने आग को धधकते, झोंपड़े को जलते। चिल्ला पड़ा वह—“आग ! आग !” आसपास के किसान भी जग गए। वे आग बुझाने के लिए प्रयत्नशील बनते उससे पहले ही अचानक पूर्व से ठंडी हवा के तेज झोंके आने लगे, बादल उमड़ने लगे और कुछ ही क्षणों में तेज मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गई। आग शांत हो गई।

बंधुओं ! यह एक संयोग था। दैविक संयोग कहेंगे हम इसे। यदि यह कह दें कि यह सब उस महापुरुष के जप-तप, त्याग-प्रत्याख्यान, उत्कृष्ट संयम आदि का चमत्कार था, तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि आगमकार कहते हैं—**देवावि तं नमंसंति।**

मुनि श्री जयमल जी म. सा. के जीवन के ऐसे-ऐसे एक नहीं, अनेक प्रसंग हैं। वे पूर्ण धीर, वीर, गम्भीर साधक थे। हर परिस्थिति में समभाव में रमण करते थे। कौसी भी विपरीत परिस्थिति बने, पर वे अडोल, अकम्प, अविचलित रहते थे।

उपसर्ग समाप्त हुआ। सभी ने प्रत्याख्यान (सागारी संधारा) को विधिवत् पारकर प्रातः सूर्योदय के पश्चात् प्रतिलेखनादि करके पारणे के लिए चंदन ग्राम की ढाणियों में से निर्दोष आहार पानी ले वहाँ से विहार किया। जहाँ से जैसलमेर २२ मील था।

□ जो है असली जय, उसे किसका भय ?

दूसरे दिन विहार के मध्य पथ में एक ऊँट सवार ने देखा इन मुनिजनों को। जैसलमेर से आया था वह और जोधपुर जा रहा था। जैसलमेर राज्य का कर्मचारी था वह। मुनिवृंद को पहचानकर ऊँट को ठहराया वहाँ। स्वयं नीचे उतरा। आते हुए मुनिजनों के समक्ष गया और हाथ जोड़कर मुनि श्री जयमल जी म. सा. से बोला—“आप क्या जैसलमेर जा रहे हैं ?”

मुनिश्री ने स्वीकारात्मक संकेत किया तो वह बोल उठा—“मत जाइए आप वहाँ ! क्या करेंगे वहाँ जाकर ? वहाँ के जैन यति आपसे खार खाए बैठे हैं। वहाँ उन्होंने आपका एक विशाल पुतला बनवाकर जुलूस निकाला है। उन लोगों ने आपके इस पुतले का बीच बाजार घोर अपमान किया है। जूतों की माला पहनाई है उसे, जयकारों की जगह गालियों की बौछार करते हुए ले गए हैं आपकी मूर्ति को, थूका है मूर्ति पर, मुट्टी भर-भरकर धूल फेंकी है मूर्ति पर। वे जोर-जोर से चिल्लाकर लोगों को सुना रहे थे उस जलसे में कि “यह ढोंगी है, पाखंडी है, इसे मारो, इसे पीटो।” आपकी मूर्ति को जूतों और पत्थरों से मारा है उन्होंने। मैं तो अत्यंत व्यथित बन गया था यह सब देखकर। आपसे मेरा विनयपूर्वक निवेदन है कि वहाँ जाने का विचार त्याग दें।”

बंधुओं ! ऊँट सवार यह सब कह रहा था, इसी बीच एक और ऊँट सवार वहाँ आ पहुँचा। यह ऊँट सवार जोधपुर राज्य का राजकर्मी था और जोधपुर राजघराने का कोई आवश्यक सन्देश लेकर जैसलमेर ही जा रहा था। ऊँट खड़ा देखा वहाँ, मुनिराजों को देखा, एक व्यक्ति को उनसे बातें करते देखा, तो उसने भी ऊँट रोक लिया। उतरा वह ऊँट से नीचे। मुनिराजों के निकट आया, हाथ जोड़े व खड़ा होकर पहले वाले ऊँट सवार की बातें सुनने लगा।

जैसलमेर वाले ऊँट सवार की बातें मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने सुनी तो मुस्कराकर बोले—“भाई ! वे जो कुछ भी कर रहे हैं या जो कुछ उन्होंने किया, वह उनकी नादानी है। मेरा इसमें कोई अपमान नहीं है। मुझे यह सब सुनकर उन पर तरस आ रहा है। जो कुछ वे कर रहे हैं, नकली पुतले के साथ कर रहे हैं। नकली की तो ऐसी ही हालत होती है। मैं तो असली हूँ। मुझे उनसे कोई भय नहीं है। मेरा उद्देश्य है सत्यधर्म का प्रकटीकरण। इसी कार्य के लिए मैं वहाँ जा रहा हूँ। अतः मुझे अपना कार्य करना है, जैसलमेर जाना है। डरकर भाग जाना, मुँह फेर लेना कायरों का काम है। वे जो कुछ कर रहे हैं उससे मेरे कर्मों की निर्जरा में लाभ ही होगा। प्रभु महावीर के सिद्धान्तों को आम जन तक पहुँचाना यही मेरा लक्ष्य है। मैं उससे पीछे नहीं हट सकता।”

मुनिश्री की बातें दोनों ऊँट सवारों ने सुनीं। ऐसे युवा, तेजस्वी संत की ऐसी निर्भीकता, ऐसा साहस देख वे प्रभावित हुए। दोनों पुनः हाथ जोड़ अपने-अपने गन्तव्य की ओर चल दिए। मुनिश्री भी अपने गन्तव्य, अपनी मंजिल, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ गये।

□ जय संयम व तप ने किया कमाल

बंधुओं ! जोधपुर का ऊँट सवार जैसलमेर पहुँचा तो जैसलमेर महाराज को उसने जोधपुर राज्य का सन्देश देने के साथ ही मुनि श्री जयमल जी म. सा. के विषय में जो कुछ राह में देखा-सुना, वह भी कह दिया। सुनकर महाराजाधिराज भी मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रति आकर्षित हुए, प्रभावित हुए और मन में इस बात से दुःखी हुए कि उनके राज्य में ऐसे शांत, निर्द्वेषी संतों का इस तरह पुतला बनाकर अपमान किया गया। जैसलमेर नरेश ने तुरन्त राज्यादेश फिरवाया—“मुँहपत्ती बाँधे हुए निःस्पृह जैन साधुओं को जैसलमेर राज्य में स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने की पूरी सुविधाएँ दी जाएँ। इसमें बाधक बनने वाले असामाजिक तत्त्वों को कड़ी सजा दी जायेगी।”

संयम और तपमय जीवन का कितना अद्भुत प्रभाव हुआ। मुनिश्री के जैसलमेर पहुँचने से पूर्व ही विरोध करने वालों के हौसले पस्त हो गए। सत्यधर्म प्रचार का पथ निर्बाध बन गया। मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने अपने संतों के साथ जैसलमेर में सानन्द प्रवेश किया।

सैकड़ों लोग उनकी अगवानी में, उनके सामने, उन्हें जय-जयकार के साथ लिवाने आए। मुनिश्री श्रद्धालु भक्तों के समूह के साथ जैसलमेर किले के निकट पहुँचे। जैसलमेर नरेश तब स्वयं चलकर किले की पोल तक आए एवं किले में कल्पनीय स्थान पर विराजने, ठहरने की विनती की। नृप की विनती स्वीकार कर मुनिवर किले में पधारे और कल्पनीय स्थान देखकर विराजमान हो गए।

गोचरी का समय होने पर राजा ने मुनिश्री से भोजन के लिए निवेदन किया। मुनिश्री जयमल जी म. सा. ने जैन मुनियों के आहार सम्बन्धी नियम उन्हें बताए और यह भी कहा कि राज-पिण्ड तो हमें वैसे भी नहीं कल्पता। गढ़ में रहकर मुनिश्री ने अपने प्रभावी एवं ओजस्वी प्रवचनों द्वारा राज-परिवार व प्रजा-जन को सदबोध दिया। किले में श्री पार्श्व जिन मंदिर के पीछे बने पुरातन पुस्तक-कोष में अनमोल पुरातन जैन-ग्रंथों का विशाल भंडार था। मुनिश्री ने उस भंडार का अवलोकन किया, अनेक ग्रंथों का गहन अध्ययन भी किया एवं उपयोगी नवीन जानकारी देने वाली सामग्री का सार-लेखन भी किया। ग्रंथागार में अनेक ग्रंथ ताड़-पत्रों पर लिखे हुए थे, अनेक ग्रंथों पर लिखी हुई टीका, भाष्य, चूर्णि, अवचूरी वगैरह का अवलोकन करके मुनिश्री ने उन्हें चिन्तन की कसौटी पर कसकर के धारण किया। इसी ग्रन्थालय से मुनि श्री जयमल जी ने प्राचीन हस्त प्रति से 'चैत्य' व 'चेइय' शब्द के एक सौ बारह अर्थ प्राप्त कर यतियों को चर्चा में परास्त किया। (११२ अर्थ जयध्वज में देखें।)

जैसलमेर शहर और उसके आसपास के क्षेत्र में मास-कल्प तक मुनिश्री ने धर्मध्यान की, ज्ञान-दर्शन की, तप-स्वाध्याय की गंगा बहाई। प्रत्यक्ष उपसर्ग के प्रसंग पर धर्म के प्रभाव से असामयिक वर्षा और उपसर्ग मुक्ति एवं सन्तों के उकृष्ट तप-संयम से प्रभावित जनता जैनधर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धान्वित हो रही थी। जहाँ-जहाँ पाखंड-मत थे, शिथिलाचार था, कुरीतियाँ और आडम्बर थे, वहाँ-वहाँ मुनिवर ने अपने प्रभावी उपदेशों से उन्हें दूर कर सद्धर्म का प्रचार किया। सुदेव, सुगुरु, सुधर्म का विवेचन कर श्रद्धालु लोगों को शुद्ध समकित का अर्थ सविस्तार समझाते हुए उन्हें 'शुद्ध श्रद्धान्' के लिए संकल्पित बनाया। जैसलमेर में जसरूपसी मेहता अपने लघु बन्धु एवं लघु पुत्र के साथ दीक्षित हुए।

□ प्रथम स्वतंत्र चातुर्मास

इस तरह जैसलमेर में फाल्गुनी चौमासी तक सत्य वीतराग वाणी का डंका बजाकर पाखंड और शिथिलाचार को मिटाकर तथा नवीन ज्ञान-साधना कर मुनि श्री जयमल जी म. सा. आदि ठाणा २४ ने पुनः जोधपुर की ओर विहार किया। मार्ग में देवीकोट, बाइन्सरा,

बनियाना, फलसून होते हुए शेरगढ़ पधारे, जहाँ यतियों से चर्चा हुई। दो श्रावकों ने मुनि श्री जयमल जी म. सा. के प्रवचनामृतों से दीक्षा धारण की। वहाँ से बालेसर पधारे, जहाँ पाँच भाइयों ने दीक्षा धारण की। इस प्रकार मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने ३१ ठाणों से जोधपुर नगर में प्रवेश किया। पीपाड़ में मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के दर्शन किए। आचार्य श्री भूधर जी म. सा. ने मुनि श्री जयमल जी म. सा. को अति अल्प समय में दीक्षाओं की प्रभावना करने के लिए बहुत-बहुत साधुवाद दिया और उन्हीं के साथ सभी सन्तों ने मेड़ता की ओर विहार किया। जोधपुर की आग्रह भरी विनती को देखकर आचार्यश्री ने मुनि श्री जयमल जी को जोधपुर चातुर्मास की आज्ञा प्रदान की। संवत् १७९५ के जोधपुर चातुर्मास में धर्मध्यान का अभूतपूर्व मेला लगा। उन्होंने अपने गुरुदेव से अलग एक पृथक् संघाड़े के रूप में विचरण तो किया था, पर चार मास एक स्थान पर पृथक् यह उनका प्रथम चातुर्मास था।

वि. सं. १७९५ के चातुर्मास के पश्चात् संवत् १८०४ तक मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने समदड़ी, बालोतरा, सीवाणा, मोकलसर, जालोर आदि गोड़वाड़ क्षेत्रों में घूम-घूमकर ठाकुरों, जागीरदारों को प्रतिबोध दे मद्य-माँस सेवन, शिकार, जुआ आदि के प्रत्याख्यान करवाए व जन-साधारण को धर्म के पथ पर चलने की महती प्रेरणा देते हुए वीतराग वाणी का अपूर्व प्रसारण किया। गोड़वाड़ क्षेत्र में जिनशासन की भव्य प्रभावना कर पुनः मारवाड़ की तरफ पधारे और क्रमशः सोजत (१७९६), जोधपुर (१७९७), मेड़ता (१७९८), किशनगढ़ (१७९९), महामन्दिर (१८००), जोधपुर (१८०१), मेड़ता (१८०२), सोजत (१८०३) चातुर्मास कर जिनधर्म की ज्योति से मरुधरा (१७९५ तक गोड़वाड़, १७९६ से १८०४ तक मारवाड़) के कण-कण को प्रज्वलित बनाते हुए मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने धर्म-क्षेत्र में अत्यधिक सुयश का अर्जन किया। अनेकों भव्य आत्माओं को जैन भागवती दीक्षा-मंत्र प्रदान किया।

□ गुरु का वियोग-अप्रमत्तता का संयोग

संवत् १८०४, विजयादशमी का पर्व, मेड़ता शहर। बंधुओं ! वही मेड़ता शहर जहाँ मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने सोलह वर्ष पूर्व (संवत् १७८८) आचार्य श्री भूधर जी म. सा. जैसे महान् क्षमाश्रमण श्रेष्ठ संत-रत्न को गुरु के रूप में प्राप्त किया था, अपने उन गुरुदेवश्री से बिछुड़ना पड़ा था उन्हें सदा-सदा के लिए। आश्विन शुक्ला दशमी, शुक्रवार ९२ वर्ष की आयु में २७ वर्ष की संयम-पर्याय पालन कर शुद्ध मन से लिए संथारे के साथ आचार्य श्री भूधर जी म. सा. का समाधिमरण हुआ।

मुनि श्री जयमल जी म. सा., पूज्य गुरुदेव श्री भूधर जी म. सा. के देवलोक-गमन हो जाने पर उनकी पार्थिव देह के सामने चिन्तनलीन बन गये। विचार कर रहे थे—‘चिरनिद्रा’ पर, निद्रा का चिन्तन भी आया, भावों में उत्कृष्टता बढ़ी तो अप्रमत्तता पर चिन्तन पहुँच गया। सोचा—‘प्राणरहित देह आज परावलम्बी बन गई। कभी मेरी भी यही हालत होगी, पर उससे पूर्व ही मुझे यह ‘चिर-निद्रा’ का रोग मिटा देना चाहिए। सजग, सचेत बन प्रतिपल आत्म-रमणता में लगाना चाहिए। निद्रा बैरण है जो आत्म-रमणता की बाधक है।’ बस इसी चिन्तन में दृढ़ संकल्प धारण कर लिया मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने कि ‘मैं जीवन-पर्यन्त आड़ा आसन नहीं करूँगा, अर्थात् लेटूँगा नहीं, सोऊँगा नहीं तथा एकान्तर को अब आगे बढ़ाते हुए बेले-बेले तपस्या करूँगा।’

बंधुओं ! उस महामुनीश्वर ने, दृढ़ संकल्पी योगेश्वर ने फिर आजीवन उस संकल्प को दृढ़ता से निभाया, पचास वर्षों तक उन्होंने आड़ा आसन नहीं किया।

बंधुओं ! आचार बिना विचार कृत्रिम (कल्चर) मोती की तरह होते हैं, कैसी होगी इनकी रोशनी, इनकी चमक, इनकी दमक ? टी. वी. पर प्रवचन बहुत-से सन्तों के आते हैं, सुनते हैं आप, ज्ञान-ध्यान भी बहुत है, जप-तप भी है, पर जो नहीं है, वह है चढ़ते हुए भाव। किया जाता है बहुत कुछ पर वह सब आडम्बरों की लपेट और चपेट में। आवश्यकता है एकभवावतारी, दिव्य जयमल जैसे युगपुरुष के नवीन क्रान्तिकारी पथ-चिह्नों पर चलकर आभ्यन्तरिक आभा को प्रकाशित करने की।

चातुर्मास पूर्ण होने पर मेड़ता से मुनि श्री जयमल जी म. सा. जोधपुर पधारे। जोधपुर जिनका पितृगेह (पीहर) और बीकानेर जिनका श्वसुरगेह (ससुराल) था, ऐसी रामकुंवर नाम की श्रद्धालु श्राविका मुनिश्री के दर्शनार्थ आई। बीकानेर देश के दीवान और सेनापति की माता थीं वे। मुनिश्री का मांगलिक श्रवण करते-करते उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े। इस आर्त्तध्यान का कारण पूछने पर उस बाई ने मुनि श्री जयमल जी म. सा. से कहा—“गुरुदेव ! मेरी प्रबल भावना थी यहाँ रहकर आपश्री के नित्य प्रवचन श्रवण किये, पर मेरे अंतराय कर्म का उदय, आज ही लेने के लिए बीकानेर से घुड़सवारों के साथ पालकी आ गई। जाना जरूरी है पर मन आपश्री के मुखारविंद से अमृतवाणी श्रवण में अटका हुआ है। बहुत दूर है यहाँ से बीकानेर। अब जाने कब आपश्री के दर्शन हों ? जाने कब श्रुतवाणी श्रवण का लाभ मिले ?”

बंधुओं ! उस महिला के वचनों में अत्यंत विनयभाव था, उसकी शब्दावली से अगाध श्रद्धा झलक रही थी, उसका एक-एक वचन भक्ति के सरोवर में हिलोरें लेती लहरों की

तरह था। उसके साथ परदा (चांदणी) थामने वाली दासियाँ तो चकित रह गईं। सोच रही थीं वे कि स्वामिनी को अपने गुरुवर के प्रति कितनी गहरी आस्था है ?

मुनिश्री क्या कहते ? वे मौन रहे !

रामकुंवरबाई ने कुछ क्षणों बाद वहाँ छा गई चुप्पी को तोड़ते हुए कहा—“गुरुदेव ! आप तो सर्वत्र ज्ञान-ज्योति जगाते हैं, ग्राम-नगर सभी क्षेत्रों को पावन करते हैं, फिर क्या बीकानेर आपकी पद-रज के स्पर्श से वंचित रहेगा ? आपके मुखारविन्द से वहाँ जिनवाणी की अमृत वर्षा नहीं होगी ? जैसलमेर, सिरोही, दिल्ली, जालोर, सांचोर, नागौर, पीपाड़ आदि जाने कितने ही क्षेत्रों को आपने यतियों को चर्चा में परास्त करके खोला है फिर बीकानेर पर अकृपा क्यों ?”

मुनिश्री ने बीकानेर के प्रस्ताव को लगभग टालते हुए कहा—“बाई ! बहुत दूर है बीकानेर, अभी तो यहाँ आसपास के ही अनेक क्षेत्र में विचरण करना है, फिर बीकानेर का विहार-पथ अत्यन्त दुष्कर, कठिनाइयों से भरा हुआ है।”

□ मुक्ति-पथ जितना तो दुष्कर नहीं बीकाणे का मार्ग

रामकुंवरबाई भी शिष्या थी युगप्रधान श्री जयमल जी म. सा. जैसे पक्के संत की तो कच्चावट कैसे रखती ? वह स्वयं एक उच्च कोटि की श्राविका थी, श्रमणों के आचार-विचार, विहार आदि को समझती थी। राजनीति में शिष्टाचार के अंग से उसका प्रत्यक्षीकरण था। उसने कहा—“मुनिवर ! आप तो मोक्ष-मार्ग के राही हैं। मुक्ति-पथ जितना दुष्कर है, उतना कठिन तो बीकानेर का मार्ग नहीं है। आपके लिए उधर का विहार दुष्कर नहीं होगा।”

इस पर मुनिश्री बोले—“मैं तो कर लूँगा विहार पर साथ के संत भी तो हैं। उनका ध्यान भी तो मुझे रखना है।”

रामकुंवरबाई तथा मुनिश्री के मध्य हुई इस वार्ता को पूज्य गुरुदेव आचार्यप्रवर श्री लालचंद्र जी म. सा. ने काव्य-शैली में बहुत ही सुन्दरता के साथ लिखा है—

रामकुं.— पूज्य बीकाणे पधारो जी,
ओ जी उठे कोई नहीं पधारे, हुंकारो भर लो जी ॥

मुनिश्री जय.— श्राविका म्हां किमकर आवांए,
ऐ री उण मारग विषमी धोरा, अशाता उपजे रे ॥

रामकुं.— पूज्य मुक्ति मारग जितरो जी,
नहीं कठिन बीकाणे रो गेलो, हुंकारो भर लो जी ॥

मुनिश्री जय.— श्राविका थारो कहणो सांचो ए,
पण साथ रहे मुनि ज्यांने, अशाता उपजे रे ॥

रामकुं.— पूज्य थारां शिष्य पुण्यवंता जी,
सब सहनशीलता वाला, हुंकारो भर लो जी ॥

विनय भक्ति सहित सुश्राविका रामकुंवरबाई ने कहा—“आप जैसे संत भला बिना जाँचे-परखे किसी ऐसे-वैसे को शिष्य कैसे बना सकते हैं ? आपके सभी संत आप ही की भाँति चारित्र में दृढ़ निष्ठावान हैं। वे सभी उत्कृष्ट परिणामों वाले हैं, हर परिस्थिति में, हर परीषह-उपसर्ग में अविचल रहने वाले हैं—यह मेरा विश्वास है। अतः मेरी विनती है कि आप बीकानेर पधारें। आपके वहाँ पदार्पण से वहाँ के भविजनों को निर्मल जिनवाणी का लाभ तो प्राप्त होगा ही, बीकानेर विचरण के लिए हमेशा से बन्द साधु-संतों का मार्ग भी खुल जाएगा।”

□ थानें पग-पग रिद्ध-सिद्ध मिलसी

“मुनिवर ! आज तक किसी भी श्रमण-निर्ग्रन्थ का उधर पधारना नहीं हुआ, कोई सच्चा साधक आज तक वहाँ नहीं पहुँचा। यतियों के तीन सौ पचास से अधिक उपाश्रय हैं वहाँ। वे सभी आडम्बर और प्रदर्शन में विश्वास रखने वाले ढोंगी, पाखंडी हैं। सत्य-तथ्य का निरूपण करने वाला कोई नहीं। अब अंधकार में प्रकाश की केवल एक किरण है और वह हैं आप। आप वहाँ पधारिए। निश्चय ही उस पथ पर आपके कदम-कदम से अष्ट सिद्धि, नव-निधि प्रकट होगी। कृपा करें इस श्राविका पर। मेरी ही विनती को संघ की विनती मानकर एक बार उधर पधारने की स्वीकृति प्रदान करें।”

मुनि जयमल जी को याद आया—“गुरुदेव ! आचार्य श्री भूधर जी म. सा. कहा करते थे—जो क्षेत्र सच्चे श्रमणोपासक धर्म से दूर हैं, वंचित हैं, अछूते हैं, उन्हें खोलने का पूर्ण प्रयत्न रखना।”

रामकुं. — पूज्य अमि रस पाओ जी,
ओजी ज्यूं भाग्य खिले भवियां रा, हुंकारो भर लो जी ॥
पूज्य जिनधर्म प्रचारो जी,
ओजी थे विचरो देश-प्रदेशां, हुंकारो भर लो जी ॥
पूज्य थें हो तपधारी जी,
थानें पग-पग रिद्ध-सिद्ध मिलसी, हुंकारो भर लो जी ॥

मुनिश्री— विनती सुन हृद फरमावे जी,
बाई थारी बात धरी मन में, सद्गुरु सा बोल्यो जी ॥
केवली भाव जो देख्याए,
तो मनसा है आवा री, सद्गुरु सा बोल्यो जी ॥

रामकुं.— 'लाल' आ मोत्यां बिचली जी,
इणरा जाज्झा* जतन करीजो ... महर करीजो जी ॥

तभी बाई ने पुनः कहा—“मेरी विनती स्वीकृत हो जाए तो बीकानेर का क्षेत्र सच्चे साधुओं के लिए खुल जाएगा और यह वर्तमान परिपेक्ष्य में जिनधर्म की महती प्रभावना का कार्य होगा।”

पूज्य जयमल जी म. सा. के मन-मानस में बीकानेर क्षेत्र स्पर्शने की बात जम गई। वे साधु-भाषा में कह उठे—“विहार होगा तब तुम्हारी विनती का ध्यान रहेगा फिर जो-जो पुद्गल स्पर्शना, निश्चय स्पर्शें सोय।”

रामकुंवरबाई ने कहा—“आपकी साधना में अष्ट सिद्धि, नव निधि का निवास है, आपकी जिह्वा पर साक्षात् सरस्वती का वास है। मुझे आपके सान्त्वना भरे वचनों में बीकानेर धर्मक्षेत्र का उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है।”

□ बडलू में उदय व केशव बने दीक्षार्थी

कुछ दिनों की स्थिरता के पश्चात् मुनि श्री जयमल जी म. सा. बीकानेर को लक्ष्य में लेकर जोधपुर से विहार कर गांगाणी पधारे जहाँ खेमचन्द जी और पृथ्वीराज जी दोनों बन्धुओं ने उपदेशामृत पान कर संयम लिया। वहाँ से मुनिश्री बडलू (भोपालगढ़) पधारे। वहाँ कुछ दिन विराजना हुआ। व्याख्यान हुआ। व्याख्यान वाणी में अद्भुत जादू था ही। दो भाई उदय और केशव बन्धु युगल आपकी वाणी से प्रभावित होकर वहाँ दीक्षित हुए। राह में भी अनेकों दीक्षाएँ हुईं। मध्यवर्ती क्षेत्रों में धर्म-प्रसार करते हुए मुनिश्री नागौर की तरफ पधारे।

□ नागौर को बनाया जिनवाणी की वर्षा से नगीना

नागौर संघ की लगातार विनतियों का ध्यान रखते हुए नागौर.....। नागौर में उस समय चौरासी गच्छों के उपाश्रय थे, सभी उपाश्रयों में श्रीपूज एवं यति निवास करते थे। ये लोग

* ज्यादा

यंत्र, मंत्र, तंत्र आदि विद्याओं में निष्णात माने जाते थे। जन-जन में इस तरह की मान्यता के कारण साधारणजन उनसे भयभीत, आतंकित बना रहता था। पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने वि. सं. १७९२ के मेड़ता चातुर्मास के पूर्व प्रथम बार नागौर की तरफ विहार किया। तब सामूहिक रूप से यतियों ने आपसे चर्चा की, पर चर्चा में यति हार गये। नागौर क्षेत्र स्थानकवासी सन्तों के लिए विचरण योग्य बन गया।

बीकानेर से अध्ययन करके लौटे किसी श्रीपूज ने सुना कि स्व. आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के प्रभावी शिष्य मुनि श्री जयमल जी म. सा. अपने शिष्य समुदाय सहित आये हैं, उन्होंने स्थान-स्थान पर आगम मान्यताओं के साथ यतियों से चर्चा कर उन्हें परास्त किया है और जैनानुयायियों को, यति परम्परा के श्रावक-श्राविकाओं को शुद्ध समकित अंगीकार करवाया है। उन्हें ये भी ज्ञात हुआ कि वे आगम-रहस्यों के, गूढ़ार्थों के विशिष्ट ज्ञाता हैं। ३२ आगम जिनको कण्ठस्थ याद हैं।

श्रीपूज को भी अपने ज्ञान पर अभिमान था। अनेक ग्रन्थों के जानकार थे पर गूढ़ार्थ, मनन-चिन्तन द्वारा सार तत्त्व को निकालने आदि की विद्या में बाल थे, नादान ही थे। अपने ज्ञान के अभिमान में भरकर के श्रीपूज अपने यति-शिष्यों के शीश पर बड़े-बड़े ग्रंथों के गट्ठर रखकर चर्चा के लिए मुनि श्री जयमल जी म. सा. के पास आए।

आचार्य गुरुदेव श्री भूधर जी म. सा. को परोक्ष भाव वंदन कर मुनि श्री जयमल जी म. सा. सहर्ष उनसे चर्चा करने लगे। दोनों में प्रश्नोत्तर चलते रहे, अंत में अभिमानी का मान चकनाचूर हुआ, वह निरुत्तर बना, उसने मुनिश्री के आगम-अर्थ व विवेचन की बातों को सत्य माना पर मुँह से यह स्वीकार न कर सका। अतः अपने सारे ग्रंथ वहीं छोड़कर चुपचाप अपने यति शिष्यों के साथ वहाँ से चला गया। मुनि श्री जयमल जी म. सा. की सम्पूर्ण नागौर में जय-जयकार होने लगी।

नागौर-नरेश बखतसिंह जी मुनिश्री के पदार्पण का सन्देश पाकर अत्यंत हर्षित हुए। दर्शन, वन्दन के बाद प्रवचन श्रवण किया। प्रभावित हुए जिनवाणी से, और शिकार तथा पर-स्त्रीगमन के त्याग मुनिश्री से लिये। नागौर के भक्तों और राज-परिवार ने मास-कल्प विराजने की अत्यंत आग्रह भरी विनती की, पर मुनिश्री का तो लक्ष्य था बीकानेर। अतः उन सभी का आग्रह नहीं माना गया।

महाराज बखतसिंह जी को ज्ञात हुआ कि मुनिश्री संत-मंडली के साथ बीकानेर जा रहे हैं तो अति चिन्तित हुए। उन्होंने कई शंकाएँ गुरुदेवश्री के सम्मुख रखीं। मार्ग बड़ा कठिन

था, यतियों का वहाँ पर अत्यधिक दबदबा व प्रभाव था, यतियों के आडम्बर का वह बहुत बड़ा क्षेत्र था। इन सब के अतिरिक्त एक विशेष बात यह थी कि जोधपुर व बीकानेर के बीच कुछ ही वर्षों पूर्व युद्ध हो चुका था; इसी युद्ध में भंडारी रतनसिंह जी काम आ गए थे, अतः उन्हें सीमा पर ही रोककर उनका अनादर, तिरस्कार आदि संभाव्य था।

मुनिवर ने इन सभी बातों के होते हुए भी धर्म-प्रभावना हेतु विहार का मानस बनाये रखा। उनका आत्मबल प्रबल था और धर्म-प्रभावना तथा सत्यधर्म का झंडा फहराने के निमित्त वे कोई भी कष्ट उठाने के लिए तत्पर ही नहीं, दृढ़ संकल्पित थे।

नागौर में कुछ दीक्षाओं का समारोह सम्पन्न कर मुनि श्री कुशलो जी को नवदीक्षित व वयोवृद्ध संतों की देख-रेख, सारणा-वारणा का उत्तरदायित्व सौंपकर मुनि श्री जयमल जी म. सा. स्वयं २१ संतों के साथ बीकानेर की तरफ वहाँ से विहार कर दिया। पाँच कोस (१६ किमी.) पर भदाणा ग्राम था। पहुँचे वहाँ। वहाँ किसी ने ऐसे मुँह पर मुखपत्ति बाँधे संतों को नहीं देखा था। धाड़ायती आते थे मुँह बाँधकर। हाँ ! इनके चेहरे कुछ अलग ढंग के थे, मुँह भी अलग ढंग से बाँधे थे। जैनों ने भी इधर कभी वैसे संतों को नहीं देखा था। अतः ठहरने के लिए स्थान भी मुश्किल से मिला। किसी भाई ने अपने मकान के बाहर नोहरे में बनी खुली पोल (बड़ा-सा द्वार) में उन्हें ठहरने की आज्ञा प्रदान कर दी। गोचरी, पानी नहीं मिल पाए। अतः खाली पात्र वापस आए संत और चउविहार उपवास के प्रत्याख्यान कर लिये।

□ जय-उपदेशामृत से डाकुओं का जीवन-सुधार

भदाणा से डेह के मध्य धाड़ायती ऊँटों पर मिले। मुनियों की तलाशी ली उन्होंने। मुनि श्री जयमल जी म. सा. से सवाल-जवाब किए। मुनिश्री के ज्ञान, उपदेश और प्रेरणा से प्रभावित बन उसने मुनिश्री से संकल्प ग्रहण किया कि अब वे अपना जीवन अच्छे कार्यों में व्यतीत करेंगे।

डेह में अन्य दिगम्बर ओसवालों के घर थे। प्रारंभ में वे दूर-दूर ही रहे, पर धीरे-धीरे मुनिश्री के संयममय जीवन एवं मधुर-हृदयग्राही उपदेश उन्हें आकर्षित करने लगा। यहाँ अनेक परिवारों ने देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ और दयामय केवली प्ररूपित धर्म को समझ श्रद्धापूर्वक समकित ग्रहण की।

डेह से २ कोस तक रास्ता ठीक था, पर उसके पश्चात् मुनियों को ज्ञात हुआ कि क्यों नागौर नरेश ने इस पथ को भीषण बताया था। थार रेगिस्तान प्रारंभ हो गया। मुनि श्री जयमल

जी म. सा. को राह में बनजारे लोगों ने बताया कि मुँह बिना बाँधे जैन गुरां व यति तो गाड़ी में बैठते हैं, खाना बनाने का आदेश देकर खाना खाते हैं ... और भी अनेक बातें।

मुनि श्री जयमल जी म. सा. सुनते इन बातों को, मुस्कराते, योग्य व्यक्ति होता तो सच्चे श्रमण के आचार की बात भी करते और बढ़ते जाते थे।

बंधुओं ! वह कंटीला थली प्रदेश था, जहाँ केवल रेती के टीले थे, सागर जैसा लम्बा-लम्बा रेतीला प्रदेश था, बिलकुल उजाड़ और सुनसान। सूरज थोड़ा-सा ऊपर चढ़ता और रेत जलने लगती, मुनियों के पाँव भी जलने लगते। कुछ और ऊपर चढ़ता सूरज तो सिर भी तपने लगता। ऊपर जलता सूरज, नीचे तपती बालू। परीषह, भयंकर ग्रीष्म का परीषह, भूख का परीषह, प्यास का परीषह।

मीलों का थकान भरा सफर हो जाता तो कोई गाँव उन्हें मिलता पर फायदा क्या ? बस, जरा विश्रांति मिल जाती। गोचरी, पानी तो लगभग नहीं ही मिलती। अतः सहज तप हो जाता था। दृढ़ आस्थावान थे सभी सन्त। परीषहजयी बनने को वे तत्पर थे। अतः निराहार व निर्जल रहना उनकी साधना का एक अंग बन गया। जहाँ-जहाँ मुनि श्री जयमल जी म. सा. रुके, वहाँ-वहाँ जैनेतर ही नहीं, अपितु जैन भी पहले तो उन्हें देख चकित बनते, दूर रहते। लेकिन फिर धीरे-धीरे आते, सुनते, धर्म-रंग चढ़ता, श्रद्धावनत बन श्रद्धा से सम्यक्त्वी बन जाते। मुँहपत्ति बाँधे साधु के नाम से वे उस क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गए। मुनिश्री को गुरुदेव के वचन कई बार याद आते—“जिन क्षेत्रों में सन्तों का आवागमन न हो, वहाँ साधु मार्ग को प्रशस्त करो।” और उनके मन में दुगुना साहस, उत्साह, आत्मबल संचरित हो जाता।

□ यति वर्ग में मची हलचल

नागौर के यति वर्ग ने बीकानेर सन्देश प्रेषित कर दिया कि हमें यहाँ जयमल साधु ने परास्त कर दिया है। जनता में हमारा जो रोब-दाब, जो भय था, उसका स्थान घृणा और विद्रोह ने ले लिया है। दूसरे शब्दों में हमारी तो जागीर ही लुट गई है। यहाँ से मोड़े ने बीकानेर का रुख किया है। अतः वहाँ सावधान रहना।

सन्देश मिलते ही बीकानेर के यति वर्ग में हलचल मच गई। एक प्रकार का भय उनको सताने लगा और उन्होंने अपने यति-साथियों की सभा बुलाई। जयमल साधु नामक हौवे से निपटने की योजनाएँ बनने लगी। किसी ने प्रस्ताव रखा—“वह मोड़ा हम सबके लिए खतरे की घंटी है। अच्छा यही है कि उसे रास्ते से ही परलोक पहुँचा दिया जाए।”

दूसरा बोला—“नहीं ! इससे बदनामी तो होगी ही, साथ में राज्य से दंडित भी होना पड़ सकता है। वह कोई मामूली व्यक्ति नहीं। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, अमीर-उमराव, ठाकुर-जागीरदार उस मोड़े के अंधभक्त हैं। मारने का विचार छोड़ो। हिम्मत करके उससे शास्त्रार्थ करें।”

तीसरे ने बात काटी—“और हार गए तो ? कौन है हममें शास्त्रों के गूढ़ार्थ का ज्ञाता ? सभी तो आडम्बर और महंताई में जुटे हैं। नहीं बाबा, शास्त्रार्थ की बात करना तो अपने पैरों पर अपने ही हाथों कुल्हाड़ी मारना है।”

बंधुओं ! यह सभा घंटों चली। अनेक योजनाएँ बनीं, पर प्रस्तावित कोई भी योजना पारित नहीं हो सकी। अंत में यही निर्णय लिया गया कि उसे बीकानेर में प्रवेश ही नहीं करने दिया जाये। बीकानेर से नागौर पथ पर भेदिए भेजे जाने लगे। जयमल जी व उनके संत कहाँ हैं ? उसके समाचार हर तीन घंटे बाद बीकानेर पहुँचाने की व्यवस्था की गई। योजना थी कि प्रवेश-द्वार पर उन्हें लट्ठ के बल धमकाकर बाहर ही रोक देना, बाहर से ही भगा देना, जिससे वे अन्यत्र चले जाएँ।

नींव जहाँ कच्ची हो, मकान के गिरने का भय तो रहता ही है। पौधे की जड़ें यदि कमजोर हैं तो हवा का कोई एक तेज झोंका उसे धराशायी कर सकता है। यतियों की भी यही स्थिति थी। डर रहे थे कि बीकानेर में उस मोड़े ने प्रवेश ले लिया तो हमारी जमी-जमायी जाजम उखड़ जाएगी।

□ ५०० यतियों ने रोका रास्ता

प्रवेश होने के दिन पाँच सौ यति लट्ठ आदि शस्त्रों से सज्जित होकर बीकानेर के उस मुख्य प्रवेश-द्वार पर पहुँच गए जो नागौर की तरफ से बीकानेर तक पहुँचाने वाले पथ पर बनाया गया था। उधर सूर्योदय के दो-तीन घंटों बाद जयमल जी म. सा. व उनके २१ संतों का समूह भी पहुँच गया। प्रवेश से पूर्व ही उन्हें यतियों ने रोक दिया। लट्ठ घुमाते हुए उन्होंने संत-मंडली को धमकी दी कि “कोई भी अन्दर नहीं जाएगा। किसी ने भी अन्दर जाने की हिम्मत की तो उसे समाप्त कर दिया जाएगा।”

मुनि श्री जयमल जी म. सा. और संत-मंडल मृत्यु से जरा भी भयभीत नहीं थे, पर इस तरह से रोके जाने पर भी प्रवेश कर किसी दुर्घटना को निमंत्रण देना, राग-द्वेष की वृद्धि हो, यह मुनिश्रेष्ठ को पसन्द नहीं था। वे बोले—“यद्यपि अभी तुम लोगों के रोकने से हम प्रवेश नहीं करें, ऐसा हमारा विचार नहीं है, क्योंकि यह बीकानेर के मालिक का आदेश नहीं है।

हाँ ! यदि बीकानेर-नरेश गजसिंह जी स्वयं प्रवेश के लिए मना करते हैं तो हम नहीं आएँगे। इस पर भी हम लोग लड़ाई-झगड़ा खड़ा करने के पक्ष में नहीं हैं। अतः अभी प्रवेश नहीं करेंगे।”

सभी संत मुनिश्री के साथ प्रवेश-द्वार से मुड़कर कुछ दूरी पर स्थित तालाब की ओर बनी छतरियों की तरफ चले गए। ये छतरियाँ ‘सागर की छतरियाँ’ कहलाती हैं और आज भी उनके चिह्न विद्यमान हैं। उन छतरियों के निकट ही कुम्हारों की एक बस्ती थी। वे कुम्हार कुछ श्वेतवस्त्रधारी लोगों को देख उत्सुकतापूर्वक उधर चले आए थे।

देखा उन्होंने लठैत यतियों को इन संतों को धमकाते हुए। लठैतों की धमकी भरे शब्दों को भी सुना। मुनि श्री जयमल जी म. सा. तथा अन्य संतों को शांतभाव से पुनः बाहर निकलते, तालाब की तरफ बढ़ते भी देखा। कुछ कुम्हार आगे बढ़े और संतों के निकट आकर बोले—“तालाब के पास छतरियाँ हैं, आप सभी वहीं ठहर जाइए।”

□ जय के समक्ष भयंकर उपसर्ग

जैन संत को किसी स्थान में ठहरने के लिए श्रावकों या गृहस्थ की आज्ञा चाहिए, वह मुनिश्री को मिल गई। सभी संत छतरियों में ठहर गए। एक दिन व्यतीत हुआ, दूसरा दिन भी बीता, तीसरा दिन हो गया। गोचरी नहीं मिली, प्रासुक-एषणीय कल्पनीय आहार (भोजन) नहीं मिला। सभी सन्त समभावपूर्वक तप के प्रत्याख्यान कर लेते। कहीं-कहीं कुंभकारों के यहाँ राख घुला पानी मिल जाता। ऐसे में कुछ संत चउविहार उपवास करते और कुछ तिविहार उपवास कर वह प्रासुक राख घुला जल काम में लेते। संध्या समय बस्ती के कुम्हार काम से, खाने-पीने से निवृत्त हो जाते और चले आते पूज्यवर के पास। पूज्यवर उन लोगों को जन-कल्याण की सरल-सरल बातें सरल शैली में फरमाते। मैत्रीभाव, सहनशीलता, शांति, विवेक आदि गुणों की व्याख्या करते हुए कुव्यसनों की हानियाँ बताते। धर्म क्या है? धर्म का मूल क्या है? धर्म का मर्म क्या है? जैसे प्रश्नों का आसान-सा जन-जन उपयोगी समाधान देते। सुनने वालों की संख्या बढ़ने लगी। संध्या पूर्व खाना खाकर, खिलाकर नर-नारियाँ सभी आने लगे। पूज्यश्री की बातें, शिक्षाएँ उनको पसन्द आतीं। कई व्यक्ति नियम भी ग्रहण करते। चौथा, पाँचवाँ, छठा ऐसे करते आठ दिन बीत गए। नवम सूर्योदय के साथ मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने सोचा—‘शायद इतना ही क्षेत्र-स्पर्शना का संयोग है।’ वे साथ के मुनिजनों से बोले—“आप सभी ने मेरे साथ आठ-आठ दिन का तप किया है। आज विहार का विचार है। अतः तैयारी कर लें। पुनः नागौर की ओर प्रस्थान करने के भाव हैं।”

मुनि श्री जयमल जी म. सा. अपने शिष्य-समुदाय सहित २१ ठाणा से विहार के लिए अपना-अपना सामान कंधे पर उठाते हुए कमर कस रहे थे, उधर बीकानेर महाराज के देश दीवान जयसिंह जी एवं सेनापति विजयसिंह जी की मातुश्री रामकुंवरबाई बग्घी में बैठकर हवाखोरी के लिए तालाब की पाल पर भ्रमणार्थ आ रही थीं। बग्घी में एक किनारे पर दासी परदों के छोर थामें बैठी थी। उसकी दृष्टि मुनि श्री जयमल जी म. सा. के ऊपर पड़ी। पूर्व में बाईसा के साथ जोधपुर में गुरुदेवश्री के दर्शन किये थे। आँखों के सामने प्रत्यक्ष वे ही गुरुदेवश्री ! हर्ष से बोल उठी—“भुजीसा ! पूज्य गुरुदेव जयमल जी म. सा. पधारे हैं।”

रामकुंवरबाई ने चौंकते हुए पूछा—“क्या कहा तूने ?”

दासी बोली—“अभी बाहर मुझे आपके गुरु महाराज के दर्शन हुए, एक झलक देखी मैंने उनकी।”

भुजीसा ने पूछा—“कहाँ देखा उन्हें ?”

दासी—“यहीं, बाहर छतरियों में ?”

रामकुंवरबाई ने सोचा—‘पूज्यश्री का यहाँ पदार्पण हो और मुझे खबर तक नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है ? यह दासी कुछ अधिक ही मुँह लग गई है। पूज्यश्री के विषय में भी ऐसी हँसी-ठिठोली कर रही है।’

डाँटकर दासी से कहा—“खबरदार ! गुरुदेव के बारे में कभी भी मजाक नहीं करना।”

दासी एक बार तो सहम गई फिर सँभलकर बोली—“भुजीसा ! मेरी क्या हिम्मत कि मैं उन महापुरुष की मजाक करूँ ? आपके साथ उनके दर्शन करने के पश्चात् इतना ज्ञान तो मुझे भी हो गया है। मैंने तो इन दो नयनों से जो एक झलक देखी, वह कह दी। विश्वास नहीं है तो लीजिए आप स्वयं अपनी नजरों से देख लीजिए।”

दासी ने इतना कहा और बग्घी के परदे को जरा-सा खिसका दिया। सामने थीं, ‘सागर छतरियाँ’ और उन छतरियों में स्वयं गुरुदेव विराजमान थे, साथ में थे अनेक संत। बाईसा ने गुरुदेव को पहचान लिया। अनायास गुरुदर्शन पाकर उनका रोम-रोम हर्षित हो उठा। एक अद्भुत आनंद, एक निराली शांति, एक असाधारण चैन मिला। अवर्णनीय थी बाईसा के उस समय की स्थिति। रोमाञ्च से रोम खड़े थे और अत्यधिक हर्ष से नयनाश्रु बह रहे थे। बाईसा ने रथ (बग्घी) रुकवाया। नीचे उतरकर छतरियों में गई। पूज्यश्री व संतों के हर्षभाव से दर्शन किए। सभी को सविधि वन्दना की। वे सोच रही थीं—‘गुरुदेव अभी-अभी यहाँ पधारे हैं। लम्बा विहार कर आए हैं। अतः कुछ समय यहाँ विश्राम के बाद नगर-प्रवेश की भावना

से रुके हैं।' पूज्यप्रवर से कहा—“गुरुदेव ! आपकी यह शिष्या, यह भक्त-श्राविका आपको लिवाने आई है।”

बंधुओं ! आज के समय का कोई संत होता तो कह उठता—“देखी थारी भगति ! श्राविका केवे खुद ने ! म्हारी शिष्या बतावे खुद ने ! अरे ! आठ-आठ दिन होय गया अठे आया ने, भूखां मर रया हां सब आठ-आठ दिनां सूं ने अबे आयने केवे के म्हें लेवणने आई। रेवण दे ओ ढोंग। म्हें तो सगला अबे पाछे विहार करां हां।”

पर पूज्यश्री तो नाम से ही ‘जयमल’ नहीं थे। ‘मल’ को अर्थात् क्रोधादि चतुष्क को, आश्रवों को, कर्मदलिक को भी जीतने वाले थे। बहुत ही धीर-गंभीर-शांत स्वर में कहा—“बाई ! तुम्हारी भक्ति में कोई कमी नहीं है, पर क्षेत्र स्पर्शना का शायद इतना ही संयोग था। हम संत पुनः नागौर की ओर विहार की तैयारी में हैं।”

रामकुंवरबाई ने कहा—“गुरुदेव ! यहाँ तक पधारकर बाहर से ही वापस जा रहे हैं तो यह पधारना क्या काम का ? क्या हाथ लगाकर ही वापस जाना था ? क्या यही दिखाना चाहते हैं कि मैं बीकानेर जाकर आ गया ?”

बहुत ही शांत स्वर में जयमल जी म. सा. बोले—“लेकिन बाई, हम तो आठ दिन से यहाँ हैं। पूरे आठ दिन हो गए हमें यहाँ आए हुए।”

बग्घी राजदरबार की देखकर उत्सुक कुम्हार-बस्ती के लोग एकत्रित होने लगे थे। महिला भी राजपरिवार की दिखाई देती थीं। साथ में सखियाँ-दासियाँ थीं। एकत्रित लोग देखते रहे—सुनते भी रहे। कुछेक लोगों ने तो सोचा कि यतियों का खुद का कुछ भी जोर नहीं चला तो राजवर्गीय इस महिला को भेजकर इन निर्दोष मुनियों पर कोई दोषारोपण करना चाहते हैं। ऐसे लोग बिना कुछ जाने-बिना कुछ देखे-सुने जोर से चिल्लाकर कह उठे—“महाराज म्हाणां है, म्हां यांने हरगिज अठा सूं नहीं जावण दां। ऐ लुगायां कुण व्हे यांणे निकालण व्हाली। मिनखां रो जोर चाल्यो कोनी, अबे लुगायां ने भेजी है।”

ये शब्द रामकुंवरबाई के कानों में पड़े, सुनकर मुड़ी रामकुंवरबाई। देखा उन लोगों को। उतावली-सी चलकर आई उनके बीच। बोली—“क्या बात है ? क्या कह रहे हैं आप लोग ? कौन निकालना चाहता है इनको ?”

किसी ने पहचान लिया उन्हें कि ये तो बीकानेर के दीवान-सा और वक्सी जी (सेनापति) के मांजीसा हैं। आगे बढ़कर पाँच सौ यतियों वाली सारी घटना से लेकर अब तक का सारा विवरण सुना दिया उसने।

रामकुंवरबाई ने तब अनेक प्रश्न कर यह भी ज्ञात कर लिया कि इन सभी के आए तब से तिविहार या चउविहार तप ही चल रहा है और आज नौवां दिन है।

अनायास गुरुदर्शन पाकर जो रामकुंवरबाई अति हर्ष में नयनाश्रु बरसा रही थीं, वे ही अब दुःख के बोझ तले दबी जा रही थीं—‘कितने कष्ट, कितने परीषह सह गए गुरुदेव!’ सोच-सोचकर वे अब अत्यंत दुःखी हो विलख उठीं। रोम-रोम उनका दुःखी और आवेश से प्रकम्पित हो उठा—‘यह सब मेरे कारण हुआ। मैंने गुरुदेव के पधारने का ख्याल ही नहीं किया। खोज-खबर भी नहीं ली। मुझे तो विनती करने के बाद हर पल-हर क्षण सचेत बने रहना चाहिए था। कितनी तकलीफें सहीं मेरे कारण मेरे गुरुवर्य ने। धिक्कार है मुझे।’ गुरुवर के निकट जाकर अपने को सँभालते हुए वे बोलीं—“गुरुवर ! जो हुआ, सो हो गया। मुझसे बहुत बड़ा अपराध हुआ है यह। अब मेरी एक छोटी-सी विनती है। बस, इस सेविका पर इतनी कृपा कीजिए कि जब तक आपश्री के शिष्य मेरे दोनों लाल जयसिंह एवं विजयसिंह श्रीचरणों के दर्श-स्पर्श न कर लें, तब तक आप यहीं विराजें।” गुरुदेव की मौन स्वीकृति मानकर, इतना कहकर वह बगधी में बैठ गयी और उसे पुनः लौटने का संकेत कर दिया। बगधी लौट गयी हवेली की ओर।

□ गुरुभक्ति-विभोर श्राविका का कठोर संकल्प

रामकुंवरबाई अपनी हवेली आ गई। संकल्प लिया उन्होंने कि ‘जब तक गुरुदेवश्री को अपने हाथों से आहारादि नहीं बहराऊँगी, मुँह में अन्न-जल नहीं डालूँगी।’

दो जवान पुत्र थे बाईसा के। एक का नाम था जयसिंह और दूसरे का विजयसिंह। जयसिंह था राज्य का दीवान और विजयसिंह था सेना का नायक। दोनों दरबार में गए हुए थे। दरबार समाप्ति पर घर आए। प्रतिदिन का भोजन माता के साथ बैठकर करते थे। पर आज वहाँ केवल एक थाल था परोसा हुआ। मातुश्री नहीं थीं वहाँ। पूछा दासी से तो ज्ञात हुआ कि अपने महल में हैं।

दोनों पुत्र गए महल में। मातुश्री पलँग पर मुँह ओढ़े सोई थीं। लग रहा था जैसे वे रो रही हैं। दोनों ने एक-दूसरे को देखा—आज यह क्या बात ? क्या कष्ट है मातुश्री को ? पुकारा उन्होंने—“माताजी ! उठिए तो, देखिए कौन आया है ?”

मातुश्री नहीं उठीं। सिसकियों की आवाज कुछ तीव्र हो गई। इस पर जय-विजय ने कहा—“मातुश्री ! बात क्या है ? क्या आपकी पुत्रवधुओं ने आपके प्रति कोई अविनय

किया है ? उनके भला अन्य कोई आपको क्या कह सकता है ? जो भी बात हो, आप हमें कहें, हम उन्हें अवश्य दंड देंगे।”

पुत्र का यही कर्त्तव्य है। माता-पिता को सुखी रखना, उनकी सार-सँभाल करना, उनके रहन-सहन व खान-पान, दवाई आदि का पूर्ण प्रबंध करना। जिसमें मनुष्यता है, मनुष्यता का रंचमात्र भी अंश है उसे चाहिए कि वह माता-पिता के ऋण को कभी विस्मृत नहीं करे। एक कवि ने कहा है—

भूल जे सब कुछ मगर, माँ-बाप ने मत भूल जे।

बहुत कहने पर भी रामकुंवरबाई नहीं उठीं। केवल इतना ही कहा उन्होंने कि “तुम दोनों को भूख लगी होगी। अतः दोनों जाकर भोजन कर लो। मेरे गले आज अन्न का दाना भी उतरना मुश्किल है।”

तुरंत दोनों पुत्र बोल उठे—“आप यह क्या कह रही हैं मातुश्री ? क्या आज तक कभी ऐसा हुआ है ? हमारा तो सदैव का नियम है—मातुश्री के साथ बैठकर भोजन करने का। आज यह अनोखी बात कैसे ? नहीं मातुश्री, नहीं। आप नहीं चलेंगी, तो हमारा भी भोजन नहीं होगा।”

सुनकर रामकुंवरबाई बोली—“अरे सपूतों ! जिसके गुरुदेव आठ-आठ दिन से निराहार बीकानेर के बाहर छतरियों में भूख-प्यास और कड़ाके की शीत सहन कर रहे हों, उसके गले से नीचे अनाज का दाना या पानी की बूँद कैसे उतर सकती है ?”

जय-विजय अर्चंभित। हमारे गुरुजी तो पूज्य श्री जयमल जी म. सा. हैं। फिर भी पूछा—“कौन ? पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ?”

रामकुंवरबाई ने कहा—“हाँ, हाँ ! गुरुदेव पूज्य श्री जयमल जी म. सा.।”

जय-विजय एक साथ बोल उठे—“पर वे बाहर ही क्यों हैं ? छतरियों में क्या काम है उनका ? नगर में क्यों नहीं पधारे ? आठ-आठ दिन से भूखे क्यों ? क्या बात हुई ? पूरी बात तो बताइए।”

बाईसा ने जो बात सुनी थी, पाँच सौ यतियों वाली वह पूरी बात अपने लाड़लों को सुना दी।

पुत्रों ने माता को आश्वासन दिया कि वे हमारे आराध्य गुरुदेव हैं। बीकानेर में प्रवेश किए बिना वे पुनः विहार कर जा नहीं सकते। आप निश्चिन्त रहें, हम अभी जाते हैं। भोजन पूज्यश्री के नगर-प्रवेश के बाद ही करेंगे।

चल दिए, दोनों युवक घर से। राज्यचिह्न सारे साथ लिए, चाबियाँ साथ लीं, अन्य राज का जो भी सामान था साथ लिया। पहुँचे वे राजदरबार में।

□ मातृभक्त पुत्रों ने बीकानेर-नरेश को जगाया

बीकानेर-नरेश महाराज श्री गजसिंह जी बैठे ही थे भोजनार्थ कि उन दोनों युवाओं ने न्याय के घंटे को बजाया। वातावरण में गूँज उठी 'घनननऽऽऽ...' की आवाज। नियम था नरेश का कि पहले न्याय फिर कोई अन्य कार्य। न्यायप्रिय नरेशों ने अपने-अपने राज्यों में इस तरह का विशालकाय घंटा लगा रखा था। प्रजा न्याय के लिए रस्सा पकड़कर घंटा बजा दे। न्यायप्रिय राजा सारे कार्य छोड़कर पहले फरियादी की फरियाद सुनते। महाराज गजसिंह जी ने भी परोसा हुआ थाल छोड़ा। उठकर आए वे दरबार में। बुलाया फरियादी को अन्दर।

अन्दर आए फरियादी। देखा तो जयसिंह और विजयसिंह थे। महाराज बोले—“अरे तुम हो ! तुम्हें क्या आवश्यकता पड़ गई न्याय के लिए फरियाद करने की ? घंटा बजाकर मुझे बाहर क्यों बुलाया ? तुम दोनों को तो भीतर महल में आने की राज्याज्ञा प्राप्त है।”

दोनों भाई बोले—“महाराज ! दीन-हीन व्यक्ति अन्याय के शिकार बनते हैं। आज नगर के सर्वाधिक दीन-हीन व्यक्ति हम अपने को मान रहे हैं। अन्याय हुआ है हम पर, हमारी मातृश्री पर, आपकी प्रजा पर। हम उसी अन्याय के विरुद्ध न्याय की प्रार्थना लेकर श्रीचरणों में आए हैं। हमें साधारण नागरिक की तरह मानकर न्याय किया जाय। इसके लिए हम अपने राजकीय अधिकारों का त्याग कर रहे हैं।” यह कहते हुए दोनों भाइयों ने साथ लाए सभी राज्य-चिह्न महाराज के चरणों में रख दिए।

बीकानेर महाराज गंभीर होकर बोले—“अरे ! ऐसा क्या हो गया ?”

जयसिंह ने कहा—“महाराज ! इस बीकानेर के स्वामी जब तक अकेले आप ही थे, तब तक हमने समर्पित भाव से इस राज्य की सेवा की, पर अब तो आप अकेले बीकानेर-नरेश नहीं रहे। इस नगर के अनेक मालिक बन गए हैं। कैसे सेवा करें ?”

बीकानेर-नरेश को आश्चर्य भी हुआ और आवेश भी आया कि ये दोनों कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं। उनकी आँखों में ललाई छा गई। रक्ताभ नेत्रों से कुछ तेज आवाज में बोले—“जयसिंह-विजयसिंह ! तुम दोनों होश में तो हो न ? जानते हो तुम किसके सामने, क्या कह रहे हो ? मेरे होते हुए किसकी हिम्मत है, जो बीकानेर राज्य की ओर आँख उठाकर भी देख ले। यह तो तुम हो, कोई अन्य ऐसी बात मेरे समक्ष कह देता तो तोप के मुँह से बँधवा देता और गोला दगवा देता।”

जयसिंह ने शांतिपर्वक कहा—“आप मालिक हैं, जो चाहें करवा सकते हैं, पर सत्य बात तो कहनी ही पड़ेगी।”

महाराज गजसिंह जी बोले—“पहेलियाँ मत बुझाओ। सत्य क्या है, तो उसका खुलासा करो। क्या बात है ? पूरी बात बताओ।”

जयसिंह ने कहा—“महाराज ! आजकल नगर के पाँच सौ यतियों ने नगर पर अधिकार जमा रखा है। उन्हीं की आज्ञा से कोई व्यक्ति नगर में प्रवेश पा सकता है। वे चाहें तो किसी को भी नगर में प्रवेश करने से रोक सकते हैं।”

बीकानेर-नरेश ने पूछा—“किसको रोका है उन्होंने ? और तुम्हारे साथ क्या अन्याय हुआ है ?”

जयसिंह ने प्रत्युत्तर में कहा—“महाराज ! यतियों द्वारा हमारे धर्म गुरुदेव को रोक दिया गया है। आठ दिन से वे नगर-प्रवेश का अवसर देख रहे हैं, पर यतियों ने उन्हें धमकाकर उनका नगर-प्रवेश बन्द कर रखा है। गुरुदेव धमकियों से नहीं डरते। वे पूर्ण अहिंसा और शांति के पक्षपाती हैं। अतः पुनः विहार की तैयारी में हैं।”

नरेश ने कहा—“अरे नहीं ! ऐसा कैसे हो सकता है ? मेरा आदेश है, उन्हें नगारे-निशान, बैड-बाजे, नौपत-निशान के साथ ठट-बाट से नगर-प्रवेश कराओ।”

जयसिंह ने कहा—“महाराज ! हमारे गुरुदेव इस तरह से आडम्बर नहीं करते। षट्काया के प्रतिपाल, करुणासागर हैं वे। उनका प्रवेश सामान्य रूप से ही संभव है।”

नरेश कुछ याद करते हुए से बोले—“तुम्हारे गुरुदेव ? कौन ? पूज्य श्री जयमल जी महाराज ? कब पधारे थे ? किसने हिम्मत की उन्हें रोकने की ? क्या प्रयोजन था उन्हें रोकने का ? मैं उनकी खैर-खबर बाद में लूँगा। वे समय-समय पर पूज्यश्री का नाम लिया करते थे। अतः नरेश को मालूम था कि इनके गुरु कौन हैं। अभी तो चल रहा हूँ तुम्हारे साथ। भोजन का थाल परोसा हुआ है। पर अभी नहीं करूँगा भोजन। अपने साथ उन महाराजश्री को लेकर आऊँगा। महल में पुरानी ड्योढ़ी खाली पड़ी है, उनसे विनती करूँगा कि वहाँ ठहरें। उनके आने के पश्चात् ही भोजन को छूँगा।”

बंधुओं ! पूर्व परिचय था नरेश गजसिंह जी का, आचार्य श्री जयमल जी से। दर्शन भी किए थे, नाम भी सुना था। जयसिंह-विजयसिंह चले बीकानेर-नरेश के साथ। नरेश के साथ बीकानेर के अमीर-उमराव, दास-दासी और नगर में निकलते समय हजारों प्रतिष्ठित नागरिक जन भी चल दिए।

□ सागर की छतरियों में लगा धर्म-मेला

‘सागर की छतरियों’ में धर्म-मेला लग गया। संत जंगल में भी विराजे तो ‘जंगल में मंगल’ हो जाता है। धूमधाम से स्वयं नगर-नरेश के साथ आचार्य श्री जयमल जी म. सा. व उनके संतों ने बीकानेर नगर में प्रवेश किया। राजमहलों की पुरानी ड्योढ़ी में पूज्यश्री एक मास तक विराजे। सत्यधर्म का बिगुल बजाया। उनकी विशुद्ध आगमवाणी का सिंहनाद यतियों को परास्त करता गया और यति बीकानेर छोड़कर यत्र-तत्र-अन्यत्र भागते रहे।

यहाँ भी अनेक भविजनों ने आचार्यश्री के श्रीमुख से दीक्षा-मंत्र ग्रहण कर श्रमणधर्म को प्राप्त किया। जयसिंह व विजयसिंह के एक-एक पुत्र ने संयम का मार्ग अंगीकार कर पंच-महाव्रत धारण किए। शुद्ध जैनधर्म का स्वरूप समझ अनेकों ने पूज्यश्री से शुद्ध समकित की धारणा ग्रहण की। श्रावक-व्रत ग्रहण किए। धन्य हैं वे पूज्य आचार्यसम्राट् जिन्होंने प्रबल परीषह सहन करके भी बीकानेर का क्षेत्र शुद्ध श्रमणाचारियों के लिए खुला किया।

आज भले ही उस क्षेत्र को कोई अपनी जागीर समझ ले, किन्तु उस क्षेत्र को धार्मिक बगिया बनाने का श्रेय उन महान् ज्योतिर्धर आचार्यसम्राट् एकभवावतारी पूज्य श्री जयमल जी म. सा. को ही जाता है।

बीकानेर ही नहीं, वरन् आसपास के समस्त क्षेत्रों में जिनशासन का शंखनाद करते हुए समस्त जंगल प्रदेश जो भौगोलिकता से शुष्क है, पर जिनवाणी की सरिता बहाकर जनजीवन को सरसित किया।

ऐसे महापुरुष के जीवन-प्रसंग एक नहीं, सैकड़ों की संख्या में प्राचीन हस्तलिखित पत्रों में उपलब्ध हैं, जिनका तपोबल एक ऐसी विशिष्ट लब्धियुक्त था कि दुविधा स्वतः ही सुविधा में परिवर्तित हो जाती है। यह मैंने जीवन में अनेकों बार अनुभव किया। वे महापुरुष एकभवावतारी के रूप में जगत्प्रसिद्धि प्राप्त हुए। उनके अनेकानेक प्रसंग अवसर की अनुकूलता होने पर आपको सुनने को मिलेंगे।

आनन्द ही आनन्द !

□□

इम कहे ऋषि जयमल-3

आत्म-बन्धुओं !

तीर्थंकर भगवंतों की आप्तवाणी अनंत-अनंत काल से भव-भवान्तर में भटकती हुई जीवात्माओं के लिए सद्ज्ञान का ऐसा प्रकाश है, जिसमें उसके भीतर का अनादिकाल का अंधकार उसी तरह समाप्त हो जाता है, जैसे सूर्य की रोशनी पाकर निशा। विषय और कषायों की अग्नि में जल रही जागतिक आत्माओं के लिए जिनवाणी वह जल है जो उस आग को शांत करती है। सर्वज्ञों की उस वाणी का स्पर्श कानों से होता हुआ यदि प्राणों तक पहुँच जाये, अन्तर् में उतर जाए तो भव-भवान्तरों का यह जन्म-मरण, ये आधि-व्याधि, रोग-शोक जैसे सांसारिक दुःख सभी मिट जाते हैं। आगम-ग्रंथों में सूत्र रूप में गुंथित गणधरों द्वारा ग्रहीत यह वाणी जन-जन को सुनाकर उनका आत्मकल्याण चाहने वाले, उस अमृतोपम वाणी के अर्थ-रहस्य को विवेचित कर सर्वदुःखों को नष्ट करने का पथ बतलाने वाले सद्गुरुओं का यह परम उपकार कि संसारी व्यक्ति संसार से विरक्त बन संयम की साधना में जुट जाता है।

□ जय भीष्म-प्रतिज्ञा

एकभवावतारी, आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. आगम-ग्रंथों के गूढार्थ को जानने वाले महान् कल्याणकारी सन्त पुरुष थे। ब्रह्मचर्य के लिए दृढ़ संकल्पित बनने से बीकानेर में सद्धर्म-प्रचार तक की उनकी जीवनगाथा को आपने पिछले दो दिनों में सुना था। बंधुओं ! गुरुछत्र जब तक रहा, वह तपोनिष्ठ संयमाराधक एकान्तर करता रहा। सोलह वर्ष एकान्तर तप करने के पश्चात् आचार्य क्षमाश्रमण पूज्य श्री भूधर जी म. सा. के देवलोक-गमन के दिन अपने गुरु की उस निर्जीव देह को लेटे हुए देखकर मन में चिन्तन किया, जब यह जीव निकल जाता है तो देह लेट जाती है, जब तक इस देह में प्राण हैं तब तक मुझे नहीं लेटना चाहिये और उसी क्षण आपने जीवन पर्यन्त आड़ा आसन नहीं करने की भीष्म-प्रतिज्ञा व एकान्तर से बेलें-बेलें तप करने का संकल्प किया। वे कैसे महान् तपोनिष्ठ थे, इसके

लिए उनके जीवन की तपस्याओं का विवरण जानना होगा। उन्होंने १६ वर्ष एकान्तर करने के पश्चात् १६ वर्ष तक बेले-बेले की, २ वर्ष तेले-तेले की, ३ वर्ष पाँच-पाँच के तप की आराधना की। अपने जीवनकाल में आपश्री ने २० मासक्षमण, १० द्वि-मासक्षमण, ९० दिन का अभिग्रहयुक्त तप एवं ४० अट्ठाइयाँ कीं। एक चौमासी व एक छहमासी तप किया। निरंतर तप द्वारा आपने अपनी आत्मा को कुन्दन बना लिया।

बाह्य तप-साधना के साथ-साथ अंतरंग तप यथा-स्वाध्याय, ध्यान, वैयावृत्य, विनय में भी आप निरन्तर मगन रहने वाले थे। धार्मिक-क्षेत्र में चल रहे संक्रांति काल में आपने क्रांतिकारी कदम उठाकर साधना-शिथिल यतियों को चर्चाओं में परास्त कर जिनोपासकों को शुद्ध संयम का स्वरूप बताया। जिस यति वर्ग के कारण धर्मिष्ठ वर्ग भयभीत था, सच्चे साधु-संतों का विहार-विचरण व धर्म-प्रचार भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों में दुर्गम बन गया था, यति वर्ग की अति थी। अतः जहाँ कहीं शुद्ध संयमी पहुँच जाते, वहाँ स्थिति वीभत्स-भयंकर बन जाती थी। कहा जाता है कि उपाश्रय में बुलाकर उन सच्चे संतों की हत्या तक कर दी जाती थी और उनके शवों को वहीं उपाश्रय में भूमि खोदकर दफना दिया जाता था।

अपने संयम और तप के तेज से प्रदीप्त मुनि श्री जयमल जी म. सा. के साथ ऐसा कुछ भी होना संभव नहीं था। उनका ज्ञानातिशय ही ऐसा था कि विरोधी उन पर शस्त्र-प्रहार करने का, उन्हें प्राणरहित बनाने का साहस नहीं कर सकते थे। उन्होंने अपने प्रबल पुण्य-पुञ्ज, ज्ञानातिशय व तपातिशय से पीपाड़, नागौर, जैसलमेर, बीकानेर, मथाविया, तिंवरी, खींचन, फलौदी, लाडनूं, बालेसर, शेरगढ़, सिवाणा, बालोतरा, सांचोर, जालोर, सादड़ी, घाणेराव, अजमेर, जयपुर जैसे अनेकानेक क्षेत्रों में यतियों को परास्त किया तथा उनके प्रभाव को शून्य कर शुद्ध संयम-पालक निर्ग्रन्थों के लिए उन क्षेत्रों को स्पर्शने हेतु खुला किया।

□ यथा नाम, तथा गुण

पूज्यश्री का तो नाम ही 'जयमल' था। 'जय' अर्थात् विजय, जीत। जय किस पर ? मल पर ! मल क्या ? मैल, गंदगी ! दो प्रकार की गंदगी—एक जागतिक या बाह्य और दूसरी कर्मदलिक या आंतरिक। धर्म में फैली शिथिलता, बढ़ रहे आडम्बर, चमत्कार, यंत्र-तंत्र आदि जो बाह्य मैल था, उसे तो हटाया ही मुनि श्री जयमल जी ने, साथ ही क्रोधादिक चतुष्क, आस्रव, कर्मदल आदि आंतरिक मल को भी आपने दूर किया, हटाया, पराजित किया।

पूज्य मुनिश्री एक मास-कल्प पर्यन्त बीकानेर में वीतराग वाणी का सुधा-रस बरसाते रहे। यतियों को निष्प्रभ बनाया और शिथिलाचार को दूर कर मुनिश्री ने बीकानेर से विहार किया। सहस्रों जैन-जैनेतर नर-नारियों ने उन्हें भावभीनी विदाई दी।

बंधुओं! न जाने कितने-कितने वर्षों तक जो बीकानेर क्षेत्र शुद्ध संयम-पथ के पथिकों के विचरण से वंचित था, मुनि श्री जयमल जी म. सा. ने अपने सत्साहस और प्रबल आत्मशक्ति से उसे सभी शुद्ध संयमी संतों के विहरण-विचरण के योग्य बना दिया। विहार हुआ, बड़ी भावभीनी विदाई दी, बीकानेर के भक्तों ने। कई उदास मुख थे, तो कई अश्रु बहा रहे थे।

बीकानेर से विहार का रास्ता वही, लोग वही, पर पूर्वापेक्षा भक्तिभावना और श्रद्धा अत्यधिक। बीकानेर में जो घटा, वह सब प्रसंग सर्वत्र वायु की तरह फैल चुका था। विहार में इस बार उदयरामसर, देशनोक होते हुए मार्ग के गाँवों-ढाणियों में रहने वाले श्रद्धालुओं के आग्रह का मान रख उन क्षेत्रों में भी वीतराग-धर्म की श्रद्धा को मजबूत बनाते हुए मुनि श्री जयमल जी म. सा. ३१ ठाणा से पुनः नागौर पधारे। दस मुमुक्षु आत्माओं को आपने बीकानेर व बीकानेर प्रवास में दीक्षा-मंत्र प्रदान किया था।

नागौर पदार्पण पर चारों ओर हर्ष का वातावरण बन गया। कुछ दिनों की स्थिरता के बाद वहाँ से जोधपुर की तरफ विहार हुआ।

□ जय गुरुभ्राता-मिलन

जोधपुर में विराजमान थे आप ही के गुरुभ्राता पूज्य श्री रघुनाथ जी म. सा.। क्षमाश्रमण आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के देवलोक हो जाने के पश्चात् श्री जयमल जी म. सा. बीकानेर पधारे थे। इस मध्य सोजत में श्रावकों ने श्री रघुनाथ जी म. सा. को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था। मुनि श्री जयमल जी म. सा. अपने लघु गुरुभ्राता मुनि श्री कुशलो जी एवं अपने शिष्य-समुदाय सहित आचार्य श्री रघुनाथ जी म. सा. से मिलने, वन्दनादि करने एवं बीकानेर क्षेत्र की समस्त जानकारी देने हेतु जोधपुर सिंहपोल पधारे। वहाँ विराजित पूज्य श्री रघुनाथ जी म. सा. स्वयं सामने आये। महासती-मंडल, साध्वीवृंद आदि के साथ ही सहस्रों नर-नारी गुरु दर्शन-वंदन-प्रवचन श्रवण के लिए आए। तिथि थी विक्रम संवत् १८०५ की वैशाख शुक्ला तृतीया। अक्षय-तृतीया का पावन पर्व-दिवस। सिंहपोल का अति विशाल प्रांगण श्रावक-श्राविकाओं से पूर्णतः भरा हुआ।

□ जय आचार्य-पद प्रदान

सभी संतों में सर्वाधिक प्रभावी, योग्य, ज्ञानी संत थे श्री जयमल जी म. सा.। आडम्बर एवं शिथिलाचार को मिटाकर जिनशासन की सर्वाधिक प्रभावना कर चुके थे आप और भविष्य में भी इसके लिए दृढ़ संकल्पित थे। सक्षम भी थे आप इसके लिए। संकल्पों के धनी, भीष्म-प्रतिज्ञा के धारक, चर्चा-चक्रवर्ती आदि उपाधियों से सुशोभित तो थे ही आप। चतुर्विध संघ ने और स्वयं आचार्य श्री रघुनाथ जी म. सा. ने आपश्री को 'नमो आयरियाणं' रूप तृतीय परमेष्ठी-पद पर प्रतिष्ठित किया और पूज्य श्री रघुनाथ जी म. सा. ने घोषणा की कि आचार्यसम्राट् पूज्य भूधर जी म. सा. के पट्ट पर हम दो आचार्य मिलकर शासन की प्रभावना करेंगे। भव्य 'आचार्य-पद एवं चादर महोत्सव' बिना किसी आडम्बर के संपन्न हुआ। इस अवसर पर अद्भुत संघ-एकता देखकर सभी जन भाव-विभोर हुए। सभी ने एक स्वर से गगनभेदी जयनाद किया—“पूज्य आचार्य श्री जयमल जी म. सा. की.....जय।” मारवाड़ की धरा प्रफुल्लित हुई यह नाम सुनकर। वहाँ विराजित संत-सती हर्षित हुए मुनि श्री जयमल जी म. सा. को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित देखकर। संघ-पदाधिकारी, बाहर से आए विभिन्न संघों के अधिकारी आदि भी प्रसन्न थे। जन-जन प्रमुदित था। बंधुओं! इस तरह १८०५ विक्रम संवत् की उस अक्षय तृतीया के पावन दिवस पर आपश्री के सुदृढ़ कंधों पर आचार्य-पद का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व डाल दिया गया।

नयी चेतना के शुभारम्भ के प्रथम चरण में आपश्री ने आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होकर प्रत्येक ग्राम-नगर में नित्य सुचारु रूप से सामायिक-स्वाध्याय का कार्यक्रम चले, श्रावकों में अधिकाधिक आगमज्ञान बढ़े जिससे श्रावक भी धर्म में दृढ़ रहें व श्रमण-श्रमणी वर्ग भी शिथिलाचार की तरफ कदम न रख पाएँ, बच्चों में धार्मिक-आध्यात्मिक संस्कारों का बीजारोपण व पोषण हो—इन बातों की क्रियान्विति पर योजनाबद्ध रूप लेकर विशेष प्रयत्न किये।

□ जय जन-कल्याण

शासक वर्ग में जो कमजोरियाँ, कुरीतियाँ, कुरूढ़ियाँ थीं और उन्हीं की अराजकता से व बढ़ावा देने से जो नरबलि-पशुबलि का वीभत्स हिंसक कृत्य स्थान-स्थान पर हो रहा था, आपश्री ने उपदेश देकर, व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क करके तथा अपने संयम-तप-तेज के प्रभाव से उसे रुकवाया। मद्यपान की अति और त्यौहारों में हिंसा का प्रदर्शन एवं धार्मिक

अनुष्ठानों की ओट में पनप रहे कुव्यसनों को रोकने का आपने दृढ़ निश्चय किया। जहाँ-जहाँ आप पधारे, शासक वर्ग को जिनवाणी की अमृत धारा से जोड़ने का भगीरथ प्रयत्न प्रारंभ किया। ठाकुरों, जमींदारों, जागीरदारों, सामन्तों, राजा-महाराजाओं आदि को अपने प्रभावी उपदेश से, शुद्ध संयमी जीवन से, तप और त्याग के तेज से इतना प्रभावित किया कि अनेक बड़े-बड़े शासकों ने मद्यपान, माँसभक्षण, पर-स्त्रीगमन के त्याग किये। अनेक राजा-महाराजाओं ने निरपराध पशु-पक्षियों की हिंसा न करने की आपकी बात मानते हुए हिंसा का त्याग किया, अगतों के दिन घोषित करवा उसकी पालना को सुनिश्चित बनाया। (अगता अर्थात् उस दिन सभी प्रकार के व्यवसाय एवं कसाईखाने व माँस-बिक्री की दुकानें बंद रखना।) बलि-प्रथा को राज्यादेश से बंद करवाया।

एक ओर आचार्यश्री के मधुर, ओजस्वी-तेजस्वी, प्रभावी प्रवचनों ने जन-जन को लुभाया तो दूसरी ओर उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं व जीवनादर्शों ने जन-जन को प्रभावित किया, आकर्षित किया, विस्मय-विमुग्ध किया। उभरते युवा-युवतियाँ तक ऐसे आकृष्ट बने कि अनेक युवक एवं युवतियों ने घर-परिवार का, धन-माया का मोह त्यागकर संयम-पथ को, श्रमणधर्म को, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक् आराधना को स्वीकार किया। आचार्यश्री स्वयं त्रिरत्न रूप धर्म के विशिष्ट आराधक थे और साथ ही उग्र तपस्वी थे। अनुगामी संत भी और सतियाँ भी संयम-साधना व तपाराधना में पीछे नहीं थीं।

□ चौथे आरे की याद दिलाती थी : जय-साधना

बंधुओं ! आचार्य श्री जयमल जी म. सा. और उनके संत-सती वर्ग की वह साधना-आराधना पाँचवें आरे के श्रावकों को चौथे आरे की याद दिलाने लगी। उन्हें कई बार यही महसूस होता कि हम चौथे आरे के मनुज हैं और यहाँ चौथे आरे की धर्म-साधना की स्पष्ट झलक है।

आप संयम-सुमेरु, बहुश्रुतधर, धर्म-प्रभावक तो थे ही, साथ ही समर्थ समाज-सुधारक भी थे। आपने न केवल यति वर्ग व पोतिया-बंध-मान्यता की ओर बढ़ रहे साधुओं व श्रावक-समाज को सद्धर्म की ओर अग्रसर बनाया, न केवल जैन-समाज को सत्य-तथ्य यथार्थ जिन-सिद्धांत व धर्मतत्त्व बतलाकर उन सिद्धांतों और सत्यधर्म पर समाज की श्रद्धा को सुदृढ़ किया, अपितु जैनेतर समाज को, शासकवर्ग को, माँसाहारी व मद्यपेयी जन को भी सजग-सचेत बनाकर, उनसे उनके कुव्यसन छुड़ाकर स्थान-स्थान पर मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना की।

□ जय करुणा के सागर

राजपूत-क्षत्रिय, राजा-महाराजाओं, जर्मोदारों-ठाकुरों, राज्याधिकारी वर्ग व कर्मचारियों द्वारा निरीह-मूक जंगल के पशुओं व गगन-विहारी पक्षियों का शिकार करना पूज्यश्री की दृष्टि में महापाप, जघन्य अपराध, अनर्थ-अत्याचार था। इन बड़े लोगों के इस शौक ने प्रजा को भी इस दिशा में अग्रणी बना दिया था। आपका करुणा-हृदय हिंसा के इस नंगे-नाच की बातें सुन-सुनकर चिन्तित रहने लगा। निरपराध मारे जाने वाले प्राणियों के लिए उनका रोम-रोम अनुकम्पा-दया-करुणा के भावों से ओत-प्रोत बन जाता था।

आचार्यसम्राट् ने चिन्तन किया कि यदि वर्तमान सत्ताधिकारी शासकगण अपनी जीवन-शैली में परिवर्तन कर लें, तो इसका प्रभाव राज्याधिकारियों, कर्मचारियों व प्रजाजन पर भी होगा। अतः मुझे चाहिए कि जहाँ-जहाँ भी मैं जाऊँ, वहाँ-वहाँ शासक वर्ग और समाज को शिकार खेलने, माँस-भक्षण करने, सुरापान करने, जुआ खेलने, वेश्यागमन एवं पर-स्त्री-गमन जैसे कुव्यसनों से उनका छुटकारा कराने का पूर्ण प्रयत्न करूँ।

बीकानेर-महाराजा गजसिंह जी, पोकरण ठाकुर देवीसिंह जी चंपावत, जेतारण, रायपुर आदि अनेकानेक राजा-महाराजा एवं ठाकुर जागीरदारों को तो आप पहले ही कुव्यसन-त्याग करवा चुके थे। आपने अपने प्रभावी उपदेशों से जयपुर-नरेश महाराजा माधोसिंह जी, जोधपुर- नरेश महाराजा अभयसिंह जी, सिरोही-नरेश मानसिंह जी, इन्दौर-होल्कर मल्लार राव व माँ अहिल्यादेवी, नागौर-महाराजा बखतसिंह जी, मेवाड़ में देवगढ़-नरेश यशवंतसिंह जी आदि अनेक नरेशों, शासकों, ठाकुरों को इन व्यसनों का त्याग कराया। मुनिश्री के आदर्श संयमी जीवन, उत्कृष्ट त्याग-वैराग्य एवं मर्मस्पर्शी जिनोपदेशों को सुन इन सभी की भाँति अन्य अनेक व्यक्तियों ने भी कुव्यसन का त्याग कर अपने को सदाचारी बनाया। दिल्ली साम्राज्य के मुगल शहजादे ने भी पूज्य आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. की अहिंसा पर अद्भुत तकरीर से प्रभावित हो निरीह-निरपराध पशु-हिंसा का त्याग किया।

□ जय जिनवाणी वरदानी

आचार्यसम्राट् एकभवावतारी श्री जयमल जी म. सा. तेजोदीप्त संत तो थे ही, साथ ही अनेक जन-कल्याणी काव्य-रचनाओं के सृजक भी थे। जन-कल्याण हेतु जीवन के अंतिम क्षणों तक आप जिनवाणी-माता के चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करते रहे। उग्र तपश्चरण, ज्ञानाराधन, गुरुजन व संत-सेवा करते हुए भी आपका काव्य-साधना के उच्च शिखर तक पहुँचना वस्तुतः आश्चर्यजनक है, पर कहते हैं आपको जिनवाणी रूप श्रुत देवता

का कुछ ऐसा वरदान प्राप्त था कि काव्य-पद आपके भावों को अविलम्ब अपना आश्रय प्रदान कर देते थे और काव्य-धारा प्रवाहित हो जाती थी। अपनी अविराम जागरूकता एवं कठोर संयम-साधना से आपने अपने अखंड ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप का विकास तो किया ही, साथ ही आत्मकल्याणी उपदेशामृत को काव्य-सृजना का रूप देकर जन-जन के उत्थान का, प्रत्येक व्यक्ति के उद्धार का कार्य भी किया।

□ जय काव्य-कृति

अद्भुत थी आपकी काव्य-सृजना। आप द्वारा सृजित लगभग एक सौ (१००) रचनाओं का इतस्ततः प्रकाशन हो चुका है। अप्रकाशित रचनाएँ भी डेढ़ सौ से अधिक विद्यमान हैं, जिनका प्रकाशन अभी होना है। आपकी रचनाओं में अरिहंत, सिद्ध, विहरमान, साधु, धर्म आदि अनेक रचनाएँ स्तुतिपरक हैं तो कुछ 'सज्जाएँ' भी हैं, जो आत्मपथ को स्वातंत्र्य के पथ पर अग्रसर बनाने वाली हैं; कुछ रचनाएँ उपदेशात्मक पदों में हैं जो वैराग्योत्पादक व आत्मकल्याणी हैं। अपनी 'चरित' (चरित्र) रचनाओं में आचार्यसम्राट् ने अनेक महापुरुषों की जीवनगाथाओं को काव्यमयी भाषा में लिपिबद्ध किया है।

'नीदड़ली बैरण हुई', 'कह भाई रुडो तें सूं किया', 'जीवा चेतो रे दे मुनिवर उपदेश' आदि आचार्यसम्राट् की प्रारंभिक वैराग्यपरक रचनाएँ हैं और 'रे जीव ! जिनवर सुमरिए', 'सुमरो श्री सिमंधर स्वामी' आदि स्तुतिपरक ! वि. स. १८०५ के पश्चात् आचार्य-पद का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व निभाते हुए भी आपश्री की अष्ट-प्रहर की सजगता ने आपके चिन्तन को नित्य नए आयाम प्रदान किए और आपकी जागृत चेतना-शक्ति ने काव्य-शक्ति को तीव्र गति प्रदान की। जोधपुर (१८०५) के पश्चात् सोजत, मेड़ता व नागौर क्षेत्रों में विचरण करते हुए एवं चातुर्मास काल में जन-जन में आपकी काव्य-रचनाओं की ख्याति होने लगी। 'बूढ़ा तिके पण कहिए बाल', 'दिवाली' और 'महावीर का समवशरण' आपकी नागौर में सृजित रचनाएँ हैं। पूर्व में आपश्री के उपदेश से शिकार का त्याग करने वाले नागौर-नरेश ने इस चातुर्मास में पर्युषण के आठ दिन तक आचार्यसम्राट् की प्रेरणा पाकर अपने राज्य में 'अमारी' की घोषणा करवाई। अमारी अर्थात् राज्य में इन आठ दिनों तक किसी भी तरह की जीव-हिंसा न की जाए, माँस-भक्षण न हो, माँस का क्रय-विक्रय न हो।

□ बड़ी साधु वंदना का प्रणयन

मेड़ता चातुर्मास कर आचार्यसम्राट् ने अपना विहार क्षेत्र जालोर चुना। यहाँ जन-जन में जिनोपदेशों की अमृतधारा को प्रवाहित करते हुए, अपनी काव्यधारा को भी प्रवाहित करते

रहे आप। रात्रि में आड़ा आसन नहीं करके वे सीधे ध्यानस्थ ही बैठ जाते। सुषम्णा नाड़ी का प्रवाह स्वतः ही प्रारम्भ होता और उनके मस्तिष्क में काव्यधारा का प्रवाह होने लगता। प्रातः होने पर चिन्तन में आए काव्य-पदों को आप लिख लेते थे। 'असंख्यं जीविए पमाइए'—उत्तराध्ययन के इस सूत्र पर कई बार चिन्तन चलता आपका। लोगों का असंस्कृत जीवन जानकर, आप उनके जीवन को संस्कारयुक्त बनाने के उपायों का चिन्तन करते, शास्त्रों का ज्ञान उन पर लगाते और जो निराकरण मिलता, उसे मधुर पदों में सृजित कर लेते।

वि. सं. १८०७ जालोर में विराजते हुए ही आपने एक सर्वमान्य अनमोल काव्य-रचना को सम्पूर्ण किया। उसी रचना का नाम है—'बड़ी साधु वन्दना'।

'नमूं अनंत चौबीसी, ऋषभादिक महावीर।'—बड़ी साधु वन्दना की प्रथम पद की प्रथम पंक्ति है और अंतिम पद की अंतिम पंक्ति है—'गढ़ जालोर मांहि, एह कह्यो अधिकार ॥'

कुल एक सौ ग्यारह मोतियों (पदों) की मुक्तामाला (बड़ी साधु वन्दना) आचार्यसम्राट् की यह रचना आज प्रत्येक जैन सम्प्रदाय के संत सती व श्रावक-श्राविकाओं के स्वाध्याय का प्रमुख अंग है।

बंधुओं! इस रचना के लौकिक व पारलौकिक लाभ, महत्त्व, चमत्कार, प्रभाव के विषय में मैंने अपने प्रवचनों में बहुत कुछ कहा है।^१ इस रचना के सृजन के पश्चात् वि. सं. १८४० तक आचार्यसम्राट् ने सम्पूर्ण मारवाड़, मेवाड़, गौड़वाड़ आदि राजस्थानी क्षेत्रों में धर्म-प्रसार कर जन-जन में धर्म-जागृति, जन-जागृति और आत्म-जागृति का सन्देश देते हुए विचरण किया।

इस काल में वि. सं. १८१० के जोधपुर चातुर्मास में तत्कालीन महाराजा विजयसिंह जी ने अपने राज्य में पूर्णतः मद्यपान व माँस-भक्षण निषेध की राजाज्ञा आपश्री की सत्प्रेरणा से करवाई और उसे कठोरता से लागू किया। यहाँ आपने स्कंधक मुनि-चरित्र की रचना की। वि. सं. १८११ के पीपाड़ व १८१२ के भीलवाड़ा चातुर्मास के मध्य आपश्री ने 'चेत सके तो चेत' पद्य-गीत रचा, जिसमें आत्मा के स्वयं के उपालंभ को काव्य में पिरोया गया है।

□ तुम आगे बढ़ो

मेवाड़ विहार-काल में सिरियारी के घाटे में मुनिश्री उदय जी एवं मुनिश्री केशव जी (दोनों सांसारिक संबंध से भाई, भोपालगढ़, पुराना नाम बड़लू के माली जाति के) ने

१. बड़ी साधु वन्दना, प्रवचन भाग १ से ५—डॉ. पदमचन्द्र जी म. सा. ।

गुरुमुख से 'तुम आगे बढ़ो' शब्द सुन संथारा ग्रहण किया और वहीं क्रमशः ९ व ११ दिन से समाधिमरण को प्राप्त हुए। मारवाड़ से पीपली ग्राम मेवाड़ प्रवेश के पूर्व सिरियारी घाट में यह प्रसंग घटित हुआ। मेवाड़-प्रवेश के साथ ही पीपली ग्राम में आपश्री का प्रेरक उद्बोधन सुन दो भाई वैरागी बने व उन्होंने मेरवाड़ा में आचार्यसम्राट् से दीक्षा ग्रहण की।

वि. सं. १८१२ का चातुर्मास भीलवाड़ा हुआ। इस मध्य आपने 'सुबाहुकुमार की ढाल' रची। चित्तौड़गढ़ में याकिनी महत्तरा नामक महान् आर्या द्वारा जहाँ प्रखर पंडित हरिभद्र को जैन संस्कार दिए, उन भावों को काव्य-शैली में ढालकर नया आयाम दिया। देवगढ़ में वहाँ के महाराव यशवंतसिंह जी ने और देलवाड़ा के राव रघुरणदेवसिंह जी ने आपके धर्मोपदेशों को सुनकर शिकार, मद्यपान, माँस-भक्षण आदि अनेक कुव्यसनों का त्याग किया।

वि. सं. १८१३ का चातुर्मास उदयपुर हुआ। यहाँ आचार्यसम्राट् ने पाँच भव्यात्माओं को नगर के बाहर वट-वृक्ष तले दीक्षा-मंत्र प्रदान किया। वहाँ महाराणा रायसिंह ने आपका प्रेरक उद्बोधन सुन अनेक व्यसनों का त्याग किया। उदयपुर से आपने मारवाड़ की ओर विहार किया। सादड़ी होते हुए पाली पधारने पर आपके प्रबोधन से प्रबुद्ध बन सात (७) विरक्तात्माओं ने दीक्षा ग्रहण कर संयम-पथ स्वीकार किया। पाली से आप जोधपुर पधारे। मध्यकाल में आपने नेमनाथ-चरित्र की रचना की। जोधपुर में इस वैराग्यपरक चरित्र व चरित-व्याख्या के मध्य वैराग्योत्पादक प्रेरक आचार्यसम्राट् के प्रवचन को सुना एक दूल्हे ने। बंदोले खाने जा रहा था वह, अपने मित्रों व परिजनों के साथ। पिता श्री विजयराज जी धारीवाल जो वहाँ के संघ के संघपति थे, ने पूछ लिया—“गुरुदेव आए हुए हैं, दर्शन किए या नहीं?” सुना कि नहीं किए हैं, तो स्पष्ट सचेत किया कि पहले गुरु-दर्शन करने जाना फिर भोजन करने (बंदोला खाने)।

□ दूल्हे ने बंदोले जाते मन फेर लिया

पितृ-आज्ञापालक था वह युवक-दूल्हा। गया आचार्यश्री व मुनि-मंडल के दर्शनार्थ, तो व्याख्यान चल रहा था। सुना वह व्याख्यान, केवल एक व्याख्यान में ही मन संसार से विरक्त बन गया। भगवान नेमिनाथ ने राजुल के तोरण से रथ फिराया और इस दूल्हे ने बंदोले पर जाते हुए मन फिरा लिया शादी से (रायचन्द जी का वैराग्य-प्रसंग जय-ध्वज में वर्णित है।)

घर में खलबली मच गई यह जानकर। अनेकों ने समझाया, न माना तो ननिहाल बुचकला भेज दिया गया। आचार्यश्री विहार करके चातुर्मास हेतु मेवाड़ के रायपुर बोरणा

पधारे तथा शेष सन्तों को विभिन्न क्षेत्रों में चातुर्मासार्थ भेजा। पीपाड़ में उस वर्ष स्वामीवर्य श्री गोवर्धनदास जी म. सा. को चातुर्मास करने का निर्देश दिया। मुनिश्री गोवर्धनदास जी म. सा. जोधपुर से बुचकला होते हुए पीपाड़ पधारे तब रायचंद उनके साथ हो गया। दृढ़ वैराग्य ने अपना रंग दिखाया। अन्ततः अनुमति मिली। एक नहीं, तब तीन दीक्षाएँ हुई।

पीपाड़ में महान् तपस्वी श्री गोवर्धनदास जी म. सा. ने पूज्यश्री की आज्ञा पाकर इन तीनों भव्यात्माओं को दीक्षा-मंत्र आषाढ़ सुदी ११ को प्रदान किया। ये तीन भव्यात्माएँ थीं—स्वयं दूल्हा बने वैरागी युवक श्री रायचंद्र जी, उनके पिता श्री विजयराज जी धारीवाल और उनकी बड़ी माता। मात्र १८ वर्ष की आयु थी, तब रायचंद्र जी की।

आगे जाकर इन्हीं रायचन्द्र जी म. सा. ने 'मध्यम साधु वन्दना' की काव्य सृजना की, जो जैन-जगत् में बहुत लोकप्रिय हुई और आज भी है। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने आपकी विद्वत्ता, योग्यता, सूझबूझ आदि गुणों को देखा और वि. सं. १८४९, वैशाख सुदी ३ को उन्हें युवाचार्य बना दिया।

आचार्यश्री का वि. सं. १८१४ के शेषकालीन विहार के मध्य इन्दौर पदार्पण हुआ।

इन्दौर में आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने राजमाता अहिल्या को प्रतिबोध दिया। उसके पुत्र की हत्या कर दी गई थी, इससे पूर्व वि. सं. १८११ में अहिल्यादेवी के पति खांडेराव, जाट-नरेश सूरजमल से लड़ता हुआ डींग में मारा जा चुका था, इस कारण वह विक्षिप्त मन-मानस लिए अज्ञात जीवन जी रही थी। दैव योग से आचार्य श्री जयमल जी म. सा. के दर्शनों का संयोग मिला। प्रतिबोध दिया—“तुम यहाँ की मालकिन, रानी, स्वामिनी। यहाँ की जनता तुम्हारी सन्तान की तरह है अतः इस चिन्तन को अन्तर् में स्थान देकर अपने वात्सल्य भाव को विराट् रूप दो। पूरे राज्य की जनता में अपने वात्सल्य का अमृत उँड़ेल दो। कुछ ही दिनों में सारा दुःख-दर्द मिट जाएगा।” आपका उपदेश सुन रानी अहिल्या ने, अपने को सँभाला। उसने जनहित में अपना शेष जीवन समर्पित करने का संकल्प आचार्यश्री से लिया। उसी से आगे चलकर माँ अहिल्यादेवी के नाम से विश्वविख्यात हुई। इन्दौर के ही जौहरी सेठ धरमचंद व अमरचंद ने चढ़ते भावों से आचार्यश्री के चरणों में आकर जैन भागवती-दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा में इन्दौर के राजा मल्हार राव होल्कर, माँ अहिल्यादेवी सपरिवार आए। आचार्यश्री के प्रेरक उद्बोधन से प्रेरित हो उसने खड़े होकर मद्यपान, माँस-भक्षण, शिकार खेलने आदि समस्त व्यसनों के त्याग किए। इस तरह आचार्यश्री का मालवा क्षेत्र में विहार व विचरण अत्यंत जिनशासन-प्रभावक रहा। इन्दौर से धार-रतलाम,

दशपुर (मंदसौर), झालरापाटन से बूंदी होते हुए विभिन्न क्षेत्रों में धर्म-जागरण का शंखनाद करते हुए भव्य जनों के भावों में जिनवाणी धारा बहाते हुए हाडोती के क्षेत्रों को पावन करके वि. सं. १८१५ का चातुर्मास किसनगढ़ व १८१६ का चातुर्मास जोधपुर किया। वहाँ से आगामी चातुर्मास स्थल बीकानेर की ओर विहार किया। संवत् १८१७ के बीकानेर चातुर्मास में आचार्यप्रवर से प्रभावित व प्रेरित बन पाँच बंधु व छह बहनें दीक्षित बने।

□ शासनहित राह बदली

बीकानेर से चूरू होते हुए पूज्यश्री का फतेहपुरसीकरी से आगरा जाने का मानस था, पर तभी जयपुर से सभी जैन मतावलम्बियों के प्रतिनिधिगण पूज्यश्री की सेवा में आए। उनके अनुसार जयपुर में विधर्मियों के द्वेष के कारण जैनधर्म की, जैानुयायियों की, जैन धर्म-स्थलों की दशा अत्यंत सोचनीय बनती जा रही थी। पूर्ण घटना का विवरण देते हुए प्रतिनिधिगण ने इस संकट के निवारणार्थ पूज्यश्री से अत्यंत आग्रह भरा निवेदन किया, जयपुर पधारने का। उन्होंने पूज्यश्री को जो कुछ बताया उसका सार यह था कि “श्यामाप्रसाद तिवारी नामक एक व्यक्ति अपनी चापलूसी से राजगुरु बन गया। तत्कालीन जयपुर-नरेश सवाई माधोसिंह (प्रथम) पूज्यश्री के भक्त, जैनियों का पूर्ण सन्मान करने वाले और जैनधर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले। उनके दीवान रतनचंद भी जैन थे। अन्य बड़े पदों पर अजबराज, त्रिलोकचंद पटनी, महाराम आदि भी जैन थे, जिन्हें नगर में महारथ प्राप्त थी।”

□ जैनधर्म-द्वेषी ने कहर बरपाया

जैनियों का बढ़ता प्रभाव अन्य लोगों को खटकने लगा। तभी महाराजा माधोसिंह अस्वस्थ हुए। राजगुरु श्यामप्रसाद तिवारी ने महाराजा की स्वस्थता व शांति के लिए एक रुक्के पर उचित कार्रवाई कराने की राजाज्ञा लिखवाकर उस पर राज्य की मुहर लगवा ली।

इस राजाज्ञा के लिखित राजपत्र के बल पर उसने अपना षड्यन्त्र प्रारम्भ किया। महाराजा के स्वास्थ्य व शांति के नाम पर उसने सभी जैन-मंदिरों व धर्म-स्थानकों में पूजा-पाठ, शास्त्र-प्रवचन, प्रार्थना आदि के कार्यक्रम बंद करवा दिए। कुछ जैन-मंदिरों में तोड़-फोड़ भी करवाई। बहुत ही चालाकी से कुछ मंदिरों की जैन मूर्तियाँ हटवाकर, वहाँ शिवलिंगों की स्थापना करवा दी।

उस धूर्त और जैनधर्म-द्वेषी ने राजघराने के एक मन्दिर से शिवलिंग हटवा दिया और इसका आरोप जैनियों पर लगाकर झूठी गवाहियों द्वारा इसे सिद्ध करते हुए उस समय के

सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैन पंडित टोडरमल को पकड़वा मँगाया। किसी को कुछ भी अंदेशा मिले, इससे पूर्व ही उसने उस महापंडित टोडरमल को हाथी के पैरों से कुचलवा दिया। यह सब हो गया, तब लोगों तक इसकी भनक पहुँच पाई। अंदर-ही-अंदर जैन-समाज में हाय-त्राय मच गई, पर किसे, क्या कहा जाए ? कौन जाए सीधे महाराज के पास ? किसी की हिम्मत भी तो नहीं थी, राजा के पास बात पहुँचाने की।

पूज्यश्री ने इस सारी घटना को सुना और जयपुर विहार की स्वीकृति दे दी। आगरा की जगह अब उनके विहार की दिशा जयपुर थी। ऐसी विषम परिस्थिति में भी उन आत्मबली महापुरुष में कोई हिचकिचाहट नहीं थी। कोई भय नहीं था, कोई संकल्प-विकल्प नहीं था।

□ संकटमोचक जय का जयपुर पदार्पण

पूज्यश्री जयपुर पहुँचे। यद्यपि जयपुर के जैन नर-नारी अति भयभीत थे, पर पूज्यश्री की अगवानी में सभी सम्प्रदाय के लोग भारी संख्या में पहुँचे। सभी के दिलों में एक विश्वास था कि वे एक चमत्कारी, महाप्रभावी, महातेजस्वी सिद्ध-साधक हैं। अतः इस नगर के जैनों पर आई विपदा को दूर करने में समर्थ हैं। बंधुओं ! विशाल जनसमूह की गगनभेदी जय ध्वनियों के साथ जब पूज्यश्री जयपुर के राजमार्गों से होते हुए बड़े उपाश्रय की ओर पधारे, तो सभी को लगा, जैसे अब निश्चय ही इनके द्वारा जिनधर्म का उद्धार होगा। विरोधी और जैन-विद्वेषी लोगों ने जब यह दृश्य देखा, तो उनके अंतर् में एक विशेष भय, आशंका, अकुलाहट ने जन्म ले लिया।

□ जयपुर महाराजा और जय मंगल-पाठ

इसे संयोग समझिए अथवा पूज्यश्री के पदार्पण का प्रभाव कि उनके जयपुर में पधारने के कुछ दिवस बाद ही महाराज माधोसिंह का स्वास्थ्य सुधरने लगा और वे धीरे-धीरे पूर्ण स्वस्थ बन गए। कई महीनों से अस्वस्थ चल रहे महाराज के स्वास्थ्य में यह सुधार सभी के लिए चमत्कार से कम नहीं था और इस चमत्कार के श्रेय के रूप में जन-जन की जिह्वा पर स्वतः ही जो नाम उभरा, वह नाम था—‘पूज्य आचार्यप्रवर श्री जयमल जी म. सा.’ का।

चातुर्मास-काल प्रारम्भ हुआ तो पूज्यश्री ने जयपुर के संघ का आग्रह स्वीकार कर वि. सं. १८१८ का चातुर्मास वहीं दिया। चातुर्मास प्रारंभ से ही पूज्यश्री ने तपाराधना प्रारंभ कर दी, अन्यान्य संत, महासती वर्ग, श्रावक-श्राविका-वृंद भी तपश्चरण में आगे बढ़ा।

पूज्यश्री के जादुई प्रवचनों का प्रभाव भी प्रसार पाने लगा। श्रोताओं की संख्या बढ़ती ही गई। जैनेतर समाज भी भारी संख्या में पूज्यश्री की मधुर, सत्य, ओजपूर्ण वाणी का रसास्वादन करने आने लगा।

□ जय सत्संग का जलवा

पूज्यश्री का ऐसा प्रबल प्रभाव श्यामप्रसाद तिवारी को अच्छा नहीं लगा, पर उनका प्रभाव तो निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था। महाराजा माधोसिंह स्वस्थ हुए और जब उन्होंने सुना कि अभी तक पूज्य श्री जयमल जी म. सा. जयपुर में ही विराजमान हैं, तो उन्होंने भी पूज्यश्री के दर्शन व प्रवचन सुनने की अपनी इच्छा प्रकट की। राजगुरु श्यामाप्रसाद ने अथक प्रयत्न किए कि महाराजा पूज्यश्री के दर्शनार्थ न जाएँ, पर वह अपने प्रयत्नों में असफल ही रहा।

महाराजा माधोसिंह गए पूज्यश्री के दर्शनार्थ। दर्शन, वन्दन, प्रवचन-श्रवण किया उन्होंने। पूज्यश्री का प्रवचन तो था ही ऐसा जो अन्तर्मन में मंथन पैदा कर दे। राजा माधोसिंह नित्य पूज्यश्री के प्रवचनों में आने लगे।

चातुर्मास समाप्ति निकट थी। दो दीक्षार्थियों ने उच्च भावना के साथ दीक्षा ली। दीक्षा-समारोह अत्यधिक धूमधाम से सम्पन्न हुआ। एक दिन महाराजा माधोसिंह जी ने कहा—“गुरुवर ! इस चातुर्मास की स्मृति में मैं कोई आदर्श कार्य करने की अभिलाषा रखता हूँ। बतलाइए क्या करूँ ? त्याग-व्रत मैंने जो भी लिए, वे व्यक्तिगत लाभ के लिए थे। राज्य में कोई ऐसा कार्य मेरे द्वारा हो कि युग-युगान्तर तक आपका नाम मेरी प्रजा की स्मृति में रहे।”

पूज्यश्री ने यह उपयुक्त अवसर देखा और बोले—“आपकी भक्तिभावना प्रशंसनीय है। मुझे लग रहा है कि पिछले कुछ समय से यहाँ के धर्म-क्षेत्र में कुछ अशांति व्याप्त है। सभी धर्म के अनुयायी इस राज्य में हैं। पहले वे सभी अपने-अपने धर्म का सुख-शांतिपूर्वक पालन-आराधन करते थे, पर अब वैसी स्थिति नहीं मालूम होती। आप स्वयं इस बात का निरीक्षण-परीक्षण करें तो स्वयं ही जान जायेंगे कि क्या होता था यहाँ और अब क्या हो रहा है ? आप इस धर्म नगरी जयपुर में पहले जैसी धर्म-पालन की सुव्यवस्था पुनः स्थापित कर दें तो इस चातुर्मास की यह एक अमर यादगार रहेगी, यहाँ के लोगों की स्मृति में यह बात दीर्घकाल तक स्थिर रहेगी।”

□ जब रहस्य से पर्दा उठा

महाराजा माधोसिंह को पूज्यश्री की इस बात में कुछ रहस्य लगा, पर यह भी सत्य था कि यदि धर्म-क्षेत्र में चिर-शांति की व्यवस्था बनती है, तो वह निश्चय ही इस चातुर्मास की स्थायी स्मृति होगी।

महाराजा माधोसिंह ने दीवान रतनसिंह को बुलाया और अपनी अस्वस्थता के समय की राज्य-रिपोर्ट लेते हुए धर्म-सेवा में किसी परिवर्तन के विषय में पूछना प्रारंभ किया। दीवान जी ने सम्पूर्ण विवरण दे दिया। महाराज माधोसिंह सारा प्रसंग जानकर अत्यंत दुःखी हुए। श्यामप्रसाद तिवारी को उन्होंने राज्य से निष्कासन का दंड दिया। पूज्यश्री के विहार के पूर्व ही यह हो गया। मिंगसर वदि दूज के दिन महाराज माधोसिंह ने अपने राज्य के तैंतीस परगनों में यह आदेश भिजवाया—

“जैनधर्म राज्य में पहले जिस तरह का था, पुनः वैसा ही उसकी स्थापना की जाए। जैनानुयायियों की व्यक्तिगत माल-मिल्कियत तथा धार्मिक आराधना-स्थल-धर्मस्थानकों की जो-जो वस्तुएँ-सामग्रियाँ ली गई हैं, वे उन्हें वापस की जाएँ।”

आचार्य श्री जयमल जी म. सा. का यह कार्य धर्म-क्षेत्र, जैन इतिहास व जन-इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यह प्रसंग उनकी अमित आत्मशक्ति का भी परिचायक है।

आज के प्रवचन में पूज्य आचार्यसम्राट् द्वारा प्रतिबोध पाकर जिन दीक्षित साधकों का मैंने आपके समक्ष उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त भी पूज्यश्री ने स्वयं तथा उनके संतों ने उनके जीवनकाल में अनेक भव्यजीवों को सदुपदेश द्वारा संसार-चक्र से निकलने के लिए संयम-पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दी और अनेक नर-नारी दीक्षित होकर संत-सती बने।

□ जय तृतीय पट्ट की दीक्षा

संवत् १८१९ से १९२९ तक क्रमशः सोजत, जोधपुर, किसनगढ़, नागौर, बीकानेर, मेड़ता, नागौर, जोधपुर, मेड़ता, नागौर, जोधपुर इस प्रकार चातुर्मास किये। संवत् १८२९ के शेष काल में तिंवरी में मुनि श्री रायचंद जी म. सा. का प्रेरक प्रवचन सुन आसकरण जी दीक्षा की अभिलाषा करने लगे। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने समाचार पाकर तिंवरी पधार उन्हें दीक्षा संस्कार दिया। ये आसकरण मुनि आगे जाकर ‘जयगच्छ’ के तृतीय पट्टधर बने। इनके द्वारा रचित ‘छोटी साधु वन्दना’ जैन समाज में अत्यंत लोकप्रिय हुई।

संवत् १८३४ में जोधपुर में आपके उपदेशों व संयमित जीवन से प्रभावित सूरतराम ने दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा में तत्कालीन जोधपुर-नरेश भी पधारे थे। संवत् १८३५ में जोरावरमल को पूज्यश्री ने दीक्षा दी। संवत् १८३८ में गुलाबचंद दीक्षित बने। आचार्यसम्राट् ने कुल ७०० भव्यात्माओं को दीक्षित किया, इनमें ५१ मुनि शिष्य, २०० प्रशिष्य तथा ४४९ साध्वी जी थीं।

□ कालजयी जय-रचनाएँ

आपने इस काल में अनेक सुन्दर, चेतावनी भरे, आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत पदों, ढालों व चरित्रों की काव्य-सृजना की। 'चेत चेत रे प्राणियां', 'चेतन चेतो रे', 'गज घोड़ा देख भुलारे', 'धर्म-महिमा-ढाल', 'शिक्षाप्रद पद', 'विरला इसड़ा ब्रह्मचारी', 'गुणस्थान-विधिसञ्ज्ञाय', 'राजा परदेशी की ढाल', 'शकडाल पुत्र की ढाल', 'तेतलीपुत्र की ढाल', 'संयतिकी ढाल', 'अर्जुन माली की ढाल', 'नवकार-मंत्र', 'दृढ़ समकित्ती', 'रोहिणी की ढाल', 'मेघकुमार की ढाल', 'शल्य छत्तीसी' इत्यादिक सैकड़ों से ऊपर रचनाएँ आपश्री द्वारा सृजित हैं।

इसी तरह जिन ठाकुरों, जागीरदारों, नरेशों, राजा-महाराजाओं को आपने प्रतिबोध देकर सप्त कुव्यसन के प्रत्याख्यान कराए, विशेष रूप से मद्यपान, माँस-भक्षण, शिकार खेलना, जुआ आदि पर मार्मिक उपदेश देकर इनका त्याग कराया; उनमें से कइयों का उल्लेख इस प्रवचन में हो चुका है। इनके अतिरिक्त भी अनेक छोटे-छोटे ठाकुर-राजा हैं, जिन्होंने आपके संयम-जीवन और उपदेश से प्रभावित हो अपने कुव्यसनों का त्याग किया। यथा—इन्दौर-नरेश मल्हार राव, जयपुर-नरेश माधोसिंह, बीकानेर-नरेश (संवत् १८१७), शाहपुर-नरेश रणसिंह आदि।

जीवन के अंतिम साधना-काल में वयोवृद्ध हो जाने पर, उम्र जब ७६ के पार पहुँच गई, तब नागौर-संघ व श्रावकों के अत्यधिक आग्रह पर आपने वहाँ स्थिरवास रहना स्वीकार किया। उसके पूर्व उम्र ७६ हो जाने पर भी बीकानेर पद-विहार किया और पुनः नागौर आए, इसी से आपकी आत्मशक्ति, शारीरिक-स्फूर्ति और कायिक तेजस्विता का अनुमान किया जा सकता है। नागौर में १३ वर्ष का दीर्घ स्थिरवास रहा। इस स्थिरवास का लाभ नागौर के श्रावक-श्राविकाओं को तो मिला ही, अनेक जिज्ञासु, ज्ञान-पिपासु संत तथा नवदीक्षित संतों ने आपके पास आकर ज्ञानाभ्यास कर आपश्री के अथाह ज्ञान का लाभ उठाया। अंतिम समय तक आपके भीतर आत्मशक्ति, मनस्तेज और वाचिक ओज विद्यमान रहा।

□ सत्यधर्म का डंका बजाया

आपने अपने समय में संस्कृति के नाम पर पनप रही विकृतियों से संघर्ष कर पुनः संस्कृति की स्थापना की, धर्म के नाम पर पनप रहे अधर्म से जूझकर जीवनपर्यन्त सत्यधर्म का डंका बजाया। बाधक बने विरोधियों को उस युगपुरुष ने अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा और सहिष्णुता के बल पर कड़्यों को पराभूत और अनेकों को साधक बना दिया। विरोधी लोगों ने विरोध छोड़कर आपकी चरण-शरण ली और आपकी जीवन-शैली का अनुकरण किया। संयम में सुदृढ़ और संयमाचारी रहें, इसके लिये, आप सदा सजग रहते थे।

बंधुओं! उस युगपुरुष ने जब भी कुछ कहने के लिए मुख खोला, तो उसकी वाणी में युगान्तरकारी वाणी ही मुखरित हुई, उसके आचरण में युगान्तरकारी आचरण दृढ़ क्रियाशील बना। उनके विचार, उनके प्रचार, उनके आचार में एकरूपता थी और वे स्वहित के साथ समाजहित के लिए निरन्तर गतिशील रहे। उन्होंने उस युग की जनता को, भूले-भटके साधकों को, पथ-भ्रष्ट शासकों को सही दिशा दी। उनके इस तरह के पवित्र एवं दिव्य जीवन के कारण ही लक्ष-लक्ष जन उनके भक्त बन अगाध श्रद्धा से उनके प्रति समर्पित हो गए।

□ आत्म-साधना हेतु आचार्य-पद वोसिराया

जीवन के अंतिम १३ वर्ष आपश्री ने शारीरिक कारणों से नागौर में स्थिरवास किया था। वि. सं. १८५१ में आपने विचार किया कि संघ का आचार्य-पद जीवन के इन अंतिम वर्षों में आत्म-विशुद्धि की पूर्ण साधना में कुछ व्यवधानस्वरूप ही होगा। मुझे चाहिए कि मैं इस पद सम्बन्धी कार्यों से अपने को अलग कर लूँ।

जैन इतिहास में आचार्य के रहते युवाचार्य बनाने की परम्परा तो सर्वत्र है, कई वर्षों से है पर कोई आचार्य अपने जीवनकाल में अपना आचार्य-पद 'वोसिरा' कर योग्य मुनि को स्वयं आचार्य-चादर उन घोषित आचार्य-मुनि को श्रद्धा सहित ओढ़ावें, यह सर्वप्रथम आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. जैसे युगपुरुष के लिए ही संभव था। आपश्री ने चतुर्विध संघ की साक्षी से नागौर शहर में वि. सं. १८५१ में जेठ सुदी २ के शुभ दिन युवाचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. को आचार्य-पद प्रदान कर उन्हें संघाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया।

इस तरह आचार्यसम्राट् ने अपने जीवन के अंतिम समय को, उस समय के एक-एक पल, एक-एक क्षण को आत्म-विशुद्धि की साधना में व्यतीत किया।

□ जय समाधिमरण

आपने अपने उपयोग से आयु की समाप्ति को निकट समझकर वि. सं. १८५३ में चैत्र शुक्ला पूनम को नागौर की पावन भूमि पर संलेखणापूर्वक जीवनपर्यन्त के लिए संथारा (अनशन) स्वीकार किया जो ३१ दिनों तक रहा और वैशाख सुदी १४ (नृसिंह चतुर्दशी) को समाधिमरण के साथ पूर्ण हुआ।

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने इस प्रकार अपने मरण को भी महोत्सव बना दिया। जब आपने संथारे का चिन्तन किया तो संलेखणा करना फाल्गुण मास में प्रारंभ कर दिया। श्रद्धालु भक्तों को जब इस बात की सूचना मिली, तो सभी चकित रह गए। सुदूरवर्ती क्षेत्रों में धर्म प्रवास एवं प्रभावना कर रहे संत-सतियों को सूचना करवा दी गई, जिसे सुनकर अनेक संघाड़ों ने नागौर की ओर विहार प्रारंभ कर दिया।

आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. उस समय बीकानेर क्षेत्र में जिनशासन की प्रभावना कर रहे थे। फाल्गुण के शुक्ल पक्ष में आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. को नागौर पधारने का सन्देश भेजा गया।

चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में उस युगपुरुष ने नियत मरण को स्वयं वरण करने के लिए संथारा धारण करने की अभिलाषा प्रकट की। पूनम के दिन आपश्री ने चतुर्विध संघ के सम्मुख संथारा ग्रहण किया।

संथारा ग्रहण करने का संदेश वायु-वेग की तरह सम्पूर्ण भारत में फैल गया। दर्शनार्थ अनेक राज्यों के राजा, महाराजा नागौर आने लगे। अनेक रियासतों के जागीरदार व ठाकुर दर्शन-वन्दन के लिए पहुँच गए। अनेकानेक राज्यों के दीवान आचार्यसम्राट् की चरण-वन्दना करने के लिए उपस्थित हो गए।

संदेश पाकर गुजरात में विचरण कर रहे आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के शिष्य श्री गजोजी स्वामी आदि ठाणा १२ और महाप्रभावक जैन संत श्री घासीराम जी म. सा. आदि ठाणा ६ तथा अनेक अन्य संत उग्र विहार कर नागौर अपने आराध्य गुरुदेव की सेवा में पहुँचे। ४९ संत संथारे की सेवा में जुट गए।

संथारे के १६वें दिवस पूज्य रायचन्द्र जी म. सा. 'संथार पर्ईण्णा' सुना रहे थे। पूरा दिन व्यतीत हो गया। रात्रि आ गई। अर्ध-रात्रि का समय था। श्री घासीराम जी म. सा. स्वाध्याय सुना रहे थे। आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. मुनिश्री गजोजी स्वामी,

मुनिश्री आसकरण जी म. सा. आदि १६ संत दिन-रात सेवा करने वाले भी निकट में विराजित स्वाध्याय-निरत थे। तभी यकायक एक दिव्य-तेज से वह उपाश्रय आलोकित हो उठा। संतगण चकित हुए, पर शीघ्र सजग बन गए। उन्होंने देखा कि दो दिव्य आकृतियाँ वहाँ प्रकट हुईं। दोनों ने आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के चारों ओर तीन परिक्रमाएँ दीं और विधियुत् वन्दना की।

इसी समय आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. ने पूछ लिया—“कौन हैं आप ?”

प्रत्युत्तर सुनने को मिला—“उदय और केशव !”

समझ गए पूज्य रायचन्द्र जी म. सा. कि गुरु-भगवंत के दिवंगत शिष्य हैं। उनके स्मृति-पटल पर सिरियारी का बीहड़, सुनसान घाट उभर आया। दो ऊँची-ऊँची पहाड़ियों के बीच पगडंडी-सा रास्ता। कभी वह रास्ता पहाड़ी के ऊपर-ऊपर चलता, तो कभी पहाड़ी से सटकर। नीचे झाँककर देखने पर गहरी खाई, हजारों फीट गहरी दिखाई देती थी और ऊपर देखने पर हजारों फुट ऊँचे, गर्वोन्नत बने पर्वत-शिखर दिखते थे। यह पहाड़ी रास्ता दो कोस लम्बा था। इसकी पहाड़ियों के एक ओर था मेवाड़, जहाँ आचार्यसम्राट् को पहुँचना था और इस तरफ था मरुधरा का सिरियारी नगर। मेवाड़ की ओर तलहटी में पीपली ग्राम होने से वहाँ के लोग इसे पीपली घाट कहते थे और मरुधरावासी इसे सिरियारी घाट कहते थे।

वह समय था संवत् १८१२ का। उस समय सिरियारी घाटी से मेवाड़ जाना खतरनाक था। सुनसान पहाड़ियाँ, ऊबड़-खाबड़ पथरीली पतली-सी पगडंडी वाला रास्ता। अनेक घुमाव उस रास्ते में। झाड़ियों की अधिकता से भयानकता थी तो पहाड़, झरने, गुफाएँ, पेड़, हरियाली आदि मनोरम दृश्यों के कारण सुन्दरता भी थी। इस घाटी में तब भील मीणे आदि लुटेरे एवं हिंसक जंगली पशु शेर, चीते आदि भी थे। अतः कभी कोई गूँज होती तो यात्री चौंक उठते थे।

□ विरले बन्धुओं का विरला कार्य

पूज्यश्री संत-मंडल के साथ उस घाटी की पगडंडी पर निर्भय, स्थिर कदमों से चले जा रहे थे। अचानक आचार्य भगवंत ने उदय मुनि व केशव मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा—“आप दोनों आगे बढ़ो !”

आदेश था पूज्यप्रवर का। दोनों आगे बढ़ गए। ज्यों-ज्यों आगे बढ़े, अचानक परिणामों की धारा भी ऊर्ध्व की ओर बढ़ने लगी। ऊँची पहाड़ी और नीची घाटी। चले जा रहे थे मुनिद्वय। तभी सामने कुछ ही दूर एक बड़ी शिला दिखाई दी। शिला के एक ओर पहाड़ियाँ इस तरह फैली हुईं कि मानों शिला का संरक्षण कर रही हों तो दूसरी तरफ शिला के ऊपर और आसपास में घने, विशाल, छायादार वृक्षों की पंक्ति, मानों शिला पर छाया रखने का निश्चय कर लिया हो। उदय मुनि को लगा कि शिला क्या है, कोई मंडप है, प्राकृतिक मंडप।

उदय मुनि अपने साथी केशव मुनि को पगडंडी पर ही छोड़ उस शिला की ओर आगे बढ़ गए। केशव मुनि ने यह देखा तो वे भी पीछे-पीछे चले आए। आकर देखा तो शिला के पास उदय मुनि चिंतनलीन हैं। पूछा—“क्यों चिन्तित हैं? क्या शारीरिक कारण?” उत्तर मिला—“नहीं! पर देखो तो यह शिला...”

केशव मुनि ने बात काटकर कहा—“पूज्यश्री ने हमें आगे बढ़ने को कहा है।”

उदय मुनि बोले—“हाँ! आगे ही तो बढ़ना है। इस ऊँचाई पर पहुँचने के बाद नीचे उतरने का मन नहीं करता। यहाँ इस शिला को देखते-देखते मेरे परिणाम कुछ अलग से बनते मालुम हो रहे हैं। थोड़ी देर पहले मैंने उस पीपल के पेड़ से एक पीत-पत्र को पेड़ से अलग होकर नीचे गिरते देखा और जीवन की क्षणभंगुरता का ध्यान आ गया। मेरा मन इसे देख कुछ कहने लगा है, मन में कुछ ऐसा हो रहा है।”

केशव मुनि—“पूरे दार्शनिक बन गये हो। कैसा हो रहा है मन में?”

उदय मुनि—“बस! यह शिखर, यह शिला और मैं! खो जाना चाहता हूँ यहीं! लगता है मुझे यहीं आत्म-समाधि ले लेनी चाहिए।”

केशव मुनि—“यदि ऐसा है तो मैं भी तुम्हारे साथ रहना चाहता हूँ। हम दोनों ने एक ही माता के उदर से जन्म लिया, दोनों साथ खेले, दोनों ने साथ शिक्षा पाई, साथ-साथ बड़े हुए, साथ ही संयम ग्रहण किया, संयम-जीवन में भी साथ-साथ रहे, अब आत्मोत्सर्ग के समय मैं अलग क्यों? साथ ही समाधि लेंगे और यहीं लेंगे।”

उदय मुनि बोले—“फिर देर किस बात की?”

आचार्य भगवंत के साथ सभी संत वहाँ पहुँचे तो वे दोनों चिन्तनलीन ही थे। पूज्यश्री ने दोनों को पुकारा और पूछा—“यहाँ क्यों रुक गए?”

दोनों मुनियों ने जो कुछ बीता, घटित हुआ, चिन्तन बना, आपस में जो बातें कीं; दोनों ने—वे सभी आचार्य भगवंत व सभी संतों को सुना दीं साथ ही संथारा ग्रहण करने का आत्म-भाव भी प्रकट कर दिया।

सभी चकित हुए। देखा उधर शिला की ओर। वातावरण देखकर लगा कि स्थान है ही ऐसा, आत्म-समाधि के भाव उत्पन्न हो जाएँ। शत्रुंजय और सम्मेतशिखर पर भी तो ऐसा ही वातावरण होता होगा, जहाँ तीर्थकर भगवंतों, अनेक भव्यात्माओं को आत्म-समाधि के उत्कृष्ट भाव आते हैं।

पूज्यश्री ने उनके मन को टटोला, दृढ़ता की जाँच की और जब देखा कि भावना का रंग किरमिची है तो संथारा पचक्खा दिया। कुछ संतों को संथारे की सेवा में रख, कुछ वृद्ध सन्तों को पुनः सिरियारी भेजा और कुछ बाल मुनियों को आगे पीपली गाँव भेज दिया। स्वयं पूज्यश्री एवं अन्य युवा सेवाभावी सन्तों ने संकल्प कर लिया कि जब तक संथारा चले तब तक चारों आहार के त्याग।

संथारा प्रारंभ हुआ। स्वयं पूज्यश्री विविध स्वाध्याय सुनाने लगे। सिरियारी, पीपली एवं अन्य निकटवर्ती ग्रामों के श्रावक दर्शनार्थ आने लगे। जंगल में मंगल होने लगा। मरण, महोत्सव का रूप ले रहा था। पूज्यश्री ने संथारे के सहयोग में दोनों के संथारे तक चौविहार तप अंगीकार करके उस महोत्सव को सजीवता प्रदान कर दी।

केशव मुनि को संथारा नौ दिन का आया और उदय मुनि को ग्यारह दिन का। अंतिम अवस्था तक उनकी समाधि अवस्था में आत्मतेज बढ़ता रहा, अनुपम शांति व प्रसन्नता के भाव बने रहे।

लम्बे समय तक पूज्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. इन्हीं यादों में खोये रहे तभी याद आया—वे ही मुनि देवलोक से आचार्य भगवंत के दर्शन करने आए हैं और अभी तक यहीं हैं। पुनः पूछ बैठे—“किस कल्प से आना हुआ?”

एक देव ने कहा—“प्रथम कल्प से !”

पूज्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. ने तब पूछा—“प्रयोजन आने का ?”

दोनों साथ में बोल पड़े—“उपकारी गुरुदेव की वन्दनार्थ आए हैं।”

सहसा मुनि श्री आसकरण जी म. सा. ने पृच्छा की—“गुरुदेव ! यहाँ का आयुष्य पूर्ण कर किस कल्प में उत्पन्न होंगे ?”

□ जय एकभवावतारी

प्रश्न अनपेक्षित था। देव शांत रहे। कुछ देर वहाँ स्तब्धता का वातावरण बना रहा। दोनों देव ध्यानस्थ बन गए। ध्यान से बाहर आकर बोले—“हमारा इतना ज्ञान नहीं था। महाविदेह क्षेत्र में विराजमान सीमंधर स्वामी से समाधान लेकर आये हैं। सर्वज्ञ सीमंधर स्वामी के अनुसार गुरुदेव यहाँ का आयुष्य पूर्ण कर प्रथम कल्प में ही देवभव प्राप्त करेंगे। वहाँ की अवधि पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय में राज-कुल में उत्पन्न होंगे और उत्कृष्ट संयमाराधन कर उसी भव में मोक्ष (निर्वाण) को प्राप्त करेंगे। ये आचार्य भगवन् पूज्य जयमल जी म. सा. एकभवावतारी हैं।

इतना कहकर देव-द्वय पुनः वंदन-नमन कर अन्तर्ध्यान हो गए। कुछ क्षणों के लिए एकदम घोर अंधकार हो गया वहाँ। धीरे-धीरे आँखें अंधकार में कुछ देखने योग्य बनीं। सभी संत एकभवावतारी आचार्यसम्राट् के प्रति और अधिक श्रद्धावनत् बन गए।

घटना-चक्र का उल्लेख चालू संधारे में पूज्य आसकरण जी म. सा. के द्वारा रचित ढाल में किया गया है। ये प्राचीनतम प्रतियाँ अहमदाबाद व पीपाड़ भंडारों में हैं, जिनमें एकभवावतारी का उल्लेख मिलता है।^१ ४९ संत व २५० सतियाँ संधारे की सेवा में मौजूद थे। उसमें से सोलह संतों ने एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के संधारे की तन-मन से स्वाध्याय सेवा का साथ दिया। दिन-रात एक करके इस तरह संधारे की अविरल सेवा करने वाले इन सोलहों संतों को कालान्तर में एक-एक मास का संधारा आया।

जैन-जगत् के इस युगपुरुष को इकतीस दिनों का दीर्घ संधारे का लाभ प्राप्त हुआ। जैन इतिहास के विगत पाँच सौ वर्षों में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिला कि जहाँ किसी सम्प्रदाय के आचार्य-पद धारक महान् आत्मा को इतना दीर्घकाल का संधारा आया हो। उन्हीं महापुरुषों के तीन पाट तक एक-एक मास का संधारा व चौथे पट्टधर पूज्य आचार्य श्री सबलदास जी म. सा. को २५ दिन का संधारा, पाँचवें पट्टधर पूज्य आचार्य श्री हीराचंद जी म. सा. को २१ दिन का संधारा, षष्ठम् पट्टधर आचार्य श्री किस्तूरचंद जी म. सा. को १५ दिन का संधारा, सातवें पट्टधर आचार्य श्री भीखमचन्द्र जी म. सा. को २० दिन का संधारा, आठवें पट्टधर आचार्य श्री कानमल जी म. सा. को ७ दिन का संधारा, नवम् पट्टधर

१. ये हस्तलिखित प्रतियाँ अहमदाबाद के प्राचीन भण्डार से डॉ. श्री पदमचन्द्र जी म. सा. को प्राप्त हुईं। 'जयध्वज' के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ संस्करण में उन हस्तलिखित प्रतियों को छपा गया है।

आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. को १ दिन का संथारा, दशम् पट्टधर आचार्य श्री लालचंद जी म. सा. को १ दिन का संथारा इस प्रकार सभी १० पट्टधर आचार्यों को संथारा आया।

“आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. का संथारा पूर्ण हुआ”, “आचार्यसम्राट् की निर्जीव पार्थिव काया ही शेष रह गई”, “आत्मा ने शरीर का त्याग कर दिया”, “एकभवावतारी आचार्यसम्राट् समाधि धर्म को प्राप्त हुए” आदि विभिन्न शब्दों के संयोजन से राष्ट्रभर में उनके दिवंगत होने के संदेश मानवीय संसाधनों द्वारा प्रसारित होते गये।

अंतिम दर्शन व पार्थिव देह के अग्नि-संस्करण में सम्मिलित होने के लिए देश के निकट एवं सुदूरवर्ती क्षेत्रों से हजारों-हजार जैन तथा जैनेतर श्रद्धालु नागौर पहुँच गए।

विशाल जनमेदिनी की उपस्थिति में वह पार्थिव शरीर पंचतत्त्व में विलीन हो गया।

शेष रह गया, उस आदर्श महनीय संत-श्रेष्ठ का अमरत्व प्राप्त यशःशरीर ! उनकी गौरवशाली जय गच्छीय परम्परा !! जन-जन के पथ-दर्शक, प्रेरक उस परम पुरुष के दिव्य सन्देश, आत्मकल्याणी उपदेश !!!

आनन्द ही आनन्द !



नोट— एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी ‘जयध्वज सचित्र’ भाग १ से ४ तक, डॉ. पदमचन्द्र जी म. सा. द्वारा सम्पादित में देखें।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. की आचार्य परम्परा का संक्षिप्त परिचय

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा.	गृहस्थ-पर्याय : 17 वर्ष 9 मास, बंदोला खाते-खाते (विवाह की पूर्व तैयारी)
जन्म-भूमि : लांबिया, मेड़ता (राज.)	दीक्षा-प्रदाता : स्वामी जी श्री गोवर्द्धनदास जी म. सा.
माता : महिमादेवी	दीक्षा-गुरु : एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा.
पिता : मोहनदास जी समदड़िया मेहता	दीक्षा-भूमि : पीपाड़ सिटी (मारवाड़)
जन्म-तिथि : वि. सं. 1765, भाद्रपद शुक्ला 13	दीक्षा-तिथि : वि. सं. 1814, आषाढ़ शुक्ला 11
गृहस्थ-पर्याय : बावीस वर्ष (विवाह के छह महीने बाद दीक्षा ली)	युवाचार्य-पद : वि. सं. 1849, वैशाख शुक्ला 3 (अक्षय तृतीया)
पत्नी : लक्ष्मीदेवी (जयमल जी की दीक्षा के छह महीने बाद दीक्षा ली)	आचार्य-पद : वि. सं. 1851, ज्येष्ठ कृष्णा 2, नागौर
दीक्षा-गुरु : आचार्यसम्राट् पूज्य श्री भूधर जी म. सा.	पट्टधर : श्री आसकरण जी म. सा.
दीक्षा-भूमि : मेड़ता सिटी (राज.)	शिष्य संख्या : 5, प्रशिष्य 19
दीक्षा-तिथि : वि. सं. 1788, मार्गशीर्ष कृष्णा 2	देह-त्याग : वि. सं. 1868, माघ कृष्णा 14 (30 दिन के संथारे के साथ)
आचार्य-पद : वि. सं. 1805, अक्षय तृतीया, जोधपुर	दीक्षा-पर्याय : 54 वर्ष 6 मास 18 दिन
आचार्य-पद : वि. सं. 1851, ज्येष्ठ कृष्णा 2, विसर्जन नागौर (पूज्यश्री आध्यात्मिक साधना में रत बने)	सर्वायु : 72 वर्ष 3 मास
पट्टधर : श्री रायचंद्र जी म. सा.	आचार्यसम्राट् पूज्य श्री आसकरण जी म. सा.
शिष्य संख्या : 51, प्रशिष्य 200, साध्वियाँ 449	जन्म-भूमि : तिंवरी (मारवाड़)
संथारा ग्रहण : वि. सं. 1853, चैत्र सुदी 15, शुक्रवार	माता : गीगादेवी (दीक्षा ली)
देह-त्याग : वि. सं. 1853, वैशाख शुक्ल 14 (नृसिंह चतुर्दशी, 31 दिन के संथारे के साथ, नागौर में)	पिता : रूपचंद जी बोथरा
दीक्षा-पर्याय : 65 वर्ष	जन्म-तिथि : वि. सं. 1812, मार्गशीर्ष कृष्णा 2
सर्वायु : 87 वर्ष 8 मास	गृहस्थ-पर्याय : 17 वर्ष 5 मास 3 दिन (सगाई करते समय विरक्त हुए)
आचार्यसम्राट् पूज्य श्री रायचंद्र जी म. सा.	दीक्षा-गुरु : पूज्य श्री जयमल जी म. सा.
जन्म-भूमि : जोधपुर (मारवाड़)	दीक्षा-भूमि : तिंवरी
माता : नंदादेवी (दीक्षा ली)	दीक्षा-तिथि : वि. सं. 1830, वैशाख कृष्णा 5
पिता : विजयराज जी धाड़ीवाल	युवाचार्य-पद : वि. सं. 1857, आषाढ़ कृष्णा 5
जन्म-तिथि : वि. सं. 1796, आसोज शुक्ला 11	आचार्य-पद : वि. सं. 1868, माघ सुद 15, मेड़ता
	पट्टधर : श्री सबलदास जी म. सा.
	शिष्य संख्या : 10

देह-त्याग : वि. सं. 1882, कार्तिक कृष्णा 5,
जोधपुर (30 दिन के संधारे के साथ)
दीक्षा-पर्याय : 52 वर्ष 6 मास
सर्वायु : 70 वर्ष

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री सबलदास जी म. सा.

जन्म-भूमि : पोकरण नगर
माता : सुन्दरदेवी (दीक्षा ली)
पिता : आणंदराम जी लूणीया
जन्म-तिथि : वि. सं. 1828, भाद्रपद शुक्ला 12
गृहस्थ-पर्याय : 12 वर्ष 2 मास 6 दिन
(कुमार अवस्था में दीक्षा ली)
दीक्षा-गुरु : पूज्य श्री रायचन्द्र जी म. सा.
दीक्षा-भूमि : बुचकला
दीक्षा-तिथि : वि. सं. 1841, मार्गशीर्ष कृष्णा 3
युवाचार्य-पद : वि. सं. 1881, चैत्र शुक्ला 15
आचार्य-पद : वि. सं. 1882, माघ शुक्ला 13,
जोधपुर
पट्टधर : श्री हीराचन्द जी म. सा.
शिष्य संख्या : 5
देह-त्याग : वि. सं. 1903, वैशाख शुक्ला 9,
सोजत (25 दिन के संधारे के साथ)
दीक्षा-पर्याय : 61 वर्ष 5 मास 21 दिन
सर्वायु : 74 वर्ष 7 मास 27 दिन

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री हीराचन्द जी म. सा.

जन्म-भूमि : बिराईगाँव
माता : गुमानदेवी (दीक्षा ली)
पिता : नरसिंह जी कांकरिया
जन्म-तिथि : वि. सं. 1854, भाद्रपद शुक्ला 5
गृहस्थ-पर्याय : 10 वर्ष 13 दिन
(कुमार अवस्था में दीक्षा ली)
दीक्षा-गुरु : पूज्य श्री आसकरण जी म. सा.
दीक्षा-भूमि : सोजत सिटी
दीक्षा-तिथि : वि. सं. 1864, आसोज कृष्णा 3
आचार्य-पद : वि. सं. 1903, आषाढ़ शुक्ला 9,
जोधपुर

पट्टधर : श्री किस्तूरचन्द जी म. सा.
शिष्य संख्या : 5
देह-त्याग : वि. सं. 1920, फाल्गुन कृष्णा 7
(21 दिन के संधारे के साथ)

दीक्षा-पर्याय : 56 वर्ष
सर्वायु : 66 वर्ष

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री किस्तूरचन्द जी म. सा.

जन्म-भूमि : विसलपुर
माता : कुन्दनादेवी (दीक्षा ली)
पिता : नरसिंहदास जी मुणोत
जन्म-तिथि : वि. सं. 1889, फाल्गुन कृष्णा 3
गृहस्थ-पर्याय : 9 वर्ष 9 मास 19 दिन
(कुमार अवस्था में दीक्षा ली)
दीक्षा-गुरु : पूज्य श्री हीराचन्द जी म. सा.
दीक्षा-भूमि : पाली नगर
दीक्षा-तिथि : वि. सं. 1899, चैत्र सुदी 7
आचार्य-पद : वि. सं. 1920, फाल्गुन शुक्ला 5
पट्टधर : श्री भीखमचन्द्र जी म. सा.
शिष्य संख्या : 4
देह-त्याग : वि. सं. 1960, भादवा शुक्ला 5
(15 दिन के संधारे के साथ)
दीक्षा-पर्याय : 61 वर्ष 4 मास 28 दिन
सर्वायु : 70 वर्ष 6 मास 16 दिन

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री भीखमचन्द्र जी म. सा.

जन्म-भूमि : चौपड़ागाँव
माता : जीबादेवी (दीक्षा ली)
पिता : रतनचन्द्र जी बरलोटा मूथा
जन्म-तिथि : वि. सं. 1915, श्रावण शुक्ला 14
गृहस्थ-पर्याय : कुमार अवस्था में दीक्षा ली
दीक्षा-गुरु : पूज्य श्री किस्तूरचन्द जी म. सा.
आचार्य-पद : वि. सं. 1960, भादवा शुक्ला 15,
जोधपुर
पट्टधर : श्री कानमल जी म. सा.
शिष्य संख्या : 2
देह-त्याग : वि. सं. 1965, वैशाख कृष्णा 5
(20 दिन के संधारे के साथ)

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री कानमल जी म. सा.

जन्म-भूमि	: धवागाँव
माता	: तीजादेवी (दीक्षा ली)
पिता	: अगराज जी पारिख
जन्म-तिथि	: वि. सं. 1948, माघ शुक्ला 15
गृहस्थ-पर्याय	: 13 वर्ष 8 मास 23 दिन (कुमार अवस्था में दीक्षा ली)
दीक्षा-गुरु	: पूज्य श्री भीखमचन्द्र जी म. सा.
दीक्षा-भूमि	: महामंदिर (जोधपुर)
दीक्षा-तिथि	: वि. सं. 1962, कार्तिक शुक्ला 8
आचार्य-पद	: वि. सं. 1965, ज्येष्ठ शुक्ला 12, कुचेरा (मात्र 16 वर्ष की उम्र में आचार्य बने)
शिष्य संख्या	: 2
देह-त्याग	: वि. सं. 1985, माघ कृष्णा 5 (7 दिन के संथारे के साथ)
दीक्षा-पर्याय	: 23 वर्ष 2 मास 12 दिन
सर्वायु	: 36 वर्ष 11 मास 5 दिन

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जीतमल जी म. सा.

जन्म-भूमि	: लूणसरा (नागौर)
माता	: भीखीबाई (साध्वी भीखां जी म.)
पिता	: श्री वचनमल जी बाघमार
जन्म-तिथि	: वि. सं. 1967, श्रावण कृष्णा 7
दीक्षा-गुरु	: स्वामी श्री नथमल जी म. सा.
दीक्षा-भूमि	: पीपाड़ सिटी (राज.)
दीक्षा-तिथि	: वि. सं. 1978, मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीय 9
दीक्षा शिक्षा-गुरु	: श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमल जी म. सा.
उपाध्याय-पद	: वि. सं. 2004, वैशाख शुक्ला 3
आचार्य-पद	: वि. सं. 2033, चैत्र शुक्ला 13, रायपुर (मारवाड़)
स्वर्गवास	: वि. सं. 2044, फाल्गुण कृष्णा 3, जोधपुर (एक दिन के संथारे के साथ)

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री लालचन्द जी म. सा.

जन्म-भूमि	: रायपुर (हरीपुर) मारवाड़
माता	: मथुरादेवी
पिता	: दौलतसिंह जी
जन्म-तिथि	: वि. सं. 1970, आसोज शुक्ला 15
दीक्षा	: वि. सं. 1987, ज्येष्ठ शुक्ला 9, ताँदली (महाराष्ट्र)
शिक्षा-गुरु	: श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म. सा.
दीक्षा-गुरु	: सेवामूर्ति स्वामी श्री बक्तावरमल जी म. सा.
उपाध्याय-पद	: 2033, वैसाख शुक्ला 14, खांगटा
आचार्य-पद	: 2044, फाल्गुण शुक्ला 2, जोधपुर
योग्यता	: न्यायदर्शन, साहित्य एवं व्याकरण के गहन ज्ञाता, कवि लेखक, आलोचक, जैनागम के तलस्पर्शी विद्वान्, अद्भुत व्याख्यान शैली, प्रत्युत्पन्नमति
भाषा	: संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तमिल, तेलगु, अंग्रेजी, हिन्दी में धारा-प्रवाह भाषण में निष्णात
स्वर्गवास	: 2045, वैसाख सुद 3 (आखा तीज) 1 दिन के समाधिमरण के साथ जोधपुर (राज.)

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री शुभचन्द्र जी म. सा.

जन्म-भूमि	: रूपावास पाली (राज.)
माता	: बीराबाई सोनी
पिता	: दीपचंद जी सोनी
जन्म-तिथि	: वि. सं. 1996, श्रावण शुक्ला 11,
दीक्षा	: हरसोलाव, वि. सं. 2013, वैशाख कृष्णा 10
गुरु	: स्वामीवर्य श्री चाँदमल जी म. सा.
भाषा	: संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, गुजराती आदि
आचार्य-पद	: वि. सं. 2045, वैसाख सुद 14, जोधपुर

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. के वर्षावास
दीक्षा : वि. सं. 1788, मिगसर वद 2, गुरुवार, मेड़ता शहर में

संवत्		संवत्			
1.	1789	सोजत	28.	1816	जोधपुर
2.	1790	जालोर	29.	1817	बीकानेर
3.	1791	दिल्ली	30.	1818	जयपुर
4.	1792	मेड़ता	31.	1819	सोजत
5.	1793	जोधपुर	32.	1820	जोधपुर
6.	1794	नागौर	33.	1821	किशनगढ़
7.	1795	जोधपुर	34.	1822	नागौर
8.	1796	सोजत	35.	1823	बीकानेर
9.	1797	जोधपुर	36.	1824	मेड़ता
10.	1798	मेड़ता	37.	1825	नागौर
11.	1799	किशनगढ़	38.	1826	जोधपुर
12.	1800	जयपुर	39.	1827	मेड़ता
13.	1801	जोधपुर	40.	1828	नागौर
14.	1802	मेड़ता	41.	1829	जोधपुर
15.	1803	सोजत	42.	1830	किशनगढ़
16.	1804	मेड़ता	43.	1831	शाहपुरा
17.	1805	सोजत	44.	1832	सोजत
18.	1806	नागौर	45.	1833	पाली
19.	1807	मेड़ता	46.	1834	जोधपुर
20.	1808	बोड़ावड़	47.	1835	पीपाड़
21.	1809	जैतारण	48.	1836	जोधपुर
22.	1810	जोधपुर	49.	1837	पाली
23.	1811	पीपाड़	50.	1838	किशनगढ़
24.	1812	भीलवाड़ा	51.	1839	शाहपुरा
25.	1813	उदयपुर	52.	1840	नागौर
26.	1814	अमर-रायपुर	53-65	1841-53	नागौर (स्थिरवास)
27.	1815	किशनगढ़			

एकभवावतारी चर्चा चक्रवर्ती भीष्म प्रतिज्ञाधारी युग-प्रधान आचार्य
प्रातःस्मरणीय पूज्य श्री १००८ श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित काव्य
(पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भण्डार, पीपाड़ के हस्त पत्रावली के आधार पर
जयवाणी में प्रकाशित रचनाएँ)

स्तुति	24.	न सा जाई न सा जोणी
1. चउवीसी स्तवन	25.	साधुचर्या
2. शान्ति जिन स्तवन	26.	पाप-पुण्य फल
3. पार्श्वनाथ जी का स्तवन	27.	श्री कृष्ण जी नी ऋद्धि
4. बीस विहरमानों का स्तवन	28.	भविष्यत् काल के तीर्थकर
5. बीस विरहमानों का स्तवन		उपदेशी पद
6. श्री सीमंधर जी का स्तवन	29.	पंचम आरा
7. बड़ी साधु वन्दना	30.	यह मेला
8. चार मंगल	31.	विरक्ति पद
सज्जाय	32.	मिनख-जमारो
9. कागदियो	33.	शिक्षा पद
10. इरियावही नी सज्जाय	34.	कलियुगी लोक
11. चौंसठ सति वन्दना	35.	प्राणी !
12. ब्रह्मचर्य विषयक स्तवन	36.	यह जग सपना
13. दीवाली	37.	शिक्षा-पद
14. चन्द्रगुप्त राजा के सोलह सपने	38.	वैराग्य-पद
15. धर्म महिमा	39.	चेतन ! चेत
16. चौबीस दंडक नी सज्जाय	40.	जीव चेतावनी
17. दृढ़ सम्यक्त्व	41.	वैराग्य-पद
18. क्षमा धर्म	42.	नींद-पच्चीसी
19. पन्द्रह परमाधर्मी देव	43.	मूरख-पच्चीसी
20. गौतम पृच्छ	44.	पर्यटन सप्तविंशतिका
21. गौतम पृच्छ	45.	उपदेश तीसी
22. पाप फल	46.	उपदेश बत्तीसी
23. पाप परिणाम	47.	वैराग्य बत्तीसी

रजिस्टर नं. 4					
	पेज नं.	क्रमांक			
95. नव निहाणा की ढाल	152	80	124. अम्बड संन्यासी	189	9/5
96. दान शील तप भावना सञ्जाय	152	143	125. श्रीमति सञ्जाय	189	9/6
97. राजुल की ढाल	160	62	126. होली की सञ्जाय	189	9/7
98. मिथ्या उपदेश निषेध सञ्जाय	163	62	127. सकोमल मुनि	189	9/8
99. रावण स्तवन	164	73	128. धन्ना जी की सञ्जाय	189	9/9
100. उपदेशी ढाल	165	22	129. मृगा लोढ़ा	189	9/10
101. सतियों की सञ्जाय	165	65	130. अगडदत्त	189	9/11
102. थावच्चा पुत्र	165	85/2	131. नंदन मणिहार	189	9/12
103. श्रीकृष्ण-नेमनाथ प्रभु स्तवन	165	85/3	132. जिनदत्त-जिनपाल	189	9/15
104. सुभद्रा सति ढाल	176	53	रजिस्टर नं. 5		
105. परिषह की ढाल	176	53	पेज नं. क्रमांक		
106. वज्र पुरन्दर चौढालियो	185	3	133. साधु गुणमाला	210	16
107. कुण्डरिक-पुण्डरिक चौढालियो	185	3	134. चन्दाप्रभु का स्तवन	210	59
108. सुरप्रिया का दोहा	185	3	135. केवली भगवान का स्तवन	210	59
109. इलापुत्र	185	3	136. अजितनाथ स्तवन	210	59
110. चित्त-संभूति चौढालियो	185	3	137. जन नमु आदि स्तवन	210	59
111. उदयरज की चौपाई	185	3	138. अरिहन्तों का स्तवन	210	59
112. आदि जिन स्तवन	185	9	139. द्वारका का विस्तार	210	59
113. नेमनाथ स्तवन	185	9	140. मेघकुमार स्तवन	210	59
114. विहाय पद	185	9	141. नेम-राजुल स्तवन	210	59
115. उपदेशी सञ्जाय	189	5	142. स्वार्थ का सगाई स्तवन	210	59
116. विनती	189	5	143. परदेशी राजा की संघी	211	13
117. गजसुकुमाल विनती	189	5	144. परदेशी राजा की चौपाई	212	16
118. बीस जणा से वाद न कीजे	189	5	145. मोरादेवी माता स्तवन	215	117
119. रे जोणी की सञ्जाय	189	5	146. समझी बाई गुण सुनो स्तवन	215	53/2
120. नवकार मंत्र स्तवन	189	5	147. यादव परिवार	219	31
121. हरिकेशी मुनि	189	9/2	148. द्वारका की रिद्धी	219	31
122. रोहिणी	189	9/3	149. पारसनाथ निशानी	219	36
123. दर्शाण भद्र	189	9/4	150. जीव सञ्जाय	219	36
			151. अरणक श्रावक स्तवन	220	2

152. महावीर स्वामी स्तवन	220	2		रजिस्टर नं. 6		
153. रात्रि-भोजन निषेध सञ्ज्ञाय	222	43			पेज नं. क्रमांक	
154. विविध स्तवन	222	105	169. जीव छत्तीसी		283	28
155. माया	222	167		रजिस्टर नं. 7		
156. जीवडला की सञ्ज्ञाय	226	105			पेज नं. क्रमांक	
157. दयावणो मारग	228	123	170. साधु-साध्वियों के गुणों			
158. धर्म के काजे जीव विनाशे	228	123	का सञ्ज्ञाय		307	6
159. जेहणो हुक्म कंथ न लोपे	228	123	171. सति चेलना		330	11
160. पाप नी बात वल्लभ लागे	228	123		रजिस्टर नं. 10		
161. जीभ की सञ्ज्ञाय	241	71			पेज नं. क्रमांक	
162. पडिक्कमणों की सञ्ज्ञाय	241	129	172. सिंहसेन राजा की ढाल		503	20445
163. जीरण सेठ की सञ्ज्ञाय	241	129	173. निन्हव ढाल		503	20520
164. काया-माया कारमी सञ्ज्ञाय	241	182	174. अभवी की निशानी की ढाल		503	20520
165. काल की सञ्ज्ञाय	241	189	175. ढंढण स्तवन		506	21320
166. पाप निषेध सञ्ज्ञाय	241	189	176. ग्यारह गणधर स्तवन		506	21398
167. जीव ने सझावण नी सञ्ज्ञाय	241	189	177. ऐवन्ता कुमार चौढालियो		508	21821
168. उपदेशी सञ्ज्ञाय	242	54				

नोट—अणुपेहा ध्यान प्रणेता प्रवचन प्रभावक स्वाध्याय एवं बारह व्रतों के प्रबल प्रेरक डॉ. श्री पदमचंद्र जी म. सा. इस सम्बन्ध में और भी खोज कर रहे हैं। वैसे उन्होंने आचार्य कैलाश सागर ज्ञान मन्दिर, कोबा एवं L.D. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, हर्ष मगन ज्ञान भण्डार, डेह, पूज्य जयमल जैन ज्ञान भण्डार, पीपाड़ आदि में भी अनेक ऐसी काव्य रचनाएँ पूज्य श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित देखीं जो अभी तक अप्रकाशित हैं। अनुमान ऐसा लगाया जाता है कि आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपने साधनाकाल में 250 से अधिक काव्य रचनाएँ कीं जिसमें से 177 की सूची यहाँ प्रकाशित की जा रही है।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित

श्री बड़ी साधु वन्दना

नमूं अनन्त चौबीसी, ऋषभादिक महावीर।
इण आर्य क्षेत्र मां, घाली धर्म नी शीर॥१॥

महाअतुल-बली नर, शूर-वीर ने धीर।
तीरथ प्रवर्तावी, पहुंचा भव-जल तीर॥२॥

सीमंधर प्रमुख, जघन्य तीर्थकर बीस।
छै अढी द्वीप मां, जयवंता जगदीश॥३॥

एक सौ ने सत्तर, उत्कृष्टा पदे जगीश।
धन्य मोटा प्रभु जी, तेह ने नमाऊं शीश॥४॥

केवली दोय कोड़ी, उत्कृष्टा नव क्रोड़।
मुनि दोय सहस कोड़ी, उत्कृष्टा नव सहस कोड़॥५॥

विचरे छे विदेहे, मोटा तपसी घोर।
भावे करि वन्दूं, टाले भव नी खोड़॥६॥

चौबीसे जिन ना, सगला ही गणधार।
चौदह सौ ने बावन, ते प्रणमूं सुखकार॥७॥

जिनशासन-नायक, धन्य श्री वीर जिनन्द।
गौतमादिक गणधर, बर्तायो आनन्द॥८॥

श्री ऋषभदेव ना, भरतादिक सौ पूत।
वैराग्य मन आणी, संयम लियो अद्भूत॥९॥

केवल उपजाव्यूं, कर करणी करतूत।
जिनमत दीपावी, सगला मोक्ष पहुंचत॥१०॥

श्री भरतेश्वर ना, हुआ पटोधर आठ।

आदित्य जसादिक, पहुंट्या शिवपुर वाट॥११॥

श्री जिन-अन्तर ना, हुआ पाठ असंख।

मुनि मुक्ति पहुंट्या, टालि कर्मनो वंक॥१२॥

धन्य कपिल मुनिवर, नमी नमूं अणगार।

जेणे तत्क्षण त्याग्यो, सहस रमणी परिवार॥१३॥

मुनि बल हरिकेशी, चित्त मुनीश्वर सार।

शुद्ध संयम पाली, पाम्या भव नो पार॥१४॥

वलि इखुकार राजा, घर कमलावती नार।

भग्गू ने जशा, तेहना दोग कुमार॥१५॥

छये छती ऋद्धि छांडी, लीधो संयम भार।

इण अल्पकाल मां, पाम्या मोक्ष द्वार॥१६॥

वलि संयति राजा, हिरण आहिडे जाय।

मुनिवर गर्दभाली, आण्यो मारग ठाय॥१७॥

चारित्र लेईने, भेट्या गुरु ना पाय।

क्षत्री राज ऋषीश्वर, चर्चाकरी चित्त लाय॥१८॥

वलि दशे चक्रवर्ती, राज्य रमणी ऋद्धि छोड़।

दशे मुक्ति पहुंट्या, कुल ने शोभा च्छोड़॥१९॥

इण अवसर्पिणी काल मां, आठ राम गया मोक्ष।

बलभद्र मुनीश्वर, गया पंचमे देवलोक॥२०॥

दशार्णभद्र राजा, वीर वांछा धरि मान।

पछि इन्द्र हटायो, दियो छकाय अभयदान॥२१॥

करकण्डू प्रमुख, चारे प्रत्येक बुद्ध।

मुनि मुक्ति पहुंट्या, जीत्या कर्म महाजुद्ध॥२२॥

धन्य मोटा मुनिवर, 'म गापुत्र' जगीश।

मुनिवर अनाथी, जीत्या राग ने रीस॥२३॥

वलि समुद्रपाल मुनि, राजमती रहनेम।
केशी ने गौतम, पाम्या शिवपुर-खेम॥ २४॥

धन्य विजयघोष मुनि, जयघोष बलि जाण।
श्री गर्गाचार्य, पहुंच्या छै निर्वाण॥ २५॥

श्री उत्तराध्ययन मां, जिनवर कर्या बखाण।
शुद्ध मन से ध्यावो, मन में धीरज आण॥ २६॥

वलि खंदक सन्यासी, राख्यो गौतम-स्नेह।
महावीर समीपे, पंच महाव्रत लेह॥ २७॥

तप कठिन करीने, झौंसी आपणी देह।
गया अच्युत देवलोके, चवि लेसे भव-छेह॥ २८॥

वलि ऋषभदत्त मुनि, सेठ सुदर्शन सार।
शिवराज ऋषीश्वर, धन गांगेय अणगार॥ २९॥

शुद्ध संयम पाली, पाम्या केवल सार।
ये चारे मुनिवर, पहुंच्या मोक्ष मंझार॥ ३०॥

भगवंत नी माता, धन्य-धन्य सती देवानन्दा।
वलि सती जयन्ती, छोड़ दिया घर-फन्दा॥ ३१॥

सती मुक्ति पहुंच्या, वलि ते वीर नी नन्द।
महासती सुदर्शना, घणी सतियों ना वन्द॥ ३२॥

वलि कार्तिक सेठे, पड़िमा वही शूर-वीर।
जिम्यो मोरां ऊपर, तापस बलती खीर॥ ३३॥

पछी चारित्र लीधूं, मित्र एक सहस आठ धीर।
मरी हुआ शक्रेन्द्र, चवि लेसे भव-तीर॥ ३४॥

वलि राय उदायन, दियो भाणेज ने राज।
पोते चारित्र लेईने, सार्या आत्म-काज॥ ३५॥

गंगदत्त मुनि आनन्द, तारण तिरण री जहाज।
मुनि कौशल रोहो, दियो घणा ने साज॥ ३६॥

धन्य सुनक्षत्र मुनिवर, सर्वानुभूति अणगार।

आराधक हुई ने, गया देवलोक मंझार।।३७।।

चवी मुक्ति जासे, वलि सिंह मुनीश्वर सार।

बीजा पण मुनिवर, भगवतीमां अधिकार।।३८।।

श्रेणिक नो बेटो, मोटो मुनिवर मेघ।

तजी आठ अन्तेउर, आण्यो मन संवेग।।३९।।

वीर पै व्रत लेईने, बांधी तप नी तेग।

गया विजय विमाने, चवि लेसे शिव वेग।।४०।।

धन्य थावच्चा-पुत्र, तजी बतीसों नार।

तेनी साथे निकल्या, पुरुष एक हजार।।४१।।

शुकदेव संन्यासी, एक सहस शिष्य लार।

पाँच सौ शैलक, लीधो संयम-भार।।४२।।

सब सहस अढ़ाई, घणा जीवां ने तार।

पुण्डरिक गिरि ऊपर, कियो पादोपगमन संथार।।४३।।

आराधक हुई ने, कीधो खेवो पार।

हुआ मोटा मुनिवर, नाम लिया निस्तार।।४४।।

धन्य जिनपाल मुनिवर, दोय धन्ना हुआ साध।

गया प्रथम देवलोक, मोक्ष जासे आराध।।४५।।

श्री मल्लिनाथना छह मित्र, महाबल प्रमुख मुनिराय।

सर्वे मुक्ति सिधाव्या, मोटी पदवी पाय।।४६।।

वलि जितशत्रु राजा, सुबुद्धि नामे प्रधान।

पोते चारित्र लेई ने, पाम्या मोक्ष निधान।।४७।।

धन्य तेतली मुनिवर, दियो छ काय अभयदान।

पोटिला प्रतिबोध्या, पाम्या केवलज्ञान।।४८।।

धन्य पांचे पाण्डव, तजी द्रौपदी नार।

थेवरां नी पासे, लीधो संयम-भार।।४९।।

श्री नेमि वन्दन नो, एहवो अभिग्रह कीध।
मास-मासखमण तप, शत्रुंजय जई सिद्ध ॥५०॥

धर्मघोष तणा शिष्य, धर्मरुचि अनगार।
कीड़ियो नी करुणा, आणी दया अपार ॥५१॥

कड़वा तुंबा नो, कीधो सगलो आहार।
सर्वार्थसिद्ध पहुंत्या, चवि लेसे भव-पार ॥५२॥

वलि पुंडरीक राजा, कुंडरीक डिगियो जाण।
पोते चारित्र लेई ने, न घाली धर्म मां हाण ॥५३॥

सर्वार्थसिद्ध पहुंत्या, चवि लेसे निर्वाण।
श्री ज्ञातासूत्र मां, जिनवर कर्या बखाण ॥५४॥

गौतमादिक कुंवर, सगा अठारे भ्रात।
सब अंधकविष्णु-सुत, धारिणी ज्यांरी मात ॥५५॥

तजी आठ अंतेउर, काढी दीक्षा नी बात।
चारित्र लेई ने, कीधो मुक्ति नो साथ ॥५६॥

श्री अनीक से नादिक, छह सहोदर भाय।
वसुदेव ना नंदन, देवकी ज्यांरी माय ॥५७॥

भद्विलपुर नगरी, नाग गाहावई जाण।
सुलसा-घर वधिया, सांभली नेमि नी वाण ॥५८॥

तजी बत्तीस-बत्तीस अंतेउर, निकलिया छिटकाय।
नल कूबेर समाना, भेट्या श्री नेमि ना पाय ॥५९॥

करी छठ-छठ पारणा, मन में वैराग्य लाय।
एक मास संथारे, मुक्ति विराज्या जाय ॥६०॥

वली दारुक सारण, सुमुख-दुमुख मुनिराय।
वली कुंवर अनाध ष्ट, गया मुक्ति-गढ़ मांय ॥६१॥

वसुदेव ना नंदन, धन-धन गजसुकुमाल।
रूपे अति सुन्दर, कलावन्त वय बाल ॥६२॥

श्री नेमि समीपे, छोड्यो मोह-जंजाल।

भिक्षु नी पड़िमा, गया मसाण महाकाल॥६३॥

देखी सोमिल कोप्यो, मस्तक बांधी पाल।

खेरा नां खीरा, शिर ठविया असराल॥६४॥

मुनि नजर न खंडी, मेटी मन नी झाल।

परीषह सही ने, मुक्ति गया तत्काल॥६५॥

धन जाली मयाली, उवयाली आदि साध।

सांब ने प्रद्युम्न, अनिरुध साधु अगाध॥६६॥

वलि सतनेमि, द ढनेमि, करणी कीधी निर्बाध।

दशे मुक्ति पहुंच्या, जिनवर-वचन आराध॥६७॥

धन अर्जुनमाली, कियो कदाग्रह दूर।

वीर पै व्रत लई ने, सत्यवादी हुआ शूर॥६८॥

करी छठ-छठ पारणा, क्षमा करी भरपूर।

छह मासां मांही, कर्म किया चकचूर॥६९॥

कुंवर अइमुत्ते, दीठा गौतम स्वाम।

सुणि वीर नी वाणी, कीधो उत्तम काम॥७०॥

चारित्र लेई ने, पहुंच्या शिवपुर-ठाम।

धुर आदि मकाई, अन्त अलक्ष मुनि नाम॥७१॥

वली कृष्णराय नी, अग्रमहिषी आठ।

पुत्र-बहू दोग, संच्या पुण्य ना ठाठ॥७२॥

जादव-कुल सतियां, टाल्यो दुःख उचाट।

पहुंची शिवपुर मां, ए छे सूत्र नो पाठ॥७३॥

श्रेणिक नी राणी, काली आदिक दश जाण।

दशे पुत्र-वियोगे, सांभली वीर नी वाण॥७४॥

चन्दनबाला पै, संयम लेई हुई जाण।

तप कर देह झौंसी, पहुंची छे निर्वाण॥७५॥

नंदादिक तेरह, श्रेणिक न प नी नार।
सगली चन्दनबाला पै, लीधो संयम भार॥७६॥

एक मास संधारे, पहुंची मुक्ति मंझार।
ए नेउ जणा नो, अंतगड़ मां अधिकार॥७७॥

श्रेणिक ना बेटा, जाली आदिक तेवीश।
वीर पै व्रत लेईने, पाल्यो विसवावीस॥७८॥

तप कठिन करी ने, पूरी मन जगीश।
देवलोके पहुंच्या, मोक्ष जासे तजी रीश॥७९॥

काकन्दी नो धन्नो, तजी बत्तीसों नार।
महावीर समीपे, लीधो संयम भार॥८०॥

करी छठ-छठ पारणा, आयंबिल उज्झित आहार।
श्री वीर बखाण्यो, धन धन्नो अणगार॥८१॥

एक मास संधारे, सर्वार्थसिद्ध पहुंचत।
महाविदेह क्षेत्रमां, करसे भव नो अंत॥८२॥

धन्ना नी रीते, हुआ नव ही संत।
श्री अनुत्तरोववाई मां, भाखि गया भगवंत॥८३॥

सुबाहु प्रमुख, पांच पांच सौ नार।
तजी वीर पै लीधा, पांच महाव्रत सार॥८४॥

चारित्र लेई ने, पाल्यो निर-अतिचार।
देवलोके पहुंच्या, सुख विपाके अधिकार॥८५॥

श्रेणिक ना पोता, पउमादिक हुआ दस।
वीर पै व्रत लेई ने, काढ्यो देह नो कस॥८६॥

संयम आराधी, देवलोक मां जई बस।
महाविदेह क्षेत्र मां, मोक्ष जासे लेई जस॥८७॥

बलभद्र ना नंदन, निषधादिक हुआ बार।
तजी पचास अंतेउरी, त्याग दियो संसार॥८८॥

सहु नेमि समीपे, चार महाव्रत लीध।

सर्वार्थसिद्ध पहुंच्या, होसे विदेहे सिद्ध॥८९॥

धन्ना ने शालिभद्र, मुनीश्वरों नी जोड़।

नारी ना बन्धन, तत्क्षण नांख्या तोड़॥९०॥

घर-कुटुम्ब-कबीलो, धन-कंचन नी कोड़।

मास-मासखमण तप, टालसे भव नी खोड़॥९१॥

श्री सुधर्मास्वामी ना शिष्य, धन-धन जम्बू स्वाम।

तजी आठ अंतेउरी, मात-पिता धनधाम॥९२॥

प्रभवादिक तारी, पहुंच्या शिवपुर-ठाम।

सूत्र प्रवर्तावी, जग मां राख्युं नाम॥९३॥

धन ढंढण मुनिवर, कृष्ण राय ना नन्द।

शुद्ध अभिग्रह पाली, टाल दियो भव फन्द॥९४॥

वलि खंदक ऋषि नी, देह उतारी खाल।

परीषह सहीने, भव-फेरा दिया टाल॥९५॥

वलि खंदक ऋषि ना, हुआ पांच सौ शीश।

घाणी मां पील्या, मुक्ति गया तज रीश॥९६॥

संभूतिविजय-शिष्य, भद्रबाहु मुनिराय।

चौदह पूर्वधारी, चन्द्रगुप्त आण्यो ठाय॥९७॥

वलि आर्द्रकुंवर मुनि, स्थूलभद्र नन्दिषेण।

अरणक अइमुत्तो, मुनीश्वरों नी श्रेण॥९८॥

चौबीसे जिन ना मुनिवर, संख्या अठावीस लाख।

ऊपर सहस अड़तालीस, सूत्र परंपरा भाख॥९९॥

कोई उत्तम वांचो, मोंढे जयणा राख।

उघाड़े मुख बोल्यां, पाप लगे इम भाख॥१००॥

धन्य मरुदेवी माता, ध्यायो निर्मल ध्यान।

गज-होदे पायो, निर्मल केवलज्ञान॥१०१॥

धन्य आदीश्वर नी पुत्री, ब्राह्मी सुन्दरी दोग।
चारित्र लेई ने, मुक्ति गई सिद्ध होय।।१०२।।

चौबीसे जिन नी, बड़ी शिष्यणी चौबीस।
सती मुक्ति पहुंच्या, पूरी मन जगीश।।१०३।।

चौबीसे जिन ना, सर्व साधवी सार।
सुड़तालीस लाख ने, आठ से सतरह हजार।।१०४।।^१

चेड़ा नी पुत्री, राखी धर्म नी प्रीत।
राजीमती विजया, म गावती सुविनीत।।१०५।।

पद्मावती मयणरेहा, द्रोपदी दमयंती सीत।
इत्यादिक सतियां, गई जमारो जीत।।१०६।।

चौबीसे जिन नां, साधु-साधवी सार।
गया मोक्ष देवलोके, हृदय राखो धार।।१०७।।

इण अढी द्वीप मां, घरड़ा तपसी बाल।
शुद्ध पंच महाव्रतधारी, नमो-नमो तिहुं काल।।१०८।।

इण यतियों सतियों ना, लीजे नितप्रति नाम।
शुद्ध मन थी ध्यावो, एह तिरण नो ठाम।।१०९।।

इण यतियों सतियों सूं, राखो उज्ज्वल भाव।
इम कहे ऋषि 'जयमल', एह तिरण नो दाव।।११०।।

संवत अठारा ने, वर्ष साते सिरदार।
गढ़ जालोर मांही, एह कह्यो अधिकार।।१११।।

।। इति बड़ी साधु वंदना ।।

१. संख्या गुजराती भाषा में है। अर्थ है चौबीसों तीर्थकरों के कुल साधवी जी (४७) सैंतालीस लाख (१७) सत्रह हजार (८) आठ सौ थे।



परस्परोग्रहो जीवानाम